Registered No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

ओ३म्

भाग ५ वैशाख १९८१
अङ्क १ मई १९२४

आर्य्य

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः ॥

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

"अमृत प्रेस" अमृतधारा भवन लाहौर द्वारा ला० नन्दलाल उपमंत्री आ० प्र० सभा ने मुद्रित वा प्रकाशित किया ।

विषय सूची।

'आर्य' के नियम।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है)।

३—इस पत्र में, धर्मोपदेश, धर्म जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनायें दर्ज होती हैं।

४—पत्र के प्रकाशित होने के लि[ये] समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अंक न पहुंचे तो १५ दिन के भीतर सूचना दे[ने] से वह अंक भेज दिया जायगा, लेकिन [इस] अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अंक

॥ ओ३म् ॥

भाग ५] लाहौर—बैशाख १९८१ तदनुसार मई १९२४ [अंक १

वेदामृत ।

तीन सात का खेल ।

ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥

अथर्व० १. १. १.

तीन सात ने रूप धर, घेर लिया संसार ।
सो वाचस्पति मूर्त कर, मम हिय चित्र उतार ॥

अग्नि आदि चार ऋषियों के हृदय में वेद का प्रकाश। वेद प्रमाण से।

(श्रीयुत विश्वनाथ आर्योपदेशक)

वेद में अग्नि आदि ऋषियों के नाम होने से इतिहास की दोषापत्ति उपस्थित होगी, इस भय से आर्य विद्वानों ने वेद से इस विषय में गवेषणा ही नहीं की । अतः मेरे लिए आवश्यक है कि प्रमाण उपस्थित करने से पूर्व इस संदेह की निवृत्ति कर दूं।

नाम दो प्रकार के होते हैं। एक जाति वाचक यथा गौ, मनुष्य, नगर, वन, पर्वतादि। दूसरे व्यक्तिवाचक यथा लाहौर, दण्डक वन, युधिष्ठिर इत्यादि। इन में किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने के कारण व्यक्तिवाचक नाम ही इतिहास के प्रमाण बनते हैं। अनेकों में रहने के कारण जातिवाचक नाम इतिहास का हेतु नहीं होते। लोक प्रसिद्ध व्यक्तिवाचक गंगा विश्वामित्रादि नाम वेद में जातिवाचक हैं, क्योंकि यद्यपि लोक में गंगा एक नदी विशेष का नाम है, परन्तु वेद में "गंगा गमनात्" गमन गुण विशिष्ट सब नदियां गंगा हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी में सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले जिन अग्नि आदि चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने वेदों का प्रकाश किया, वेद में आए हुए अग्नि आदि ऋषि नामों से केवल वही ऋषि अभीष्ट नहीं, प्रत्युत हमारी पृथिवी से भिन्न अन्य भी सभी लोक लोकान्तरों में यही चारों वेद सृष्टि के आदि में चार ऋषियों द्वारा प्रकट हुए। एवं सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है, प्रत्येक सर्ग के आदि में इन्हीं चार वेदों का प्रकाश चार ऋषियों द्वारा होता है, और उनका नाम भी अग्नि आदि ही होता है। अतएव वेद में आए हुए अग्नि आदि ऋषि नाम अनेकाश्रित जातिवाचक होने से इतिहास के प्रतिपादक नहीं।

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ऐसा ही है, तो महर्षि दयानन्द ने इस विषय में कोई वेद प्रमाण क्यों नहीं दिया ? इस का समाधान यह है कि यद्यपि इस विषय में ठीक २ सम्मति स्थापन करना कठिन है, परन्तु महर्षि ने अपने उपदेश तथा लेख में कहीं यह भी तो नहीं कहा कि अग्नि आदिऋषि नामों की वेद में उपस्थिति से इतिहास का दोष आता है। अतः यह स्थापना उनकी सम्मति के विरुद्ध भी नहीं। और आर्य समाज का यह कोई सिद्धांत भी नहीं कि जिस विषय का महर्षि ने वेद प्रमाण नहीं दिया हम भी उसका वेद से अन्वेषण न करें। महर्षि ने अपने ग्रन्थों में सृष्टि की आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्णन की है, और इस के लिए भी कोई वेद प्रमाण नहीं दिया, परन्तु आर्य विद्वानों ने "शतं तेऽयुतं हायनान् द्वेयुगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" वेद प्रमाण का अनुसन्धान किया है। इस से तो उलटा इस बात का निश्चय होगया कि महर्षि का एक२ अक्षर वेद शास्त्रानुसार है, यद्यपि उन्हों ने अपनी सब धारणाओं का प्रमाण वेद से नहीं दिया।

सत्यार्थ प्रकाश में गर्भाधान की विधि विरोधियों के आक्षेप का लक्ष्य बन रही थी, परन्तु वह अक्षरशः वेद तथा ब्राह्मण में मिल गई। अतएव जिन विषयों में महर्षि ने वेद प्रमाण उपस्थित नहीं किए उनके सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं कि वेद से उनको प्रमाण नहीं मिले, अथवा वैदिक प्रमाणों पर उनकी दृष्टि नहीं गई। उन्होंने सब कुछ वेद के आधार पर ही लिखा है। ऐसे प्रमाणों का वेद से अनुसन्धान करना महर्षि के गौरव को बढ़ाना ही है।

वेद मन्त्रः

यस्मिन्नित्यस्यारुणो वैतहव्य ऋषि रग्निर्देवता जगती छन्दः निषादः स्वरः ॥

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।

कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ॥ ऋग्वेद १०।९१।१४

अर्थः—(यस्मिन्) जगति (अश्वासः) घोटकाः (ऋषभासः) (उक्षणः) वृषभाः (वशाः) गावः (मेषाः) (अवसृष्टासः) उत्पन्नाः—मया परमात्मना (आहुताः) मनुष्यार्थं दत्ताः। सोऽहं तदर्थमेव (कीलालपे) कीलां वन्हिशिखां अलति वारयतीति कीलालम् जलम् तत्पिबति शोषयतीति वायु स्तन्नामकर्षये कीलालप इति छान्दसप्रयोगः (सोम पृष्ठाय) सोमाः सूर्य रश्मयः पृष्ठेऽस्येति चन्द्रो गोपथ प्रमाणेन चन्द्र एव अंगिरा तन्नामकर्षये (वेधसे) आदित्य नामकर्षये (अग्नये) अग्नि नामकर्षये (हृदा) तेषामृषीणां हृदयेन (चारुम्) प्रशंसनीयम् (मतिम्) वेदज्ञानम् (जनये) सृष्ट्यादौ प्रकटीकरोमि।

भाषार्थ—(यस्मिन्) जगत में (अश्वासः) घोड़े (ऋषभासः) (उक्षणः) बैल (वशाः) गौवें (मेषाः) भेड़ें (अवसृष्टासः) उत्पन्न करके मनुष्य के लिये मैं परमात्मा दान करता हूं तदर्थ (कीलालपे) वायु नामक ऋषि (सोमपृष्ठाय) अङ्गिरा ऋषि (वेधसे) आदित्य ऋषि (अग्नये) अग्नि ऋषि के लिये (हृदा) उनके हृदय से (चारुम्) प्रशंसनीय (मतिम्) वेद ज्ञान को (जनये) उत्पन्न करता हूं।

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि के आदि में मनुष्यों के कल्याणार्थ पशु सृष्टि के पश्चात् अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा नामक ऋषियों के हृदय में चारों वेदों को प्रगट करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि इस मन्त्र के अनुसार वेद प्राप्त करने वाले चार ऋषियों का नाम कीलालप्, सोमपृष्ठ, वेधा और अग्नि होना चाहिये, न कि अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा। समाधानः- जैसे मंत्रार्थ में वर्णन हुआ, ऋषियों के अग्नि आदि नाम अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के सादृश्य से ऐसे हैं। इनमें से एक २ पदार्थ के जितने नाम हैं वह सब इन ऋषियों के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ मनु का रवि, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद् का सूर्य और आदित्य एक ही ऋषि के भिन्न २ नाम हैं। इससे सिद्धान्त पर आपत्ति नहीं आती अगले लेखमें इसपर अधिक प्रकाश डाला जायगा।

---

* वेद की पहेलियां और उनकी बूझ *

(श्रीयुत जयदेव शर्मा विद्यालंकार)

निःसंदेह वेद के बहुत से मन्त्र बड़ी ही समस्याएं हैं। उनका सुलझाना बड़ा कठिन है। उनको 'आर्य' के पाठकों के समक्ष रखना व्यर्थ है। मैं वेद के उन मन्त्रों को स्पष्ट रूप से विनोद के लिए रखना चाहता हूँ जिनको वैदिक ऋषि पहेली कहते थे। पहेली को वैदिक परिभाषा में प्रवल्हिका कहते हैं। यही शब्द संस्कृत में प्रहेलिका और आंग्ल भाषा में पज़्ज़ल कहाता है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक तथा आधिदैविक सत्यताओं को रोचक रूप में प्रकट करने के निमित्त इन प्रहेलिकाओं या पहेलियों का प्रादुर्भाव हुआ। अब पाठक स्वयं उन पहेलियों पर ध्यान दें और इसी विनोद के व्याज से वैदिक स्वाध्याय करें।

एक बार सरस्वती के किनारे ब्रह्म वेत्ताओं का बड़ा भारी मण्डल जुटा। उस में पुराने नए सभी विद्वान् विनोद के लिए उपस्थित हुए। तब ऋषि दीर्घतमा बोले:—

हे विद्वानों! सुनो, विनोद के निमित्त एक 'प्रवल्हिका' कहता हूँ। आप लोग उस को बूझिए।

अचिक्रदद् वृषा हरि र्महान् मित्रो न दर्शतः।
सᳬसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः॥ (यजु० ३८। २२)

वेद की इस पहेली का सरल भाषार्थ यों किया जा सकता है।

बड़ा बैल वह हरा सा रूप, गर्जत नित वह मेघ स्वरूप।
मित्र सभी का सुन्दर रूप, सूरज के सँग चमक अनूप।
बड़ा समुन्दर बड़ा खजाना, बूझ पहेली जो है दाना।

अब इस पहेली को बूझिए और इस पहेली का उत्तर और विद्वानों की अकल से भी लीजिए!

याज्ञिक पुरोहित जैमिनि बोले—यह तो महावीर नामक पात्र है। वह सब पात्रों में बड़ा है। वह खासा बड़ा कूंडा है। मानो समुद्र है। उस में सोमरस डाल दिए जाते हैं। वह आनन्दों का खजाना हो जाता है। उस पर जब सूरज की चमक पड़ती है तब चमचमा उठता है। कितना भला मालूम होता है। जब वह कूंडा धोया और रगड़ा जाता है तब खूब खरड़ खरड़ करता है, मानो मेघ के समान गर्जता है। हम यज्ञ कर्त्ताओं का तो यही आनन्द है। उसका मुख देखते ही चित्त हरा भरा हो जाता है, चक्षु तृप्त होने लगती हैं। सो हमारे लिए तो वह हरि है। हमारा मित्र है। खूब सुन्दर है। हो नहो, यह अजब बैल हमारा सोमका भरा कूण्डा महावीर है।

यह सुन कर ऐतिहासिक कौत्स बोल उठे—किस चक्कर में हो ? यह तो हनुमान् का वर्णन है। वह वृषा कपि (हरि) नरहरि नरवानर हमारा बड़ा भारी मित्र है। सुंदर अद्भुत रूपवाला। जब आकाश में उछलता है तब सूर्य की कान्ति से चमकता है, मानो समुद्र उछल पड़ता है। वह सब बल पराक्रमों का ख़ज़ाना है।

इस पर सायन कह उठे—यह तो सूर्य है या मेघ है। कृष्ण है, पानी बरसाने वाला है और हरित वर्ण की रश्मियों से या जल चुराने वाली किरणों से युक्त है। वह सभी का मित्र है। सभी को समान भाव से प्रकाश देता और एक आंख से देखता है। कितना सुन्दर है। इसके प्रकट होते ही सब वस्तुएं विस्मित हो खिलखिला उठती हैं। अपने तेजोमय सामर्थ्य से सब बल पराक्रम और शक्तियों का ऐसा गहरा ख़जाना है जैसा रत्नों का समुद्र।

इस पर योगी याज्ञवल्क्य कहने लगे—तुम किस चक्कर में पड़े हो ? देखो तो सही ! आंखें बन्द करके। यह न बन्दर है, न सूय है। वह तो अपने आनन्दमय कोषे (खज़ाना) से आनन्द प्रमोद की धाराएं बरसाता है। इसी से उस आत्मा को वृषा कहते हैं। वह सब भागती कूदती विषय वासनाओं में फंसी इन्द्रियों को रथी रूप से खेंचे रहता है और सब को काबू कर के भीतर की नन्दनवन में खेंच ले जाता है, इस से हरि कहाता है।

वह तो सचमुच हमारा दोस्त है। सब द्वैत भाव उस में अस्त हो जाते हैं। वह मित्र है। वह प्राणों से भी प्यारा अपना आत्मा है। उस का हिरण्यमय रूप, सजा सजाया, जब देखो तब हरा भरा है। वह इस प्रेरक प्राण के साथ इस संसार में—जीव संसार में अनोखे चमत्कार दिखाता है। वह स्वयं शक्तियों का सागर और ज्ञान का भण्डार है। इस पहेली का ठीक उत्तर है, 'आत्मा'। उपनिषत् का ऋषि यम प्रसन्न होकर बोले—

याज्ञवल्क्य बहुत गहराई तक पहुंचे—पर भाई सुनो ! इस अल्पज्ञ जीव को भी यह सब बड़ाई किसी से उधार लेनी पड़ी है। यह जिसका कर्ज़दार है उसी महाजन पर यह पहेली घटती है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' उसी की चमक से ये सब चमकते हैं।

वह ब्रह्म परमात्मा, हरि ही वृषा हरि है। सब में जीवनों की वर्षा करता है। सब जड़ पदार्थों में जान फूंकता है। उसी के हुक्म से यह सब बादल बरसते हैं। ये तो सब उस के ताबेदार नौकर चाकर हैं। वह हरि है। सब जगत का संहारक है। वह किसी से छोटा नहीं। वह बहुत बड़ा है। वेद कहता है 'यस्य नाम महद्' वह सबको न्याय और स्नेह से देखता है। सब का हितैषी है। सब के गुप्त भाव जानता है और अपने गुप्त रहस्य उनको बतलाता है जो उसको अपना गुप्त रहस्य बतलाते हैं। उसकी दर्शनीयता में संदेह नहीं। हम संसारी जीव तो उसकी मंदिर २ झांकी

लेने के प्यासे हैं। और योगी लोग जो उसको एक बार भी देख लेते हैं वे सब संसार को छोड़ कर उसके पीछे पागल हुए फिरते हैं। वह २४ घंटे आंख मींच कर उसी के रूप और नाम की माला जपते हैं। जो उन विरहियों, रूप-लोलुपों पागलों को फूल फूल, पत्तों २, डालों २ और वृक्षों २, यहां तक कि जीव २ और नर २ और स्त्री बालक सभी में उसका भ्रम हुआ करता है। यह हाल तो उस के मोहन रूप का है। फिर वह गर्जता है बड़े ज़ोर से। पापियों के दिल दहल जाते हैं। उसका नाम सुन कर सब शैतान रफूचक्कर हो जाते हैं। उसका गम्भीर वेद नाद जिसने सुना, वह निर्भय हो जाता है। वह अपने सूर्य—संजीवन—संप्रेरण शक्तियों के साथ सर्वत्र चमकता है। वह दया का सागर कृपा करुणा ज्ञान और शक्ति का अनन्त भण्डार है। वह उदधि और निधि है। सो हम तो यही कहेंगे कि यह वही महादेव परम प्रभु परमेश्वर देव हैं।

इतना सुन कर सभी शेष विद्वान् बड़े आनन्दित हुए। और सभी समर्थन करने लगे। सब से पहले महर्षि दयानन्द ने इसका समर्थन किया। इस पर महा० मोक्ष मूलर आदि जो विद्वन्मण्डली के मण्डप में सब से पिछली दरी पर बैठे थे, और २ विलायती विद्वानों से चुपके २ बतिया रहे थे और संशय में पड़ गए थे, उनका भी संदेह दूर हो गया। सो एक पहेली तो इस प्रकार बूझ ली गई। अब दूसरी पहेली महर्षि दयानन्द ने स्वयं उपस्थित की :—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोक मीयुः, तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ चदेवौ॥
(यजु० ३४। ५५)

ऋषी सात इक देह पुरी में भागें भागें चैन न पायँ,
सात सवार सदा रखवारे बिना नींद ना पलक जुड़ायँ।
मालिक नींद पड़े फिर सातों देह पसार पसार समायँ,
तब दो कुँवर बिना नींद रखवारे बन कर आसन पायँ।

विद्वन्मण्डली इस पहेली को सुन कर बड़े आश्चर्य में पड़ गई, कि एक शरीर में सात ऋषि? सात ऋषियों के सात शरीर होने चाहियें थे। फिर वे भी भाग रहे हैं। वे निरन्तर बिना किसी प्रकार के आलस्य और प्रमाद के उस देह पुर की रक्षा भी करते हैं। फिर वे सातों उसी में यात्रा कर सो भी जाते हैं। उनके सोने पर फिर दो राजकुमार बिना नींद के आसन जमा कर पहरा देते हैं। यह क्या मामला है? सोचते सोचते सब के सब बड़े फेर में पड़े। आखिर आधिदैविक विद्वान् यास्क ने हाथ उठा कर कहा—हो न हो, यह विराट् शरीर ब्रह्माण्ड है। इस में ७ ग्रह सूर्य के चारों तरफ

चक्कर लगाते हैं और सौर जगत् का पालन करते हैं। जब वे दृष्टि से लुप्त भी होजायं तो भी सूर्य और चन्द्र दोनों देव दो राजकुमारों के समान अपनी २ कक्षा पर गति करते हैं।

सपर हमारे परम पूज्य व्यासदेव कहने लगे:—भाई! यास्क महोदय तो शब्द की खाल उचेलते हैं। तत्वार्थ पर विचार नहीं करते। यदि घर के पास ही के छोटे दरख्त पर मधु मिल जाय तो बन २ पर्वत २ भटकना अच्छा नहीं। अपने देह पर ही ध्यान दो। मध्यस्थान और उत्तम स्थान के देवताओं ने मिलकर इसी देह पिण्ड में सूक्ष्म रूप से आश्रय लिया है। वही सब देव यहां इन्द्रियों का रूप धर कर बैठे हैं। त्वचा, आंख, कान, जीभ, नाक, मन और बुद्धि इन सात में ७ ऋषि ज्ञानसंपन्न रहकर इस देह में गति करते हैं। उनको आत्मा विषयों की तरफ प्रेरित करता है। वह साता ही इस देह की रक्षा करते हैं। परन्तु जब सुषुप्ति और समाधि दशा में आत्मा सो जाता है तब ये भी उसी के स्वरूप में लीन होकर पसर जाती हैं। मानो सो जाती हैं। परन्तु तो भी न सोने वाले दो पहरेदार देव प्राणापान बराबर एक नासिका में एक उदर भाग में आसन जमाकर शरीर का पहरा देते हैं। भोजन का पचन, मलमूत्रादि का मलमार्गों से निकलने का प्रबन्ध करना अपान का काम है और नया जीवन लेना, शक्ति शरीर में पहुंचाना प्राण का काम है। प्राण मुख भाग में रहता है।

व्यास जी का वचन सुनकर सभी प्रसन्न हुए परन्तु योगी याज्ञवल्क्य उनसे कुछ मतभेद रखते थे। वे बोले कि यह मनुष्य देह का मुण्ड मात्र शरीर है। इसमें दो नाक, दो कान, दो आंख और सातवां यह मुख, ये सात ऋषि हैं। ये जब सो जाते हैं तब प्राणापान दोनों बराबर चला करते हैं। इस पर सभी प्रसन्न हुए। इस ब्रह्म कथा को सुन सभी ने अपने हृदय पटल पर अंकित कर लिया और वैदिक सम्पादक सायन महीधर उव्वट आदि ने इसको नोट कर लिया।

इसके पश्चात् ऋषि गृत्समद कहने लगे—हे विद्वानों सुनो, हम भी एक वेद की पहेली पूछते हैं! आप उसको भी बूझिये॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सोदेशेऽभवत्सरित्॥
(यजु० ३४। ११)

पांच नदी जा मिलीं सुरसती पांचों धार न एक।
पांच तरह से बही सुरसती रही न धार अनेक॥

इसे आसान सी पहेली समझकर बड़े २ ऋषियों ने मौन साध लिया और सब भाष्यकारों के मुखों को ताकने लगे। सब से पूर्व कश्मीरी पण्डित उव्वटाचार्य हंसकर बोले:—दृशद्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, विपाशा और इरावती ये पांच नदियां सरस्वती में अपनी

स्रोत धाराओं सहित जा मिलीं। वह सरस्वती ही मानों पांच तरह से बहकर अन्त में सागर-संगम तक सरस्वती कहाई । यह पंजाब की नदियों का वर्णन हैं । उनका संगम पञ्चनद (बहावलपुर) में हुआ है। सिन्धु नदी सरस्वती है जेहलम दृशद्वती है। शतद्रु सतलुज, चन्द्रभागा चिनाव, विपाशा व्यासा, और इरावती रावी है। उव्वटाचार्य की व्याख्या सुनकर महीधर हां में हां भरने लगे। इस पर विद्यारण्य बोले—

क्या कहना! कश्मीरी जी उतरे हैं पञ्जाब के मैदानों में! क्या ये भी कोई किसानों का सा पानी की नहरों का मसला है। भाई लोगो! आंख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा ये पांच नदियां बाह्य ज्ञान प्राप्त करने की नलियां या नाड़ियां हैं, यह पांचों मिलकर ज्ञानमयी, ब्रह्ममयी, आत्मबाणी, सरस्वती के स्रोत में लीन होगयीं, सभी ने अपने विषयों के नाम अर्थात् रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श और रसको छोड़ उसे रूपज्ञान, गन्धज्ञान, शब्द ज्ञान, स्पर्श ज्ञान और रस ज्ञान में बदलकर भीतर के ज्ञान प्रवाह के साथ एक कर दिया। वे ज्ञान पांच ज्ञानों के रूपों में बह कर भी आखिर ज्ञानमयी सरस्वती के रूप में हृदय देश में एक होकर समानभाव से बह रहा है। इसपर वाचस्पति भारतीकार कहने लगे:— पांचों दर्शन पांच नदियां हैं वे ब्रह्म दर्शन सरस्वती में मिलकर तन्मय होगये हैं। इस पर गौराङ्ग चैतन्य महा प्रभु बोले —

प्रभु की भावना में पांच भाव—वात्सल्य भाव, दाम्पत्य भाव, सेवा भाव, भ्रात भाव, और शत्रु भाव यह सब उस ब्रह्म मिलने के पूर्व बाहर अलग २ बह रहे हैं। परन्तु जब भगवान् के स्मरणानन्द प्रवाह में मिल जाते हैं तब सब एक होजाते हैं। मानो पांच प्रकार से वही आनन्द रस बह रहा था।

चैतन्य की बाणी सुनकर भागवतकार वोपदेव बड़े खुश हुए। उन्हों ने भागवत में वही बात टीप रखी थी। इस पर श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी उच्च स्वर से बोल उठे। कहां २ की तानते हैं? देखिये। जैसे महिला के सिरपर गुंथी हुई पांच बेणियां अलग अलग गुंथ कर भी फिर मिलकर एक वेणी बनजाती हैं और वह पीठपर लहराती हैं, उसी प्रकार शिरोभाग पर लगे मुख नाक आदि की ५ नर्व्स (ज्ञान तन्तु) मिलकर मेरुदण्ड में से बहने वाली मुख्य ज्ञान तन्तु धारा में मिलकर बहने लगीं। मानो मेरुदण्ड का ज्ञान तन्तु प्रवाह ही पांच रूप से फूटा हुआ था। इसपर बहुत से मनो विज्ञान के प्रेमी रीझ गये। तब शांत कहने लगे:—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो,
यस्मिन् प्राणः पञ्चधासंविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां,
यस्मिन्विशुद्धेविभवत्येष आत्मा ॥

यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा चेतनामात्र गम्य है। इसी में प्राण पांच रूपों में होकर अपना आश्रय लिये हुए हैं। सब प्रजाओं का चित्त चैतन्य उन्हीं प्राणों में गुंथा है उरोया पिरोया हुआ है। उसी के विमल होजाने पर वह सरस्वती रूप आत्मा विभूतिमान् होजाता है। यही हमारी सम्मति है।

तदेतत्सत्यं ऋषिरंगिराः पुरोवाच नैतदचीर्ण व्रतोऽधीते।

नमः परम ऋषिभ्यो। नमः परम ऋषिभ्यः।

इस ध्वनि के साथ वह ब्रह्म-मण्डली लीन हो गई और सभी श्रोतागण पहेलियों पर गूढ़ दृष्टि से विचार करने लगे।

वेद प्रचार की वर्त्तमान प्रणाली।

(श्रीयुत बुद्धदेव विद्यालंकार)

'आर्य्य' के पाठकों में बहुत बड़ी संख्या आर्य्य समाजों के प्रतिनिधियों की है। इस लिए वेद प्रचार सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिए 'आर्य' से अच्छा कोई साधन नहीं हो सकता। इसी विचार ने मुझे आज 'आर्य' की पाठक मण्डली के सामने उपस्थित किया है। मुझे वैदिक धर्म प्रचार के कार्य में लगे लगभग ८ वर्ष हो चुके, और आरम्भ दिन से वेद प्रचार की वर्त्तमान प्रणाली में मुझे कुछ दोष प्रतीत होते रहे हैं, और सुधार की आवश्यकता अनुभव होती रही है। यह अनुभूति दिनों दिन प्रबल होती गई है। अन्त को अब यह अनुभूति ऐसी सीमा तक पहुँच गई है कि उस ने मुझे लेख द्वारा आर्य जनता के सामने उपस्थित होने पर बाधित कर दिया है। जो हो मुझे आर्य जनता को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता नहीं कि यह विचार मैं शीघ्रता में उस के सामने उपस्थित नहीं कर रहा हूँ क्योंकि लगातार आठ वर्ष तक प्रचार का कार्य करते रहने पर भी मेरे यह विचार दृढ़ ही होते गए हैं, यद्यपि किसी प्रश्न पर अधिक देर तक विचार करते रहना इस बात का निर्धारक नहीं कि वह विचार अवश्य ठीक है। विचारशील सज्जन स्वयम् देख लेंगे कि यह विचार ठीक हैं वा नहीं, परन्तु मुझे तो यह पूर्ण रूप से निश्चय हो गया है कि प्रचार की वर्त्तमान प्रणाली अत्यन्त दोष पूर्ण है, और उस में घोर परिवर्त्तन की आवश्यकता है।

वर्त्तमान प्रणाली में अनेक दोष हैं जिन में से ६ मैं इस लेख में उपस्थित करने लगा हूँ। इन्हें यदि महादोष कहें तो अनुचित नहीं।

सब से पहला, और मेरी सम्मत्ति में सब से गौण, दोष इस प्रणाली में धन का अपव्यय है। प्रचार की वर्त्तमान प्रणाली का मध्यकील आर्य समाजों के उत्सव हैं। इस आधार कील पर ही प्रचार का चक्र चल रहा है। यह बात आर्य जगत से छिपी नहीं कि उत्सवों

का कोई क्रम नहीं है, आज यदि पेशावर का उत्सव है तो कल मनीमाजरे का । आज यदि डलहौज़ी में उत्सव है तो कल सरगोधे वा अलीपुर समाज का । वही उपदेशक तथा भजनीक जो आज यहां थे कल दौड़ करते २ वहां पहुँचे हैं। कभी २ तो ऐसी विचित्र अवस्था होती है जिसे देख कर हँसी आती है । पिछले दिनों एक उपदेशक महोदय को एक दिन मुलतान में दो व्याख्यान देकर अगले दिन जालन्धर जिले के एक उत्सव में दो व्याख्यान देने पड़े । पर इस प्रकार रेल गाड़ी के मार्ग व्यय में कितना धन व्यय होता है, इस का पाठक स्वयम् अनुमान कर सकते हैं। कभी २ सभा के अधिकारी लोग इस दोष को दूर करने के लिए यह प्रबन्ध करते है कि एक ही पटरी के सब समाजों के उत्सव शृंखला बद्ध तिथियों में रख दिए जाते हैं । किन्तु उस से एक और कठिनता उपस्थित होती है। वह यह कि बहुधा पड़ोसी समाजों के सज्जन एक दूसरे के उत्सवों में सम्मिलित होते हैं किन्तु जब वह लगातार उन्हीं उपदेशकों के उन्हीं व्याख्यानों को कई उत्सवों में सुनते हैं तो उनकी उत्कण्ठा कम हो जाती है और इस प्रकार एक दूसरे के उत्सव में सम्मिलित होने की प्रशंसनीय प्रथा को धक्का पहुँचता है। इस लिए यह उपाय भी रोग की चिकित्सा में एक नया रोग उत्पन्न कर देता है ।

उत्सव प्रणाली में दूसरा महादोष दिनचर्या के नियमों का दलन है । जितनी निर्दयता का व्यवहार उपदेशक लोगों को अपने स्वास्थ्य के नियमों तथा नित्य कर्मों के साथ करना पड़ता है वह वर्णनातीत है । रात के २ बजे गाड़ी पर चढ़ना है, कुछ ऊंघते कुछ जागते स्टेशन के किसी बैंच पर गाड़ी में चढ़ने का समय आया । प्रातः काल ९ बजे गाड़ी से उतरे । अभी १२ मील तांगे पर जाना है । शौच निवृत्ति गाड़ी में कर चुके और यदि रात के उनींदेपन ने अपना प्रभाव दिखलाया तो वह भी रहा । ११ बजे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे । जैसे तैसे स्नान संध्यादि की कबड्डी खेल कर भोजन को बैठ । व्यायाम तो बीच में ही विलीन हो गया । अब रात्रि को ९ बजे का समय व्याख्यान का रक्खा गया । ९॥ बजे भजन आरम्भ हुए, १० बजे व्याख्यान आरम्भ हुआ, ११॥ बजे कार्य समाप्त हुआ, घर आते तक १२ बजे, घर आकर यदि व्याख्यान के विषय की कोई चर्चा छिड़ी तो एक बज जाना फिर साधारण बात है । अगले दिन फिर देर से उठना स्वाभाविक है, और फिर वही चक्र । यही अवस्था उत्सव में, यही प्रचार में । अब ज़रा जामपुर समाज के उत्सव में चलिए । रात को एक बजे एक व्याख्यान समाप्त हुआ। अभी श्रद्धालुजनों की तृप्ति नहीं हुई । एक भजन के पश्चात् श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज का व्याख्यान होगा । स्वाभाविक मधुरता से मुस्कराते हुए स्वामी जी महाराज व्याख्यान देने खड़े हुए । १। घंटा उन्होंने व्याख्यान दिया फिर एक आध भजन हुआ, अढ़ाई बज गये । अब श्रद्धालु जन हाथ बांध कर चारों ओर इकट्ठे हुए, चलिए स्वामी जी महाराज भोजन स्वीकार कीजिए, (हंसिए मत) । श्रद्धालुओं की श्रद्धा के

कारण क्रोध में आने को भी जी नहीं करता और फिर यदि क्रोध आए भी तो हंसी आकर उस के पैर नहीं जमने देता। जैसे तैसे श्रद्धालु मण्डली को समझाया और लांबी तान कर सो रहे और उस पर तुर्रा यह कि कल पंडित जी अथवा स्वामीजी व्याख्यान के प्रसङ्ग में सुनाएँगे:—

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

उत्सव सानन्द समाप्त हुआ। बोल वैदिक धर्म की जय।

तीसरा महादोष इस प्रणाली में वही है जो आजकल की शिक्षा प्रणाली में है। जिस प्रकार वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली में गुरुशिष्य में कोई सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार इस प्रचार प्रणाली में उपदेश और उपदेशक, प्रचारक और जनता में कोई सम्बन्ध उत्पन्न नहीं होने पाता। उसका परिणाम यह होता है कि व्याख्यान द्वारा जिन गिने चुने भद्र पुरुषों के विचार में परिवर्त्तन होजाता है, अथवा सच पूछो तो जो पहिले से ही आर्य्यसमाज की ओर पूर्णरूप से झुके होते हैं, जिन्हें केवल थोड़ीसी गति देने की आवश्यकता होती है, वह ही आर्य्यसमाज की ओर आजाते हैं, शेष लोगों पर तो उतना ही प्रभाव होता है, जितना नाटकशाला में एक अच्छा गान सुनकर सुनने वालों पर। यही कारण है कि इतने वर्षों में आर्य्यसमाज ने Sympathy बहुत प्राप्त की है किन्तु सभासद् बहुत थोड़े। कहा जाता है कि पंजाब की हिन्दू जनता के प्रायः सबही शिक्षित लोग आर्य्यसमाजी हैं, चाहे उनका नाम आर्य्यसमाज के रजिस्टर में हो या नहीं, परन्तु यह एक विनोदमात्र है। इस प्रकार के दिल बहलावे समय समय पर आने वाली निराशा को दूर करने के लिये तो बड़े उपयोगी होसकते हैं, किन्तु ऐसे वाक्य जप करने का मंत्र बन जाने से समाज के संगठन की दृढ़ता तथा वृद्धि के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं।

किसी भी सङ्गठन की उन्नति के लिये संख्या तथा कोटि दोनों का ही उत्कर्ष आवश्यक है, किन्तु यह बात वर्त्तमान प्रणाली में बिलकुल नहीं होसकती। सभासदों की संख्या तथा कोटि में उत्कर्ष तभी हो सकता है, जब उनका दैनिक संसर्ग किसी ऐसे व्यक्ति के साथ हो जो उनके कान में प्रतिदिन काण्डे अकाण्डे उनके कर्त्तव्यों की आवर्तिका (मुहारनी) पहुंचाता रहे, जिसके साथ उनके भिन्न भिन्न धार्मिक विषयों पर संवाद होते रहें, जिसके पास इतना समय हो कि वह उनकी घरेलू अवस्थाओं से परिचित हो सके, उनके छोटे से लेकर बड़े व्यतिक्रमों तक जाने और उनकी ओर उसका ध्यान आकर्षण कर सके, उस में हँस खेल कूद सके और फिर भी अपनी विद्या तथा आचार के बल से उनके आदर का पात्र हो।

मुझे निश्चय है कि संवाद से बढ़कर विचारों में परिवर्तन कर सकने का श्रेय यदि किसी को प्राप्त होसकता है तो कदाचित् प्रत्यक्ष वैयक्तिक अनुभव को, किन्तु सच पूछिये तो लोग प्रत्यक्ष अनुभव से भी तबतक लाभ नहीं उठाते, जब तक कोई उन विचारों का विश्लेषण करके उन्हें ठीक परिणाम पर नहीं पहुँचा देता। इस लिये यह कहना अत्युक्ति न होगा कि प्रचार का यदि प्रधानतम नहीं तो प्रधानों में से अन्यतम साधन संवाद है, किन्तु इस प्रणाली में इसके लिये कोई अवकाश नहीं।

इसके अतिरिक्त समय संयोग भी मानव प्रकृति के परिवर्त्तन में एक विशेष स्थान रखता है। पतित से पतित मनुष्य के भी जीवन में कोई कोई क्षण अच्छे विचारों में बीतते हैं और धर्म्मात्मा देव-तुल्य मनुष्यों के अन्तःकरण में भी कभी २ ऐसे विचार उत्पन्न होजाते हैं जिन पर उन्हें स्वयं आश्चर्य्य होजाता है।

अनन्तर अनवरत साधनों के पश्चात् भी देवत्व की धारा अविच्छिन्न रूप से विरले ही अन्तःकरणों में बहती होगी। यही कारण है कि किसी समय का कहा हुआ गुरुजनों का वाक्य ही भक्तजनों के हृदय बींध जाता है और कभी कभी घण्टों का उपदेश भी प्रभाव नहीं करता। जो जितना निरन्तर रूप से ऐसी प्रभावोत्पादिक अवस्था में रह सके, वह उतना ही महापुरुष है, किन्तु ऐसे अधिक से अधिक अवसर तबही उपस्थित हो सकते हैं, जब प्रचारक को साधन मण्डली में रहने का अधिक अवसर मिले। वर्त्तमान प्रणाली में यह बात नहीं।

साथही मनुष्य प्रकृति वृक्ष की भांति प्रति दिन स्थान परिवर्त्तन नहीं सहार सकती। हर तीसरे दिन एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर लगाने पर भी फल फूलों से खिले रहने वाले वृक्ष विरले ही होंगे। ऐसी अवस्था में तो मुरझाए रहने की ही सम्भावना है।

पर वर्त्तमान उत्सव प्रणाली क्या है? एक आतिशबाज़ी का खेल, एक सुगंधित आंधी मात्र। आतिशबाज़ी कितनी ही चमकदार क्यों न हो, वह घर के दीये का स्थान नहीं ले सकती। वह तो चौंधिया ही सकती है, वाह वाही ही ले सकती है। आंधी कितनी ही सुगन्धित क्यों नहो, वह प्रातःकालीन मन्द समीर का काम नहीं कर सकती, सुगंध से एक बार हमें उन्मत्त कर सकती है। यही अवस्था हमारे उत्सवों की है। वर्ष भर में एक वार यह सुगन्धित आंधी आई, एक बार दिल लहरा उठे, कुछ उन्माद सा आया और फिर उस उन्माद का पृष्ठगामी प्रमाद। इसी लिए इस प्रचार का नाम मैंने अँधेरी प्रचार रक्खा है। उत्सव के पश्चात् यदि कोई प्रभाव रहता भी है तो किसी स्थानीय सज्जन के आचरण के बल पर, परन्तु उस अवस्था में उक्त सज्जन को अपने अन्य कर्त्तव्यों की ओर से प्रमादी होना पड़ता है।

चौथा दोष तीसरे दोष से ही सम्बन्ध रखने वाला है, अर्थात् जांच का समय न मिलना। उपदेशक महाशय बोल कर तो चले गए किन्तु न तो प्रजा पर उनके व्यक्तिगत गुणों का कुछ प्रभाव पड़ता है और न उपदेशक को यह अवसर मिलता है कि वह जांच सके कि मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हुआ? सभासदों की वास्तविक अवस्था क्या है? उन में से किस २ को कौनसी विशेष बात समझाने की आवश्यकता है?

पांचवा दोष है उपदेशक के व्यक्तित्व का नाश। उपदेशक केवल व्याख्यान देने का यन्त्र नहीं है। उसे समय २ पर प्रचार सम्बन्धी तथा समाज-सुधार सम्बन्धी नई २ बातें सूझती हैं, परन्तु उसे उन्हें व्यवहार में लाकर अनुभव प्राप्त करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता। यदि स्थान २ पर प्राचीन प्रणाली के पुरोहित लोग प्रचार करें तो उन्हें प्रति दिन नए २ अनुभव प्राप्त हों और फिर उनके परस्पर विचार से बड़े २ लाभ हो सकें। उदाहरणार्थ पं० भूमानन्द जी ने लायलपुर में पारिवारिक सम्मेलन आरम्भ किए, किन्तु उस से विशेष लाभ न हुआ, व्यय आदि के कारण लोग घबराने लगे, इस पर उन्होंने यह परिवर्त्तन किया कि एक परिवार में अन्य परिवारों को इकट्ठा करने के स्थान पर स्वयम् प्रति दिन एक घर में जाना आरम्भ किया, इस से बहुत लाभ हुआ। यह बातें चाहे आप को छोटी २ प्रतीत होती हों, किन्तु यह बड़े अनुभव से प्राप्त होती हैं। छोटी बातों की उपेक्षा का नाम ही मूर्खता, और छोटी बातों की विभावना का नाम ही प्रतिभा है। परन्तु वर्तमान प्रणाली में इस के लिए कोई स्थान नहीं। कहा जा सकता है कि वह उन नई बातों का प्रचार कर दिया करें, किन्तु यह बात अनुभव सिद्ध है कि जो लगन किसी बात के सोचने वाले को होती है वह और किसी को नहीं होती।

छटा महादोष और शायद सब से बड़ा दोष इस प्रणाली में विद्या का नाश है। ब्राह्मण के षट् कर्मों में अध्यापन तथा अध्ययन दोनों हैं, और अध्यापन सब से पहले है, किन्तु यहां अध्यापन का तो नाम ही लेना व्यर्थ है। सब विद्या-प्रेमी लोग जानते हैं कि विद्या की रक्षा तथा वृद्धि इतनी किसी बात से नहीं होती जितनी अध्यापन से, पर आज इस विद्या की पुकार को सुनने वाला कोई नहीं। परिणाम यह होता है कि कुछ वर्ष के अँधेरी प्रचार के पश्चात् वह व्याकरण, न्याय, मीमांसा तथा तर्क जो कल हस्तामलक वत् प्रतीत होते थे, उपदेशक महाराज से इस प्रकार भागने लगते हैं जैसे महाजन की सूरत देख कर उधार खाने वाले। बस उनकी पूँजी रह जाती है जलसे पर काम आने वाले १० या १२ व्याख्यानों की आतिश बाज़ी।

बस उपदेशकों के पास विद्या की रक्षा या वृद्धि के लिये यदि कोई साधन शेष रह जाता है तो अध्ययन, सो उसकी भी कथा सुन लीजिये। प्रथम तो टांगों की उछलकूद, रेल गाड़ी की खड़खड़, श्रद्धालु जनों की भिन २, और जलसे की चहल पहल में ध्यान लगाना काम ही किसी संयमी का है, परन्तु यदि किसी ने इस वायु मण्डल में भी पुस्तक में

ध्यान लगाने की दृष्टता भी की, तो वह अपना सारा पुस्तकालय किस प्रकार लाद कर ले जासकता है । अभी पढ़ते हुए सुश्रुत के किसी अध्याय का प्रमाण ढूंढ़ने की आवश्यकता हुई, वह कैसे ढूंढ़ा जाय । कहा जासकता है कि नोट कर लिया जाय, तथा समय मिलने पर देख लिया जाय, किन्तु इस से विचार शृङ्खला तथा रसधारा में कैसा विच्छेद होता है, मर्म्मविद् विद्या रसिक लोगही जान सकते हैं ।

इस प्रकार मैंने वर्त्तमान प्रणाली के दोषों का यथामति उल्लेख कर दिया, किन्तु प्रश्न यह होता है कि इतने दोषों के होते हुए भी यह प्रणाली बनी हुई क्यों है ? इसका उत्तर भी कुछ शब्दों में दिखाना चाहता हूं । फिर आप के सामने एक प्रणाली उपस्थित करूंगा, जिस में वर्त्तमान प्रणाली के गुणों का तो समावेश हो जाय किन्तु दोष कोई न रहे । इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि जहां इस में धन का बेढङ्ग व्यय होता है, वहां संचय भी खूब होता है । धन का ही सञ्चय क्यों, सर्वतो मुख सञ्चय होता है । धन का भी सञ्चय, गुल गपाड़े का भी सञ्चय, उपदेशकों का भी सञ्चय, श्रोताओं का भी सञ्चय, और जोश ख़रोश का भी सञ्चय, चारों ओर सञ्चय ही सञ्चय नज़र आता है । पर साथ ही भूलना नहीं चाहिये कि अन्य सञ्चयों के साथ ऊपर कहे दोषों का भी सञ्चय होजाता है । ख़ैर हमें इस समय अन्य सञ्चयों से प्रयोजन नहीं, हमें प्रयोजन धन सञ्चय से ही है, क्योंकि यह सञ्चय ही मन्त्री लोगों को बहुत प्यारा है । यदि मन्त्रि महोदयों का नाम रुपए आने पाई रख दिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । यदि मन्त्रि महोदय को कभी जीते प्रचार का जोश आ भी जाता है तो कह उठते हैं कि प्रचार हो, आय क्या होती है ? इसकी कुछ परवाह नहीं । किन्तु उनकी यह भूल देर तक स्थिर नहीं रहती, वह बड़े विनोद पूर्ण मार्ग से इस भूल को भी भूल जाते हैं । यदि उन्हें याद रहती है तो केवल एक चीज़-रुपये, आने, पाई । प्रश्न होता है,प्रचार हुआ पर वसूल क्या हुआ ? उपदेशक उत्तर देते हैं, मैंने बड़ा प्रबल खण्डन किया था, लोगों ने चिढ़ कर कुछ नहीं दिया । मन्त्री जी दिल में तो एक बार कहही लेते होंगे कि फिर न किया करो ।

ख़ैर उपहास की कथा छोड़िये मन्त्रि महोदयों को धनकी बहुत चिन्ता रहती है, और रहनी भी चाहिये, क्योंकि इसके विना भी कार्य्य नहीं चल सकता, परन्तु दुःख तो यह है कि यह चिन्ता उन्हें इतना नेमिगामी बना देती है कि वह परिवर्तन का नाम सुनते ही ऐसा चौंकते हैं जैसे ठण्डे जल के छींटे से अफीमची । यदि कोई कहे कि मैं आपके सामने ऐसी प्रणाली उपस्थित करता हूं जिससे धनका सञ्चय और सद्व्यय दोनों हो जायेंगे, तो वह घबरा उठते हैं । कहते हैं चलने दो जैसी चलती है । किन्तु यह दूरदर्शिता का मार्ग नहीं । ज्यों २ समाजों की संख्या बढ़ रही है, उत्सवों की संख्या भी बढ़ती जायगी, उपदेशकों का पहुंचना कठिन होता जायगा । समय आरहा है और मेरी सम्मति में तो आगया है जब एक एक उपदेशक के चार २ टुकड़े करने से भी समाजों के उत्सवों की मांग पूरी न होसकेगी । इसका उपाय क्या है । यह कि :—

१. उत्सवों की संख्या घटाई जाय।

२. उपदेशकों की संख्या बढ़ाई जाय।

३. धन सञ्चय यथावत् होता रहे इसलिये मैं आपके सामने एक प्रणाली उपस्थित करता हूं जो ऊपर कहे तीनों सिद्धान्तों को अपने अन्दर समाविष्ट करता है।

वर्तमान प्रणाली में उपक्षिप्त (suggested) परिवर्तन।

(१) प्रत्येक जिले में (अथवा सभा के कल्पित मण्डल में) प्रतिवर्ष दो उत्सव हुआ करें—एक मण्डल के केन्द्र में तथा दूसरा प्रतिवर्ष एक समाज में। इन में अपनी पूरी शक्ति लगादें। इनकी तिथियें नियत हों तथा मण्डल के लोगों को शिक्षित किया जाय कि वह वेद प्रचार के लिये वर्ष भर का अभीष्ट धन इन उत्सवों में इकट्ठा कर दिया करें। मण्डल मण्डल के अन्य समाज अपने उत्सव मण्डल के उपदेशक तथा स्थानीय सज्जनों की सहायता से किया करें।

(२) एक तो प्रचार की प्रणाली में इस परिवर्तन के होने से प्रचारकों की संख्या वैसे ही बढ़ेगी, क्योंकि जो लोग स्वास्थ्य स्वाध्याय तथा नित्य कर्म के परम शत्रु अंधेरी प्रचार से घबराते हैं, वे परिवर्तित प्रणाली में बड़े उत्साह से सहयोग देंगे। दूसरे उपदेशकों की संख्या बढ़ाने का उपाय यह किया जाना चाहिये कि उपदेशकों की योग्यता तथा मण्डल के लोगों की शक्ति के अनुसार जिस २ मण्डल में सम्भव हो सभा की परीक्षा दिलाने के लिये सिद्धान्त विद्यालय खोल दिये जावें, जिनसे उत्तीर्ण होकर लोग मण्डल के अधीन समाजों में पुरोहित कार्य्य करने लगें। जब तक यह सम्भव न हो तब तक लाहौर अथवा किसी अन्य केन्द्र स्थान में सिद्धान्त महाविद्यालय खोल दिया जाय। जिस से शीघ्रता से एक वा दो वर्ष के अध्ययन के पश्चात् बहुत लोग इस कार्य्य के लिये तय्यार हो सकें।

(३) अब रहा धन का प्रश्न, सो यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस दृष्टि से भी यह प्रणाली अधिक लाभदायक होगी, क्योंकि—

१. इस में मार्ग व्यय का धन बहुत बच जायगा।

२. एक केन्द्र में एक उपदेशक के निरन्तर जागरूक रहने से तथा सम्बन्धों के दृढ़ हो जाने से धन का आगम भी पहिले की अपेक्षा अधिक होगा।

सरस्वती मन्दिर

यदि इस प्रकार यह पुरोहित जाल सारे प्रान्त में बिछाया जा सके तो धीरे २ केन्द्र में एक सरस्वती मन्दिर की स्थापना की जाय। यह लोग

१. निरन्तर अध्ययन द्वारा स्थिर साहित्य उत्पन्न करें।

२. समय २ पर निकलने वाले प्रतिपक्षियों के लघु पुस्तकों तथा ग्रन्थों का उत्तर लिखें।

३. प्रतिपक्षियों पर आक्षेपार्थ पुस्तकें लिखें।

४. जब शास्त्रार्थ पड़े तो बाहर भी जाया करें।

हर्ष है कि इस का सूत्रपात्र वैदिक कोष के रूप में सभा ने कर भी दिया है।

इस प्रकार उत्सव प्रणाली का सर्व नाश भी न होगा, और उस के द्वारा भी सर्व नाश न होगा। समय २ पर होने वाले उत्सवों द्वारा लोगों का वायु परिवर्तन भी होता रहेगा तथा नित्य वायु भी मिलता रहेगा। अन्यथा एक समय पर चली हुई प्राण वायु की आंधी भी हमें चिरंजीवी नहीं बना सकती। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुकार सुनी जायगी तथा हम नित्य वायु भी लेंगे और समय २ पर महा यज्ञों द्वारा उसे शुद्ध भी करते रहेंगे।

---

* यथा शक्ति *

सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि दयानन्द आज्ञा करते हैं:—'आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठ कर वा खड़े २ भी खाना अत्यन्त उचित है।'

तो आप जो खड़े २ खा लिया करते हैं, वह इसी आज्ञा के अनुकूल है?

हां! इस लेख से यह भी सिद्ध होता है कि जूता पहने हुए या कुरसी आदि पर बैठे हुए खा लेने में भी हानि नहीं, क्योंकि युद्ध में जूता कौन खोलने बैठेगा?

यह मर्यादा तो युद्धादिकों के लिए है। ऋषि के लेख में साक्षात् यह शब्द आया है।

भाई! हम ऋषि थोड़े हैं। हम ऋषियों के कथन का 'यथा शक्ति" अनुसरण करेंगे। सारे कथन में से इतने शब्दों का अनुकरण हमने कर लिया। 'युद्धादिकों' का तुम कर लो।

ठीक है! हलवा पूरी तुम ने उड़ा लिया, गोली बारूद के सम्मुख हम जाएंगे। किसी का पेट भरा किसी की छाती भरेगी।

मनुष्य यथाशक्ति ही तो कार्य कर सकता है। यदि प्रत्येक आर्य समाजी अपनी शक्ति अनुसार ऋषि के किसी एक शब्द के अनुकरण का प्रण करले तो सारे सत्यार्थ प्रकाश का अनुकरण आज ही हो जाता है। किसी ने सच कहा है:—

जने २ की लकड़ी, एक जने का बोझ।

बेशक! सभी आप जैसे आर्य समाजी होजायँ तो बेड़ा पार है।

'ठठोली'

आर्य समाज का भविष्य

[श्रीयुत धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार]

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि चिरकाल से सोई आर्य जाति अब अपनी कुम्भकर्णी निद्रा को त्याग कर सचेत हो गई है । आर्य जाति को जगाने का यह श्रेय निःसंदेह इस युग के आचार्य ऋषि दयानन्द और उस के वीर सैनिकों को दिया जाना चाहिए। सार्वभौम वैदिक धर्म के स्थिर रूप से प्रचार और क्रियात्मक आर्य जीवन व्यतीत करने वाले नर नारियों की संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की थी । आज आर्य समाज को स्थापित हुए लगभग आधी शताब्दि समाप्त होती है। इस आधी शताब्दि के अर्से में आर्य समाज ने जो सराहनीय कार्य कर दिखाया है उस को निष्पक्षपात रीति से देखते हुए हमें आर्य समाज के भविष्य के विषय में निराशवादी होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता । यह ठीक है कि आर्य समाज के अन्दर वेदों का मनन करने वाले बड़े २ संस्कृतज्ञ विद्वानों की संख्या अभी अंगुलियों पर गिनी जा सकती है, यह भी ठीक है कि आर्य समाज के सभासदों की बहु संख्या श्रद्धा भक्ति के भावों से शून्य सी होती चली जाती है, तो भी जब हम इस बात को दृष्टि में रखते हैं कि आर्य समाज ने वेदों के विद्वान् पैदा करने के लिए गुरुकुल जैसी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना कर रखी है जिन से निःसंदेह अनेक पक्षपात रहित वेदादि शास्त्रों के मार्मिक विद्वानों के निकलने की पूर्ण आशा है, जब हम इस बात को देखते हैं कि आर्य समाज के कुछ विद्वान् वैदिक आर्य साहित्य निर्माण की ओर भी अब विशेष रूप से ध्यान देने लगे हैं, जब हम यह देखते हैं कि आर्य समाज की युवक मण्डली धर्मान्धता वा Dogmatism से अपने को परे रख कर गम्भीरता से धर्म के तत्त्वों का पता लगाने को उत्सुक हो रही है तो हमें तो आर्य समाज का भविष्य प्रकाशमय तथा उज्वल ही दिखाई देता है। निराशावादी वृद्ध लोग चाहे कुछ भी क्यों न कहें, हमारा तो विश्वास है कि आर्य समाज ही नहीं बल्कि प्रत्येक समाज और जाति का भविष्य उस के युवकों के हाथ में रहता है। यदि आर्य समाजी युवक अपने धर्म के विषय में उदासीन हैं, यदि उनके अन्दर अपने धर्म को यथा शक्ति प्रचार करने के लिए कोई उत्साह नहीं, यदि उन के मन्तव्यों और क्रियाओं में परस्पर विरोध है तो वस्तुतः आर्य समाज के भविष्य के विषय में चिन्तित होने की आवश्यकता है । पर क्या वास्तव में ऐसी शोचनीय अवस्था है। इस प्रश्न का हां या ना में उत्तर देना हमारे लिए अत्यन्त कठिन है। आर्य समाज के प्रत्येक प्रेमी और समष्टि रूप से सारे आर्य समाजको लोगों की वाह २ लूटने के लिए नहीं, बल्कि अपनी वास्तविक अवस्था का पता लगा कर उसको उन्नत करने के लिए, इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

कई सज्जनों का स्वाभाविक झुकाव निराशावाद की ओर है। उनका ख्याल है कि आर्य समाज भी एक न एक दिन अन्य प्राचीन सम्प्रदायों और मत मतान्तरों की तरह हिन्दुमत रूपी सागर में लीन हो कर अपनी पृथक् सत्ता खो बैठेगा। और यदि यह किसी तरह अपने अस्तित्व को कायम रख भी सका तो यह केवल हिन्दुमत के एक संशोधक सम्प्रदाय के रूप में ही रह सकेगा, सार्व भौम धर्म प्रचारक के रूप में इस का चिरकाल तक रहना असम्भव है। हम ऐसे निराशावादी सज्जनों के विचार से सह-मति नहीं रखते। तथापि हमें निष्पक्षपात रीति से देखना चाहिए कि आर्य समाज के भविष्य के विषय में इस प्रकार की आशङ्का करने का कोई कारण भी है या कि यह आशङ्का सर्वथा निराधार है? उक्त आशङ्का करने वालों का कहना है कि लगभग आधी शताब्दि के इस अर्से में जहां आर्य सभासदों की संख्या ५ लाख के करीब हो गई है, वहां आर्य परिवारों की संख्या कठिनता से सौ या अधिक से अधिक दो सौ होगी। स्वयं आर्य सभासदों में भी ऐसे दृढ़ आर्य सज्जन बहुत कम हैं, जो अपने मन्तव्यों पर चलते हुए सब प्रकार के सामाजिक अत्याचारों को खुशी से सहन करने को तैयार हों, जिन्हें कल्पित बिरादरी तथा बन्धु बान्धव की अप्रसन्नता का भय अपने कर्तव्य के मार्ग से एक इञ्च भी इधर उधर न हटा सके, इतना ही नहीं, किन्तु जो समाज सुधार को लाने के लिए जान बूझ कर कल्पित जात पात के नियमों के विरुद्ध जाना पसन्द करें। अब तक भी ९८ प्रति शतक अवस्थाओं में विवाह-सम्बन्ध-निश्चय के समय आर्य सभासद जात-पात को ही देखते हैं। इस समय तक जात-पात तोड़क वा वर्ण व्यवस्था संशोधक मण्डल के ५ लाख में से ४६० से अधिक सभासद् नहीं बने, जिस से जाना जा सकता है कि कितने आर्य सभासद् अपने गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था विषयक मंतव्य को क्रियात्मक रूप देन को तय्यार हैं। आर्य गृहों में अभी तक शुद्ध रूप में वैदिक संस्कार प्रचलित नहीं हुए, यद्यपि पौराणिक और वैदिक पद्धतियों की निकम्मी खिचड़ी ज़रूर पका दी जाती है। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए हमारे जैसे एक पूर्ण आशावादी को भी मानना पड़ता है कि यदि यही ढीली ढाली अवस्था विद्यमान रही तो आर्य समाज के भविष्य के विषय में उपर्युक्त शंका करना निराधार न होगा। आर्य समाज के सब प्रमुख कार्य कर्ताओं का यह मुख्य कर्तव्य है कि सारी दुनियां को आर्य बनाने का ठेका लेने से पहले वे अपने समाज के सभासदों को ही दृढ़ बना लें। इस तरह की खिचड़ी मिला कर रखने से काम न चलेगा।

पर जहां आर्य समाज को इस ढील ढाल वा समझौता (Compromise) करने की प्रवृत्ति से अपने को बचाने की आवश्यकता है, वहां साथ ही मतान्धता वा कट्टर-पन से भी सावधान रहने की ज़रूरत है। कई अच्छे २ विद्वानों को यह कहते हुए सुना गया है कि जिस तरह शङ्कराचार्यादि के अनुयायिओं ने उन के लिखे एक २ अक्षर को ठीक प्रमाणित करने का सिर तोड़ यत्न किया था, उसी तरह आर्य समाजियों को

चाहिए कि वे आचार्य दयानन्द के लेखों का निर्भ्रांत प्रामाण्य स्वीकार करें और उनकी प्रमाद जन्य न्यूनताओं वा भूलों को भी सत्य सिद्ध करने की कोशिश करें। इस प्रवृत्ति के कुछ सज्जन यह समझते हैं कि ऋषि दयानन्द का वेद भाष्य वेदों पर अंतिम मोहर है और ऋषि कृत अर्थों से भिन्न अर्थ करना भी ऋषि से विरोध होने के कारण निंदनीय है। स्पष्ट उदाहरण देने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। स्वाध्यायमण्डल की स्वतन्त्र अन्वेषणा के विरुद्ध ये सज्जन अब तक आवाज़ उठाते रहे हैं और अब भी यह लोग दूसरों को उस के विरुद्ध भड़काने में संकोच नहीं करते। हमारा विचार है कि यह प्रवृत्ति आर्य समाज के भविष्य की दृष्टि से हानिकारक है, अतः इसे अभी से समूल नष्ट करने का यत्न करना चाहिए। ऋषि दयानन्द को अपना मार्ग दर्शक आचार्य मानते हुए हमें उन की बताई पद्धति से स्वतन्त्र रूप से वैदिक अन्वेषणा करनी चाहिए। लकीर का फकीर बनने की कुछ ज़रूरत नहीं। ऋषि दयानन्द को निर्भ्रान्त मानना उन के अपने ही सिद्धांत के विरुद्ध है। इस जोश और उत्साह में यह सम्भावना है कि कहीं आर्य समाज एक सम्प्रदाय न बन जाय। नियत वेष, विशेष प्रकार की एक पगड़ी, सिक्खों की नकल में बनाए हुए नारे, ऋषि दयानन्द के स्मारक स्तूप बनाने का प्रस्ताव, इत्यादि बातें आर्य समाज में सम्प्रदायिकता लाये बिना न रहेंगी। अतः इन सब बातों से बचते हुए हमें आर्य समाज के समर्थनात्मक ऐसे साहित्य को तय्यार करने में लग जाना चाहिए जो अन्य मतों और देशों के विचारकों को वैदिक सिद्धान्तों की ओर आकर्षित कर सके। खण्डनात्मक छोटे मोटे ट्रैक्टों से अब काम नहीं चल सकता। आर्य समाज के समाज सुधार विषयक विचारों को लोक-प्रिय बनाने के लिए यदि उत्तम काव्य और नाटक तय्यार कराए जायें तो उस में भी कोई हानि न होगी। "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। उसका पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना, सब आर्यों का परम धर्म है"—इस नियम को सिर्फ दुहराते रहने से लाभ न होगा। आवश्यकता तो सिर्फ इस बात की है कि प्रत्येक आर्य सभासद् निम्न लिखित तीन प्रतिज्ञाएँ अवश्य ही कर ले, और इन्हें यथा शक्ति निभाए:—

१. वह प्रति दिन नियम पूर्वक प्रातः और सायं संध्या किया करेगा। मन्त्रों के तोते पाठ से ही सन्तुष्ट न होकर वह सन्ध्या के मन्त्रों का अर्थ सहित मनन कर के आत्मिक उन्नति के लिए पूर्ण प्रयत्न करेगा।

२. यदि इस समय तक उस ने आर्य भाषा सीखने की ओर ध्यान नहीं दिया तो इसे सीखना अपना मुख्य राष्ट्रीय कर्तव्य समझेगा। यदि आर्य भाषा जानता है तो शीघ्र ही संस्कृत सीखने की ओर ध्यान देगा।

३. प्रातः सन्ध्या के पश्चात् वेद के स्वाध्याय के लिए कम से कम १५, २० मिनट का समय अवश्य ही दिया करेगा।

इन सब बातों से भी बढ़ कर जिस बात पर आर्य समाज का भविष्य निर्भर है, वह बात आर्य जीवन व्यतीत करने वाले नर नारियों की संख्या है। प्रत्येक आर्य सभासद् को अपनी बड़ी भारी उत्तरदायिता समझते हुए अपने जीवन में सत्यवादिता, ईमानदारी, उदारता, सदाचारिता, इत्यादि गुणों के धारण करने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। प्रत्येक सभासद् का जीवन अपने उदाहरण से अन्यों के जीवनों को उच्च करने में सहायक होना चाहिए। आपस के सब भेद-भावों को भुलाते हुए, राष्ट्रीय कार्यों में पूर्ण सहयोग देते हुए हमें अपने तन मन धन द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार में तत्पर हो जाना चाहिए। हीनता, दीनता, दुर्बलता के अवैदिक भावों को तिलाञ्जलि देते हुए उन का स्थान उत्साह-पूर्ण उच्च वैदिक भावों को दे देना चाहिए। युवक समाज के अन्दर अपने धर्म के साथ विशेष प्रेम और उस प्रेम के साथ २ अन्य मतों के लिए सहिष्णुता का भाव पैदा करना चाहिए। यदि हम सब इस तरह संगठित होकर ऋषि ऋण को उतारना अपना कर्तव्य समझने लग जायेंगे तो निःसंदेह ऋषि का उद्देश्य पूरा होगा और हम आर्य समाज के भविष्य को और भी अधिक उज्वल बनाने में समर्थ हो सकेंगे। ऋषि दयानन्द की दिवंगत आत्मा भगवान् की दया से हम सब के अन्दर दिव्य ज्योति जगा कर एक नवीन जीवन का संचार कर दे—यही हमारी हार्दिक प्रार्थना है।

❀ योग-युक्ति ❀

मैं युक्ति योग की पाऊँ ॥ टेक ॥

गंगा यमुना कर निज लोचन। निर्मल नीर नहाऊँ ॥

लोट लोट नित प्रभु चरणों में। विरज बभूति रमाऊँ ॥

अन्तस्ताप भयंकर ज्वाला। तापूँ देह तपाऊँ ॥

सब सुख भोगूँ योग युक्ति से। योगी राज कहाऊँ ॥

"चातक"

कन्या।

(१)

वंशीधर एम० ए० आर्य विद्याशाला के मुख्याध्यापक हैं। उनके पूर्व जीवन के संबन्ध में किंवदन्तियां हैं सही, परन्तु विश्वास कौन करे ? कहते हैं कुछ बहुत पुराने बचपने की बात नहीं, जब यह एम० ए० कलास में पढ़ रहे थे तो नमूने देखते २ इन्हों ने एक दूकानदार का रूमाल हथिया लिया था। संख्या करने पर एक रूमाल कम निकला पर सूट बूट कसे एक अपटुडेट जैंटलमैन पर सन्देह कौन करे ? दूकानदार की आंखों में सन्देह था, पर जिह्वा मुकरी जाती थी। और यह महावीर! महा चतुर! महा चौर! उस की ओर देखा ही नहीं। रूमाल लौटा दिये और कहा—पसन्द नहीं।

कहने को लोग कुछ और भी कहते हैं। सौन्दर्य्य की, लावण्य की, सतीत्व की--न जानें कितनी चोरियां होती हैं। परन्तु यह कथाएं पुरानी हैं। लँगोटियों की कोई जोड़ी आ निकले तो वह आपस में हँस खिल लेते हैं। बातों में संकेतों में, चुटकियों में, महाशय वंशीधर की कीर्ति सुनते सुनते वह उसका दोहरा मज़ा ले लेते हैं, पर साधारण सुनने सुनाने वालों को इस दोहरे ताल का क्या पता ? वह तो अनाड़ी हैं।

दुर्गपुर वंशीधर को पूजता है। और वंशीधर के कारण आर्य समाज को भी पूजता है। दुर्गपुर में विद्याशाला है ही आर्यों की। और स्कूल हैं पर उन में वह बात कहां जो वंशीधर की विद्याशाला में है।

दूसरे शिक्षा से अध्यापक होते हैं, वंशीधर स्वभाव से अध्यापक है। आजीविका के लिये कुछ दिनों डिपटी का मुख्य मुन्शी हुआ, तब भी विद्याशाला में रोज़ आता और विद्यार्थियों को पढ़ा जाया करता था। उसकी आत्मा विकल रहती जब तक कि विद्यार्थियों में घंटा दो घंटे गुज़ार न लेता॥

(२)

वंशीधर आदर्श आर्य है। उसका गृहस्थ जीवन दूसरे आर्यों के लिये नमूना है। वंशीधर के बच्चे हैं, उनसे उसे प्रेम है। उसकी स्त्री है सुधर्मा। उसमें वह रत रहता है। दोपहर को पति पत्नी का स्नेह-संलाप सुनो, मस्त होजाओ। सायंकाल सैर को जाता देखो, समझो, एक माला के दो सूत्र हैं, एक चित्र के दो पक्ष हैं, एक शरीर की दो परछाइयां हैं। समाज मन्दिर में दोनों इकट्ठे आते, इकट्ठे बैठते। उपदेश सुनते, गाना सुनते और सुनाते और फिर एक साथ उपदेश में आए विषयों की चर्चा करते उठते।

लोग कहते हैं सुधर्मा ने वंशीधर को सुधर्मी बनाया है। वंशीधर की विद्या और सुधर्मा का स्वभाविक सदाचार सोने में सुहागा होगए हैं। और अब यह कहना कठिन है कि इन दोनों में सुहागा कौन है और सोना कौन ?

कुछ हो, आर्य समाजियों के लिये यह परिवार सुपरिवार के उदाहरण का काम देता है। माताएं अपनी लड़कियों को सुधर्मा बनने को कहती हैं तो पिता अपने लड़कों को वंशीधर बनने की शिक्षा देते हैं।

(३)

कहते हैं अच्छी सूरत को नज़र लगती है। सौभाग्य बुरा नहीं पर लोगों की दृष्टि में आया सौभाग्य थोड़े काल में दुर्भाग्य बन जाता है। चोर हाथों से ही नहीं लूटते, आंखों से भी लूटते हैं। ईर्ष्यालु की आंखें कौवे की सी आंखें होती हैं, चील की सी आंखें होती हैं। इनका झपटा देखने में नहीं आता पर सौभाग्य-ग्रास छिन झट जाता है। सुकृत का आस्वादन कर लो पर उसका दिखावा न करो।

वंशीधर के पहिले कई बच्चे हुए। माता की गोदी का श्रृंगार बने। जातकर्म से लेकर मुंडन तक से संस्कृत होचुके। एक का यज्ञोपवीत होना निकट है। पर अब के प्रसव क्या हुआ! दोहरी आपत्ति पड़ी। न तो बालक ही रहा और न माता।

वंशीधर का धैर्य प्रसिद्ध है, पर इस वार वह भी हार गए हैं। तीन दिन रात रोते कटी हैं। रामायण में राम का विलाप पढ़ा था, प्रत्यक्ष में वंशीधर का देखा है।

बूढ़ी माता ने कहीं दूसरे विवाह की चर्चा छेड़ दी। वंशीधर के कलेजे में तीर लगा। बिलख २ कर रोया। आंखें लाल होगईं। कहाः—'मैं ऐसा दैत्य हूं जो सुधर्मा की कीर्ति को कलंकित कर दूंगा? उसकी शयन-शय्या मेरी पूजा का स्थल है। आर्यों का पाणि ग्रहण सती साध्वियों का सा पाणि ग्रहण होता है। राजपूत महिलाएं अपने पतियों की प्रेम-प्रदीप की पतंग थीं। आर्य समाज ने दम्पती दोनों को पतंग कर दिया है। पहिले सुधर्मा के शरीर से स्नेह करता था, अब उसकी आत्मा की आराधना करूंगा। उसकी पुण्य स्मृति मेरी निराकार देवता होगी। जीती सुधर्मा से विलास की भी संभावना थी, अब शुद्ध पवित्र पत्नी-प्रेम की उत्थानिका होगी। जो ब्रह्मचर्य बचपने में नसीब नहीं हुआ, सुधर्मा ने मर कर उसका अवसर दिया है'।

लोग सुनते थे। कोई कहता था, उन्माद है। कोई कहता, आर्य समाज की शिक्षा का फल है। दुर्गपुर में ब्रह्मचर्य की खूब चर्चा हुई। विद्यार्थियों ने व्रत लिये कि २४ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह न करेंगे। गृहस्थों ने संयम के प्रण धारण किए। जो प्रभाव बीसियों उपदेशों से न पड़ा, एक इस दुर्घटना से पड़ गया। सच कहा है सज्जनों का जीवन मरण दोनों उपदेश होते हैं।

(४)

एक बरस बीता, दो बीते, तीन बीते। वंशीधर ने योग के साधन सीखे। प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में उठते। पहर दिन चढ़े तक कुटी का द्वार न खोलते। उन के रहन में, सहने में, चाल में, ढाल में विमल पवित्रता है। किसी देवी को देखते ही सिर झुका

लेते हैं। जब कहते हैं, 'बहिन जी !, 'माता जी !' तो हृदय बोलता प्रतीत होता है। भाषण में जब कभी स्त्री चरित्र का वर्णन करने लगते हैं तो मुख पर अद्भुत कान्ति छा जाती है। कहते हैं, स्त्रियाँ पुरुषों के ब्रह्मचर्य की संरक्षिका है। देवियां यज्ञ की आग हैं। पूर्व दिशा में उगी हुई तमोहारिणी उज्वल उषा हैं। इन को पूजो, यह मातृ शक्ति हैं।

सुनने वालों पर सन्नाटा छा जाता है। वंशीधर की कही हुई देवी-महिमा समा बांध देती है।

वंशीधर की आयु ३० वर्ष से कुछ ऊपर है, परन्तु इन पर विश्वास इतना किया जाता है जैसे साठ वर्ष के वृद्ध हों। लड़कियां इन से 'पुत्री' कहे जाने की पुण्य सिद्धि के लिए इन्हें 'पिता' पुकारती हैं। और उस समय यह लगते भी पिता ही हैं।

(५)

दुर्गपुर में लड़कों की विद्याशाला के अतिरिक्त कुमारियों की पाठशाला भी है। उस का नियम है कि कोई युवक विना अपनी पत्नी, बहिन, या लड़की को साथ लिये शाला में प्रवेश नहीं कर सक्ता।

वंशीधर की स्त्री नहीं, बहिन नहीं, परन्तु इन पर लोक विश्वास इतना प्रबल है कि स्वयम् प्रबन्ध कर्त्री सभा ने उन से प्रार्थना की है कि एक वार प्रति दिन पाठशाला को देख जाया करें। इन के नकार करने पर भी इन से आग्रह किया गया है कि कुमार जगत की भान्ति कुमारी जगत का भी कल्याण करो। आख़िर दो पहिए की गाड़ी एक पहिए से न चलेगी।

यह सदैव जाते हैं, लड़कियों को पुत्री कहते हैं। अध्यापकाओं को बहिन कह कर समझाते हैं। पुत्रियों को पढ़ाते हैं और सायं काल से पूर्व घर लौट आते हैं।

गान में इन को विशेष रुचि है। सुधर्मा के जीवन काल में उस के साथ गाते थे, अब अकेले सितार बजाते हैं और प्रभु का भजन किया करते हैं। पाठशाला में भी इन्हों ने गान-श्रेणी खुलवाई है। गानाध्यापक का कार्य देखते हुए कभी २ स्वयम् भी सितार बजा आते हैं। वह सितार क्या होती है, मोहन की वंशी होती है।

(६

राधा इन वंशी के सुनने वालों में थी। उसकी इच्छा थी कि वंशीधर से सितार बजाना सीखे। माता से, पिता से आग्रह कर अन्त में दोनों से प्रार्थना कराई और महा० वंशीधर से विशेष समय लिया जिस में वह उसके घर आ जाते और उसकी माता को पास बिठा कर राधा का हाथ सितार पर चलवाते। राधा को सितार बजाना आने लगा।

राधा की माता का वंशीधर पर विश्वास था। वह उन्हें 'भ्राता जी' कहती थी और उन के आचरण पर किसी प्रकार की शङ्का लाना दुस्साहस मानती थी। उन का हृदय था भी तो स्वच्छ। महीनों तक यह वाद्य-शिक्षण चालू रहा। वंशीधर ने अपने व्यवहार से अपनी पवित्रता का और भी सिक्का बिठा लिया। माता का पहरा अनावश्यक हो गया। इन्हों ने कई बार नीति के वचन सुनाए, शास्त्रों के श्लोक पढ़े कि एकान्त में पिता को भी पुत्री के पास नहीं बैठना चाहिए। इन के कहने से माता हठात् ठहर भी जाती रही। पर कभी अनिवार्य कार्य निकल आता तो यह छुट्टी दे देते और अपने ऊपर अधिक सावधानी से संयम करते।

(७)

एक दिन वंशीधर न आए। माता ने प्रतीक्षा की। राधा से पूछा। राधा ने सितार हाथ में ली और बजाने का यत्न किया पर वह न बजी। उँगलियां लड़खड़ा गईं। माता ने ताड़ लिया, दाल में कुछ काला है।

दिनों ही दिनों में खबर उड़ी कि राधा गर्भवती है। पहले सयानी बूढ़ियों ने और फिर पड़ोस भर की चाचियों ताइयों ने जान लिया कि राधा के कानों में 'माता' शब्द की पूर्व ध्वनि पड़ रही है। गर्भ में कोई 'मां' कह रहा है।

जब कभी राधा की माता कहीं पड़ोसिनों में काना फूंसी होती सुनती, उस के पांवों के तले से ज़मीन निकल जाती। समझती, राधा की चर्चा है। जी में आया, गर्भ-पात करा दो, पर राधा के पिता ने रोक दिया। किसी ने कहा अभियोग करो, किसी ने कहा वंशीधर का प्राणान्त कर देना चाहिए। वंशीधर पर सब जगह उँगलियां उठने लगीं। विद्याशाला के विद्यार्थियों को एक खेल हाथ आ गया! कभी नोटिस लगाते, कभी आवाज़ें कसते।

(८)

दुर्गपुर समाज के पुरोहित बड़े बुद्धिमान् पुरुष थे। उनसे राधा के पिता की गोष्ठि रहती थी। उनकी सम्मति से सलाह ठहरी कि वंशीधर और राधा का विवाह कर देना चाहिये।

वंशीधर उपर्युक्त घटना के थोड़े दिन पश्चात् दुर्गपुर से बाहर चला गया था। उस का पतन कैसे हुआ, यह गुह्य कहानी है और हम उस पर से परदा नहीं उठाते। अब वह पुराना वंशीधर न था। योगाभ्यास भूल चुका था। प्रातःकाल की समाधि उखड़ चुकी थी। हृदय वियोगाभ्यास का योगी था। अपकीर्ति से खिन्न था, परन्तु राधा से दूर भी रहा न जाता था। जब विवाह की वार्ता सुनी, लौट आया और राधा के पिता के पांव पर जा गिरा। फड़कते होठों से 'पिताजी' भी कहा।

राधा के पिता का धैर्य अथाह था। विष के घूंट को अमृत कर पी गए और दूसरे दिन विवाह का निश्चय कर दिया।

(९)

वंशीधर विना बरात के वधू लेने आया है । राधा के पिता ने भी कोई धूमधाम नहीं की। चुपचाप गृह के अन्दर बैठकर विवाह की पद्धति का आरंभ करा दिया है।

वंशीधर और राधा दोनों सुपठति हैं। पुरोहित ने जान बूझ कर पद्धति के कई भाग छुड़ा दिये हैं। दोनों मंत्र पढ़ते चले जाते हैं। पढ़ते पढ़ते पाठ आया: —कन्या अग्निमयक्षत ।

वंशीधर ने राधा का हाथ पकड़ा और लाजाहुति डलवाने लगा । इस क्रिया के साथ 'कन्या' शब्द कहना ही था कि वंशीधर की देह काँप गई । अग्नि की ओर देखा, राधा की ओर देखा, आंखें नीची कर लीं । एक ठंडी श्वास निकली और फिर आंखें ऊंची न हुईं।

राधा के पिता की आंखों से आंसू झड़ पड़े। माता बाहर चली गई । पुरोहित ने ज्यों त्यों कर के विवाह पद्धति समाप्त की। वंशीधर के मुँह से निकला 'सुधर्मा'।

(१०)

राधा के लड़की पैदा हुई है। उसे वंशीधर उठाते और प्यार करते हैं । वह सुधर्मा की सन्तान में मिल जुल गई है। राधा ने सुधर्मा की सन्तान को अपनी सन्तान समझ कर सँभाल लिया है।

अब वंशीधर सैर को निकलते हैं तो राधा साथ होती है. पर देखने वाले कहते हैं राधा में और वंशीधर में वह समीपता (एकात्मता) दिखाई नहीं देती जो सुधर्मा और वंशीधर में थी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे पति पत्नी जान बूझ कर कुछ अन्तर बीच में छोड़कर चलते हैं। दैवयोग से पास आजाएं तो दोनों हट जाते हैं। समाज में आते हैं तो राधा स्त्रियों में चली जाती है, वंशीधर पुरुषों में। लोग कहते हैं, घर पर भी दोनों की बैठकें, शयनागार, अध्यन-शालाएं अलग २ हैं। एकान्त में पति पत्नी कभी इकट्ठे नहीं हुए।

राधा इस विवाह को विवाह नहीं मानती। कहती है, कन्या बनूंगी, तब विवाह की पद्धति को पूरा करूंगी, अर्थात् दूसरे जन्म में। यह जीवन उस जन्म की साधना है। वंशीधर इस पर भी राज़ी नहीं। उसका जाप 'सुधर्मा' है।

उसने सुधर्मा की शृंगारशाला में डेरा लगा लिया है । वहां एक आसन बिछा रहता है। जब जाओ, यह उस पर बैठे जाप कर रहे होते हैं। सामने एक कपड़े में ढका हुआ चित्र लटकता है जिस पर कभी ओढ़ना चढ़ा दिया जाता है, कभी हटा दिया जाता है। यह वंशीधर की लज्जा और श्रद्धा के अदलते बदलते दृश्य हैं।

'दर्शक'
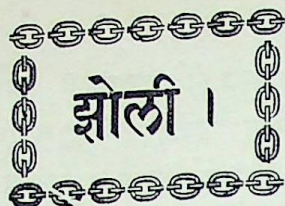
जातीय शिक्षा

तिलकघाट बीच में नागरिकों की एक बृहत्सभा हुई, जिसके सभापति श्रीमान् अब्दुल हकीम थे। वक्तृता देते हुये उन्हों ने वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली के विषय में अपने निम्न विचार जनता के सन्मुख उपस्थित किये:—

"बहुत से भाई वकील और डाक्टर बनने के लिये अंग्रेज़ी स्कूलों तथा कालिजों में विद्याध्ययन करते हैं। इस शिक्षापर बहुत सा रुपया बर्वाद करके उनको पता लग गया है कि ये कार्य लाभदायक नहीं। इस से मनुष्य अपनी जीविका भी कठिनता से कमा सकता है। अंग्रेजी शिक्षा का बुरा प्रभाव यह पड़ा है कि इस शिक्षा प्रणाली के निकले हुये स्नातकों का दिमाग़ नास्तिक होजाता है। परमात्मा पर भी उनका विश्वास नहीं रहता। इससमय स्वराज्य प्राप्ति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय लड़के और लड़कियों को जातीय शिक्षा दीजाये।"

इनके भाषण के पश्चात् श्रीमान् हमीदखान की वक्तृता हुई। अपने भाषण में उन्हों ने वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली पर निम्न टिप्पणी की:—"पश्चिमीय शिक्षा से सच्चे नागरिक तथा स्वदेश भक्त पैदा नहीं होते, परन्तु इससे ऐसे आदमी पैदा होते हैं जो कि मानसिक दासता की बेड़ियों में जकड़े होते हैं तथा जोकि गवर्न्मेंन्ट के लिये लेखकों का कार्य करने मात्र के लिये ही उपयोगी होते हैं। यही लोग भारत में अंग्रेजी राज्य की दृढ़ता के कारण है। इनको इस राज्य का स्तम्भ कहा जा सकता है। यदि हम अपने बालकों को स्वतन्त्र विचारक बनाना चाहते हैं, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनको मातृ भाषा में शिक्षा दी जाए। यदि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो तो बालकों की मानसिक उन्नति स्वभावतः अधिक हो।"

"स्वराज्य"

नमशूद्रों का जातीय विद्रोह।

बङ्गाल के ब्राह्मणों की यह अभिलाषा सर्वथा नहीं है कि अछूत जाति के लोग सड़कों तथा गलियों में से न गुजरें और कुओं से जल न भरें। तथा वह इस बात का भी यत्न नहीं करते कि ब्राह्मण लोग ही कुच्छ विशेष सड़कों की मरम्मत करें। बङ्गाल में नमशूद्रों की संख्या बहुत अधिक है। इनका पेशा कृषि है। यद्यपि इन में शिक्षा का प्रचार बहुत नहीं है तथापि इस जाति के बहुत से नवयुवक विश्वविद्यालयों के स्नातक बन कर ऊंचे दर्जे का साहित्य तय्यार करने में लगे हुए हैं। हम ने बहुत से ऐसे नम शूद्र भी देखे हैं जिनका रंग काश्मीर के लोगों जैसा सुन्दर है और जिनका उच्चारण

शुद्ध है। परन्तु इनको अछूत समझा जाता है। इस कारण से तथा ईसाई प्रचारकों के प्रचार की वजह से वे सब प्रकार के उन जातीय आन्दोलनों के विरुद्ध ही आवाज़ उठाते हैं; जिन के प्रचारक ऊंचे दर्जे के हिंदु होते हैं। हिंदु जाति के अत्याचारों से वे इतने पीड़ित हैं कि कुच्छ प्रांतों में ईसाई मत के पक्ष में इन लोगों ने सार्वजनिक आन्दोलन किया है। यदि दो हज़ार नमशूद्र ईसाई होना चाहते हैं तो इसका यह कारण नहीं कि वह ईसाई मत को अच्छा समझते हैं परन्तु वे अपने आपको हिंदु जाति के अमानुषिक अत्याचारों से बचाना चाहते हैं जो कि उन पर सदियों से हो रहे हैं।

इसी कारण से प्रेरित हो कर बङ्गाल के कुच्छ राजनैतिक नेताओं का विचार है कि नमशूद्रों में से अस्पृश्यता के भाव को दूर किया जाए और कुच्छ हिंदु और ब्राह्मण इस के पक्ष में भी हैं। परन्तु बङ्गाल की ब्राह्मण सभा इस के विरोध में हठीली है। इसने अभी तक इतनी घोषणा की है कि जब इसके सामने यह सवाल पेश किया जाएगा तब यह इस बात पर विचार करेगी कि शास्त्रों की इस विषय में क्या आज्ञा है—माना कि शास्त्र सब विषयों में एक मत हैं और बङ्गाल के हिंदु अन्य सब कार्य शास्त्रानुकूल ही करते हैं-ब्राह्मण सभा अपने आपको बहुत अधिक समझती है। इतना निश्चय है कि यदि यह सभा यह विज्ञप्ति निकालदे कि नमशूद्रों के हाथ का पानी पी लेना चाहिये तो बङ्गाल के हिन्दु एकदम इस बात को न मान लेंगे। और न ही इनकी शक्ति में यह है कि यह नमशूद्रों को जातीयदासता में जकड़ रक्खें। उनमें जागृति पैदा होचुकी है और वे अपनी स्थिति को उच्च बनाने का यत्न अवश्यमेव करेंगे ही।

हाल ही में भतपारा में ब्राह्मण सभा की जो बैठक हुई है, उसमें कुछ पण्डितों की वक्तृताएं सुनकर अचम्भा होता है। एक पण्डित ने कहा है कि नमशूद्र जन्म से ही अछूत हैं। क्योंकि इन्हों ने पूर्व जन्मों में ऐसे पाप किये थे। उनको अपनी वर्त्तमान स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिये। इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति, परिवार, जाति या समाज की स्थिति के उन्नत करने का यत्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह उनके पूर्व कर्मों का फल है। तब क्यों ब्राह्मण सभा 'गौ तथा ब्राह्मणों' की रक्षा के लिये यत्न करती है। क्योंकि उनकी वर्त्तमान शौचनीय अवस्था पूर्व जन्म में किये कर्मों का फल है। जिनको कि साधारण मनुष्य नहीं समझ सकते?

एक और पण्डित ने बड़ी ही गर्हित वक्तृता दी। उस ने कहा कि मनुष्य के शरीर में ऐसे हिस्से हैं जिन को हाथ लगाने के अनन्तर मनुष्य को हाथ धोने पड़ते हैं। इस का यह तात्पर्य नहीं कि हम उन से घृणा करते हैं। परन्तु हमारा प्रश्न यह है कि क्या ब्राह्मण इन हिस्सों को अपने शेष शरीर से पृथक् कर देते हैं?

हमें इस प्रकार के मिथ्याविश्वासों को देख कर आश्चर्य होता है। नमशूद्रों को

सन्तुष्ट करने के लिए ब्राह्मणों को कुछ व्यय नहीं करना पड़ता । उन के लिए किसी आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं । उनके लिये स्कूल तथा औषधालय खोलने की आवश्यकता नहीं । उनको अपने किसी भी अधिकार छोड़ने की आवश्यकता नहीं । जिस प्रकार कि इन्होंने मुसलमानों के लिए कौंसिलों या अन्य सार्वजनिक प्रतिनिधि सभाओं में स्थान रिक्त किया है । इस प्रकार इन के लिए रिक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं । उनके लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि वे नमशूद्रों के हाथ का पानी पीलें और उन के साथ एक ही दरी पर बैठें । उन के लिए नमशूद्रों के हाथ का पका भोजन खाने की आवश्यकता नहीं ।

"मौडर्नरिव्यू"

हम यह समझते हैं कि यदि पवित्र हो कर नमशूद्र भोजन बनायें तो उन के हाथ के बनाए भोजन के खाने में भी कोई दोष नहीं ।

हिन्दुओं को इतिहास की चेतावनी

टी. डबल्यू आरनोल्ड अपनी पुस्तक "दि टीचिङ्ग ओफ इस्लाम" में लिखते हैं कि 'हिन्दुओं के अत्याचारों से बचने के लिए अछूतों को जो उपाय इस्लाम बताता है, उसका एक उदाहरण १९ वीं सदी के अन्त में टिनेवेलि में देखा जा सकता है ।

वहां पर 'सनार' नामक एक बड़ी ही नीचे दर्जे की अछूत जाति है । ये लोग अपने परिश्रम से बड़े धनी हो गए हैं और उन में से बहुतों ने बड़े २ सुन्दर मकान बना लिए हैं, उन्होंने इस बात का दावा किया कि जिन मन्दरों में अब तक उन का प्रवेश न था उन में जाने की उनको आज्ञा होनी चाहिए । एक विद्रोह हुआ, जिस में कि हिन्दुओं ने इन पर बड़ा अत्याचार किया । इस अत्याचार से पीड़ित हो कर इन्हों ने इस्लाम की शरण ली । एक गांव में एक ही दिन में ६०० सनार मुसलमान हो गए और इन को देख कर अन्य ग्रामीय सनारों ने भी मुसलमान होना आरम्भ कर दिया ।

"भारत वर्ष के मुसलमानों को अपनी संख्या बढ़ाने में सब से अधिक कृतकार्यता बङ्गाल में हुई है ।

दि प्रीचिंग औफ इस्लाम (टि. डबल्यू आरनौल्ड)

दहेज़ प्रथा ।

लेफ्टिनैन्ट कर्नल डि. जि रायने एक सार्वजनिक सभा में जिसकी बैठक गत सप्ताह सौन्दर्य महल में हुई थी, भाषण करते हुए उन बुराइयों का वर्णन किया था जो जाति धर्म के नाम पर समाज पर अत्याचार कर रही हैं ।

दक्षिण में ब्राह्मण लोग खुलमखुला विवाहों में रुपये से अपनी कन्याओं का विवाह करते हैं । विवाह के दिनों में दूल्हे विक्री की वस्तुओं के समान खूब सजधज कर इधर उधर निकलते हैं और ग्राहकों के पास जा कर अपनी कीमतें निश्चित करते

हैं। यह बुराई केवल गरीब लोगों में ही नहीं है जोकि इस प्रकार के विवाह करके इस अभिप्राय से रुपया एकत्रित करते हैं ताकि वे अपने बालकों को शिक्षित कर सकें परन्तु इसका प्रचार धनिक लोगों में भी है। धनी तथा निर्धन समान तौर से विवाह को अपनी आर्थिक स्थिति की उन्नति का एक साधन समझते हैं। यदि कोई मनुष्य बिना दहेज़ लिये ही अपने लड़के की शादी कर देता है तो उसको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। इस लिये कन्यायें अपने माता पिता के लिये दुःख का कारण ही होती हैं। जिस गृहस्थ का उद्देश्य सुख था। आज वे ही इस प्रथा के कारण नरकधाम बना हुआ है। इस दहेज़ प्रथा का प्रचार अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा ब्राह्मणों में अधिक है। धार्मिक नेताओं को इस बुराई को दूर करने का यत्न करना चाहिये ताकि बहुत गृहस्थ जो कि नरकधाम बने हुये हैं, उनमें दुःखों का अन्त होकर सुख का संचार हो।

"स्वराज्य"

बाइवल की निर्भ्रान्तता।

युरोप में ईसाईयों के दो धड़े हैं। एक वे लोग हैं जिनका विचार यह है कि बाइवल निर्भ्रान्त नहीं है। और ये लोग ईसाई मत को वर्त्तमान विचारों के अनुकूल बना रहे हैं। इनको मौडर्निस्ट (Modernists) कहते हैं। तथा दूसरे वे लोग हैं जो कि बाइवल के प्रत्येक शब्द को प्रमाणिक तथा निर्भ्रान्त मानते हैं। इन दोनों दलों के दो मुख्य नेताओं में ८९ दिसम्बर १९२४ को एक विवाद हुआ जिस का सारांश डाक्टर फ्रैडरिक प्रधान आर्यसमाज शिकागो ने भेजा है। उसको आर्य के पाठकों के लाभार्थ हम नीचे देते हैं।

मौडर्निस्ट तथा फन्डैमैंटेलिस्टों में एक विवाद हुआ। पहिले दल के प्रतिनिधि चार्लस फ्रान्सिज़ पौटर, पैस्टर ऑफ़ वैस्टसाइड यूनियनचर्च थे, तथा द्वितीय दल के प्रतिनिधि डाक्टर जोहन रोचस्ट्रैटन, पैस्टर ऑफ़ कैलवरी बैप्टिस्टचर्च थे। विवाद के अनन्तर सभापति ने यही निर्णय दिया था कि प्रथम दल के लोग ही विजयी रहे। डाक्टर स्ट्रैटन ने कहा कि "परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुये कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि मानव जाति के कल्याणार्थ किसी ईश्वर के ज्ञान की आवश्यकता है जिस प्रकार कि एक बुद्धिमान् राजा अपनी प्रजा के लिये कानून का निर्माण करता है। इतना कह कर डाक्टर स्ट्रैटन ने यह कहा कि आज मैं यही सिद्ध करने का यत्न करूंगा कि बाइवल ही वह ईश्वरीय ज्ञान है। इस का सबूत इससे बढ़कर और क्या है कि बाइवल का प्रचार और उसकी बिक्री बहुत है। इसके अनुयाइयों को हजारों की संख्या में क़तल किया गया तथापि इस के पढ़ने वालों की संख्या बढ़ती ही चली गई। सारांश यह है कि इसके समान सर्वप्रिय अन्य कोई पुस्तक नहीं

है। तथा १५०० वर्षों के अन्तर में ४० कर्त्ताओं ने बाइबल को लिखा। तथापि सारी पुस्तक में एकता तथा सम्बन्धता पाई जाती है। बाइबल के ६६ भाग हैं। तथापि इस में विरोध का नामोनिशान नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि इस का वास्तव में कर्त्ता परमात्मा ही है। इसमें पैगम्बरों ने जो भविष्यवाणियां की थीं वह पूरी हुई। उन्हों ने यह भी कहा कि बाइबल में बहुत से स्थानों पर लिखा है कि यह ईश्वरी ज्ञान है।

बाइबल ईसाई मत में सब से अन्तिम प्रमाण है। अर्थात् यह स्वतः प्रमाण है। और प्रत्येक बात के लिये इस प्रकार की प्रमाणिक पुस्तकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। सारा वर्तमान तत्वज्ञान नास्तिकवाद की तरफ ले जाता है। जो मनुष्य अपने नियम बना कर उन पर चलता है, वह वास्तव में विद्रोही है। इसी प्रकार यदि धार्मिकबातों में प्रत्येक मनुष्य अपनी ही प्रमाणिकता को मान चले तो मनुष्यजाति का निर्वाह नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही कानून का कर्त्ता होगा तो बड़ी कठिनाईयां पड़ेगी।

डाक्टर स्टेटन के भाषण के पश्चात् डाक्टर पौटर खड़े हुए। उन्हों ने कहा कि मैंने विरोधी दल के नेता का पक्ष इसी लिए लिया है, क्योंकि मैं यह नहीं मानता कि बाइबल का एक २ शब्द ईश्वरीय ज्ञान तथा निर्भ्रान्त है। डाक्टर महोदय ने कहा कि बाइबल में वैज्ञानिक अशुद्धियां और स्पष्ट विरोध पाया जाता है। तथा इस में परमात्मा का स्वरूप बड़ा घृणित वर्णित है।

१. लैविटिकस ११।६ में आया है कि "खरगोश का मांस इस लिए नहीं खाना चाहिए कि वह जुगाली करता है" वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि खरगोश जुगाली करने वाला प्राणी नहीं है। इसी प्रकार की अन्य कई वैज्ञानिक अशुद्धियों का उन्होंने वर्णन किया।

२. ल्यूक के दूसरे अध्याय में दो तीन ऐतिहासिक अशुद्धियां हैं।

(क) सीज़र औगस्टस ने आज्ञा निकाली कि सारे रोमनसाम्राज्य की (census) ली जाय। परन्तु इतिहास को पढ़ने से पता लगता है कि इस प्रकार की (census) कभी नहीं हुई।

(ख) मैथ्यु में लिखा है कि जीसस की उत्पत्ति के समय सीरिया का गवर्नर क्विरिनियस था। परन्तु इतिहास के अध्ययन से पता लगता है कि वास्तव में उस समय सीरिया का गवर्नर क्विन्टस सैन्टियस सैटरनिस था न कि क्विरिनियस।

३. सैमुअल ६।२३ में लिखा है कि "सौल की लड़की माइकेल की कोई संतान न थी" परन्तु सैमुअल २१।८ में लिखा है कि "सौलकी लड़की माइकेल के पांच पुत्र थे" इस प्रकार पुराने तथा नए अहद नामे में से उसने बहुत सी विरोधी बातें दिखाईं।

४. ड्यूटरोनौमी के २० वें अध्याय में परमात्मा ने यह आज्ञा दी कि "माता

पिता की आज्ञा न मानने वाले लड़के को बिना किसी परीक्षा के माता-पिता के कहने से पत्थरों से मार देना चाहिए। उस ने कहा कि यदि न्यूयार्क के माता-पिता इस आज्ञा के अनुसार कार्य आरम्भ कर दें तो इस का यही परिणाम होगा कि सब के सब हिंसा के कारण पकड़ लिए जायेंगे।

इस प्रकार की बातें यह सिद्ध करती हैं कि बाइबल निर्भान्त नहीं है। इन में से एक बात भी मेरे पक्ष के सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

उन्होंने कहा कि यदि बाइबल निर्भान्त है तो इस के भिन्न २ संस्करणों में इतने विरोधी परिवर्तन क्यों पाये जाते हैं। इस के आगे डाक्टर पौटर नेकहा कि बाइबल की सब भविष्य वाणियां पूरी नहीं हुई। बाइबल में लिखा है कि यहूदी लोग सारी भूमि पर फैल जायेंगे और सदा डर में रहेंगे। परन्तु हम देखते हैं कि यूनान के यहूदी किसी के भय में नहीं रहते। इस प्रकार विवाद के अनन्तर सभापति ने यह फैसला दिया कि मौडर्निस्ट नेता की ही विजय हुई है। "वैदिक मेगज़ीन"

उद्बोधन

मुसाफिर! क्यों हो रहा हताश?

क्या अब तुझ में रहा न बाकी तनिक आत्म-विश्वास।
भला समय क्यों व्यर्थ खो रहा, बैठा हुआ उदास।
उठ, चल, राह पकड़ तू अपनी, पूरी होगी आस॥
लाभ छोड़ने से क्या होगा भला दीर्घ निश्वास।
कब होता है सफल मनोरथ कोई बिना प्रयास॥
माना तुझे मिलेगा पथ में दुख रूपी कुश कांस।
पर, ऐ भीरु! इसी से होगा तेरा शक्ति-विकास॥
अगर चाहता है न मुसाफिर होवे तेरा ह्रास।
तो तू भय को कभी फटकने मत दे अपने पास॥
यों ही हार गया हिम्मत तू वृथा पा रहा त्रास।
आलस और भीरुता में ही है दुख का आवास॥

—मणिराम गुप्त "ध्रुव"

ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति ।

उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वां २ ॥ अहम् । यजुर्वेद ॥

(अहम्) मैं यजमान वा-पुरोहित (ब्रह्मणा) वेद और ईश्वर के ज्ञान देने से (एषाम्) इन चोरादि दुष्टों के (बाहू) बल और पराक्रम को (उदतिरम्) अच्छे प्रकार उलंघन करूं (वर्चः) तेज तथा (बलम्) सामर्थ्य से और (अमित्रान्) शत्रुओं को (उत्क्षिणोमि) मारता हूं (अथो) इस के पश्चात् (स्वान्) अपने मित्रों के तेज और सामर्थ्य को (उन्नयामि) वृद्धि के साथ प्राप्त करूं ।

इस मन्त्र में वेद ने शत्रु नाश के दो उपाय बताए हैं । ये क्षात्र शक्ति और ब्रह्म शक्ति हैं । इन दोनों में भी ब्रह्म-शक्ति ही प्रधान है । शत्रुओं को मारने से शत्रुता का नाश नहीं हो सकता । यदि शत्रुता का नाश प्राकृतिक शक्तियों से हो सकता और इस का समूलोन्मूल किया जा सकता तो आज यूरुप में कलहका अभाव होता । यूरुप के अन्दर खून की नदियां न बहतीं । यत्न यह होना चाहिए कि शत्रुता का ही नाश किया जावें । १८७० में जर्मनी और फ्रांस में लड़ाई हुई । जर्मनी ने फ्रांस का नाश कर दिया । परन्तु इस से शत्रुता का नाश न हुआ । और अब फिर वह प्रादुर्भूत हुई । प्रेम से ही घृणा का नाश होता है । परन्तु घृणा और द्वेष से कभी भी घृणा और द्वेष पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती । महाभारत में एक श्लोक इसी अभिप्राय का आया है । "अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत् । जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम् । अर्थात् धर्मात्मा पुरुष क्रोध को अक्रोध, नीचता को साधुता, कृपणता को दान, और असत्य को सत्य से जीतें । उद्योग-पर्व ३८ । ३७ ।

कभी भी किसी को पशुत्व-शक्ति से दबाया नहीं जा सकता । जब किसी अत्याचारी को अत्याचार करने की आदत पड़ जायगी तब वह अपने स्वजनों तथा बांधवों पर भी अत्याचार करेगा । संसार के इतिहास का अध्ययन हमें बतलाता है कि अत्याचारी गिरता है और अत्याचार सहने वाले उठते हैं । परन्तु जब वह विजयी होता है तब वह भी इस सचाई को भूल कर अत्याचारी बन जाता है । इस लिए उसका भी नाश होता है । यदि हम निर्बल को सतायेंगे, जब तक हम में शक्ति है तब तक लोग हम से दबे रहेंगे, और जब हमारी शक्ति का ह्रास होगा, तब वे सब निर्बल मिल कर हम से बदला उतारना शुरू करेंगे । अत्याचार का विजय अत्याचार से नहीं हो सकता । शत्रु को मारने से शत्रुता का नाश नहीं होता परन्तु बढ़ता ही है महाभारत में विश्वामित्र और वसिष्ठ के जीवनों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्म-शक्ति में कितना बल है । जब तक लोगों का हृदय नहीं बदलेगा तब तक

विचारों की पवित्रता का भी कोई गहरा असर नहीं पड़ता । आसुरी शक्ति दबाई नहीं जा सकती ।

इसके लिये आत्म संयम की आवश्यकता है। किसी भी कार्य को बिना विचारे जोश में नहीं करना चाहिए । क्रोध में मनुष्य की बुद्धि किंकर्त्तव्य विमूढ होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वेष तथा शत्रुता के भाव को दबाने से ही संसार में इसका नाश हो सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कैद से निकल कर भी ९५ प्रति शतक आदमी उस बुराई से मुक्त नहीं होते इस के विपरीत वह १० गुना बदमाश बन कर निकलते हैं ! इस लिए जबरदस्ती से निर्वाह नहीं हो सकता। यदि किसी को दण्ड देना भी हो तो भी बिना बदले के भाव के देना चाहिए। दण्ड देना ही है तो प्रेम तथा सुधार की इच्छा से ही दण्ड देना चाहिए। यदि ब्रह्म-शक्ति को क्षत्र बल पर प्रधानता दी जाए तो संसार से बुराई का सर्व नाश हो सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि क्षत्र बल की उपयोगिता ही नहीं । दुष्टों को दण्ड देने के लिए, शत्रुओं का नाश करने के लिए आत्म-बल की आवश्यकता है, परन्तु शत्रुता तथा दुष्टता का उन्मूलन तो ब्रह्म शक्ति से ही हो सकता है।

"यशःपाल सिद्धान्तालङ्कार"

दार्शनिक सिद्धान्त पुष्प माला ।

(श्रीयुत मुक्तिराम उपाध्याय)

प्रथम पुष्प ।

रसिक भ्रमर—

वाह रे फूल, बलिहारी तेरे रंग और रचना के ढंग पर । विधाता ने तुझे अवकाश के दिन बड़े श्रम से बनाया प्रतीत होता है। पर यह क्या बात? तेरे चारों ओर घूमा, नीचे देखा, ऊपर देखा सूंघा भी और चखकर भी देखा। न कहीं गन्ध ही मिला और न रस का पता लगा। ऐ निर्गन्ध फूल! रविवार के दिन स्वीकृत हुए छड़े बाबुओं के कर्तव्य हीन प्रस्ताव की भांति तुझे क्या करूं? छोड़ा कर चल दूं? परन्तु नहीं, तू मेरा है। दादा का खोदा कूआँ बिना पानी है तो क्या छोड़ कर चल दूंगा। लोग क्या कहेंगे। और न हो गन्ध, भूले भटके प्राणी तेरे रंग ढंग को देख कर ही जाल में फंस जाते हैं। जीविका का साधन है, तुझे न छोडूंगा। हा जीविके! धर्म कदली के लिये ममता की भांति तू भी कठोर कुठार है।

ज्ञानी भ्रमर—

रसिक महोदय! नमस्ते। आज किस चिन्ता में हैं? क्या कोई गूढ़ विचार है?

'आइये महाशय ? चिन्ता का क्या काम, ऐसे मनोहर फूल को पाकर भी चिन्ता? देखिये तो सही इसका रंग रूप ।

खा पी के आनन्द मनाना, पास न हो ऋण लेके खाना ॥ १ ॥
लेकर देने का क्या काम, पाप पुण्य का झूठा नाम ॥ २ ॥
मर के जन्म कहां हम लेंगे, भूतों में सब भूत मिलेंगे ॥ ३ ॥

'रसिक महोदय ! सुन्दर है, फूल सुन्दर है, रंग रूप मनोहर है, यह सब कुछ है । परन्तु कुछ सोचो, और विचार की दृष्टि से निहारो । जिस विषयानन्द के मद में आप फूले नहीं समाते, क्या यह सदा ऐसा ही रहेगा ? इसके आधार पर ही यदि आज आपके जीवन का बाग हरा भरा है, तो क्या कल इसके विकृत होते ही सूख न जावेगा? और इस विषय जल को जिस भांति आप चाहते हैं क्या मैं न चाहूंगा ? और यदि ऐसा ही हुआ तो कहिये इसे आप लेंगे या मैं ? यदि मैंने प्राप्त कर लिया तो आपका जीवन नीरस हुआ । और यदि मेरे दौर्भाग्य से आप को मिल गया तो मेरे शिर पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा । और यदि मैं तू का विवाद हुआ तो क्या मेरे और आपके जीवन की सत्ता अज्ञानी पशुओं के जीवन से कुछ विशेष होगी ? आप भूले हैं, देखिये—

दुःख बड़ा है पाने में भी । कष्ट घना ठहराने में भी ॥ १ ॥
नाश विकार सभी प्रतिकूल । है विरोध दुःखों का मूल ॥ २ ॥

सुना और समझे ? श्रीमान् जी ! कोयलों के आकार (कान) में स्फटिक (बिलौरी पत्थर) कहां ! और विषयों की अग्नि में सुख और शान्ति का क्या काम । कभी कोई संसारी सुखी देखा भी है ? लोग थोड़े दुःख को सुख कह लेते हैं । भारवाही भार को उतार कर कहता है अब सुखी हुआ । यह सुख नहीं थोड़ी देर के लिये एक बड़े दुःख से छुटकारा है । चिन्ता पिशाची अभी भी पीछे पड़ी हुई है । सोचता है, बालबच्चों का निर्वाह कैसे होगा । और एक बोरी उठालाऊं, दो आने और बन जावेंगे । क्या यह सुख है ? यह तो हुई आपके विषयानन्द की बात । और यदि इस रंग रूप का तात्विक दृष्टि से निरीक्षण करें तो आप का सिद्धान्त फूल है भी निर्गन्ध । भला विद्या और बल के एक गौर बालक के देह की कान्ति से क्या लाभ ? जीवन जल का इतना बड़ा स्रोत सदाचार की निर्मली के बिना मलीन ही रहता है । सारथि विहीन रथ की उपयोगिता को कौन सिद्ध कर सकता है । इसी भांति चैतन्य के बिना भूतों का संगठन निष्प्रयोजन है, निर्गन्ध है । महाशय क्या कहा ? चैतन्य ? ज्ञान ? कहीं आप सरस्वती के समीक्षक तो नहीं ? क्षमा करना मुझे भ्रान्ति हुई । आपकी भांति उनका भी स्वभाव है 'गुणों में दोष दर्शन' । वैदिककोष में और कोई दोष न मिला तो आक्षेप ही सही । वही बात कि—तुम ने अपराध नहीं किया तो क्या हम दण्ड भी न दें । भला सम्भव है वे वेद विरोधी हों । आप

तो ज्ञानी हैं, विचारक हैं । सोचें तो सही, क्या हम शरीर में चैतन्य नहीं मानते ? देखिए :—

ये विचित्र ही ढंग से, मिले भूत सब आन ।
संमेलन से ही यहां, जनमा गुण विज्ञान ॥

ज्ञान हम मानते हैं, परन्तु यह भूतों ही से उत्पन्न हुआ है, भूतों ही का गुण है । संयोग का भङ्ग होते ही यह न रहेगा । कहां चला जायगा ? भूतों में मिल जायगा । किस में ? एक में या सब में ? यदि एक में तो दूसरों में क्यों नहीं ? और यदि सब में तो एक चैतन्य सब में किस प्रकार मिलेगा ।

'वाह ज्ञानी जी, अच्छी बाल की खाल उतारने लगे । अच्छा फिर आप ही बतलाइए, न गुड़ मादक (नशीला) था और न उस के साथ मिलने वाली दूसरी वस्तुएं । सब का एक विशेष संयोग हुआ, और मदिरा (शराब) उत्पन्न हुई । अब मदिरा के नाश होते समय उस का गुण मादकता (नशा) किस में मिलेगी । है न पते की ?,

'रसिक महोदय ? दृष्टांत अशुद्ध है । सुनिए मादकता गुण जितनी वस्तुओं को मिल कर मदिरा बनी है सब में था, किसी में अधिक किसी में थोड़ा । सब का विशेष संयोग हुआ, प्रकट हो गया । नाश होते समय जितना जिसका था उतना उस ही में मिल जायगा । परन्तु यहां तो भूतों में चैतन्य था ही नहीं शरीर में आया कहीं से ।,

'भूतों में से । भूतों ही में पहले सूक्ष्म रूप में था, अब प्रकट हो गया । नाश के समय भूतों में ही मिल जावेगा । समझे ?,

'आप से भी कुछ अधिक । सुन लीजिए हमारा पाठ । चैतन्य भूतों का गुण है । भूत ५ हैं, और पांचों एक दूसरे से विलक्षण हैं, अतः एक भूत का ज्ञान भी दूसरे भूत के ज्ञान से बिलक्षण हुआ, इस प्रकार चैतन्य पांच हुए । क्यों ठीक है ? ठीक है तो यह भली बनी । शरीर में एक अच्छा समाज बन गया । और आप को पता है आज कल के समाजों का ? जहां प्रधान के चुनाव का प्रश्न उठा और लगे धड़े बननें । किसी का धड़ा बड़ा बन गया । दूसरे को गुदगुदी उठी और समाज से नाम कटा पैठ बैठे । यद्यपि यह लोगों की भूल है । परमात्मा समझ दें, समूह के काम इसी भांति चला करते हैं । मत भेद हुआ ही करता है, ज्ञान पूर्वक मत भेद लाभदायक भी है । धड़ाबन्दी का मत भेद फूट का पहिला साधन है । व्यक्तियों का समाज से सम्बन्ध उस समाज के उद्देश्य की सिद्धि के लिए होता है नाम के लिए नहीं ।

परन्तु यह विचार सब की बुद्धि में घर कहां बनाते हैं । और फिर आप के शरीर के तो पांचों समाजी हुए ही एक दूसरे से विलक्षण । उन के एक मत की संभावना करना तो मनुष्य के शिर पर सींग मानने के समान है । सच कहिए ? इन सबको

अपने शरीर में कभी सम्मति मिलाते हुए अनुभव किया है? कोई प्रस्ताव गिरा हो? कोई स्वकृत हुआ हो? कभी विवाह हुआ हो? कभी किसी बलवान् ने निर्बल चैतन्य निकाल बाहर किया हो? देखते नहीं संसार में बल का राज्य है। दीन दया का प्रश्न, जातीयता के सूर्य के सामने खद्योत (जुगनू) के समान चमका करता है। यदि आपने यह सब कुछ नहीं देखा तो भूतों का गुण चैतन्य है यह विचार एक कल्पना मात्र है।

क्रमशः।

फूटे पात्र।

भारतीय इतिहास की साक्षी।

(श्रीयुत टी. ऐल. वास्वानी)

एक जाति जिस में ७ करोड़ व्यक्ति अछूत समझे जाते हों--और विशेषतः जब वे अज्ञान दारिद्र्य और गन्दगी की अवस्था में हों--क्या वह अपने भाग्य का भरोसा रख सकती है? और क्या वह दैवीय आशीर्वाद के योग्य हो सकती है?

भगवान् श्री कृष्ण ने एक उत्सव के अवसर पर पानी का प्याला मांगा और वे सुन्दर चमकता हुआ प्याला ले आए। भगवान् ने उत्तर दिया कि मैं एक टूटे हुए प्याले में पानी पीऊंगा और टूटे हुए प्याले ये अछूत--जो कि शताब्दि से अछूत हैं--! और जब तक कि हम नम्रता पूर्वक उन्हें सन्मान नहीं देते जैसा कि भगवान् कृष्ण ने पात्रों को दिया था—तब तक भगवान् आगे आने वाले हमारे स्वतंत्रता के उत्सव में नहीं पधारेंगे॥

मुझे मालूम पड़ा है कि इस प्रदेश (सिन्ध) में कुछ ब्राह्मणों को इस 'अछूत कौन्फ्रैंस' का होना अखरता है। ब्राह्मणों में से कई ब्राह्मण मेरे मित्र हैं और मैं समझता हूं कि यह सारा भारतवर्ष प्राचीन भारतवर्ष की ब्राह्मण जाति का कितना आभारी है। ये ब्राह्मण ही थे जिन्हों ने कि भयङ्करतूफानों में डूबती हुई आर्य जाति और उसके आदर्शों की रचना की थी और उसके टिमटिमाते हुए प्रकाश को हवा के भयङ्कर झोकों से बचाया था। इन सन्मान के भावों के साथ २ जब मैं वर्तमान कुछ एक ब्राह्मणों के अछूतों के प्रति व्यवहार पर दृष्टि डालता हूं तो मुझे बहुत शोक होता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि 'तत्त्वमसि' का निरन्तर पाठ करने वाले इस देश में लाखों से अधिक अछूत पाए जाते हैं।

एक प्राचीन ग्रन्थ में भगवान् कृष्ण की आराधना के लिए कई देवियों की एक कथा इस प्रकार मिलती है—वे (देवियां) भगवान् को 'साहस की मूर्ति' जगदुत्पत्ति का सूत्र-धार एवं 'महादेव' इत्यादि कई नामों से स्मरण करती हैं। परन्तु भगवान् प्रसन्न नहीं होते जब तक कि उन्हें 'दीनों का मित्र' कह कर सम्बोधन नहीं किया जाता।

परमपिता अनाथों के मित्र और अनाथों के शरण हैं और उन्हीं को हमने अछूत कह कर उस देश में पद्दलित किया हुआ है जहां के ऋषिमुनियों ने पुकार २ कर 'सर्वत्र एक ही आत्मा' के सिद्धान्त को प्रचरित किया हुआ था और जहां के राजनैतिक विचारकों ने वारम्वार इस सत्य पर ज़ोर दिया था कि राजा को अवश्य ही सादा तथा गरीब और क्या अमीर सब के साथ समान भाव से वर्ताव करने वाला होना चाहिए।

भारत के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस देश में प्रारम्भ से ही पुरोहित (जो कि जातीय अन्याय (Cast Injustices) अर्थात् जन्म से वर्णव्यवस्था सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं) और प्रवर्तकों (जो कि सार्वभौमिक ऐक्यता के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं) में परस्पर युद्ध चला आया है।

वैदिक युग के ऋषि भी व्यक्ति को अछूत नहीं समझते थे। इसकी सिद्धि के लिए पश्चिमीय विद्वान् मोक्षमूलर की निम्न सम्मति है। वह लिखते हैं—

"वेद मन्त्रों तक में इस पेचीदे जातपात के विधान का कहीं वर्णन नहीं मिलता। एवं शूद्रों की अपमान जनक स्थिति तथा भिन्न २ जाति के लोगों का परस्पर मिल जुल कर इकट्ठे न बैठना, इकट्ठे न खाना पीना, एवं परस्पर विवाहादि सम्बन्ध न करना इस विषय में कोई प्रमाण वा नियम नहीं मिलता—'!

शूद्र शब्द का शब्दार्थ है"जो और की बात को सुनकर पिघल जाए, अर्थात् जो (व्यक्ति) शोक और दुःख की तुच्छ बातों से घबरा उठे वह शूद्र है। इस प्रकार 'शूद्र' शब्द से कुछ विशेष गुण (दुर्गुण) अभिप्रेत है जो कि भिन्न २ मनुष्य श्रेणी के व्यक्तियों में पाए जाते हैं।

महाभारत में स्पष्ट ही लिखा है—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते।" अर्थात् जन्म से सभी शूद्र होते हैं और फिर संस्कार से पवित्र हो कर ब्राह्मण वा द्विजन्मा बनते हैं।

एवं एक और स्थान पर हमें यह पता चलता है कि क्रोध, मिथ्याभाषण तथा लोभ से एक ब्राह्मण भी शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। महाभारत में एक और स्थल पर प्रत्यक्ष ही पाठ मिलता है जिसका अभिप्राय है—"जातियों में परस्पर कोई भेद नहीं है-यह सारा संसार ही एक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है।

हमें कई ऐसे ऋषियों का भी पता चलता है जो भिन्न जातियों से उत्पन्न हुए थे। 'व्यास देव' एक मछियारे की पुत्री से उत्पन्न हुए थे। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखा जाए तो विदित होता है कि 'जाति' की उत्पत्ति का आरम्भ आर्य विचार नहीं किन्तु 'ड्रैविडियन' विचार है आर्य नीति को फिर २ इस जातपात के विचार से हानि उठानी पड़ी है। परन्तु यह प्रभुत्व किसी शास्त्रीय आज्ञा से नहीं किन्तु तुच्छमानवीय प्रकृति के बल से हुआ है और भारत का इतिहास इस तुच्छ मानुषीय प्रकृति से प्राप्त भूत अभिमान और क्रोध के विरुद्ध विद्रोहों से भरा पड़ा है।

एक ऐसा समय आया जब कि जनता से वैदिक विचारों का लोप हो गया और दीन पुरुषों के स्वत्वों की रक्षा न हो सकने से उन्हें पद्दलित किया गया। इस समय भगवान् बुद्धदेव ने दया धर्म की ध्वजा हाथ में लेकर इस संसार में जन्म लिया। बुद्धदेव शूद्रों के रक्षक थे इस का पता हमें एक नापित के घर के पास से गुज़रते हुए बुद्धदेव की सुन्दर कथा से लगता है:—

नाई ने पूछा—भगवन्! क्या मैं आप के साथ बात चीत कर सकता हूं?"

बुद्ध—"हां!"

नाई—"क्या मैं मोक्ष पद प्राप्त कर सकता हूं।

बुद्ध—हां!

नाई—क्या मैं आपका अनुयायी होकर आपके पीछे चल सकता हूं?

बुद्ध—"हां!" बस! इस प्रेम की बात ने नाई के ऊपर एक जादू का सा प्रभाव किया!—

निसन्देह बौद्धमत की शरण में जाकर शूद्र लोग शान्ति प्राप्त किया करते थे और उस के संघ में शामिल हो जाया करते थे। ये ही शूद्र 'श्रमण' (बौद्ध भिक्षुक) हो जाते और ग्राम २ में जाकर भ्रातृभाव का प्रचार किया करते थे।

बौद्धमत की इति श्री हुई और फिर दीनों पर आपत्ति आ पड़ी। इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ। जैसा कि आप में से बहुत व्यक्ति जानते होंगे कि मेरे हृदय में इस्लाम के प्रवर्तक के लिए अगाध सन्मान और श्रद्धा का भाव है। तुम्हें आश्चर्य होगा कि इस सिन्ध देश में इस्लाम का प्रचार कैसे हुआ? नाग और एवं अन्य कई नीच जातियां यहां बहुत समय से अछूत अस्पृश्य समझी जाती थीं। इनके पास इस्लाम समाज सत्तात्मक राज्य (Social Democracy) का मनोहारी सन्देश लाया।—क्या इसमें आश्चर्य करने की बात है कि उनपर इस्लाम के भ्रातृभाव ने अपना प्रभाव जमा लिया? क्या इस में आश्चर्य है कि उन्हों ने इस्लाम को अपना लिया? फिर गुरुनानक न **'कोई हिन्दू न मुसलमान'** के संदेश को हाथ में लाकर प्रगट हुए। इन्हीं से प्रभावित होकर और गुरुओं ने भी आन्तरीय धर्म और मानवीय भ्रातृभाव के सिद्धान्त का यहां प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों जातियों से पारस्परिक पक्षपात का भाव जाता रहा और कबीर यद्यपि एक मुसलमान जुलाहा था किन्तु कई हिन्दुओं ने उसे खूब सन्मान दिया। जातपात के बन्धनों से रहित उसका आचार सम्बन्धी उपदेश वा सन्देश निम्न भावपूर्ण कविता से स्पष्ट ज्ञात होता है। वह कहता है:—

'यदि तू अपना निवास स्थान गंगा के किनारे पर बनाता है तो तू अवश्य शुद्ध पानी पीवेगा किन्तु मुक्ति सिवाय परमेश्वर की आराधना और भक्ति के न मिलेगी।

इस्लाम के अनन्तर ईसाय्यत ने आकर अपना अड्डा जमाया। इस ने हिन्दूसमाज

के इन गिरे दिनों में उसे भ्रातृभाव और समाज-धर्म का उपदेश किया। ईसाईयत ने अछूत लोगों की सहायता के लिये यहां पदार्पण किया। ऊँची जातियों के मिथ्याभिमान से सताये हुए लोगोंके झुण्डों के झुण्डों ने ईसाईयत की शरण में जाना प्रारम्भ कर दिया। प्रसिद्ध जीसुअट प्रचारक "फ़ादर डी नोबिली" ने संस्कृत का अध्ययन किया और बाइबिल का संस्कृत में अनुवाद करके संन्यासी का वेश धारण करके गली २ में घूम कर पांचवे वेद के नाम से उसका उच्चारण तथा पाठ आरम्भ कर दिया। लोग उसके मधुर शब्द को सुनते थे और उसे संन्यासी समझ कर उसके हाथ से भोजन लेना तथा जल पीना अपने लिये सौभाग्य समझते थे। फिर सर्व साधारण की एक सभा में उसने उन व्यक्तियों को जिन्हों ने कि उसके हाथ से भोजन व जल ग्रहण किया था अथवा बाईबिल को पांचवें वेद की तरह सुना था, ईसाई नाम से सम्बोधन कर दिया। जब सर्व-साधारण को यह मालूम पड़ा कि वह तो पोर्चगीज़ पादरी है, तो उन्हों ने साफ शब्दों में अपने को इसाई होने से अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि वे हिन्दू ही हैं। परन्तु उन कट्टर हिन्दुओं ने जो वहां विद्यमान थे उन्हें फिर अपने में मिलाने से साफ इन्कार कर दिया। उन्हें एक ईसाई संन्यासी के हाथ से भोजन व जल लेने के "पाप" के कारण जाति से पृथक् कर दिया गया। हिन्दू जाति के जातपात विषयक मिथ्याभिमान के कारण उन्हें ईसाय्यत के गले में शामिल कर दिया गया। इसी प्रकार दक्षिण में न जाने कितने ही हिन्दु उनके अपने ही भाईयों के झूठे जात्याभिमान से तंग आकर ईसाय्यत की शरण ले चुके हैं?

ऋषि दयानन्द, श्री केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारक समाज के बड़े नेताओं ने अद्वितीय बुद्धिमत्ता और अकथनीय चातुर्य से इस 'अछूतपन' का विरोध किया है। फलतः आज एक नवीन ही जागृति का सञ्चार है। जब कि इग्लैंड में मज़दूरदल का राज्य है और मंत्रिमण्डल के कई सदस्य नीच जाति में से हैं तो ठीक इसी समय भारत में भी एक नवीन जागृति का सञ्चार दिखाई देरहा है। किसी जाति का जीवन एक वृक्ष के समान है। इस की वृद्धि उसके नीचे के भाग जड़ों द्वारा ही ऊपर की ओर होती है। सर्वसाधारण लोग जड़ों के समान हैं। जाति की उन्नति उस प्रकार से नहीं हो रही जैसी कि होनी चाहिये चूंकि उसकी जड़ें भूख से व्याकुल हैं।

'सिन्ध' के लिये वह दिन बहुत ही स्मरणीय दिन होगा जबकि उसके पढ़े लिखे युवक लोग ग्राम २ में घूम कर अछूतों में आकर सर्वसाधारण की सेवा का काम करेंगे। सिन्ध में इस समय एक 'सेवा-संघ' की बहुत ही प्रबल आवश्यकता है जिसके निम्न प्रकार से कई विभाग होंगे:—

(१) शिक्षा—म्युनिसिपैलिटियां और सेवा मंडलियां सर्व-साधारण में शिक्षा प्रचार का कार्य बहुतही उत्तम रीति से कर सकती हैं। अछूत और उनके बच्चों को

यदि एकत्र एक ग्राम्य पाठशाला में लाकर वेद मंत्रों का उच्चारण कराया जाय व भगवत् गीता का अध्ययन कराया जाय तो यह उन्हें एकत्र हुए बैठे एवं वेद मंत्रों को उच्चारण करने के समय का दृश्य क्याही सुन्दर प्रतीत होगा ! हमें भंगी, चमार, ढेड़ और भील लोगों के लिये अवश्यही दिन और रात्रि-पाठशालायें, इसी प्रकार पुस्तकालय, वाचनालय इत्यादि खोलकर उनकी ओर से समाचारपत्र तथा छोटे २ ट्रैक्ट आदि के प्रकाशन का प्रबन्ध करना चाहिये । इसी प्रकार कथा, संकीर्तन, मैजिक लालटैन द्वारा व्याख्यान तथा ग्राम ग्राम में घूम २ कर उनके जीवन सुधार के भी उपाय करने चाहियें ।

(२) स्वच्छता—हमें म्युनिसिपैलिटी में इस का भी आन्दोलन करने की आवश्यकता है कि देश में स्वच्छता की वृद्धि के लिए भंगियों के लिए उत्तम स्थान पर मकान तथा जल का प्रबन्ध किया जावे । तथा हमें भंगियों को स्वच्छता की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध करना चाहिये जिस से स्वयं भी वे वैयक्तिक स्वच्छता का ध्यान रखें ।

(३) दरिद्रता—उनकी दरिद्रता को दूर करने के लिए भी हमें उधर ध्यान देना चाहिये ताकि वे धीरे २ अपने पिछले क़र्ज़ों को उतारते हुए फिर नवीन रीति से अपने पैरों पर खड़े हो सकें । इसी प्रकार परस्पर सहायकसमूह (Co-oprative groups) आदि द्वारा भी हम उनकी दरिद्रता को बहुत हद तक दूर कर सकते हैं ।

(४) इसी प्रकार बीमारी के दिनों में यदि चलते फिरते औषधालय खोले जावें तो भी सर्वसाधारण उनसे बहुत लाभ उठा सकते हैं ।

(५) पंचायतों का प्रबन्ध करना भी एक बहुत आवश्यक बात है जिससे कि कचहरियों आदि से बच कर परस्पर ही ये लोग अपने झगड़े का निर्णय कर सका करें । इस से उनमें सहानुभूति के भाव की भी अच्छी वृद्धि हो सकेगी ।

'भक्तमाला' में एक जाति से पृथक् की हुई कन्या की कथा आती है । वह एक ऋषि द्वारा पृथक् कर दी जाती है । मन्दिर का पुजारी भी उसे बाहर निकाल देता है । मन्दिर के तालब का पानी ज़हरीला होजाता है । इतने ही में श्रीरामचन्द्र के वहां आने का समाचार मालूम होता है । श्री रामचन्द्रजी वहां पधारते हैं और ऋषि उनसे अतिथि सत्कार को ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करते हैं । रामचन्द्र ऋषियों का अतिथि होना अस्वीकार कर देते हैं । कन्या श्रीरामचन्द्रजी के सत्कार के लिये जंगल से बेर तोड़कर लाती है और उन्हें चख २ कर मीठे बेर श्रीराम को देती है और वह उन्हें खा कर बड़े प्रसन्न होते हैं । ऋषि लोग रामचन्द्रजी से तालाब के विषैले पानी को फिर से सुस्वादु कर देने के लिये प्रार्थना करते हैं किन्तु रामजी कहते हैं कि ऐ ऋषि लोगो ! जबतक तुम उस कन्या को यहां लाकर उसके पैरों को तालाब में नहीं धोओगे तबतक इसका पानी स्वादु नहीं होगा । ऋषि यह सुनकर कन्या के चरण पकड़ लेते हैं और उसे मंदिर में ले

जाते हैं और उसके चरणों की धोवन से उस मन्दिर के तालाब को धोते हैं। धोते ही विष का प्रभाव दूर होजाता है और स्वादु जल लौट आता है। यह कथा एक आख्यायिका रूप से प्रचलित है।

हमारे जाति रूप तालाब में विष घुल गया है चूंकि हमने अछूतों को उससे पृथक् कर दिया है हमने उन्हें अपने कूओं का जल लेने और अपने धर्म मन्दिरों तक में प्रवेश करने से इन्कार कर दिया है, हमने अपने जाति रूप मन्दिरों से उन को निकाल दिया है और वे इस प्रकार हम से सताए हुए परमपिता से प्रार्थना करते हैं। उ। के इस दुःख क उत्तर में भी राम उन के साथ हैं।

ओ! नम्रता पूर्ण हृदयों से उनके सामने झुको! उन के चरणों को धोओ—भूल के लिए प्रायश्चित करो—उन्हें फिर अपने मन्दिरों में लाओ और फिर इससे सुस्वादु जल की धारा बहेगी जो कि जाति के घावों को भर देगी।

सम्पादकीय।

जलसा धर्म

आर्यसमाज के धर्म का नाम जलसा धर्म पड़ रहा है। स्यात् इसलिये कि आर्य समाजियों ने अपना धर्म कर्म केवल जलसा समझ रखा है। कई आर्य समाजों के द्वार वर्ष भर बन्द रहते हैं। उन्हें झाड़ा बुहारा तक नहीं जाता। उत्सव आया और उसके साथ २ आर्य समाजों में भी जान आगई। हमारे सनातनी भाइयों के पितर वर्ष भर में एक वार अपनी सन्तानों के घरों में फेरी लगाते हैं। उन्हें श्राद्धों के दिनोंका एक समय का भोजन मिल जाना वर्षभर के लिये काफ़ी है। आर्यों ने मृतकश्राद्ध से हाथ धोलिये, उनके पितर हैं जीवित, अर्थात् यह स्वयम्। इन्हें भौतिक भोजन रोज़ चाहिये, किन्तु आध्यात्मिक भोजन में तो यह भी सनातनी पितरों की तुलना करही सक्ते हैं। जलसा इनका आध्यात्मिक श्राद्ध है। फिर यह परोपकारी इतने हैं कि उस श्राद्ध का भी क्या मजाल जो स्वयं एक ग्रास भी खालें। भजन होंगे, व्याख्यान होंगे। और वह सब होंगे जनता के कल्याणार्थ। प्रातः काल का हवन आर्यों का अपना कार्य है। उसमें प्रतिनिधि सभा के उपदेशक पधारेंगे। एक यजमान आजायगा और यदि पं० परमानन्द सरीखे किसी स्त्री जाति के पक्षपाती पुरोहित की चलगई तो यजमान-पत्नी भी आजायगी। प्रातः काल का उपदेश समय निकालने के लिये ही रख दिया जाता है। वह उस उपदेशक के हिस्से आयगा जो सभा ने समाज के गले मढ़ दिया हो, अर्थात् जिसका न गला हो, न भाषण-चातुर्य हो, न जनता पर प्रभाव डालने की शक्ति हो। सायंकाल और रात्रि के व्याख्यान धड़ल्ले के हों—यह अवश्य ध्यान में रखा जाता है।

हम इस परोपकार-वृत्ति का निराकरण नहीं करते । सर्व साधारण को अपनी ओर खींचना हमारा धर्म है, परन्तु जब तक हम अपने में ठोस नहीं होते, हम में दूसरों को आकर्षित करने का सामर्थ्य भी नहीं होसक्ता। आकर्षण का बल पदार्थों के अपने अन्तरीय भार के अनुकूल ही होता है ।

हमारी समझ में आर्य समाजों के उत्सवों के दो भाग होने चाहियें — एक आत्मोद्धारार्थ, दूसरा जनता में प्रचारार्थ । प्रातः काल का समय आत्मोद्धारार्थ सुरक्षित होना चाहिये । हवन में एक यजमान और यजमान-पत्नी आनी पर्याप्त नहीं । उत्सव के दिनोंमें सारे आर्य यजमान हैं और सारी आर्य गृहिणियां यजमान पत्नियां हैं । यह नियम बना देना चाहिये कि सब आर्य परिवार सहित वार्षिक उत्सव के यज्ञ में सम्मिलित हों । तत् पश्चात् भजन भी इसी दृष्टि से गाए जाएं । प्रातः काल के भजनों में भक्तिरस की प्रधानता हो । कुछ भजन ऐसे हों जो सारे आर्य मिलकर गावें । फिर एक उपदेश हो और वह उपस्थित उपदेशक मंडल में सब से अधिक मान्य महोदय का हो । हमारा अभिप्राय यहां उपदेशकों में स्पर्धात्मक तुलना करने से नहीं है । हम इस उपदेश को आर्य उत्सव की जान समझते हैं । यह उपदेश वेद मंत्रों से होना चाहिये और उस महानुभाव से दिलवाना चाहिये जो वेद का स्वाध्याय करता हो, दूसरों को इसका साहस नहीं करना चाहिये । इस बैठक की समाप्ति शंका समाधान से हो । शंकाएं आर्य उठाएं । जो विषय उनके अपने स्वाध्याय से उनकी समझ में नहीं आता, उस पर वह अपने सन्देह निवारण करें ।

सायंकाल की बैठक में हम एक व्याख्यान पर्याप्त समझते हैं । रात्रि के समय फिर एक व्याख्यान कराया जासक्ता है । आवश्यकता समझी जाए तो विधर्मियों के लिये शंका समाधान का समय भी रख दिया जाए । या वाद, जिसका अशुद्ध नाम शास्त्रार्थ पड़ गया है, का प्रबन्ध हो सके तो वह भी किया जाए । हमें खेद है, आर्य समाज के शास्त्रार्थों अथवा वादों में अभी उस गंभीरता और सज्जनता का सिक्का नहीं बैठा जो धर्म सभाओं की स्वाभाविक शोभा होनी चाहिये । मुसलमानों के साथ वाद करते हुए विशेषतया शील को हाथ से दे दिया जाता है । यदि मुसलमानों को चिढ़ा २ कर अपना शत्रु बनाना अभीष्ट नहीं, किन्तु उन्हें अपनी ओर खींचना और आर्य बनाना है तो उसका साधन आर्द्र कृपालुता है, उदार सज्जनता है, नैले का उत्तर दहला नहीं ।

आर्य समाजियो ! जलसों की प्रथा को सुधारो । अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छे उपदेशक मंगाने का कुछ लाभ नहीं, यदि उनके आने से आर्य समाज की प्रतिष्ठा प्रतिष्ठावानों में नहीं बढ़ती, आर्य समाजियों में वर्ष भर के लिये नया जीवन नहीं आता, आर्य देवियां किसी आर्य पुरोहित का, आर्य बालक किसी आर्य साधु का कोई वचन, कोई वाक्य कोई चेष्टा, वर्ष भर के लिये अपनी पुण्य स्मृतियों के कोष में सुरक्षित नहीं कर लेते।

जलसों के विषय में हम एक और बात भी कहना चाहते हैं और वह है उपदेशकों के आवास के सम्बन्ध में । साधारणतया उपदेशकों के उतरने का स्थान बड़ा मैला और

बेढंगा सा होता है। थर्ड क्लास के मुसाफ़िरखाने से इस स्थान का विशेष भेद नहीं होता। यदि कोई भला मानस प्रमाद वश आर्यसमाज के उपदेशकों को ऐसा उपदेशक समझ बैठे, जिनके पास सत्संग तथा शिक्षा के लिये जाना वर्जित नहीं, उसका वह प्रमाद उसे उपदेशकों के आवास तक ले ही जाए तो वह आर्य समाजियों की धार्मिक अवस्था का सच्चा फ़ोटो उतार ले जाएगा। तुम्हारा धर्म तुम्हारे हृदय में बसता है, परन्तु चर्म चक्षु उसे भौतिक भित्तियों के भीतर ही देख सकते हैं। तुम्हारे मन्दिर की अवस्था तुम्हारे हृदय की अवस्था का प्रतिबिम्ब है, तुम्हारे उपदेशकों की रहन सहन तुम्हारे आर्य जगत् की धार्मिक रहन सहन का संक्षिप्त चित्र है। हम अपने उपदेशक भाइयों पर दया नहीं करते। वह तो (और हम भी उन्हीं में हैं) सुकड़ कर, सिमट कर, भीड़ में, भड़क्के में, सो कर, जाग कर समय काट लेते हैं। अपनी विद्या का, स्वाध्याय का, सुरुचि का, नाश कर लेते हैं। यही नाश आर्य समाज का नाश है। मण्डप की अपेक्षा उपदेशकों के आवास की सफ़ाई और बिना आडंम्बर के सजावट कुछ कम आवश्यक नहीं। उपदेशकों के साथ गोष्ठियां करो, उन्हें स्वाध्याय का अवसर दो और उन के अध्ययन से लाभ उठाओ। विशाल उत्सव पंडाल में करो और गम्भीर उत्सव उपदेशकों के आवास में।

आर्य्य भाषा चतुर्मास

गत मास अमृतसर आर्य समाज के मंदिर में श्री दयानन्द जन्म-शताब्दी समिति का एक अनियमित अधिवेशन हुआ था। उपस्थिति कम होने से कार्यवाही नियमानुकूल न हो सकी। एक महत्व पूर्ण विचार जो उस अधिवेशन में उपस्थित हुआ था और जो शताब्दी समिति के गत अधिवेशन तथा आ० प्र० नि० सभा की गत अन्तरंग सभा में फिर प्रस्तुत होकर स्वीकार हुआ, आर्य भाषा के प्रचार के सम्बन्ध में था। हम आर्य भाषा को आर्य धर्म का बाह्य कलेवर समझते हैं। बिना आर्य भाषा के आर्य धर्म का ग्रहण बिना शरीर के आत्मा का ग्रहण है। विचार यह है कि शताब्दी के वर्ष का एक चतुर्मास आर्य भाषा के प्रचार में लगाया जाए। कांग्रेस ने तिलक स्वराज्य फंड के उपार्जन के दिनों में अपनी सारी शक्तियां अपने नियत कार्यक्रम के कुछ विशेष भागों पर केन्द्रित कर दी थीं और उस से उसे विशेष लाभ हुआ था, ऐसे ही इस वर्ष के चार मास प्रत्येक आर्य समाजी को आर्य भाषा के प्रचार के अर्पण कर देने चाहियें। इसमें सनातन धर्मी अथवा किसी और सम्प्रदाय के लोग भी सहायता दें तो स्वीकार करनी चाहिये। आर्य भाषा ही वह भाषा है जो गुजरात में पैदा हुए संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् वेदों के ऋषि भगवान् दयानन्द ने सीखी और उसी में उन्हों ने अपना अधिक साहित्य प्रकाशित किया। दयानन्द के चेलों पर यह दयानन्द का महान् ऋण है। इन्हें चाहिये कि यह दयानन्द की भाषा को सार्वजनिक भाषा बनाएं।

शताब्दी समिति की ओर से प्रणपत्र छपवाए जा रहे हैं जिनपर आर्य समाजों द्वारा आर्य स्त्री पुरुषों के हस्ताक्षर कराए जाएंगे कि वे इस चतुर्मास में इतने सज्जनों को आर्य

भाषा का बोध करा दें। प्रतिज्ञाओं के पालन का निरीक्षण होगा। जहां सम्भव होगा, रात्रि पाठशाला तथा मध्याह्न पाठशाला खोली जाएंगी और विना शुल्क आर्य भाषा की शिक्षा दी जाएगी।

चतुर्मास का आरम्भ १ ज्येष्ठ (चान्द्रवर्ष) अर्थात् ३ जून से होगा। शताब्दी का वर्ष अनथक परिश्रम का वर्ष है। आर्यों को अभी से कमरें कस लेनी चाहियें।

उपदेशक विद्यालय और अनुसन्धान संस्था

शताब्दी के उपलक्ष में १ लाख रुपये की अपील करने का प्रस्ताव भी स्वीकार हुआ है। इस रुपये से उपदेशक विद्यालय खुलेगा और वैदिक धर्म सम्बन्धी गवेषणा के लिये अनुसंधान संस्था स्थापित की जायगी। ऐसे विद्यार्थियों के लिये जो अपना जीवन प्रचार-कार्य में लगाना चाहते हैं, पहले कुछ पढ़े हों या न हों, उनकी आयु बड़ी हो या छोटी, परन्तु उन्हें इस कार्य में लगन हो, यह विद्यालय शिक्षा का प्रवन्ध करेगा।

अनुसन्धान संस्था इसी विद्यालय का गवेषणासम्बन्धी एक विभाग या यों कहो कि दूसरा पक्ष होगा। इसमें बड़े २ विद्वान् वेदों शास्त्रों तथा अन्य मत मतान्तरों के ग्रन्थों की समीक्षा पूर्वक अध्ययन करेंगे और आर्य समाज के लिये उच्च कक्षा के साहित्य का निर्माण करेंगे।

आशा है आर्य जगत् इस प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत करेगा। आगामी साधारण सभा में स्वीकृत होने पर इसे कार्य रूप में लाया जायगा।

वैकम का सत्याग्रह

वैकम ट्रावनकोर राज्य में एक स्थान है। वहां आज कल सत्याग्रह हो रहा है—गवर्नमेन्ट के विरुद्ध नहीं, अपने भाइयों के अत्याचारों से ही। नागपुर में हिन्दुओं को मुसलमानों की ज़ियादती से सत्याग्रह करना पड़ा था। वैकम में अत्याचारी भी हिन्दू हैं, और अत्याचार के पात्र भी हिन्दु ही हैं। ट्रावनकोर के राजा हिन्दू हैं। उन की प्रजा प्रायः हिन्दू है। कभी सारे हिन्दू थे परन्तु अब तो एक तिहाई ईसाई हो चुके हैं। इस का कारण है हिंदुओं का हिन्दूपन। 'हिन्दू' नाम के पक्षपाती 'हिंसां दुनोति इति हिंदुः' 'हिंसा को मिटाने वाला हिन्दू है'—हिन्दू शब्द की यह व्युत्पत्ति करते हैं। यह कैसी उत्पत्ति है, इस पर हमें आज कुछ नहीं कहना। हिंदू अहिंसक है सही पर औरों के लिए; अपनों की हिंसा में यह पूरा वीर है। 'हिंसां दुनोति' नहीं, 'हिन्दुं दुनोति इति हिंदुः' यह व्युत्पत्ति स्यात् ठीक होगी। हिन्दू के इसी स्वभाव ने ट्रावनकोर की एक तिहाई जन-संख्या को ईसाई किया है। दक्षिण के हिन्दू या तो ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण जिन का दूसरा नाम है अछूत। दक्षिणी छूतपर एक शास्त्र लिखा जा सकता है, परन्तु जिस छूत से हमें आज काम है, वह छूत है सड़कों की और पांवों की। वैकम के एक मंदिर को जाने वाली सड़क अब्राह्मणों के पद-स्पर्श से भ्रष्ट होती है। ईसाई या मुसलमान के पांव अब्राह्मण हिन्दू के पावों से अधिक पवित्र हैं, उन से सड़क अस्पृश्य नहीं होती।

परमात्मा का पुत्र परमात्मा की सड़क पर न जा सके, यह उसे स्वभावतः असह्य है। अब्राह्मणों को यह विचार बहुधा आता रहा है, परन्तु अपने पूर्वजों के धर्म से प्रेम होने के कारण वह यह इसे सहते रहे हैं। कई मनचले ईसाई होकर अपना छुटकारा करते रहे, जिस से उस मत का इतना ज़ोर हुआ। अब्राह्मण अबके न तो अपना पैतृक धर्म ही छोड़ते हैं, न अस्पृश्य ही रहना चाहते हैं।

इस अस्पृश्यता का उपाय अब सत्याग्रह सोचा गया है। कई लोग इस सत्याग्रह के कारण जेल में गए हैं। आर्य समाज ने भी सत्याग्रहियों से अपनी सहानुभूति प्रकट की है। पंजाब के निकट होता तो यह सत्याग्रह का काम हम अपने ही हाथ में ले लेते। अब भी जन तथा धन से हमें अपने पीड़ित भाइयों की सहायता करनी चाहिये। पिछले दिनों कुछ 'अब्राह्मण' आर्य समाजी होगए। एक दिन उन में से एक को सड़क पर जाने दिया गया। दूसरे दिन आर्य समाजियों को भी रोका गया। ऐसी अवस्था में प्रत्येक आर्य समाजी का कर्तव्य हो जायगा कि वह ैकम पहुँचे और अपने सत्याग्रही भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा जोड़ कर चले, क्योंकि आर्य समाज में आने पर भी कोई अछूत रहे, यह आर्य समाज का असह्य अपमान है। आर्य जगत् को अभी घटना प्रवाह का अवलोकन करना चाहिये।

हिन्दू विधवा

महात्मा गांधी ने नवजीवन के ताजा अंक में हिन्दू विधवाओं के सम्बन्ध में एक लेख लिखा है। लेख क्या है वैधव्य के स्वरूप का सच्चा चित्र है। विधवाओं के संकट का वास्तविक उपाय है। आर्य समाज के कहे उपायों से भिन्न एक भी नई बात महात्मा ने नहीं लिखी। पाठकों को स्पष्ट प्रतीत होगा कि महात्मा ने जो लिखा है, वह इस से पूर्व ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में और आर्य समाज के व्याख्यानों में प्रतिपादित होचुका है और होरहा है। हम महात्मा के लेख के कुछ उद्धाहरण आर्य जनता के सम्मुख रखते हैं:—

वैधव्य की पवित्रता की रक्षा करने के लिए, हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए, हिन्दू समाज की सुव्यवस्था के लिए मेरी नाकिस राय में, इतने नियमों की आवश्यकता है।

१—कोई पिता १५ साल के पहले अपनी कन्या का विवाह न करे।

२—जो विवाह अबतक पूर्वोक्त उम्र के पहले हो गये हों और लड़की १५ साल के अन्दर विधवा हो गई हो तो उसकी शादी की व्यवस्था करना पिता का धर्म है।

३—१५ साल की बालिका यदि विवाह के एक साल के भीतर विधवा हो जाय तो माता-पिता को चाहिए कि उसे फिर शादी करने के लिए उत्साहित करें।

४—कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति को विधवा के प्रति सोलहों आना आदर-भाव रखना चाहिए। माता-पिता अथवा सास-ससुर को उसके लिए ज्ञान वृद्धि के साधनों की तजवीज़ करनी चाहिए।

ये नियम मैंने इस गरज़ से नहीं पेश किये है कि इनका पालन अक्षरशः किया जाय। ये तो केवल मार्गदर्शक हैं। हां इस बात में मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है कि ये नियम विधवा के प्रति हमारे कर्तव्य के दिशादर्शक हैं।

यह तो मैंने एक छोटासा सुधार बताया है। महान् सुधार के असम्भव मालूम होने पर ही यह छोटा सुधार सुझाया है। सच्चा सुधार तो यह है कि स्त्री की तरह पुरुष भी विधुर हो जाने पर, फिर विवाह न करे। यदि हम हिन्दू-धर्म के रहस्य को समझ लें तो कष्ट-साध्य संयम को शिथिल करने की अपेक्षा हम दूसरे उसी प्रकार के संयमों को जीवन में अपनाकर उसे अधिक दृढ़ करें। यदि पुरुष विधुर रहे तो स्त्री को अपना वैधव्य भारभूत न मालूम हो। फिर यदि पुरुष विधुर रहें तो वर्तमान बेजोड़ विवाह और बाल-विवाह बन्द हो जायं।

हां, एक खतरा रहता है। उससे हमें अपने को बचाना चाहिए। मैंने एक दलील सुनी है—"वैधव्य सर्वथा उत्तम है। यदि बाल-विधवाओं की संख्या कम हो तो उन्हें पुनर्विवाह के जंजाल में पड़ने की क्या आवश्यकता है? हम तो विधुर पुरुष को भी विधुर रखना चाहते हैं। और बाल-विवाह को भी निर्मूल करना चाहते हैं। इस लिए किसी भी अवस्था में स्त्रियों के पुनर्विवाह की आवश्यकता नहीं।" यह दलील खतरनाक है। क्योंकि वास्तव में यह शब्दजालमात्र है।

अब यदि हम उस शब्द-जाल की परीक्षा करें जो विधवा के सम्बंध में फैलाया गया है तो मालूम होगा कि इस दलील को वही पेश कर सकता है जो पुरुष स्वयं विधुर रहने को तैयार हो। उन लोगों को जो विधुरता न पसन्द करते हों, या पसंद करते हुए भी उसका पालन करने के लिए तैयार न होते हों विधुरता की आवश्यकता को स्वीकार कर के वैधव्यप्रथा की पैरवी के लिए उस दलील के तौर पर उसे पेश करने का अधिकार नहीं। कोई साठसाल का दूसरी शादी किया हुआ बुढा अपनी नव वर्ष की बालिका पत्नी के वैधव्य का अभिनन्दन करते हुए यदि अपने वसीयतनामें में वैधव्य स्तुति करे और उस बेचारी विधवा होने वाली बालिका की वन्दना करते हुए लिखेः—'परमात्मा न करे, पर यदि मेरी मृत्यु मेरी परम पवित्र धर्मपत्नी से पहले हो जाय तो मैं जानता हूं कि वह विधवा रहकर मेरे अपने और मेरे कुटुम्ब के और हिन्दु-धर्म के गौरव को कायम रक्खेगी। इस बालिका से विवाह करके मैंने यह सबक सीखा है कि पुरुष को भी विधुर रहना चाहिए। बड़ा अच्छा होता यदि मैं विधुर रहा होता। मैं अपनी कमज़ोरी को कबूल करता हूं। परन्तु पुरुष की दुर्बलता से वैधव्य और भी भूषित होता है। इस लिए मैं चाहता हूं कि मेरी बाला पत्नी मेरे मरण के बाद विधवा रहकर संयम-धर्म की शोभा को बढ़ावे।" ऐसी दलील का असर उस बालिका पर या वसीयतनामा पढ़ने वाले पर क्या हो सकता है?

Registered No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

ओ३म्

भाग ५ ज्येष्ठ १९८१

अङ्क २ जून १९२४

आर्य्य

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः॥

ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत को आर्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

"अमृत प्रेस" अमृतधारा भवन लाहौर द्वारा ला० नन्दलाल उपमंत्री आ० प्र० सभा ने मुद्रित वा प्रकाशित किया।

विषय सूची।

विषय पृष्ठ

'आर्य' के नियम।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है)।

३—इस पत्र में, धर्मोपदेश, धर्म जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनायें दर्ज होती हैं।

४—पत्र के प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अंक न पहुंचे तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अंक भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अंक

॥ ओ३म् ॥

भाग ६] लाहौर—ज्येष्ठ १९८१ तदनुसार जून १९२४ [अंक २

वेदामृत ।

तीन सात का खेल ।

ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥

अथर्व० १. १. १.

तीन सात ने रूप धर, घेर लिया संसार ।
सो वाचस्पति मूर्त कर, मम हिय चित्र उतार ॥

———

वेद की पहेलियां और उनकी बूझ।

(श्रीयुत जयदेव शर्मा विद्यालंकार)

[२]

सरस्वती के किनारे वेद के बड़े विद्वान ऋषि, मुनि, कवि, भाष्यकार और वार्त्तिककारों का संघ उपस्थित हुआ। चिर काल तक नाना प्रकार के शास्त्रीय विनोद होते रहे। अन्त में महर्षि सुहोत्र ने वेद की इस पहेली को ऋषि मण्डली के समक्ष कहा—

इन्द्राग्नी, अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः।
हित्वीशिरो जिह्वया वावदत् चरत् त्रिंशत्पदान्यक्रमीत्।
(यजु० ३३, ९३)

हे इन्द्राग्नी ! सुनो हमारी एक पहेली बड़ी अनोखी।
जिस ने पढ़कर विद्वानों की सारी मति सरसी सोखी।
विना पैर की नारी भागी पहुंची पग वाली से पूर्व।
बिना मूंड के जीभ से बकरी तीस कदम चल थकी अपूर्व॥

इस पहेली को सुनकर पहले तो कोई भी न बोला परन्तु यह पहेली सहज में अकल में आने वाली नहीं थी, इस कारण साधारण विद्वान तो बड़े ऋषियों के मुंह ताकने लगे और बड़े ऋषि मौन होकर बालकों को अवसर देने लगे। जब चिर काल तक एक सार्वजनिक मौन का आतंक सा छाने लगा तब उसका प्रथम संहार काश्मीरी पण्डित उव्वटाचार्य ने ही करना उचित समझा। बोले—

यह तो इन्द्र और अग्नि देवता विषयक मन्त्र पहेली है। इस को तो मैं जैसा समझा हूं, सो कहता हूं, सुनो। हम लोग जो वाणी बोलते हैं बस हो न हो यही इस पहेली का उत्तर है। सब लोग छन्दों में बात करते नहीं हैं। वह गद्य में बात किया करते हैं, उस में छन्द न होने से पाद या चरण नहीं होते तो निःसंदेह वह विना पैर की है। वाणी स्त्रीलिङ्ग है सो नारी है। कवि अभी श्लोक बनाएगा तब बोलेगा। पर साधारण पुरुष तुरन्त साधारण बोली से अपनी बात कह डालेगा। सो वह पाद वाली अर्थात् चरणों वाली पद्यमयी वाणियों से पूर्व ही मुख से बाहर आजाती है और समझ में भी आजाती है। वाणी का मुख्य पद ही शिर कहाता है। सो क्रिया पद को ही शिर कहा जाता है। यह कोई नियम नहीं कि क्रिया पद पहले ही आवे, पीछे भी जा सकता है। अर्थात् पदों को जहां चाहे रख सकते हैं जैसे 'आहर पात्रं' 'पात्रमाहर'। इस कारण वह अपने प्रथम पद शिरो भाग का त्याग करके भी विद्वानों की जीभ से बोली जाती है। और तीस कदम चल सकती है। अधिक से अधिक लम्बे वाक्य में तीस पद होने उचित हैं। इस से अधिक

पद वाक्यों हों तो बोलने वाले और अर्थ समझने वाले को बहुत कष्ट होता है। बाणी वहां ही थक जाती है। तो भाई हमारी समझ में तो यह मनुष्य बाणी ही है।

उव्वटाचार्य की ऐसी बात सुनकर सभी विस्मित हुए। पर अध्यात्म वेदी जन विचारसराण में बहुत दूर तक पहुंच चुके थे। वे भी सारी गांठ को खोलकर अन्य विचारकों को हतोत्साह नहीं करना चाहते थे।

उब्बटाचार्य के पश्चात् महीधर मुस्करा दिए। लोगों ने कटाक्ष करके कहा—क्यों भाई तुम्हें भी कुछ कहना हो तो कहो। सो महीधर उठे और कहने लगे कि उब्बटाचार्य ने बात तो बहुत बढ़िया कही पर इसमें एक संशोधन होना चाहिए। पहेली इन्द्र और अग्नि को संबोधन करके कही गई है। सो मेरी मति में इन्द्र का तात्पर्य प्राण और अग्नि का अर्थ पुरुष है। वे ही मिलकर उस बाणी को पैदा करते हैं। हमारी समझ में गद्यात्मिका त्रयी रूपा वेद बाणी छन्दोमयी वेद बाणी से पूर्व आयी। और फिर छन्दों में महाभारतादि कवियों के ग्रन्थ बने। शेष सबतो आपका कहना ठीक है। वह तीस पैर ही चली। तीस पैर तीस अंगुल अर्थात् मूलदेश से उठकर मुख तक तीस अंगुल चली और प्रगट हो गयी। और या—यह उषा का वर्णन मालूम होता है।

सब पैर वाले जीव जब सो रहे होते है तो उन से पहले ही यह बिना पर की उषा दिगन्त पर प्रगट होती है। उस के अपना कोई सिर नहीं तो भी वह दूसरे प्राणियों की जीभों से बोलती है। प्रातः काल सब पक्षी चहचहाते हैं मानो उषा उन के मुखों से बोल रही है। और बराबर आगे बढ़ती ही चली जाती है। और वह चलती २ एक रात और एक दिन ३० मुहूर्त्त निकल जाती है।

जब महीधर इस प्रकार कह कर चुप हुए तो लोगों के मुख पर ताकने लगे और देखने लगे कि मेरे कहे पर कौन सहमत है। महीधर के बाद दयानन्द ऋषि ने कुछ सिर हिला कर हुंकार किया। सब की चित्त वृत्ति इस के आदित्य सम तेजस्वी मुख मण्डल पर विशेष उद्भावकता की आशा करती हुई आ लगी। सब का अभिप्राय समझ वह बाल ब्रह्मचारी गर्ज कर बोला – महीधर ने बहुत कुछ ठीक कहा है। परन्तु देखिए वह उषा दिन भर में ३० मुहूर्त्त नहीं चली वल्कि तीस मुहूर्त्त चल कर ही सब जगह फैल गई। इन्द्राग्नी कौन हैं सो तो भूल ही गए। इन्द्र है अध्यापक आचार्य और अग्नि है उपदेशक। क्यों? क्यों कि 'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि' इस स्थान पर इन्द्र आचार्य वाची है 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' इस प्रमाण से बाणी उपदेशक ही अग्नि मय है दूसरे, अध्यापक कौन है? विद्या के ऐश्वर्य से सम्पन्न खजाना और उपदेशक Like a fire arm of religion धर्म की तोप है।

सभी जानते थे कि दयानन्द बहुत हंसमुख हैं वे बालक के सत्य हित वचन का भी आदर करते और बड़े गम्भीर प्रश्नों को विनोद के रूप में कह देते हैं। इस कारण सभी

उनकी इस व्याख्या को सुनकर विनोद से हंस पड़े और साधुवाद देने लगे। परन्तु अभी अध्यात्म वेदी लोग भी अपना मर्म खोलने के उत्सुक थे।

महर्षि एडीसन बोले—देखो ये बिजुली-इसके न पैर और न हाथ। टेलीफ़ोन में लगा दो, पैर वाली गाड़ी, रेल तथा डाक का हरकारा सभी से पहले ये संदेशा पहुंचाती है। बिना सिर के बिना मुख के भी कैसा शब्द बोलती है। But its reach is about thirty Ayojans that is all. अर्थात् तीस कोस तक इसका जोर है उसके आगे दम मार कर रह जाती है! फलतः ६०, ८० मील तक जाती है। इनके देवता इन्द्राग्नी हैं। इन्द्र और अग्नि। इन्द्र मैग्नेट और अग्नि एसिड इन्हीं दोनों की यह सब करामात है।

इस वैज्ञानिक ऋषि की बात सुनकर सब बहुत ही प्रसन्न हुए वराह आचार्य कब किसी से पीछे रहने वाले थे। वे दैवज्ञों के प्रतिनिधि बन कर आये थे। वे बोले कि विद्युत् इन्द्र है और सूर्य अग्नि है। उनके बल से यह मेघमाला उठकर आयी है। वह आकाश ही आकाश में वायुवेग से बिना पैर के चल कर सभी प्राणियों से तेज़ चलती है। बिना शिर मुख के कैसा बोलती है, गर्जन करती है। और तीस २ दिनों तक बरसती रहती है।

योगी याज्ञवल्क्य कहने लगे—यह चेतना का वर्णन है। वह बिना पैर की होकर भी सारे शरीर में विचरती है। और नियत पद (स्थान) कर रहने वाली इन्द्रियों से पूर्व ही वह शरीर में उपस्थित होती है। शिर को छोड़कर अर्थात् शिर में लगे शेष सभी अंगों को छोड़कर केवल जिह्वा से ही अपने सुख दुःखादि अनुभव को बतलाती है और मूल भाग से लेकर ब्रह्मान्ध्र तक तीस अंगुल (३० मोहरों) में संचरण करके शिरोभाग तक पहुँचती हैं।

इन्द्र अग्नि यहां प्राणापान हैं। उनही के बल से वह कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। इस पर श्री शंकराचार्य कहने लगेः—

यह ब्रह्मविद्या का वर्णन है। शेष शब्दमय वाङ्मय साहित्य वाणियों से सब से पहले वह अपने परम लक्ष्यतक पहुंचती है। शेष सब तो पर्दोवाली हैं। सुबन्त तिङ्न्त पदों से कही जाती है परन्तु यह अन्तःकरण के अनुभव से जानने योग्य प्रभारूप है। वह शिरो भाग प्राण को छोड़कर जिह्वा भाग उसके मध्य में विचरनेवाली चित् शिखा से अपना रूप प्रकट करती है। और ४ वेद, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ६ वेदाङ्ग और १० उपनिषत् इन ३० स्थानों को घेर कर बैठी है।

इस प्रकार श्री जगद्गुरु की मर्म वाणी सुनकर सभी प्रसन्न हुए। इसके बाद एक वैदिक प्रेहलिका ऋषि त्रित्य ने कहीः—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशंगं बहुलं पुरुस्पृहं हरिरेति कनिक्रदत्॥ (यजु ३३, ९०)

बीच जलों में चन्दा आया, गगन बीच पन्छी सम धाया ।
सुवरनसम सब के मन भाया, हरि समगर्जत पुनि पुनि आया ॥

त्रित महोदय की पहेली सुनकर सब विचार सागर में पड़ गये । यास्क मुनि इस पहेली के एक २ शब्द के बाल की खाल नोंच लेना चाहते थे । शंकर कुछ आध्यात्मिक ब्रह्मतत्व की खोज लगा रहे थे । श्री दयानन्द उसमें से मानव संसार के लिये उत्तम उपदेश का पता लगा रहे थे । यज्ञ के पक्षपाती सायन महीधर तथा उव्वट महोदय उसमें से यज्ञ में डाली गयी आहुतियों के भावी परिणाम की कल्पना कर रहे थे । एडीसन उससे विद्युत शक्ति का गूढ़ तत्व देख रहे थे । न्यूटन और कोपर्निकस को वैदिक ज्योतिष का रहस्य दीख रहा था । सभी ने तो उसका अपनी २ मति से मर्म समझ लिया ।

प्रथम कौन अपना रहस्य खोले बस इसी की प्रतीक्षा होने लगी । प्रथम सब से उव्वट उठे । बोले यहां तो याज्ञिक तत्व स्पष्ट है । अग्नि में जो सोमरसकी आहुति डाली जाती है उसका क्या फल होता है । इसी का इस वेद मंत्र में पूरा वर्णन है ।

ओषधियों का पति चन्द्र ही पृथ्वी पर सोमरूप में परिणत होता है । जब उसको कूट कर पानी मिलाकर छान लिया जाता है, तब वह पानी में खूब मिल जाता है । तब यह कहते बनता है 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा ।' मानो बीच जलों में चन्दा आया । जब उसकी आहुति अग्नि में दीगयी तब वह वायुरूप होकर आकाश में उड़ने लगा । वह वाष्प का गुच्छा ऐसा ऊपर को सीधा उड़ा चला जाता है, जैसे आकाश में बाज़ या उकाब । उसकी कहीं गति रुकती थोड़े ही है । तब उसको सुपर्ण ही कहेंगे । ' सुपर्णः सुपनतनो भवति ' । उड़ने में बहुत तेज़ हो जाता है । सो क्या कहना 'गगन बीच पंछी सम धाया' ।

आकाश में जाकर वह मेघरूप से परिणत होगया और पानी बरसाने लगा । खूब धान उत्पन्न हुआ । धान्य क्या उत्पन्न हुआ मानो ओषधि वनस्पतिरूप से वह स्वयं उत्पन्न हुआ । बरसते समय गर्जता भी था । इस का कारण यही कहा जा सकेगा कि वह गरजते हुए नीचे धान्य के रूप में उतर आया । धान्य धान्य नहीं जबतक पक न जाय । खूब गाढ़ी फसल न हो, ऐसी कि प्रजा लोगों के मन हरे भरे पूरे न हो जायं । सो वह धान्य पकने पर खूब पीले रंग का (पिशङ्ग) बहुत और सबके मन भाने वाला हुआ । यह सब वह सोम चन्द्रमा ही रूपान्तर में आ विराजा । खूब गल्ला हुआ गल्ला क्या हुआ, खूब गहरा सोना पैदा होगया । मानो मेघ गर्जते हुए भूमि पर पीले मनोहर सुवर्णधन (रयि) के रूपमें आ उतरे । सो ठीक ही कहाः—

सुवरन सम सब के मन भाया, हरि सम गर्जत पुनि २ आया ।

उव्वट महोदय बात बहुत चतुरता से कह गये । बहुतों का मन उनके कथन पर रीझ गया । महीधर कहने लगे । "प्रिय विद्वद्गण ! मैं इसे कुछ और बढ़ा कर कहना चाहता हूं "। सबने कहा "हां, हां, कहो कहो ।" महीधर कहने लगे " है तो इसमें आहुति

का परिणाम ही दर्शाया गया। पर पांच प्रकार की आहुति होती हैं और पांच प्रकार की अग्नि होती है। उन पांचों पर विचार करना चाहिये। तब इस श्रुतिमय रहस्य का स्पष्टीकरण हो सकता है। क्योंकि श्रुति में कहा "पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति।" पांचवी आहुति में आपः पुरुष की वाणी बोलने वाली हो जाती है। इसी को वह मंत्र कहता है।

इतना कहने पर महीधर बैठना चाहते थे कि श्री महर्षि दयानन्द ने प्रश्न कर दिया कि कुछ घटा कर दिखा दीजिये। तब महीधर पुराणों की कथाओं में भागने लगे। और कहने लगे चन्द्रमा लतारूप सोम को जब कूटकर वसली वरी और निग्राभ्य आदि जलों में छान कर मिलाया गया, तब वह रसरूप में उनके भीतर रहा। उसके बाद अग्नि में डाला गया। वह सुपर्णा गरुड़ के आकार में बन कर खूब उड़नशील होकर आसमान में फुर्र से उड़ जाता है। क्योंकि श्रुति में लिखा है 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत'। यास्क कहते हैं "हरिः सोमो हरित वर्णः"। अर्थात् यहां से तीसरे आसमान द्यौ लोक में सोम है और यास्क के मत से हरीः 'सोम' हरे रंग का होता है। इस कारण हो न हो अवश्य यह कुटा हुआ सोम ही तीसरे आसमान पर उड़ कर चला गया है। वहां बादल बना और पानी बरसाने लगा और रयि को प्राप्त हो गया। रयि धन को कहते हैं। (रयिरिति धन नाम इति यास्कः) यह यास्क मुनि कहते हैं। अर्थात् वह सोम धान्य चावल, जौ और गेंहू अनाज के रूप में होगया। वह रयि कैसा ? पीला पक जाने पर जौ धान आदि सब पीले हो जाते हैं। वह भी बहुत असंख्यात उत्पन्न हुआ। इतना अधिक पैदा हुआ कि चारों प्रकार के जीवसंघों के लिये पर्याप्त था। तिस पर उस पर बहुत लोगों की चाह थी। बहुत से धन धान्य ही चाहा करते हैं। वह सोम भी वैसा ही होता है। और फिर वह हरि कैसा था ? गर्ज रहा था। मेघ बनकर खूब गड़गड़ा रहा था। यह वेद मंत्र का स्पष्ट अर्थ है। यह कह कर हाथ जोड़ कर महीधर बैठ गये। इस पर यास्क ने कुछ वैमनस्य प्रकट किया। क्योंकि यह अद्भुत कल्पना का विस्तार यास्क के कथनों पर ही आश्रित था। इधर पौराणिक कथाकार भी झेंपने लगे मानो महीधर ने उनकी कथा का उल्लेख कर के कथा पर अत्याचार किया है। कथा का भी आशय नहीं समझा और यौंही हरि सोम की आहुति को बाज़ बना कर उड़ा दिया। क्या यजुर्वेद जादूघर है कि इधर आहुति पड़ी और उधर आग में से निकल कर उक़ाब उड़ कर भागी, तुरन्त पहुंचा तीसरे आसमान। द्यो लोक में। जहां सूर्य भगवान रहते हैं। वहां से तो आना ही कठिन है। पर्जन्य तो मध्यस्थानी देवता है। फिर तीसरे स्थान पर कहां चला गया। वहां से गर्ज कर बरसना और धान्य रूप में पैदा होना इत्यादि तो उव्वटक ही अनुकरण था।

इस प्रकार महीधर के कथन पर सब कोई चमत्कार की आशा लगाए हुए थे पर वह आशा पूर्ण न हुई और अर्थ में रही सही गम्भीरता भी नष्ट हो गई।

आधियाज्ञिक पक्ष के अर्थ से विद्वानों की रुचि भी हट गई । इस पर स्वामी दयानन्द सरस्वती कहने लगे कि इसका तात्पर्य यह है कि—जैसे सुन्दर चालों से युक्त शीतल चन्द्रमा द्यौ लोक में और यहां हिंकारता हुआ घोड़ा गति करता और सुन्दर शोभा को प्राप्त होता है वैसे हम लोग जीवन पथ पर सिंह नाद करते हुए धन धान्य सम्पन्न हों और शोभा को प्राप्त हों । यही उपदेश पूर्ण रहस्य इस पहेली में छिपा है । असम्भव कल्पनाओं की अपेक्षा सर्वोपयोगी वेदार्थ ही उत्तम हैं यों दुर्बोध अर्थ गहरा अर्थ वेद मन्त्रों पर और अधिक गम्भीरता से विचारने से प्राप्त होगा ।

श्री सरस्वती महोदय के बैठजाने पर प्राचीन ज्योतिष के विद्वान श्री काली नाथ मुख्योपाध्याय बड़े विनय से कहने लगे—मान्य भद्र गण ! मैं वेद मन्त्र पर हाथ लगाते बहुत संकोच करता हूं तो भी एक निवेदन करना उत्तम समझता हूं । विश्व कोष त्रिकांड शेष में लिखा है ।

छाया पथो वेदपथः सोम धारा नभः सरित् ।

छायापथ, देवपथ, सोम धारा ये शब्द आकाश गङ्गा (White milky-path) के पर्याय हैं । इस कारण यदि द्यौ लोक वासी सोम का वर्णन वेद में आवे तो समझ लेना चाहिए अवश्य यह नक्षत्रों और ग्रहों या आकाशगंगा के सम्बन्ध में कोई बात है । अब इस पर विचार किया जावे ।

इस पर आर्य भट बोले ठीक है।

अपो लोकाः । तेषु अयं सुपर्णः चन्द्रमा धावति ।

इन नक्षत्र रूप लोकों के बीच में सुन्दर गति वाला चन्द्रमा गति करता है । हरि हरण करने वाला, सूर्य, द्यौ लोक में ही सुन्दर पीत वर्ण मनोहर रूप धारण करके उन्हीं नक्षत्रों के बीच गति करता है । अर्थात् जिन नक्षत्रों में चन्द्र की गति की गणना की जाती है उन्हीं में सूर्य की भी की जाती है चन्द्रमा शान्ति देता है । रात्रिको सभी शान्त होते हैं । परन्तु दिन के अवसर पर सभी जागते हैं शब्द करते हैं इस कारण सूर्य का विशेषण कनिक्रदत् विशेष है ।

आर्य भट की इस सरल ज्योतिषिक व्याख्या को सुनकर कोपरनिकस कहने लगे कि अब आवश्यकता है इस पर भी टीका होने की । सो अब इतना अवसर किसको है कि इसका गुढ़ाशय जो वेद के शब्दों में छिपा है उसको खोल कर यहां बतलावे । इतना ही कह सकता हूं कि है यह भी यज्ञाहुति का परिणाम । प्रलय काल की विराट ब्रह्माग्नि में जिस समय पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म हवि बनकर ब्रह्मार्पण हो जाता है । तब उस से अगला क्या परिणाम होता है । वह यही होता है कि फिर से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार सूर्यों और चन्द्रों की रचना होती है । इन नक्षत्र मण्डली में चन्द्र और सूर्य गति करने लगते हैं । यह सब आहुति का ही परिणाम है ।

इस पर ब्रह्मवेदी विद्यारण्य बोले कि इस शरीर में जल से बहुत आल्हाद होता है। 'आपो मयाः प्राणाः'। प्राण यह आपो मय हैं। वही सुपर्ण प्राणमय हंस इन जीवन रूप जलों के भीतर गुप्त रूप से विद्यमान है। वहीं ब्रह्माणु शिरो भाग में जीवन शोभा को लिए हुए प्राण पखेरू के रूप में सुपर्ण होकर गति करता है। और वही हरि आत्मा इस शरीर में है 'अहं सः' की गर्जना करता हुआ बलवान अश्व के समान बड़े ही सुन्दर रूप में ज्योतिर्मय दीपशिखा के समान हिरण्य रूप होकर प्रकाशित होता है। जिसको उपनिषदों (केन) में 'व्यद्युतद्' आदि से कहा है और वास्तविक आत्मा की शक्तिमय सत्ता उसी हिरण्मय पात्र से आवृत रहती है। यह आध्यात्म तत्व की पहेली बड़ी ही मनोरंजक है। वास्तव में अन्तिम योषाग्नि में पुरुष की वीर्याहुति का परिणाम है कि जीवन से पूर्ण होकर यह आत्मा पुरुष रूप से प्रकट होता है और पुरुष की बाणी बोलता है। इतना 'अहं सः' की गर्जना करता है ब्रह्म से लेकर प्रकृति तक सब पर अहं मम का अधिकार किया करता है।

इस आध्यात्मिक व्याख्या से सभी को आत्मिक सुख का अनुभव होने लगा। सभी उस पर अब विशेष रूप से परिष्कृत दृष्टि से मंत्र पर विचार करने लगे—

अन्त में सब विद्वान् मण्डली उठ खड़ी हुई। और सब अपने २ विचारों में ऐसे मग्न हो गए कि अपने ध्येयपदार्थ में ही मग्न हो कर अदृश्य हो गए।

शास्त्र और मांस।

आर्य जून १९२४

(श्री युत बुद्धदेव विद्यालङ्कार)

मांस भोजन की प्रथा जितनी निन्दनीय है उतनी ही दुर्वार भी है, भगवान् बुद्ध देव ने 'अहिंसा परमो धर्मः' का नाद गुंजाया परन्तु आज उनके शिष्य कदाचित् सबसे अधिक मांसाहारी हैं। ऋषि दयानन्द ने गोकरुणा निधि में कितने प्रबल शब्दों में इसका खण्डन किया है यह उस ग्रन्थ के देखने ही से पता लगता है वेद भाष्य में भी वह लिखते हैं कि जो कोई घोड़े आदि उपकारी पशुओं और उत्तम पक्षियों का मांस खावे तो उन को यथापराध दण्ड अवश्य देना चाहिए (यजु० २५।३६)

किन्तु आज बहुत से अपने आप को ऋषि दयानन्द का शिष्य कहलाने वाले लोग भी इस घृणित कर्म से संकोच नहीं करते उलटा समय २ कोई प्रत्यक्ष और कोई अप्रत्यक्ष रूप से इसका अनुमोदन भी करते हैं, फिर वाम मार्ग के प्रभाव से दूषित इतर लोगों का तो कहना ही क्या ! अभी थोड़े दिन हुए हरिद्वार के एक सन्यासी पद को कलङ्कित करने वाले भगवांधारी ने एक बड़ा ग्रन्थ केवल मांस भोजन को शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए लिख मारा है, यह महाशय यहां तक ही संतुष्ट

नहीं रहे। इन्होंने यह भी सिद्ध करने का यत्न किया है कि ऋषि दयानन्द को भी मांस विधान अभीष्ट था। इस के लिए उन्होंने आदिम सत्यार्थ प्रकाश तथा आदिम संस्कार विधि को प्रमाण रूपेण उपस्थित किया है। इस प्रकार के सज्जनों को जब ऋषि दयानंद का वह विज्ञापन दिखलाया जाता है जिस में उन्होंने इस विषय का भ्रम निवारण किया है तो कहते हैं कि चलो इस से इतना तो सिद्ध हुआ कि पारस्करादि महर्षि तो ऋषि दयानन्द की सम्मति में भी मांस को वेद विरुद्ध नहीं मानते थे, किन्तु नहीं वस्तुतः यह बात भी नहीं। ऋषि दयानन्द के शब्द यह नहीं कि मैंने संस्कार विधि में पारस्करादि ऋषियों का मत दिखाया है प्रत्युत ऋषि के शब्द हैं—मैंने "उन ग्रन्थों का मत दिखलाया है" अर्थात् जिस रूप में वह ग्रन्थ वर्तमान काल में मिलते हैं उनका मत यह है किन्तु वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है। किन्तु जब ऋषि ने देखा इस से भी भ्रम फैलता है तो अगले संस्करण में वह भाग निकाल ही दिए, खैर यह तो हुई प्रसङ्गागत बात। हमारा तात्पर्य यह है कि यह प्रथा आज कल बड़ी बलवती है और इस लिए इस के प्रबल खण्डन की आवश्यकता है। इस प्रश्न पर यद्यपि कई दृष्टियों से विचार हो सकता है किन्तु इस लेख में हमें इसी प्रश्न पर विचार करना है कि यज्ञों में अथवा अन्यत्र कहीं मांस भोजन श्रुति स्मृत्यनुमोदित है वा नहीं। अब हम इस प्रश्न पर विचार आरम्भ करते हैं।

सब से पहिले श्रुति को ही लीजिए:—

निःसंदेह वेद में कई स्थल ऐसे हैं जिनको देख कर आपातदर्शी लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि कदाचित् यहां पर मांस भोजन स्पष्ट रूपेण उपवर्णित है! जैसे अथर्व वेद में एक वाक्य है:—

एतद्वा उस्वादीयो यदधि गवंक्षीरम् वा मांसं वा तदेवनाश्नीयात्।

९ काण्ड ६ सू० ३ पर्याय ९ मंत्र

अर्थात् जो स्वादु पदार्थ हैं उन्हें अतिथि से पहले न खाना चाहिए जैसे मांस अथवा गौ का दूध। अब देखना चाहिए कि प्रथम तो इस वाक्य का तात्पर्य्य अतिथि से पूर्व भोजन निषेध में है नाकि मांस भोजन विधान में। इस लिए यह स्वतन्त्र रूपेण मांस भोजन का विधायक नहीं हो सकता, फिर यह भी देखना चाहिए कि यहां मांस शब्द का अर्थ क्या है, हमारी प्रतिज्ञा है कि यहां मांस शब्द का अर्थ फल-मांस अर्थात् फलों का गूदा है क्योंकि भोजन में मांस निषिद्ध है, जिस प्रकार सैन्धव शब्द का अर्थ घोड़ा तथा नमक दोनों होने पर भी भोजन काल में सैन्धव शब्द का अर्थ नमक ही लिया जाता है, इसी प्रकार मांस शब्द का अर्थ फल का गूदा, पशु का मांस तथा मनुष्य का मांस तीनों होने पर भी भोजन में मांस के अत्यन्त निषेध के कारण, यहां मांस

शब्द का अर्थ फल का गूदा ही लिया जायगा। बस अब यदि हम यह सिद्ध कर दें कि:—

१. मांस भोजन का वेद में अत्यन्त निषेध है।

२. यज्ञों में पशु-हिंसा का भी वेद में निषेध है।

३. मांस शब्द का अर्थ फल का गूदा भी है।

तो हमारी स्थापना सोपपत्तिक हो जायगी। अब हम इस ही क्रम से वैदिक प्रमाण उपस्थित करते हैं, देखिए मांस के विषय में वेद क्या कहता है:—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः
योअघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणिहरसाऽपिवृश्च

अथर्व का० ८. सू०३ मन्त्र १५

यो यातुधानः पौरुषेयेण पुरुषसम्बन्धिना क्रविषा मांसेन समंक्ते सम्यग् अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानाम् यश्चयातुधानः अश्व्येन अश्वसम्बन्धिना अश्वरूपेण क्रविषा पशुना अजादि रूपेण च समंक्ते तेषां सर्वेषां यातुधानानाम् शीर्षाणि शिरांसि हरसा तेजसा ज्वालया अपि वृश्च छिन्धि।

अर्थात् जो राक्षस पुरुष के मांस से घोड़े के मांस से अथवा बकरे आदि से अपने आप को पुष्ट करता है और जो गौ का दूध छीनता वा चुराता है हे अग्ने! तू उनके सिर भी काट डाल। यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आया है। एक और मन्त्र लीजिए:—

यन्नीक्षणं मांसपचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण
आसेचनानि। ऊष्मण्याऽपिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्

यजु०२५। ३६

घोड़े को कौन से पदार्थ सुशोभित करते हैं।

गर्मियों में हितकारी ओढ़ने के कपड़े, जल सेचन के पात्र, मांस पकाने की बटलोई का घृणा से देखना, पात्रों के अंक तथा पुष्पादि।

इस के भावार्थ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं यदि कोई घोड़े आदि उपकारी पशुओं और उत्तम पक्षियों का मांस खावे तो उनको यथापराध दण्ड अवश्य देना चाहिए।

इसी प्रकार यजुर्वेद का एक और मंत्र लीजिए:—

उत्सक्थ्या अव गुदन्धेहि समञ्जिञ्चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजनः।

यजु० अ० २३. म० २१

हे शक्तिमान्! जो स्त्रियों के बीच प्राणियों का मांस खाने वाला व्यभिचारी पुरुष वा पुरुषों के बीच उक्त प्रकार की व्यभिचारिणी स्त्री वर्त्तमान हो उस पुरुष और स्त्री

को बांध कर ऊपर को पग करके और नीचे को शिर कर ताड़ना करके और अपनी प्रजा के बीच उत्तम सुख को धारण करो और अपने प्रगट न्याय को भली भान्ति चलाओ ।

देखिए यहां किस प्रकार वेद ने मांसाहारी तथा कामातुरों के लिए ज़बर्दस्त शीर्षासन का विधान किया है, यह तो हुआ मांस का सामान्य निषेध, अब जो कई लोग प्रति प्रसव अथवा परि संख्या रूपण यज्ञों में मांस विधान मानते हैं उन के लिए देखिये वेद क्या कहता है ।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेहब्रवः ॥

अथ० काण्ड ७ अनु० १ सू० ५ मन्त्र

सुनिये इस का सायण भाष्य ।

मुग्धाः कार्य्याकार्य्य विवेकरहिता देवा यजमानाः शुनापि अयजन्त अत्र गर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्म्म यज्ञस्य निन्दादर्शिता, अखाद्यानां मावधिः श्वा तथा गो रूप पशोः अङ्गै अवयवैरपि पुरुधा बहुधा अयजन्त । स शुनक गवादि रूपैः पशुभिर्यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं पूर्वार्धेन कर्म्म यज्ञं निन्दित्वा उ र्धेन ज्ञानयज्ञ प्राप्तये तदभिज्ञम्प्रार्थयते यो विद्वान् इमं यज्ञं यष्टव्यम् परमा मनसा चिकेत जानातिस्म तं तथाविधं गुरुं नः अस्माकं प्रवोचः प्रब्रूहि तेन प्र गुरुं ब्रूते इहेह इदानी मेव ब्रवः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि—

जो यजमान कार्य्याकार्य विवेक रहित होते हैं वह कुत्ते से भी जो कि अ पदार्थों की चरम सीमा है तथा गौ से जो कि रक्षणीयों की चरम सीमा है यज्ञ करने ल हे प्रभु तू हमें ऐसा गुरु बता जो इस यज्ञ को मन से जानता है जिस से हम उस कहें कि हे गुरु हमें परमात्मा का उपदेश कीजिए ।

हमें सायणाचार्य का सम्पूर्ण अर्थ स्वीकार है केवल दो बात स्वीकार न तो जो उन्होंने मंत्र की उत्थानिका में लिखा है । "एवं कर्म यज्ञात् ज्ञान यज्ञस्य श्रुत्वा कर्म यज्ञं विनिन्दन् अविनाशि फल कामस्त टस्थो ब्रूते" और दूसरे जो उन्हों के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में लिखा है "एवं पूर्वार्धेन कर्म्म यज्ञं निन्दित्वा उत्तरार्धेन ज्ञ प्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते" ।

सायणाचार्य्य का कहना है कि पूर्व मंत्र में ज्ञान यज्ञ की कर्म यज्ञ की अपेक्षा कही है इस लिए इस मंत्र में कर्म यज्ञ की निन्दा करता हुआ मोक्षार्थी प्रार्थना इसी प्रकार उत्तरार्ध के आरम्भ में कहते हैं कि "पूर्वार्ध से कर्म यज्ञ की नि

के उत्तरार्ध से ज्ञान यज्ञ की प्राप्ति के लिए ज्ञानी गुरु के लिए प्रार्थना करता है" हमारा सायणाचार्य से इस प्रकार का मत भेद है।

प्रथम तो इस से पहले मंत्र में ज्ञानयज्ञ तथा कर्मयज्ञ का मुकाबला नहीं किया गया किन्तु ज्ञान यज्ञ तथा पुरुष यज्ञ का मुकाबला किया गया है। जिसका अर्थ ज्ञान यज्ञ तथा शरीर यज्ञ उचित जान पड़ता है। क्योंकि ज्ञान के मुकाबिले में पुरुष का अर्थ स्थूल शरीर ही ठीक जंचता है। अर्थात् ज्ञान और शरीर से समाज सेवा करने वालों में ज्ञान से सेवा करने वाला बड़ा है। शूद्र वैश्य और क्षत्रिय से ब्राह्मण का पद ऊंचा है। अन्यथा ज्ञान भी मानस कर्म है इस लिए यह भी कर्म्म यज्ञ हो जायगा।

हमारा दूसरा मत भेद यह है कि सायणा चार्य को इस मंत्र में कर्म यज्ञ के स्थान में पशुयज्ञ शब्द रखना चाहिये। इस मंत्र में कर्म्म यज्ञ की नहीं पशु यज्ञ की निन्दा की गई है। इस मंत्र में स्पष्ट रूपेण पशुओं का उल्लेख है। यदि हम सायणा चार्य का कथन स्वीकार भी कर लें तो कर्म यज्ञ और ज्ञान यज्ञ की तुलना पहले मंत्र में हो चुकी है। यहां तो पशु यज्ञ की निन्दा है, कर्म यज्ञ को वेद ने निन्दनीय नहीं ठहराया किन्तु ज्ञान यज्ञ को उसकी अपेक्षा अच्छा बताया है। हां पशु यज्ञ की निन्दा की है। तत्पर्य यह कि वेद ने दो नहीं तीन भाग बनाए हैं ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है कर्म यज्ञ पुरुष यज्ञ शरीर यज्ञ जो चाहे कह लीजिए उसकी अपेक्षा छोटा है। किन्तु फिर भी उपादेय है किंतु पशु यज्ञ निन्दनीय है। उस में हेयोपादेय का कार्याकार्य का विवेक नहीं रहता। मूढ वेद तत्त्व न जानने वाले भ्रांत पशुयागीन कुत्ते के समान गंदे पशु को छोड़ते हैं न गौ के समान अघ्न्य उपकारी जीव को। विद्वान् लोग पक्षपात छोड़ कर दोनों मत्रों को पढ़ें और कहें कि किसकी बात ठीक है।

बात है भी यही, आपातदर्शी कार्या कार्य विवेक शून्य लोगों ने ही वेद के शब्दों के ठीक अर्थ न जान कर तथा पूर्वापरसङ्गति न विचार कर गोमेधादि के नाम से गो घातादिजघन्य कर्मों की सृष्टि की है।

हम यहां निदर्शन के लिए अथर्व० का एक वाक्य उपस्थित करते हैं। अथर्व के चौदहवें काण्ड में एक वाक्य है।

मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते

अथर्व १४ का० १सू० १३ मंत्र

इस वाक्य को लोग बहुधा गोवध प्रति पादन के लिए उपस्थित करते हैं। वाक्य का अर्थ भी आपातदर्शी लोगों के लिए ठीक है। मघा में गौ मारी जाती है और फल्गुनी में विवाह किया जाता है, परन्तु ज़रा बुद्धिमान सोचें तो सही कि इस में कोई कारण भी है, अब ज़रा गो शब्द के अर्थों की ओर ध्यान दीजिए। निरुक्त में गोशब्द के वाणी, धनुष की ज्या, पृथिवी, सूर्य की किरणें आदि अनेक अर्थ दिए हैं। अब ज़रा सूर्य किरण को यहां

लगा कर देखिए । माघ मास विवाह के लिए उत्तम नहीं क्यों कि यद्यपि उस में बसंत प्रवेश होने लगता है तो भी सूर्य की किरणें अभी मरी पड़ी होती हैं। इस लिए फाल्गुन में जब ऋतुराज बसंत अपने यौवन के झोंके में सारे संसार को झकोरे दे रहा होता है, विवाह होना कितना उचित है। यह बात आज वैज्ञानिकों के अनुभव ने भी सिद्ध कर दी है। इसी लिए वेदने कहा कि पशुयाजी लोग कार्याकार्य विवेकशून्य हैं उनकी अवस्था वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की जो भोजन शाला में "सैन्धवमानय" कहने पर घोड़े के टुकड़े कर के थाली में डाल दे किंतु नमक न लावे।

इसी प्रकार कार्याकार्य विवेकशून्यता का एक उदाहरण हम और देना चाहते हैं। सूत्र ग्रंथों तथा मनुस्मृति में भी अवकीर्णी के लिए अर्थात् उस ब्रह्मचारी के लिए जिस ने अपना ब्रह्मचर्य खण्डित कर दिया हो प्रायश्चित्तार्थ चतुष्पथ में गर्दभेष्टि का विधान किया है।

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे पाक यज्ञ विधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि।

मनु० ११ अ० ११९ श्लोक

अर्थात् अवकीर्णी पाक यज्ञ की विधि से चौराहे में रात्रि के समय निर्ऋत्ति देवता के लिए काणे गधे से यज्ञ करे।

अब यह कार्याकार्य विवेक शून्य लोग यहां अर्थ करते हैं कि उस ब्रह्मचारी को चौराहे में गधे को काट कर आहुतियां डालनी चाहियें। भला इस अनर्थ के भी कुछ ठिकाने हैं। अपराध करे ब्रह्मचारी मारा जाए बिचारा गधा, चले थे ब्रह्मचर्य के खण्डन का प्रायश्चित्त करने साथ में गधे की हिंसा और ले बैठे। अर्थ स्पष्ट है कि जिस ब्रह्मचारी ने व्रत भङ्ग किया हो उसे गधे पर चढ़ा कर चौराहे में खड़ा कर देना चाहिए। अब तक यह प्रथा ग्रामों में प्रचलित है और इसी प्रकार के अपराधों में काम भी आती है। इस के साथ ही इस गधे को नैर्ऋत गर्दभ कहा जाता है अर्थात् इस गधे का देवता है निर्ऋति, निर्व्वासन, अलग करना। इस गधे को हम अंग्रेजी में Segrgrational Donkey भी कह सकते हैं, अर्थात् वह गधा जो अपराधी को कुछ काल के लिए बाहिर निकालने के लिए काम आता है।

आगे जाकर १२२ श्लोक में यही बात कही है।

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम्।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म्म परिकीर्त्तयन् ॥

यह पाप अर्थात् ब्रह्मचर्य भङ्ग होने पर गधे की खाल पहिन कर अपनी करतू सुना कर केवल ७ घर भिक्षा मांगे (न मिले तो भूखा रहे।)

सोचिए। कि कामातुर गधा होता है तथा उस के केवल एक आंख होती है काम्य व्यक्ति के अतिरिक्त वह कुछ नहीं देख सकता। इसलिए काणा गधा कितनी अ

रूप सवारी है, काणे गधे की सवारी और गधे की खाल परिधान क्या अनुरूप दण्ड है।
किंतु मांस लोभातुर गधों ने इसकी कैसी दुर्दशा की है।

इस प्रकार हम ने अब तक इतना दिखलाया कि वेद में न तो मांस भक्षण की सामान्य रूपेण आज्ञा है, और न विशेष रूपेण यज्ञ में। साथ ही हमने प्रसङ्ग वश यह भी दिखा दिया कि किस प्रकार लोग थोड़ी सी नासमझी से कैसा असङ्गत अर्थ कर डालते हैं। अब हमारी स्थापना का तीसरा भाग शेष रह गया, अर्थात् वेद में तथा लौकिक शास्त्र में भी मांस शब्द फल के गूदे के लिए लाया है। सो इस का भी प्रमाण लीजिए: -

मज्जा मज्ज्ञा संधीयता चर्म्मणा चर्म्म रोहतु
असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु
लोम लोम्ना संकल्पय त्वचासंकल्पयात्वचम्
असृक्ते अस्थि रोहतु छिन्नं संधेह्योषधे

अथर्व ४ का० १२ सू० ४. ५ मंत्र

अर्थात् हे रोहिणि ओषधे तू अपनी त्वचा से इस रोगी की त्वचा ठीक कर दे। लोम से लोम, मज्जा से मज्जा ते तेरा रुधिर इसकी हड्डियों तक पहुँच जाय। तू टूटे हुए को जोड़ दे।

यहां स्पष्ट रूपेण रोहिणी ओषधि के मांस का वर्णन है।

अब ज़रा सुश्रुत में भी देखिए:—

लघ्व म्लम् दीपनम् हृद्यं मातुलुङ्ग मुदाहृतम्
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वात क्रिमि कफापहा
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धम् मांसं मारुतपित्तजित्

सु० सूत्र ४६ अध्याय १४९। १५० श्लोक

मातुलुङ्ग (एक प्रकार का नीबू) खट्टाहलका अग्निदीपक तथा हृदय के लिए हितकारी है। उसकी त्वचा स्वाद में कड़वी, कठिनता से पचने वाली तथा कफवात और क्रिमि नाशक है, उसका मांस, मीठा ठण्डा, भारी चिकना तथा वात और पित्त को जीतने वाला है। यहां कैसा स्पष्ट मांस शब्द का प्रयोग फल के सम्बन्ध में आया है। इसी प्रकार २७३ पृष्ठ पर शारीर स्थान के दूसरे अध्याय में ३२ वें पैरे में फिर आया है :—

तद्यथा चूतफले परिपक्वे केशर मांसास्थि मज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते
काल प्रकर्षात् तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते।

अर्थात् देखो आम के फल में पक जाने पर केशर, मांस, हड्डी और मज्जा अलग अलग दीखते हैं। किन्तु कच्चे में वैसे नहीं, यह समय का प्रभाव है। इस प्रकार संपूर्ण लेख का सार यह निकलाः—

१. वेद में मांस भोजन की आज्ञा नहीं, उलटा उसके लिए प्राणदण्ड तक लिखा है

२. वेद में, यज्ञ में पशु हिंसा का निषेध है तथा उसे मति-विभ्रम मूलक बताया है

३. वेद में, तथा लोक में मांस व मज्जा हड्डी त्वचा आदि शब्दों का फलों के लिए वैसा ही प्रयोग है जैसे पशु मनुष्यादि के मांस मज्जादि में।

४. इस लिए वेद में जहां कहीं भोजन प्रकरण में मांस शब्द का व्यवहार हो वहां फल का मांस लेना।

अब भी हम बाज़ार में मांस बिक रहा है। यह सुन कर पशु मांस ही समझते हैं। नर मांस नहीं, क्योंकि नर-मांस राजाज्ञा विरुद्ध है और इस के लिए प्राण दण्ड है। उन देशी राज्यों में जहां गौ-बध बन्द है, हम मांस से गो मांस नहीं समझते क्यों कि वहां गो-बध बन्द है और उस के लिए कठोर दण्ड है। और कहीं २ प्राण दण्ड भी है। इसी प्रकार वेद में मांस शब्द का अर्थ भोजनादि प्रकरणों में फल मांस है। क्योंकि वैदिक राज्य में मनुष्य तथा पशु की हत्या के लिए प्राण दण्ड तक कहा गया है।

इस वार इस लेख में हम ने सामान्येन मांस भोजन के सम्बन्ध में शास्त्र का मत दिखलाया है। यदि अवकाश मिला तो हमारी इच्छा अग्नीपोमादि यज्ञों पर क्रमशः एक एक यज्ञ करके लिखने की है। द्वि. नन्द किशोर आर्य पत्रिका का जून १९२४

मित्रता का आदर्श

(श्रीयुत यशःपाल सिद्धान्तालङ्कार)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवाना ँ रातिरभिनोनिवर्त्तताम् । देवाना ँ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।

यजुर्वेद २५ । १५ ।

हे मनुष्यो जैसे (देवानाम्) विद्वानों की (भद्रा) कल्याण करने वाली (सुमति) उत्तम बुद्धि हम लोगों को और (ऋजूयताम्) कठिन विषयों को सरल करते हुए (देवानाम्) देने वाले विद्वानों का (रातिः) विद्यादि पदार्थों का देना (नः) हम लोगों को (अभि, नि, वर्त्तताम्) सब ओर से सिद्ध करे, सब गुणों से पूर्ण करे (वयम्) हम लोग (देवानाम्) विद्वानों की (सख्यम्) मित्रता को (उपसेदिमा) अच्छे प्रकार पावें (देवाः) विद्वान् (नः) हम को (जीवसे) जीने के लिए (आयुः) जिस से प्राण का धारण होता है, उस आप को (प्र, तिरन्तु) पूरी भुगावें।

अर्थात् सब मनुष्यों को चाहिए कि पूर्ण शास्त्रवेत्ता विद्वानों के समीप से उत्तम बुद्धियों को पाकर ब्रह्मचर्याश्रम से आयु बढ़ा के सदैव धार्मिक जनों के साथ मित्रता रक्खें।

(दयानन्द भाष्य)

यदि मनुष्य के आचार का पता लगाना हो, तो उस के मित्रों तथा साथियों का पता लगाना चाहिए। मित्रों से ही उस के आचार का पता लग सकता है। जैसे उस के मित्र होंगे, वैसा ही वह स्वयं भी होगा। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि "Man is known by the company he keeps" अर्थात् मनुष्य के आचार का ज्ञान उसके साथियों के आचार व्यवहार के पता लगाने से होता है। यदि कोई मनुष्य बुरे लोगों की संगति में रहेगा तो यह अत्यन्त कठिन है कि वह धर्मात्मा रह सके। उस के हृदय तथा मन पर सदा अपने साथियों की बातों का प्रभाव पड़ता रहेगा और कुछ दिनों में ही वह उसी रङ्ग में रङ्गा जायगा। परन्तु यदि वह धर्मात्मा तथा विद्वान् पुरुषों को अपना मित्र बनायेगा और उन की संगति करेगा तो उसका जीवन भी उन के समान ही उच्च और पवित्र बन जायगा। वाल्मीकि इत्यादि ऋषियों के जीवन इस सचाई के ज्वलन्त उदाहरण है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि सत्सङ्गति की इतनी महिमा तथा बुरी संगति की इतनी निन्दा वेद में क्यों पाई जाती है। संसार में मित्रों की क्या आवश्यकता है? क्या बिना मित्रों के मनुष्यों का निर्वाह नहीं हो सकता?। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के हृदय की पड़ताल करें तो हमें ज्ञात होगा कि मित्र प्राप्ति की अभिलाषा मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। बिना साथियों के उस का निर्वाह होना कठिन है।

मित्र की आवश्यकता प्रेम के लिए नहीं। क्योंकि प्रेम के स्रोत माता, पिता, बहिन तथा अन्य सम्बन्धी, मनुष्य की इस अभिलाषा को पूरा कर देते हैं। मातृ प्रेम से बढ़ कर संसार में प्रेम का कोई अन्य नमूना हो ही नहीं सकता। भाई और बहिन का प्रेम जगत् प्रसिद्ध ही है। इन के होते हुए भी यदि मित्र की आवश्यकता है, तो यही समझना चाहिए कि संसार में कोई ऐसे कार्य तथा कर्तव्य हैं, जिनको कि मित्र ही पूरा कर सकता है, अन्य कोई नहीं। आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध में शिष्य अपने को छोटा समझता है और अपने आचार्य को अपना पूज्य देव मानता है। इस संबन्ध में शिष्य को लेना ही लेना है, देना कुछ नहीं। मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह उस संबन्ध को चाहता है जहां कि वह बराबर की स्थिति में रहता हुआ कुछ दे भी सके। इस सम्बन्ध में सांसारिक धनादि का कोई स्थान नहीं। इन्सान मित्रता इस लिए करता है कि वह अपने मित्र की सहायता से अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक कमियों को पूरा कर के उन्नति करे। वेद कहता है कि हमें देवों की मित्रता की खोज करनी चाहिए। जिस

में कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक हो, सदाचारी हो, विद्वान् हो. ऐसे ही पुरुष से मित्रता का वास्तविक लाभ है। जो हमें जीवन के सङ्कटमय समयों हमें शान्ति का मार्ग बतला सके, मानसिक कठनाइयों के समयों में हमें धर्म-पथ पर चला सके।

मित्रता विद्वानों में ही हो सकती है, मूर्खों में नहीं। जो किसी भद्दे स्वार्थ को लेकर आपस में मिलते हैं, वे कभी भी बहुत देर तक मित्र नहीं रह सकते। जो किसी नियम या कानून को भङ्ग करने के लिए, किसी से बदला चुकाने के लिए, राजविद्रोहादि अनुचित उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए आपस में मिलते हैं, उन की मित्रता क़ायम नहीं रहती। पकड़े जाने पर वे एक दूसरे की पोल खोल देते हैं। इस प्रकार की मित्रतायों का अन्त दुःखमय होता है। जहां मनुष्य के लिए नम्र होना आवश्यक है, वहां आत्मसन्मान के भाव का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अपने बड़ों के सामने नम्रता ही भूषण है परन्तु अपने मित्रों के साथ आत्मसन्मान की बड़ी आवश्यकता है। जिस मनुष्य के लिए उस के मित्रों के हृदय में मान का भाव नहीं है, वह कभी भी उनके सच्चे प्रेम को नहीं पासकता। जिन दो मित्रों में आपस में एक दूसरे के गुणों के लिए आदर का भाव नहीं, वे मित्र कभी भी सुखी नहीं हो सकते।

मित्र के दो कर्म हैं १—अपने मित्र की कमियों को पूरा करना तथा २—उस की मानसिक प्यास को तृप्त करना। विद्वानों के पास विचार (ideas) होते हैं। वे एक दूसरे को उच्च विचार देते हैं। परन्तु मूर्ख दिन रात गप्पें मारा करते हैं और जब उनकी गप्पें समाप्त हो जाती हैं तब उन में लड़ाई हो जाना स्वाभाविक है।

वास्तविक विद्वान तो वही है, जिस के हृदय में सदा नवीन विचारों की धारा बहती रहती है। इस प्रकार के विद्वान् मित्र जब कभी भी आपस में मिलेंगे, उन दोनों को नवीन २ बातों का ज्ञान होगा। और उनकी बातें कभी समाप्त न होंगी और उनकी मित्रता स्थिर रहेगी। संसार के उचित भोगों को हम तभी तक भोग सकते हैं यदि हम उन में लिप्त न हों। एक भोगी इन्सान कभी सांसारिक भोगों को नहीं भोग सकता। इसी प्रकार नवीन नवीन बातों का संग्रह करके जब विद्वान् मित्र मिलेंगे और आपस में बैठकर वार्त्तालाप करेंगे, उन की बातों की समाप्ति न होगी और उन की मित्रता स्थिर रहेगी। अन्यथा जब उन की भी बातें समाप्त हो जायेंगी तब वे भी एक दूसरे से तंग आजायंगे।

इस लिए इन्सान को ऐसा मित्र ढूंढना चाहिए जो की विद्वान् हो, उस की कमियों को पूरा करने की योग्यता रखता हो। तभी जीवन सुखमय होगा। वैसे तो मैत्रियां संसार में हजारों होती ही रहती हैं।

पवित्र आनन्दों से जीवन बढ़ता है, और दुःखों से जीवन घटता है। विद्वानों की मित्रता से आनन्द की उपलब्धि होती है और आनन्द से आयु की वृद्धि होती है। तथा दुर्जनों की मित्रता से दुःख और दुःखों के कारण आयु क्षीण होती है। मित्रों को आपस

में एक दूसरे के आचरण के लिये भी मान होना चाहिये। जिस मित्रता का प्रारम्भ ही अविश्वास से हो, वह दुःखमय होती है। मित्रों के आचार बड़े उन्नत होने चाहियें। जो देव है वही मित्र होने का अधिकारी है। वेद की यही आज्ञा है कि उसी को मित्र बनाना चाहिये।

यशःपाल सिद्धान्तालङ्कार

महाशय गन।

लीजिए! आर्य समाज भी आविष्कार के क्षेत्र में पीछे न रहा। पंजाब के आर्य पण्डितों ने एक गन निकाली है जिसका नाम है 'महाशय गन'। चुपके २ इस गन का प्रचार हो रहा है। पर वह प्रचार है बड़ा प्रबल। कहते हैं मक्के के कंगुरे तक, रोम के कलेसा के कलस तक, इस गन के गोल की पहुँच है। आर्यों को इस गन के आविष्कार का इतना अभिमान हुआ है कि इनके व्याख्यानों, उपदेशों, वक्तृताओं और भाषणों, और कभी २ तो भजनीकों के भजनों, के आरम्भ में इस के नाम का पाठ होता है। वेद का मंत्र समाप्त होते ही आर्य वक्ता के मुख से निकलता है:—'महाशय गन'!

नाम सुना और बोलने वाले का बोलना बन्द हो गया। हँसने वाले का हँसना, खांसने वाले का खांसना खिखारना। यह गन क्या है! सरहद्दी पठान को मानो 'हरिए' के आने की धमकी है।

यदि अब भी गवर्नमेंट आर्य समाज को विद्रोही न समझे तो फिर कब समझेगी!

'ठठोली'

ठाकुर जी की कृपा।

(१)

नवल किशोर शाहपुर ज़िले के किसी ग्राम में एक विद्यार्थी था। बड़ा चतुर, बड़ा प्रतिभाशाली। किसी उपदेशक के अड्डे चढ़ा और आर्य समाजी हो गया। घर गया तो माता के पूजने की मूर्ति तोड़ दी। श्राद्ध का दिन आया, ब्राह्मण के आने से पूर्व चौका झूठा कर दिया। पिता ने लाख डांट डपट की, न समझा। रोज़ के झगड़े से तंग आकर अन्त को घर से निकल खड़ा हुआ। स्वर अच्छा था, आर्य समाजों में जाता, भजन गाता और इस कला के सहारे निर्वाह करता।

अभी गान विद्या न सीखी थी। ताल का पता न था। न राग रागिणियों के नाम ही आते

थे। आर्य समाज में अभी इन चीज़ों की आवश्यकता भी नहीं। आवाज़ सुरीली पाई थी। तान जितनी ऊँची चाहता उठाता, सुनने वाले मस्त हो जाते थे। नवल किशोर भजनीक हो गया। सामाजिक गान याद कर लिये। फिर क्या था? स्थान २ से मांग आने लगी। उसे माता पिता की पर्वा न रही।

गान विद्या का प्रेम एक तबलची ने कराया। वह बूढ़ा खुरांट, यह अपने गले पर मस्त। सुनने वालों में कोई २ गायक निकल आए। नवल किशोर की फबती उड़ गई। किसी ने कहा:—'इस राग का नाम है आर्य समाजी राग। कोई और बोला:—इस ताल का नाम है वैदिक ताल'।

नवल किशोर खिसियाना हुआ। जी में आई—यह कलंक धोना चाहिए। जिस आर्य समाज के लिए घर बार छोड़ा था, उस के नाम का गायकों में उपहास हो—यह नवल किशोर (गायक नवल किशोर) को असह्य था।

थोड़ी २ शिक्षा इधर उधर से पाते रहे। जहां कोई गान विद्या का धनी सुना, उस से दो आलाप सीख लिये। मोटे २ तालों का भी पता लगा लिया। आसा, भैरवी, विहाग इत्यादि का सामान्यतया अलापना भी आ गया। इस से मांग और बढ़ी। परन्तु नवल किशोर इतने से सन्तुष्ट न था। उसे जितना गान का ज्ञान होता जाता था, उतना अपने अज्ञान पर से परदा हटता जाता था। किसी गानाचार्य के चरणों में बैठने का सौभाग्य भी होगा? कभी नवल किशोर के गानों से आर्य समाज के गान का मान भी होगा यह धुन थी जो नवल किशोर पर रात दिन सवार रहने लगी।

अन्त को प्रबन्ध किया कि सतारा नगर के संगीत सदन में भरती हो। आर्य समा[ज] के प्रबन्धकों की समझ में ही न आता था कि नवल किशोर के गानाचार्य हो जाने [से] आर्य समाज को कुछ लाभ हो सक्ता है। गायक प्रायः भ्रष्ट आचार के होते हैं प्रचार कार्य की योग्यता उन में कभी हो ही नहीं सक्ती। भला कवि और भजनीक का कोई धर्म है? अंजुमन में गए, अल्लाह २ कर ली; सभा में आए, ओंकार का जाप [कर] दिया। अधिकारियों को अपने प्रचार की मांग की अपेक्षा नवल किशोर के हाथ [से] निकल जाने की अधिक चिन्ता थी। बहुत दिन टाला। दिल में रह २ कर यही वि[चार] उठता, जिसने माता पिता को छोड़ा है, उसे आर्य समाज को छोड़ते क्या देर लगेगी

नवल किशोर के सिर पर भूत सवार! आख़िर प्रबन्धकों से लड़ाई मोल [ली] बात बात में उद्धत होने लगा कि वों नहीं तो यों तो पिण्ड छोड़ेंगे ही। दोनों पक्ष स[मझ] गए कि अब निभनी नहीं। नवल किशोर को २ वर्ष का अवैतनिक अवकाश मिल गय[ा]

(२)

सतारा के संगीत सदन में नवल किशोर संगीताभ्यास कर रहा है। परि

युवक है। मस्तिष्क में प्रतिभा है। बुद्धी तीव्र है। जो बात एक बार सुन ले, वह पत्थर की लकीर हो जाती है।

सदन के आचार्य हैं गंधर्व राज श्री राम निवास सामवेदी। नवल किशोर पर उन की विशेष कृपा दृष्टि है। प्रायः कहा करते हैं, वर्षों में शिष्य ही एक मिला है। अभ्यास करता रहा तो किसी दिन गद्दी सँभालेगा। पर एक बात है जो सदा गुरु के हृदय में खटकती रहती है। गले के नीचे तक आ २ कर रह जाती है। कहना चाहते हैं, कह नहीं पाते। सदैव सोचा करते हैं:—नवल किशोर आर्य समाजी है। कोकिल का सा कण्ठ और आर्य समाज में! शूकरों के आगे मोती! नवल किशोर नवल किशोर की भक्ति में नहीं लगाया जा सक्ता! ठाकुर जी इस ठाकुर के गान के आनन्द से वंचित रहेंगे?

राम निवास बड़े नीतिमान् थे। कोई काम करना हो, सहसा नहीं कर डालते थे। महीनों सोचते युक्ति प्रयुक्ति का युद्ध ठनता और यह देखते। अन्त में निश्चय करते कि क्या दाव लगाना है, और प्रायः सफल होते। इस आर्य किशोर को भी नीति के पाश में बांधना चाहते थे।

संगीत सदन का नियम था कि जो विद्यार्थी अभ्यास के अनन्तर कुछ पक्का होजाय, उसे ठाकुरजी के भजन की बारी दी जाती। वही विद्यार्थियों के अभ्यास का अवसर होता था। यह बारी दिन रात चला करती थी, जिस से ठाकुरजी को निरन्तर गान रस की भेंट मिलती रहती थी। अभ्यासी ठाकुर जी के सामने बैठ कर गाताः—

"नवल किशोर नवेली राधा"।

समय बीतते २ नवल किशोर के लिए भी वह दिन आया जब उसे ठाकुर जी की भक्ति की बारी दी जानी थी। स्वाभाविक रूप से नवल किशोर से कहा गया कि भाई! ठाकुर जी को रिझाया करो। समय अपना आप चुनलो। सब से सुगम प्रातःकाल का एक घंटा है, वही लेलो।

नवलकिशोरने यह सुनना ही था कि उस के सामने अपने पुराने घर का चित्र खिंच गया। वह माता। वह माता की पूजने की मूर्ति जो अपने हाथों तोड़ी थी। हृदय पर दृश्य सामने आने लगे। सोचा जिस भ्रम पाश से विमुक्त होने को घर छोड़ा, बार छोड़ा, उसी भ्रम जाल में फिर फँसना होगा?

नवलकिशोर चुप रहा। थोड़ी देर के मौन के पीछे बोलाः—"यह न होगा।" श्री रामनिवास के पास यह शिकायत गई कि नवलकिशोर ठाकुरजी के भजन से इन्कार करता है। उन्हें पहिले ही यह आशा थी। परन्तु फिर भी नवलकिशोर को बुलवाया और हंसते २ कहाः—क्यों भाई! अपने नाम से घृणा क्यों? यही तो जाप करना होता है:—

"नवल किशोर नवेली राधा"।

नवल किशोर—(गंभीर होकर) महाराज ! यहां प्रश्न है धर्म का । मैं आर्य समाजी हूं। मैं मूर्ति पूजा नहीं कर सकता ।

नवलकिशोर की आंखों में आंसू आते प्रतीत होते थे, परन्तु जैसे रोक लिये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता था कि भजन की बारी के प्रश्न ने किसी आन्तरिक स्रोत को हिला दिया है। उद्विग्न था परन्तु कठोर दमन से दान्त हुआ। २।

श्री रामनिवासः—जा कमचोर कहीं का। यहां कमचोरों का काम नहीं।

नवल किशोरः—महाराज ! निकालना ही हो तो और बात है । अभी कहिए बिस्तरा बांध लूंगा। पर कामचोर मैं नहीं। आप दो घंटे का काम दे दीजिये-ऐसा काम जो मेरे धर्म के विरुद्ध न हो। सहर्ष करूंगा। इस से कठिन काम दे दीजिये । चूं भी कर जाऊं तो कहिये।

रामनिवास के आगे आत्माभिमान की समस्या थी। सदन की यन्त्रणा की समस्या थी। आज नवलकिशोर ने इन्कार किया। कल औरों को साहस होगा। ऐसे योग्य शिष्य को गँवाना भी सहज न था। सोचा, कोई और युक्ति करेंगे। अब इस झगड़े को टालना चाहिये।

रामनिवासः—(विद्यार्थियों से) अच्छा भाई ! इन के धर्म का विरोध न करो । इन्हें दो घंटे रात का पहरा दे दो।

नवलकिशोरः—"हां ! यह सिर आंखों पर।"

(:)

महीनों बीत गए। रात के मध्य भाग का पहरा नवलकिशोर देते हैं। इस में कभी बाधा नहीं पड़ी। एक पहरेदार का वेतन बच गया है। यह आर्य नवयुवक निराला है। सारा दिन गान की शिक्षा लेता है, रात को गाता है और पहरा देता है। सहाध्यायी चकित हैं कि आर्य समाजी क्या कठिनता-प्रिय होते हैं। दिन का सुगम कार्य छोड़कर मध्य रात्रि का कठोर जागरण अपने ऊपर ले लिया है। उन्हें क्या पता, मत नाम ही कठिनता का है । आंधियां आईं, वर्षाएं हुईं। ऋतु बदले। ग्रीष्म में, हेमन्त में, शरद में, वसन्त में, नवलकिशोर का पहरा न टूटा।

नवलकिशोर के आचरण का सारे सदन पर सिक्का बैठा हुआ है । एक पहरे में क्या, सारे दिन भर के कार्य व्यवहार में, क्या मजाल जो बाल भर भी ऊक चूक हो जाय।

जिस काम का बीड़ा उठाया है, उसे पूरा करता है। यही तो आर्य समाजी की सब से प्रथम परख है। फिर तमाशा यह कि कभी बड़बड़ाया तक नहीं।

विद्यार्थी कहते सुने जाते हैं:—'भाई ! यह वही नवलकिशोर है जिसने ठाकुर जी के भजन से ना की थी और स्वयं महाराज को वह ना स्वीकार करते बनी थी"। सब नवलकिशोर का मान करते हैं—उसे बड़ा आदमी समझते हैं।

(४)

हरिवल्लभ विहार प्रान्त का रहने वाला नवलकिशोर का सहाध्यायी है। उसकी बारी रात के १२ बजे ठाकुर जी का भजन करने की है। और आज वह रोगी है। उसकी बारी किस को दी जाय। कोई ख़ाली नहीं।

'क्यों ? नवल ! तुम करोगे?' झिझक २ कर काक्षक ने कहा।

नवलकिशोर मुसकरा दिया।

अर्ध स्वीकृति हो गई। वही समय नवलकिशोर के पहरे का था। उसने अपना सिद्धान्त मनवा ही लिया था कि मूर्ति पूजा नहीं करनी। आज का भजन एक साथी की सहायता थी। कुछ कौतूहल भी था कि यह लोग भजन में क्या करते हैं।

रात के १२ बजे नवलकिशोर वीणा लिये ठाकुरजी की मूर्ति के आगे जा बैठा और राग अलापने लगा।

रात का सुनसान समय ! वायु तक में सरसराहट न थी। ज्यों २ इस ने ताने उड़ाईं, त्यों २ अन्तरिक्ष में सन्नाटा बढ़ता गया। तारों भरी रात ! पक्षी अपने घोंसलों में पशु अपने विश्रामस्थानों में। मनुष्यों पर गहरी निद्रा छाई हुई। सारी प्रकृति मौन हुई मानो नवलकिशोर का गीत सुन रही थी। सारा ब्रह्माण्ड गीत-मय हो रहा था। नवलकिशोर गान में लीन हो गया। श्रीराम निवास ने यह तन्मयता का संगीत पहिली बार सुना था। वह अपनी चारपाई पर उठ बैठे। न जाने यह अवस्था सदन के और भी किस २ वासी पर बीती।

रामवल्लभ का घंटा गुज़र गया। दूसरी बारी वाला विद्यार्थी आया, परन्तु नवल किशोर की मस्ती में मस्त खड़ा रहा।

तीसरा आया। अब तो नवलकिशोर का अपना पहरे का समय भी निकल गया था। परन्तु न जाने अगली पिछली कसर निकल रही थी। आर्यसमाजी होने का प्रायश्चित्त हो रहा था। नवलकिशोर को अपनी ही सुध न थी। निरन्तर कई घंटे भजन किया। जहां अपनी निद्रा गँवाई, कई औरों को भी अपने साथ उन्निद्र रखा।

(५)

दूसरे दिन महाराज ने पूछा:—'आज आधी रात कौन गाता था?" कहा गया:—नवल किशोर।

आत्मा ने ठंडक पाई। उसे बुलाया, कलेजे से लगाया, और कहा :—नवल किशोर का भजन नवल किशोर ही कर सकता है। रात वस्तुतः तुम ने कमाल किया। आगे भी किया करो। पहिले तुम्हारे गान में कभी यह रस पैदा नहीं हुआ जो आज रात हुआ था। यह ठाकुर जी की कृपा है।

'ठाकुर जी की कृपा है।' यह सुनते ही नवल किशोर के तन बदन में आग लग गई। रोम २ पुकार उठा—मैं आर्य समाजी हूं। जी में आया, गुरु जी को जली कटी सुनाए पर कुछ सोच कर चुप रहा।

गंधर्व राज ताड़ गए, इसे छेड़ना नहीं। कहाः—हानि उठाओगे।

नवल किशोर चला गया।

(६)

रात का समय आया और नवल किशोर से रहा न गया। वही समय अपने पहरे का था। वीणा लिए ठाकुर जी के आगे जा विराजे।

तान छेड़ी ही थी कि जैसे किसी ने कान में कह दिया 'ठाकुर जी की कृपा है।' आंखे फाड़ २ कर ठाकुर जी की ओर देखने लगे। आर्य नवल किशोर गायक नवल किशोर से शास्त्रार्थ कर रहा था। कहीं पत्थर के ठाकुर भी कृपा कर सक्ते हैं? जो सुन नहीं सक्ते, वह वर क्या देंगे? और गान में तो यह शुष्क ठाकुर रस ही क्या लायँगे? फिर कल का समय याद आता तो गुरु का कथन सत्य प्रतीत होता। आख़िर वह कौनसी बात थी जिस ने कल रात तल्लीनता पैदा की।

नवल किशोर बीणा बजाने लगा। वही रात है। वही तारे हैं। वही वायु मण्डल है। पर वह तान नहीं उड़ती। वह तन्मयता पैदा नहीं होती। १५ ही मिनिट में जी ऊब गया। आज ऊंघ भी आती है। शरीर बोझल होता है। आख़िर क्या बात है? ज्योंहि गाने लगता है, कोई कान में कह देता है, 'ठाकुर जी की कृपा है।' इस की आंख ठाकुर जी पर पड़ती है और शास्त्रार्थ आरम्भ हो जाता है। फिर गान में तन्मयता कहां?

बड़ी कठिनाई से घंटा बीता।

दूसरे दिन संकल्प किया कि अब ठाकुर टूकुर नहीं पूजने। दीन से भी गए, दुनियां से भी गए। न गान आया न ईमान सुरक्षित रहा। फिर गुरु की धमकी याद आती—हानि होगी। गुरु जी का अभिप्राय क्या था? क्या सदन से निकाल देंगे? कोई अदृष्ट अनिष्ट होगा? क्या होगा?

गान बिगड़ रहा है, आत्मा विकल है। अधर्म कर रहा हूं यह शंका हृदय को निर्बल बनाए जाती है। सदन से निकलने का भी साहस नहीं होता। रात आती है और

बीणा लिये ठाकुर जी के आगे जा बैठते हैं। पर सफलता उतनी ही होती है जितनी दूसरी रात हुई थी।

(७)

रामनिवास यह सब देख रहे हैं। एक योग्य शिष्य का दिन प्रति दिन का ह्रास देखा नहीं जाता। एक दिन नवलकिशोर को बुलाकर पूछा—"क्यों नवल ! एक ही दिन में पेट भर लिया। भक्ति तो भक्ति, गान में भी तो उसके पीछे बढ़े नहीं, घंटे हो।"

नवलः—'महाराज ! ठाकुरजी की कृपा है। जब गाने लगता हूं, ठाकुर जी सन्मुख आ जाते हैं और शास्त्रार्थ छिड़ जाता है। मन समाहित ही नहीं होता।"

रामनिवास ताड़ गए, इसका ठाकुर द्वारे में बिठाना ठाकुरजी की अवहेलना करना है। मूर्ति पूजा नहीं कर सकता तो न करे। एक शिष्य का नाश क्यों करें ? कहा, "भाई ! तुम ठाकुरद्वारे में मत बैठा करो। आधी रात की बारी तुम्हारी ही है। ठाकुरद्वारे के बाहर बैठ जाया करो। ठाकुर कृपा नहीं करते, परमात्मा तो करते हैं। वह तुम्हारे स्वर में हैं। वह किशोर हैं, सदा वृध हैं। वेद कहता है, वह युवा हैं। राधा भक्ति हैं जो तुम्हारे हृदय में उपजती है। वह भी सदा नवेली है। उसका ध्यान किया करो। पर गाओ यहीः—

"नवल किशोर नवेली राधा"।

(८)

नवलकिशोर के हृदय पर से पहाड़ उठ गया। रात को गाने बैठा तो तारों ने सिर हिला कर गान सुना। सदन की दीवारें पांओं के उंगलियों पर खड़ी हो गईं। सायँ २ करते वृक्ष थम गए। वायु के झोंकों ने सांस रोकली।

यह इति वृत्त एक दिन का नहीं, सदा का है। नवलकिशोर के गान से सदन में एक नई तन्मयता आई है। भक्ति के भाग्य उदय हुए हैं, और वह किस के हाथों ? आर्य समाजी नवलकिशोर के हाथों।

(९)

नवलकिशोर अब भारत के प्रसिद्ध गवैयों में से एक है। इस के कारण रामनिवास का नाम चमका है, संगीतसदन को अतुल प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। अब कौन कहे, आर्यसमाजी संगीत की टांग तोड़ते हैं। नवलकिशोर का नाम ऐसे फक्कड़ों के मुंह बन्द करने को ताला है।

(१०)

नवलकिशोर अब मां बाप के भी जाता है। उसकी माता अभी मूर्ति-पूजक है।

अब यह उसकी मूर्ति नहीं तोड़ता। हां! जब सामने जाता है, तो मुंह से यह शब्द अवश्य निकलते हैं:—

"ठाकुरजी! कृपा ही कीजियो"।

"दर्शक"

परोपकार

प्रधान—पण्डितजी के उपदेश का आज हम पर तो बड़ा प्रभाव पड़ा। हम तो समझ गए, हृदय से मान गए, कि मांस खाना पाप है।

सभासद्—तब?

प्रधान—तब क्या? हमने मांस खाना छोड़ दिया।

सभासद्—तो हमें सभासदी से त्यागपत्र देना पड़ेगा।

प्रधान—क्यों?

सभासद्—हमें तो मांस खाना है।

प्रधान—पर यह प्रस्ताव भी तो नहीं पास हुआ कि मांसाहारी सभासद न होगा।

सभासद्—प्रस्ताव पास होते कोई देर लगती है? आप का लिहाज़ था जिससे यह प्रस्ताव न होता था। आपको प्रधान रखना आवश्यक था, इस लिये सब चुप थे। अब तो धीरे २ सब मांसाहरी समाज से अलग होंगे।

प्रधान—अच्छा! मुझे यह पता न था कि मांस खाने से मैं इतना परोकार कर रहा हूं।

सभासद्—मांस खाने से किसी के आगे समाज का द्वार बन्द हो जाए, यह अनर्थ नहीं तो क्या है?

प्रधान—बात तो ठीक है। पहिले अपने स्वाद के लिए खाते थे, अब परोपकार के लिये खाएंगे। या कम से कम घोषणा नहीं करेंगे कि छोड़ दिया है। पाप है कि नहीं? इस पर भी मौन धारण किये रहेंगे।

'मौजानन्द'

दार्शनिक सिद्धान्त पुष्पमाला ।

दूसरा पुष्प ।

[श्रीयुत मुक्तिराम उपाध्याय]

रसिक भ्रमर—सुनिए, ज्ञानी जी ! चैतन्य पांचों भूतों का ही गुण है, परन्तु सब में एक जैसा है । जहां भूतों का संयोग होता है, वहां उनके पांचों चैतन्य भी मिल कर एक हो जाते हैं । जैसे पांच लोटों का पानी एक घड़े में पड़ते ही एक हो जाता है, पांच लकड़ियों में सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट अग्नि, लकड़ियों के कुण्ड में पड़ते ही सम्मिलित एक ज्वाला के रूप में जल उठती है। वृक्ष अनेक भूतों के अनेक प्रकार के रूप, रस, गन्ध को, अपने एकाकार गुणों के सांचे में ढाल लेता है । मक्खियें अनेक प्रकार के रसों को मिला कर एक रस-मधु प्रस्तुत (तैयार) कर देती हैं । इस प्रकार जल, अग्नि, रूप, रस, गन्ध आदि पदार्थ अपने साथियों के साथ मिल कर एक होते देखे गए हैं, न कहीं विरोध हुआ, और न झण्डा खड़का । क्या इसी प्रकार हमारे चैतन्य मिल कर एक न हो जावेंगे ? क्यों विरोध होगा और क्यों प्रस्ताव पास होंगे ?

और श्रीमान जी ! आप मेरे फूल को निर्गन्ध सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं । आप कहते हैं भूतों में चैतन्य नहीं, इस प्रकार शरीर चैतन्य से शून्य हुआ, और तुम शरीर से भिन्न और कुछ मानते ही नहीं, फलतः तुम्हारा सिद्धान्त फूल भी चैतन्य से शून्य हुआ—निर्गन्ध हुआ ।

भला मैं आप से ही पूछ लूँ आप ने कभी किसी के शरीर में चैतन्य को आते जाते देखा भी है । यदि नहीं, तो उसकी सत्ता में क्या प्रमाण ? क्या कहा अनुमान ? वाह ! बलिहारी आप की बुद्धि पर । जहां प्रत्यक्ष नहीं वहां अनुमान ? इस आकाश के फूल, बन्ध्या के पुत्र, मनुष्य के सींग अनुमान की तुम्हारे मत के अनुसार भी प्रत्यक्ष के बिना सत्ता ही असम्भव है ।

उष्णता और अग्नि को साथ देखने के उपरान्त ही उष्णता से अग्नि का अनुमान होता है न ? हां तो भला उष्णता का त्वचा से प्रत्यक्ष हो गया । और इस के साथ पहले देखे हुए अग्नि का स्मरण हो गया । अनुमान किस का हुआ ? कहिए अनुमान यहां किसे कहें महात्मा जी ! बस कोरे ज्ञानी ही हो । सुनिए समझिए और धारण कीजिए ।

है सब का प्रत्यक्ष ही,
साधक एक प्रमाण ।

आवश्यकता है नहीं,
क्यों मानें अनुमान।
जिसे इन्द्रियें देखती हैं हमारी,
वही वस्तु है, झूठ हैं और सारी।
यही लोक है, मृत्यु को मुक्ति जानो,
नहीं जीव है, ईश को भी न मानो।

देखिए कैसी मन भाती बातें हैं। आप एक बार आइए तो सही हमारे फूल की शरण, और आस्वादन कीजिए इस के रस का। बस फिर आप इसे निर्गन्ध कहें तो जो कहें सो दण्ड।

ज्ञानी भ्रमर—रसिक महोदय! इन मन भाती बातों से किसी भोली भाली अनपढ़ या विचार को दूर भगाने वाली जनता को ठगिए। अगुंली से चांद के दो टुकड़े किए, कबरों में दबे मुर्दे हजारों वर्ष के बाद फिर उन्हीं शरीरों से उठ खड़े होते हैं। आसमानों में से शरीर धारी फरिस्ते आते जाते हैं। एक किसी आसमान की चोटी पर खुदा का तख्त बिछा हुआ है। हूरों और..........के साथ व्यभिचा करना, शराब पीना और खजूर खाना मुक्ति है; ऐसी असम्भव और असभ्यता पू बातों को सुनने और मानने वाले जहां मिल जाते हैं, वहां आपकी दाल गलनी क कठिन है? पर भाई मेरा नाम ज्ञानी है। बिना तर्क की कसौटी पर कसे किसी अनर्गल बात का मान बैठना मेरे लिए सर्वथा असम्भव है।

चैतन्य भूतों ही का गुण है, परन्तु है सब में एक समान। पांचों भूत दूसरे से विलक्षण, उनके गुण और स्वभाव भी एक दूसरे से विलक्षण, परन्तु ही का गुण चैतन्य पांचों में एक जैसा—यह आपकी पहेली समझ में नहीं आई। घोड़ा है क्योंकि इस के लम्बे २ सींग हैं। जिसकी इतनी लम्बी पूंछ है वह म क्यों नहीं—ऐसी २ युक्तियें यदि सत्य हैं तो आप का कथन सर्वथा सत्य है। प्रिय अनुमान का रहस्य आपकी समझ में नहीं आया। इसी लिए तो आप अनुमान निन्दा पर तुले हुए हैं। स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि—"नाच न जानूं आंगन टेढा"

जल जल में मिलकर एक हो जावे। अग्नियें मिल एक ज्वाला में जल अनेक गंधादि, वृक्ष में एक प्रकार के गंध आदि उत्पन्न कर दें। अनेक रसों से मधु बन जावे। भला इस से आप को क्या लाभ? ये सब एक जाति की व मिल कर एक हो सकती हैं। जड़ हैं अतः विरोध की भी कोई सम्भावना नहीं नहीं हम पांच २ भूतों से भी एक २ वस्तु का बनना मानते हैं। परन्तु यहां प्र

का नहीं चैतन्य का है ! और चैतन्य के पांच प्रकार सिद्ध हो चुके । फिर उनका एक स्थान में रह कर ही शरीर रूपी संस्था को चलाना, बिना मत भेद के सदा एक रस कैसे सम्भव है ? भूतों में परिणाम होता रहता है । जो शरीर बाल्यावस्था में था, वह युवा अवस्था में नहीं रहता, और युवा अवस्था का शरीर वृद्ध पन में देखने में नहीं आता । यदि शरीर का ही गुण चैतन्य है तो वह भी परिवर्तित हो दूसरा हो जाना चाहिए था । परन्तु जीवात्मा रहता है अब हमारा शरीर वह नहीं रहा । यह विषय आप को पहले भी समझाया जा चुका है । परन्तु आप मानते कहां हैं । आप तो विचार की आंखों में हेत्वाभास (मुगालता) की धूल झोंक रहे हैं । यह आप का अपराध नहीं आप की विषय-कामना, और मान-कामना का दोष है । यह दोनों राक्षसी सत्य-प्रियता से धुली हुई, मनुष्य जीवन की चिट्टी चद्दर पर धब्बा लगाने के लिए, काली स्याही से भरी कलम ले प्रतिक्षण सन्नद्ध रहती हैं । धर्म और अधर्म के विशुद्ध एवं अशुद्ध मार्ग के विवेकार्थ, प्रभुकीर्तन, स्वाध्याय, सत्सङ्ग आदि से धोए बुद्धि-दर्पण पर कीचड़ फैंक देना तो इन के बाएं हाथ का खेल है । आठों चक्रों को बेध कर प्रकाश के केन्द्र में पहुँचे हुए योगी के सामने, अन्तःकरण के गहरे तल में से ये दो काली दीवारें उठ खड़ी होती हैं, और अपने अंधकार से उस विमल प्रकाश का भी मुँह फीका कर देती हैं । कौन ऐसा महापुरुष हुआ जिस पर इन्होंने आक्रमण न किया हो । परन्तु विजय उस ने पाई जो इन के विरोध में छाती ठोक कर रङ्गभूमि में उतर आया । आप जैसे फूल के रस से प्यार करने वाले तो इन्होंने कितने ही पील डाले । इन्हीं की कृपा से तो आप कह उठे हैं, जीव नहीं, परलोक नहीं, ईश्वर नहीं, अनुमान नहीं । इसी से आप कहते हैं जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं उसे हम कैसे मान लें । अच्छा फिर हम भी कहते हैं, आप के विचार प्रत्यक्ष नहीं हम उन्हें कैसे मान लें ।

"हम उन को शब्दों से प्रकट करते हैं और शब्दों को आप के कान सुनते ही हैं, अतः विचार प्रत्यक्ष ही है ।"

"यह आप की कोरी लीपापोची है । शब्द तो कानों से सुने जाते हैं, भला विचारों का भी कभी किसी ने कानों से साक्षात्कार किया है ?"

"हां मैं भूल गया था । मेरा भाव यह है कि मेरे उच्चारण किये शब्दों को कानों से सुन उन का भाव मन से समझ लो । बस प्रत्यक्ष हो गया ।"

"अच्छा हम आप के शब्दों से जो आप चाहते हैं वह ही भाव क्यों समझें, कुछ और ही क्यों न समझ लें ।"

"इसलिए कि ऐसे शब्दों से लोक में सब जगह ऐसा ही भाव समझा जाता है ।"

"अच्छा तो आप का यह भाव हुआ । क्यों कि ऐसे शब्द सब जगह ऐसे ही

विचार प्रकट किया करते हैं, मेरे भी ऐसे ही शब्द हैं, अतः ऐसा ही भाव समझना चाहिए। श्रीमान् जी! इसी का नाम अनुमान है।'

" हैं! अनुमान? तो मैं न मानूंगा।"

" तो फिर हम भी आप के विचार न जान सकेंगे।"

" अच्छा मैंने जो अनुमान में दोष दिया था उस का क्या हुआ?"

" वह भी कोई दोषों में दोष था। देखिए! अनुमान का आपने कोई अंश प्रत्यक्ष माना है और कोई स्मरण। आप का भाव यह है कि-हमने उष्णता और अग्नि को दो चार स्थानों में साथ २ देखा है। इस के पश्चात् किसी कोठे के बाहर खड़े हमें उष्णता का अनुभव होता है। वह प्रत्यक्ष है और इस के उत्तर प्रतीति होती है कि कोठे में अग्नि है, यह स्मरण है उस अग्नि का जो कि हम ने पहले देखी हुई थी। क्यों यही न? उष्णता के प्रत्यक्ष का हम निषेध नहीं करते। परन्तु स्मृति से विरोध है। स्मृति का स्वरूप है " हम ने उस दिन उस स्थान में अग्नि को देखा था " और यहां प्रतीति है " इस कोठे में अग्नि है "। स्मरण पहले देखी अग्नि का हो सक्ता था न कि इस कोठे वाली का। इसे तो पहले कभी उष्णता के साथ देखा ही नहीं था। अब सुनाइये हम कोरे हैं या आप? अब सिर खुजलाओ।

" अच्छा यदि मैं अनुमान को मान लूं तो क्या हो जाएगा।"

" जो शरीर के परिणामी होते हुए भी स्थिर रहता है, वह चैतन्य शरीर से भिन्न है, वह जीवात्मा का गुण है। जीव नित्य है, अतः इस के साथ चैतन्य सदा बना रहता है। यह सारी सृष्टि और ये शरीर जीवों के ही लिए बनाये गए हैं। यह सब इन जीवों के किये पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। यह एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में अपने कर्मों के अनुसार चला जाता है। इसी का नाम परलोक है। अत्यन्त पवित्र निष्काम कर्म और तत्व ज्ञान का फल स्वरूप, दुःख रहित उत्कृष्ट आनन्द का भोग एक दीर्घ काल पर्यन्त इसे मिलता है, इसी का नाम मुक्ति है। इस सब व्यवस्था के करने वाला, तथा सृष्टि की उत्पत्ति और नियमन करने वाला एक सर्वत्र व्यापक महान् पुरुष है, उसी का नाम ईश्वर है। सृष्टि के आरम्भ में जीवों के उचित-अनुचित विवेक के लिए उस ने ज्ञान दिया है, उसी का नाम वेद है। अनुमान के मानते ही तुम्हें यह सब मानना पड़ जावेगा।"

" क्या यह सब कुछ मानना पड़ेगा? अच्छा फिर ठहरिये। मैं अपने मित्र महाशय भ्रमर को बुला लाऊं। जीव की अनादिता और पुनर्जन्म तो उस के भी विरुद्ध है, कुछ तो सहायता मिलेगी।"

" महमूद को ? क्यों ? क्या दण्डा दण्डी का विचार है ।"

" नहीं २ बुद्धि से लड़ेंगे ।"

" अरे भाई ! महमूद के पास बुद्धि का क्या काम । और आप तो हिन्दू मालूम होते हैं ।"

" हां हैं तो हिन्दू, चार्वाक हैं । परन्तु आप को किसी न किसी ढंग से नीचा भी तो दिखाना है । किसी की तो सहायता लेनी ही पड़ेगी ।"

" अच्छा तुम्हारी इच्छा पर ध्यान रहे, हम वैदिक सूर्य के प्रकाश में खड़े हैं । तुम ऐसे २ सौ काले कलूटे लैम्पधारी ले आओ तौ भी हमारा क्या बिगड़ेगा । अच्छा होता घर में ही निबट लेते हैं ।"

रसिक—"भाई महमूद ! सलाम ।"

महमूद—"सलाम दोस्त, सुनाईये आज कैसे तशरीफ़ लाए । बड़ी फुर्ती से आ रहे हैं । कहिये खैर तो है ?"

" यार खैर क्या, एक आर्य समाजी से वाद विवाद हो गया है । आप भी कुछ सहायता करें । चलो कुछ शास्त्रार्थ करके उसका मुंह बन्द करें ।"

महमूद—(मन में) यह काफ़िर है, खुदा को तो मानता नहीं, इस की क्या मदद करूं ? हां भूल गया था । ख्वाजा साहब का हुकम है । हिन्दुओं की मुसीबत के वक्त मदद करो । वे तुम्हारी तरफ़ खिचेंगे । इस स्कीम पर अमल तो ज़रूर करना है । मगर मुझे हैरानी तो इन हिन्दुओं की अक्ल पर है । ये एक अपने ही बिरादर की बेइज़्ज़ती कराने के लिये हमारे पास आते हैं । और फिर आर्य समाजी जो इन के लिये अपना सब कुछ कुरबान करते हैं । भला इन में से आर्यों को निकाल दिया जावे तो इन में रह क्या जाता है ख़ाक । इन्हें ये ही तो उठाये फिरते हैं । वरना इन्हें तो हम चन्द रोज़ में हज़म कर जावेंगे । ख़याल है ! सुपना है ! अगचें मालवी जैसे आकिल इनसान भी पैदा हो गये हैं मगर राजनारायण और इस रसिक जैसे भी तो इन्हीं में मौजूद हैं । हमारे दीन में तो किसी को किसी से कितनी ही इख्तलाफ़ राय क्यों न हो । जहां किसी दूसरी कौम से मुकाबला पड़ा सब एक के एक । (प्रकट) दोस्त रसिक ? तुम्हारी मदद न करेंगे तो और किस की करेंगे । मगर तुम हमारे दीन में आजाओ तो तुम्हें कोई छेड़े ही नहीं । अच्छा चलें चलें ।

महमूद—ज्ञानी जी ! सलाम ।

" नमस्ते महाशय महमूद जी ! आइये प्रसन्न तो हैं ?"

" खुदा की मेहर है, सुना है आप ने रसिक जी को बड़ा तंग किया हुआ है, क्या बात है ? ।"

" श्रीमान् जी ! यह लाञ्छन उचित नहीं । किसी को कष्ट देना न हमारा उद्देश कभी हुआ और न होगा । सब को पवित्र वैदिक धर्म का मार्ग दिखलाना हमारा काम है ।"

" अच्छा तो अब किस्सा कोताह, आप मुबाहसा करेंगे? "

" अवश्य शास्त्रार्थ के लिये प्रतिक्षण सन्नद्ध । जीव का नित्यत्व, ईश्वर की सत्ता, पुनर्जन्म, आदि विषय पर विचार छिड़ा हुआ है, आरम्भ कीजिये ।"

" अच्छा कल आवेंगे ।"

" जाइये कल आइये ।"

क्रमशः

ईश्वर की कल्पना ।

(श्रीयुत राजेन्द्र विद्यालंकार)

जब हम संसार में नित्यप्रति वैर विरोध और झगड़ों की बढ़ती को देखते है तो समझ में नहीं आता कि उनका कारण क्या है ?— भिन्न २ विद्वान् "मुण्डे २ मतिर्भिन्ना तुण्डे तुण्डे सरस्वती " के अनुसार उपरोक्त प्रश्न को भिन्न २ रीति से ही विचारते हैं और तदनुसार ही उसका उत्तर देते हैं । परन्तु मेरी समझ में इसका कारण एकमात्र ईश्वर की भिन्न २ रीति से कल्पना ही है । जिस २ व्यक्ति वा जिस २ धर्म और मज़हब ने जिस प्रकार से ईश्वर की कल्पना की उसने उसी के अनुसार अपने जीवन को ढाल लिया जिसका प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष प्रमाण हमें नित्यप्रति के व्यवहार में दृष्टि गोचर होता है ।

सामान्यतया जब हम वैदिक-युग की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय चाहे वर्तमान युग की भांति विज्ञान में इतनी उन्नति न हो किन्तु प्रजा सब प्रकार से सुखी और समृद्ध थी, परस्पर दिलों में इतना वैरविरोध और कलह की अग्नि प्रज्वलित न थी । इसका मूल कारण यही था कि वे वैदिक आदर्श के अनुकूल परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, और सत् चित् आनन्द स्वरूप मानते थे और तदनुकूल अपने जीवनों को ढालते हुए शान्ति से जीवन व्यतीत करने का यत्न करते थे । इसके अतिरिक्त लौकिक व्यवहारों में वेद की शिक्षाएं उनकी मार्गद्रष्टा होती थीं ।

इसके विरुद्ध जब हम ईसाईयत की दृष्टि से ईश्वर की कल्पना पर विचार करते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि वहां ईश्वर की कल्पना का आधार ही 'भय' है । एक प्राणी

जंगल में जाता है और वह वहां बड़ी २ आंधियों के थपेड़ों से गिरे हुए पर्वतकाय वृक्षों को देखता है, उनको देख कर वह धीरे २ एक बड़ी शक्ति की कल्पना करता है और वही कल्पना बढ़ते २ उसे एक अज्ञात शक्ति की ओर ले जाती है, जिस का नाम वह 'ईश्वर' रख लेता है। यह ईश्वर की कल्पना बलात् उसके हृदय में स्थान कर लेती है, किन्तु चूंकि यह किन्हीं कारण विशेषों से होती है, इस लिये इसका प्रभाव भी क्षणिक और अस्थायी होता है। जब वह व्यक्ति व समूह अपनी बुद्धि की प्रखरता से इन भौतिक शक्तियों पर विजय पा लेता है तो एक समय ऐसा आता है, जबकि अहम्मन्यता व अभिमान का भाव आ घेरता है और वह अपने को ही समझता हुआ ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट इन्कार कर देता है। जैसा कि वर्तमान समय में हम यूरोप में देख रहे हैं कि लोग नास्तिकवाद की ओर अधिकतर झुकते चले जारहे हैं और जो किसी न किसी ढंग से आस्तिक भी हैं प्रथम तो उनकी ईश्वर की कल्पनाही ऐसी विचित्र है जिस पर एक तुच्छ बुद्धि रखनेवाला भी प्राणी विश्वास नहीं कर सकता और द्वितीय यह कि उनमें एक बड़ा समुदाय ऐसे व्यक्तियों का है जो उसे सिर्फ इसी लिए मानता है कि यदि सचमुच कोई ईश्वर हो भी, तो उसे न मानने से कहीं ऐसा न हो कि कभी वह (ईश्वर) निकल आये और फिर हम सब का खातमा करदे इत्यादि दूसरे शब्दों में उनका भी ईश्वर को मानना व न मानना एक बराबर ही है।

एक ही समय पर भिन्न २ देवालयों में जाकर उसी परमात्मा से एक दूसरेके लिये कुत्सित कामनाएं करते हैं और फिर उनकी पूर्ति न हुई हुई देख कर अपने २ ईश्वर को कोसते व बुरे भले शब्द कहते हैं।

यूरोप में कम से कम जो खून खराबी दृष्टिगोचर हो रही है, उसका एक मात्र कारण मेरी समझ में ईश्वर की कल्पना (Conception) का यह मूल आधार ही है। वे शब्दों में ईश्वर को अनन्त और सर्वशक्तिमान् कहते हुए भी क्रिया में सान्त और एक देशीय ही मान रहे हैं नहीं तो उपर्युक्त प्रार्थनाओं का यह ढंग ही कुछ अर्थ नहीं रखता।

ग्रैंट ऐलन एक पश्चिमीय विद्वान् ने "The Evolution of the idea of God" नामक पुस्तक में इसी उपरोक्त भाव को दिखाने का अच्छी प्रकार से यत्न किया है। वह एशिया की भिन्न २ जातियों के इतिहासों में यह दिखाने की चेष्टा करता है कि जब लोगों के अन्तरीय मित्र भाई बन्धु मरे तो उन में स्वभावतः भय की उत्पत्ति हुई और इसी प्रकार दूसरी ओर जब उन्हों ने सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि को ऊपर गति करते हुए आश्चर्य से देखा तो इस से ईश्वर और मज़हब विशेष की कल्पना हुई। फिर धीरे २ देवी देवता आदि का विचार लोगों के हृदय में आया, जैसा कि उस समय मिश्र के देवता और इसराईल वंश के लोगों के बहुत से ईश्वर पाए जाते थे। इसी प्रकार ज्यों २ लोगों की बुद्धि और ज्ञान

का विकाश हुआ त्यों २ फिर ब्रह्मविद्या का प्रादुर्भाव हुआ और फिर बहुदेवतावाद से एकेश्वर वाद की कल्पना हुई।...........इत्यादि।

जिन पाठकों ने ईश्वर विचार सम्बन्धी वेद के किसी मन्त्र को भी पढ़ा व सुना भी है, वे अच्छी प्रकार से जान सकते हैं कि इन उपर्युक्त विचारों का कितना मूल्य है ? हमें शोक इसी बात का है कि ग्रान्ट ऐलन महोदय ने यह विचार लिखते समय वैदिकविचारों का बिलकुल भी अध्ययन न किया था।

वेद ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण सृष्टि के आरम्भ में हुए और उनमें स्वाभाविक रीति से ईश्वर को अस्तित्व का विचार किया गया है। वहां लिखा है-"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्........" इत्यादि-एक नहीं किन्तु अनेकों ही मन्त्र ऐसे विद्यमान हैं, जिन में ईश्वर के भिन्न २ गुणों को लेकर स्तुति प्रार्थना और उपासना की गई है।

भेद केवल इतना है कि अन्य मज़हब जहां ईश्वर के विचार को एक विकसित विचार मानते हैं, वहां वैदिक धर्म इसे आदिम एवं स्वाभाविक स्वीकार करता है।

एवं--"यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः." "यस्य भूमिः प्रमा ...." "यस्य सूर्यश्चक्षु.........:"

इत्यादि मन्त्रों में कहीं भी ऐसा विचार नहीं आया जिससे ईश्वर की कल्पना को विकसित व कृत्रिम विचार बताया हो।

इसके साथ ही उपर्युक्त से एक बात और भी प्रकट हो रही है और वह यह कि वेद में ईश्वर को एक से अधिक अर्थात् दो, तीन, चार व अनेक कहीं भी नहीं कहा गया। प्रत्युत इसके प्रतिकूल ऐसे तो मंत्र अनेकों मिल जावेंगे जिनमें बहुदेवतावाद का खंडन किया गया है।

इसका मुख्य कारण यह है कि वेद ईश्वर की कल्पना (Conception) को कृत्रिम और विकसित नहीं मानता किन्तु वह इसे स्वाभाविक और अनादिकाल से चली आई मानता है।

यजुर्वेद में लिखा है—"सर्वशक्तिमान् सर्वद्रष्टा और सर्वव्यापक होने से परमात्मा अपने को अपने में धारण करता है। वह एक ही है।" एवं अथर्ववेद में लिखा है—"न तो दो ईश्वर हैं और न तीन, न चार और न दस। वह एक है। वह सर्वव्यापी है और सब वस्तुएं उसी में रहती हैं, उसी में चलती हैं, तथा वही उनके अस्तित्व का कारण है।" इसी प्रकार कहां तक गिनावें, उपनिषदों आदि में सर्वत्र ही ईश्वर एक और उसका ज्ञान एक ही आया है। दो वा अधिक कहीं भी नहीं। किन्तु जब हम "ईश्वर की कल्पना भयमूलक है" ऐसा मान लेते हैं तो आवश्यक हो जाता है कि भिन्न २ विषयों का एक २ ईश्वर व देवता माना जाय जो तदधिष्ठाता रूप से स्वीकृत हो।

जिन्हों ने वैदिक साहित्य का भली भांति अध्ययन नहीं किया वे अभी इस बात में भी सन्देह करते हैं कि वेद में एकेश्वर पूजा का विधान है वा बहुदेवतावाद का। वे अपने विकासवाद के मन्तव्यों के अनुसार वैदिक एकेश्वरवाद का सेहरा भी सैमेटिक जातियों के सिर बांध देना चाहते हैं। वह मानते हैं कि भारतीय आर्य रोम और यूनान के पैगन लोगों के समान देवी देवताओं को पूजते थे और एकेश्वरवाद को समझ न सकते थे। एकेश्वर का विचार (जैसा कि वह कहते हैं) सैमेटिक मतों में ही पाया जाता है जिस की सब से ऊंची अवस्था ईसाई मत ने संसार को दिखाई है।

यह विचार कहने में तो शायद कहने और सुनने वाले दोनों को ही बहुत सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु इसकी वास्तविक सत्ता कितनी है, हमें अब इस बात पर भी विचार करना है।

प्रथम बात तो यह है कि सैमेटिक जाति के और वैदिक एकेश्वरवाद में परस्पर भेद ही इतना बड़ा है कि उनके विचारों को एक दूसरे से विकसित माना ही नहीं जा सकता।

सैमेटिक मतानुयायिओं की पुस्तकों को देखने से पता लगता है कि उनके मतानुसार (उनके) परमेश्वर में वही गुण पाए जाते हैं, जो एक महान् शक्ति वाले पुरुष में पाए जाते हैं। अर्थात् दूसरे शब्दों में मनुष्य के ही गुणों को यदि विशेषरूप से बढ़ा कर कह दिया जाय तो तद्गुण विशिष्ट ही उनका परमेश्वर है। यह एक साधारण सी बात है कि एक मनुष्य चाहे वह कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो असम्भव कार्यों को नहीं कर सकता और चूंकि सैमेटिक मतानुयायिओं का ईश्वर दूसरे शब्दों में कल्पनातीत शक्तियों वाला मनुष्य विशेष ही (जैसा) है अतः जब उनका ईश्वर किसी असम्भव बात को (उनकी इच्छा के अनुसार) नहीं करता तो झटपट ही उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह होने लग जाता है। उदाहरणार्थ यदि उनका खुदा एक चलती घड़ी को बन्द नहीं कर सकता अथवा सूर्य को पूर्व के स्थान पर पश्चिम से नहीं निकाल सकता तो उन्हें परमेश्वर की सत्ता पर ही कभी २ अविश्वास होजाता है। इसी प्रकार वे कहते हैं कि यदि कोई परमेश्वर संसार में है तो वह इतने कष्टों और दुःखों को क्यों नहीं दूर कर देता? और यदि नहीं करता (जैसे कि सुकृत और दुष्कृत का फल सुख और दुःख आवश्यक ही है) तो वह परमेश्वर दयालु नहीं। वास्तव में बात यह है कि मूल में ही गड़बड़ मच रही है। न तो प्रश्नकर्ता और नाही उत्तरदाता ही ईश्वर को समझने की योग्यता रखते हैं।

परन्तु वैदिक ऋषि परमात्मा की जिज्ञासा के लिये इस मार्ग का अनुसरण नहीं करते। उनके पास जब कोई जिज्ञासु इस विषय के प्रश्न के लिये आता है तो वह उसे नाना भांति के लौकिक उदाहरणों से मार्ग में ठहरा २ कर सीढ़ियों द्वारा धीरे २ परमात्मदेव का साक्षात्कार करने का उपदेश देते हैं। उपनिषदों का अध्ययन करनेवाले पाठकों को उस प्रणाली का खूब अच्छी तरह से पता है। इस प्रकार करने से जिज्ञासु के मन में

युक्तियुक्त विश्वास की (अन्धविश्वास की नहीं) परत एक पर एक करके जमती जाती है और फिर उसके लिये डगमगाने का कोई स्थान नहीं रह जाता। ऋषि धीरे २ जिज्ञासु के मन में यह विश्वास जमाने का यत्न करते हैं कि इस संसार में जितनी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियां काम कर रही हैं वे सब उस एक ब्रह्मशक्ति से ही चल रही हैं—"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" जब जिज्ञासु का मन अच्छी प्रकार से दृढ़ होगया तो उसके हृदय में ऊटपटांग प्रश्न के करने का अवसर ही नहीं रह जाता कि यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह चलती घड़ी को बन्द क्यों नहीं कर देता इत्यादि।

अब पाठकों ने यह अच्छी प्रकार समझ लिया होगा कि सैमेटिक और वैदिक एकेश्वरवाद में कितना बड़ा भेद है। "सैमेटिक मतवाले पहिले ईश्वर की कल्पना कर लेते हैं और फिर उसमें अपनी ओर से गुणों का समावेश करना प्रारम्भ करते हैं। दूसरी ओर आर्य ऋषि परमाणु पर दृष्टि डालते हुए उस शक्ति की खोज में चलते हैं जो चराचर जगत का नियमन कर रही है।

जो लोग प्राचीन आर्य लोगों को प्रकृति की पूजा (Element worship) करने वाला भी मानते हैं उनके भ्रम का भी कारण आर्य ऋषियों की ईश्वर की कल्पना सम्बन्धी उपरोक्त प्रणाली ही है। सम्भव है कि सूर्य चन्द्रादि द्वारा ईश्वर तक पहुंचते हुए कुछ लोग इन्हीं शक्तियों के हेरफेर में पड़ कर इनकी पूजा करने लग गए हों, किन्तु यह हमें ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रकार मार्ग में हेरफेर में पड़े हुए लोगों के लिये ईश्वर तक पहुंचने में एक ही पग और उठाना रह जाता है। उसके उठाते ही वे ईश्वर तक पहुंच सकते हैं, किन्तु जो परमात्मा के कृत्रिम काल्पनिक विचारों में फंसे हुए हैं, वे चाहे कितने ही अद्वैतवाद (Monotheism) का शोर मचा लें, किन्तु अन्धकार के गढ़े से नहीं निकल सकते।

इस प्रकार से हमने देख लिया कि नाना मतों के मानने वाले अपनी २ बुद्धि के अनुसार भिन्न २ रीति से ही ईश्वर की कल्पना करते हुए अपने जीवनों को सुखी बनाने का यत्न करते हैं, परन्तु चूंकि प्रायः उनका आधार ही मिथ्या है, अतः वह अपनी इच्छा की पूर्त्ति में कृतकार्य नहीं होते।

सच्चा सुख और सच्ची शान्ति का एक मात्र उपाय भगवान् की ठीक रीति से कल्पना और फिर तदनुकूल आचरण ही है। बिना शुद्ध कल्पना के शुद्ध विचार ढकोसला ही है॥

———

स्वामी दयानन्द और आर्य्य समाज
पर
महात्मा गांधी ।

यंग इंडिया तिथि २८ मई १९२४ में महात्मा गान्धी ने 'हिन्दू-मुस्लिम मन मुटाव' पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उसी लेख में महात्मा ने ऋषि दयानन्द और आर्य समाज को धर घसीटा है। उनके लेख का वह भाग जिस में आर्य समाज और उस के प्रवर्तक पर चोटें हुई हैं, नीचे उद्धृत किया जाता है:—

स्वामी श्रद्धानन्द जी पर भी अविश्वास किया जाता है। मैं यह जानता हूं कि उन की वक्तृतायें भड़काने वाली होती हैं। परन्तु वे हिन्दू मुस्लिम एकता में भी विश्वास करते हैं। दौर्भाग्य से उनका यह विश्वास है कि किसी दिन सारे मुसलमान आर्य बन जायेंगे, जिस प्रकार कि संभवतः बहुत से मुसलमान यह समझते हैं कि किसी दिन सारे गैर-मुस्लिम इस्लाम को स्वीकार कर लेंगे। श्रद्धानन्द जी निर्भय हैं। अकेले ही उन्हों ने एक निर्जन जङ्गल में आलीशान विश्वविद्यालय की स्थापना की! उनका अपनी शक्तियों तथा उद्देश्य में विश्वास है परन्तु वे जल्दबाज हैं और शीघ्रता से क्रोध के आवेश में आजाते हैं। उन्हों ने आर्य सामाजिक स्वभाव वरासत में लिये हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के लिये मेरे हृदय में बड़ा सन्मान है। मैं समझता हूं कि उन्हों ने हिन्दू धर्म की बड़ी सेवा की है। उन की वीरता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु उन्हों ने हिन्दू धर्म को तंग बना दिया है। मैंने आर्य समाजियों की बाइबल सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ा है। जब कि मैं यारवेदा जेल में था तब मेरे मित्रों ने मेरे पास इसकी तीन प्रतियां भेजी थीं। मैंने इस प्रकार के महान् सुधारक के हाथ से लिखी, इस से अधिक निराशा जनक और कोई पुस्तक नहीं पढ़ी। उन्हों ने इस बात का दावा किया है कि वह सत्य के प्रतिनिधि हैं। परन्तु उन्हों ने अनजाने जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई मत तथा इस्लाम की असत्य व्याख्या की है। उन्हों ने संसार भर के एक अत्यन्त विशाल और उदार धर्म को संकुचित बना दिया है। मूर्तिपूजा के विरुद्ध होते हुए भी उन्हों ने एक सूक्ष्म मूर्त्ति पूजा चलाई है, क्योंकि उन्हों ने वेद अक्षर के है और सब विद्याओं का होना वेद में बताया है। आर्य समाज की उन्नति का कारण सत्यार्थ प्रकाश की शिक्षायें नहीं हैं, परन्तु इस के प्रवर्त्तक का उत्तम आचार है। जहां कहीं तुम आर्य समाजियों को देखो वहां जीवन दृष्टि गोचर होगा। परन्तु दृष्टि के संकुचित और दुराग्रही होने के कारण से वे और मतों के लोगों से लड़ाई ठान लेते हैं। और जब कोई और लड़ने को नहीं होता तो आपस में लड़ पड़ते हैं। उन को आपस में लड़ा देते हैं। श्रद्धानन्द जी में इस भाव की पर्याप्त मात्रा है।

परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी वह इस योग्य हैं कि उन के लिए मंगल कामना कीजिये। यह सम्भव है कि मेरे इस लेख से आर्य समाजियों को क्रोध आयेगा। परन्तु मैं किसी पर आक्षेप करने के लिये नहीं लिख रहा हूं। मेरा समाजियों से प्रेम है क्यों कि उन में से बहुत से मेरे सहयोगी हैं। जब दक्षिण अफ्रीका में था तब भी स्वामी जी से मेरा प्रेम था: यद्यपि अब मेरा उन से पासका परिचय हो गया है तथापि मेरा उन से प्रेम कम नहीं हुआ। यह सब बातें मैंने प्रेम भाव से लिखी हैं।

शुद्धि और तबलीग

शुद्धि करने का वर्त्तमान ढङ्ग हिन्दू मुसलिम ऐक्य को बिगाड़ने का एक प्रधान कारण है। मेरी सम्मति में हिन्दु धर्म में कहीं भी ऐसी शुद्धि का विधान नहीं है—जैसी ईसाइयों और उन से कम मुसलमानों ने समझी है। मैं समझता हूं कि इस प्रकार के प्रचार का ढंग आर्य समाज ने ईसाइयों से लिया है। यह वर्त्तमान ढङ्ग मुझे अपील नहीं करता। इस से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। एक आर्य समाज का प्रचारक बड़ा प्रसन्न कभी इतना होता नहीं। जितना दूसरे धर्मों की निन्दा करने से। मेरी हिन्दू प्रकृति मुझ से कहता है कि सब धर्म थोड़े बहुत सच्चे हैं। सब का स्रोत एक ही परमात्मा है। परन्तु क्यों कि उन के आने का साधन अपूर्ण मनुष्य हैं, इस लिए सब धर्म अपूर्ण हैं। वास्तविक शुद्धि यही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने २ धर्म में पूर्णता प्राप्त करें। यदि धर्म परिवर्तन से आदमी में कोई उच्चता पैदा न हो तो इस प्रकार के धर्म परिवर्त्तन से कोई लाभ नहीं। हमें इस से क्या लाभ होगा कि यदि हम अन्यमतावलम्बियों को अपने धर्म में लायें जब कि हमारे धर्म के बहुत से अनुयायी अपने कार्यों से परमात्मा की सत्ता से इन्कार कर रहे है। चिकित्सक ! पहिले अपने आपको स्वस्थ कर यह एक नित्य सचाई है। यदि आर्य समाजी शुद्धि करने के लिये अपनी अन्तरात्मा से आवाज़ पाते हैं तो विशेष उन्हें इस के जारी रखने में कोई संकोच न करना चाहिये। इस प्रकार की आवाज के लिये समय की तथा अनुभव के कारण कोई बाधा नहीं होसकी। यदि अपनी आत्मा की आवाज को सुनकर कोई आर्य समाजी या मुसलमान अपने धर्म का प्रचार करता है और उस के प्रचार करने से यदि हिन्दू मुसलिम ऐक्य में विघ्न पड़े तो इस की पर्वाह नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार के आन्दोलनों को रोका नहीं जा सकता। केवल उन के अधार में सचाई होनी चाहिये। यदि मलकाने हिन्दू धर्म में आना चाहते हैं, तो इसका उनको पूरा अधिकार है। परन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जाना चाहिए जिस से दूसरे धर्मों को हानि पहुंचे। इस प्रकार के कार्यों का समूह रूप से विरोध करना चाहिये। मुझे पता लगा है कि मुसलमान और आर्य समाजी दोनों ही स्त्रियों को भगा कर अपने धर्मों में लाने का उद्योग करते हैं।
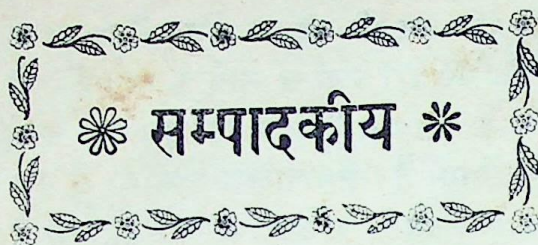
आर्य समाज और महात्मा गांधी।

यंग इंडिया में प्रकाशित महात्मा गांधी के लेख का वह अंश जिस में ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज का उल्लेख है, 'आर्य' के इसी अंक में अन्यत्र उद्धृत कर दिया गया है। उसके देखने से पाठकों को अवगत हो जायगा कि महात्मा जी को निम्न लिखित विषयों पर एतराज़ है :—

१. स्वामी श्रद्धानन्द के व्याख्यानों पर और उनके इस विश्वास पर कि हर एक मुसलमान आर्य बनाया जा सकता है

२. स्वामी श्रद्धानन्द की जल्द बाज़ी, और शीघ्र रुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति पर, जो उन्हें आर्य समाज से दायभाग में मिली है

३. स्वामी दयानन्द की शिक्षा पर जिन्होंने भूमंडल के एक विशाल और उदारतम धर्म को संकुचित बना दिया है और अनजाने जैनधर्म, इसलाम, ईसाई धर्म और खुद हिन्दू धर्म की मिथ्या व्याख्या की है।

४. सत्यार्थ प्रकाश पर, जो एक सुधारक की अत्यन्त निराशाजनक कृति है

५. वेदों के अक्षरशः सत्य माने जाने और सम्पूर्ण विद्याओं का कोष होने पर जिसे वे एक सूक्ष्म प्रकार की मूर्ति पूजा मानते हैं।

फिर शुद्धि आन्दोलन पर टिप्पणी करते हुए महात्मा जी लिखते हैं कि :—

६. हिन्दू धर्म में शुद्धि का विधान नहीं

७. आर्य समाज ने अपनी प्रचार प्रणाली में ईसाइयों का अनुकरण किया है, जिस से लाभ के स्थान पर हानि हुई है।

८. वास्तविक शुद्धि तो यह है कि प्रत्येक नर नारी अपने धर्म में रह कर पूर्णता प्राप्त करें।

९. यदि आर्य समाज का शुद्धि का भाव अन्तरात्मा की आवाज है तो उसे रोका नहीं जा सकता। उस पर समय की कैद नहीं हो सकती और नाहीं प्रतिकूल अनुभवों के कारण उसे बन्द किया जा सकता है।

१०. मुझे कहा गया है कि आर्य समाजी और मुसलमान औरतों को बहका ले जाते उन्हें हैं और अपने मत में प्रविष्ट कराने का यत्न करते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के व्याख्यान।

हम आज यत्न करेंगे कि इन में से हर एक आक्षेप का जो आर्य समाज और उस के प्रवर्तक पर लगाने का यत्न किया गया है ठंडे हृदय से उत्तर दें। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के व्याख्यान कैसे होते हैं उनके सम्बन्ध में इस लेख में विचार करने की आवश्यकता नहीं। महात्मा जी ने स्वामीजी की वक्तृताओं से कोई वाक्य उद्धृत नहीं किए, जिन के आधार पर उन पर किए गए आक्षेप का समर्थन या निराकरण किया जा सके। मौलाना मौहम्मद अली की वक्तृता से जो उन्होंने कांग्रेस के सभापति की हैसियत से दी थी एक भाग महात्मा ने मौलाना के सामने रख दिया कि यह भाग आक्षेप युक्त है, मौलाना ने अपनी अशुद्धि को स्वीकार किया। यद्यपि स्वीकृति सर्वसाधारण में नहीं हुई तो भी महात्मा जी सन्तुष्ट हो गए कि मौलाना का व्यवहार दोष युक्त नहीं। श्री स्वामी जी पर महात्मा जी की यह कृपा न सही कि उन से एकान्त में बात चीत कर लें, कम से कम पत्र में ही उन के कुछ वाक्य उद्धृत कर देते, स्वामी जी उनका उत्तर दे देते तो हम भी अपनी सम्मति प्रकट करते। इस समय महात्मा जी का यह आक्षेप विचार का विषय नहीं हो सकता कि श्री स्वामी जी की वक्तृताएं असन्तोष पैदा करती है।

क्या प्रत्येक मुसलमान आर्य बनाया जा सकता है?

हां! स्वामी जी का यह विश्वास कि हर एक मुसलमान आर्य बनाया जा सकता है सारे आर्य समाज का विश्वास है। बनाया जा सके या न, यत्न आवश्यक है और वह धार्मिक कारणों से, राजनैतिक कारणों से नहीं। स्वराज्य प्राप्त हो सकता है यदि मुसलमान आर्य धर्म को स्वीकार न भी करें। हां! उन्हें आर्यों के साथ मिल कर रहना आना चाहिए। भारतीय नागरिकता के कर्तव्य सीखने चाहिए, अपने पड़ोसियों पर हाथ नहीं डालना चाहिए, उन के जानमाल और इस से भी अधिक उनकी मां बहिनों पर हस्तप्रहार नहीं करना चाहिए। यदि इस्लाम यह शिक्षा दे सके तो पर्याप्त है, नहीं तो यह शिक्षा भी उन्हें आर्य धर्म से लेनी होगी अथवा महात्मा गांधी ही उन्हें समझा दें। केवल इसी आवश्यकता के लिए हम उन्हें आर्य समाज का सभासद बनाना नहीं चाहते।

कुछ हो, इस बात पर विश्वास होना कि हर एक मुसलमान आर्य बन सकेगा दौर्भाग्य का निशान क्यों है? —यदि मौलाना मोहम्मद अली प्रतिदिन यह प्रार्थना कर सकते हैं कि महात्मा गांधी मुसलमान हो जायं तो स्वामी श्रद्धानन्द जी क्यों यह

विश्वास नहीं रख सकते कि हर एक मुसलमान आर्य बन जायेगा ? आर्य समाज का बच्चा २ इसी विश्वास के साथ जीता है कि केवल मुसलमान ही नहीं किन्तु समस्त संसार एक दिन आर्य बन जायेगा । श्री कृष्ण ने कहा है "तेरा अधिकार काम करने का है फल के लिए आग्रह करने का नहीं ।" श्री कृष्ण का यह कहना आर्य समाजियों की कार्य प्रणाली का सुनहरा नियम है । हम यत्न करते चले जाते हैं उस में सफलता वा असफलता देना न देना परमात्मा का काम है ।

हम वैदिक धर्म को परमात्मा का धर्म समझते हैं । वेद कहता है 'इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' परमात्मा का राज्य बढ़ाओ, आतुनि से, अधैर्य से इस कार्य में कदम बढ़ाओ । प्रश्न हो सका है कैसे बढ़ाएँ ?—वेद कहता है 'सारे संसार को आर्य बना कर' । हम वेद की इस आज्ञा से बद्ध हैं—वह आर्य नहीं जिसका सिर वेद की आज्ञाओं के सामने रात दिन झुका न रहता हो । हमें शान्ति हराम है, हमें सुख हराम है, नींद हराम है, यदि हम रातदिन यही न सोचा करें कि 'संसार आर्य हो जाय' । मौलाना मौहम्मद अली ने कोकानाडा में भाषण करते हुए शुद्धि की यही व्याख्या की थी और वह व्याख्या ठीक है । उन्होंने शिकायत की थी कि हिन्दूधर्म प्रचारक धर्म नहीं है । उन्होंने कहा था कि 'अगर आज जब कि मेरे हिन्दू भाइयों की सरगर्मियों में तबलीगी जोश के निशानात पाए जाते हैं मैं उनकी अपने धर्म फैलाने की कोशिशों से नाराज हूँ, तो ताज्जुब है" मौलाना मौहम्मद अली स्वामी श्रद्धानन्द जी के उक्त विश्वास से रुष्ट नहीं हो सकते हां ! महात्मा गांधी के लिए रुष्टता का कारण है । क्या सचमुच यह दुर्भाग्य होगा कि मौलाना मुहम्मद अली जो महात्मा गांधी के मित्र हैं आर्य बन जायँ और वह मित्रता जो अपनी वर्तमान अवस्था में कहने सुनने की मित्रता है, रहने सहने की, मेल मिलाप की, दिल की और दीन की मित्रता बन जाय ।

"हिन्दू धर्म में शुद्धि"

महात्मा गांधी का विचार यह है कि हिन्दू धर्म में शुद्धि नहीं । क्या यही हिन्दू धर्म की विशालता और उदारता है ? हम ऊपर कह आए हैं कि वेद की इस विषय में स्पष्ट आज्ञा है । देवल स्मृति में शुद्धि की इस विधि का पूरा विवरण दिया गया है । हिन्दू से अहिन्दू होने पर जिससे कोई व्यक्ति फिर हिंदू बनाया जासकता है। भविष्य पुराण में कण्वऋषि का वर्णन आया है कि वह मिश्र देश में गए और हजारों मिश्रियों को अपना अनुयायी बनाकर अपने धर्म में प्रविष्ट किया । जो २ जिस २ वर्ण के योग्य था उसे वही वर्ण दिया गया । अभी यदुनाथ सरकार ने जो वर्तमान समय के उच्चतम ऐतिहासिकों में से एक हैं शिवाजी की जीवनी से एक घटना का उल्लेख किया है कि उनके Master of the Horse नेता जी पालकर को औरङ्गज़ेब ने मुसलमान बना लिया था । १० साल वह मुसलमान रहे । पञ्जाब और अन्य सूबों में काम करते रहे । बाद में वह शिवाजी के पास आए और

उनकी शुद्धि की गई । वहां भी 'शुद्धि' शब्द का ही प्रयोग किया गया है । इस लेख का समर्थन हौलैंड के कोठीदारों के एक पत्र से होता है जो उन्होंने सूरत से लिखा था । अतः शुद्धि प्रथम तो वेद के आदेश से आवश्यक हुई, फिर स्मृति ने वह विधि भी बता दी जिस से शुद्धि होती है. इतिहास ने इस बात की साक्षि दी कि शुद्धि की जाती रही है । यदि अब भी महात्मा जी का यही विश्वास है कि हिन्दू धर्म में शुद्धि का विधान नहीं तो इसका इलाज सिवाय इस के क्या हो सकता है कि महात्मा जी से प्रार्थना की जाय कि वह हिन्दू धर्म की व्याख्या करें अर्थात् बतायें कि वह कौनसा हिन्दू धर्म है जिस में शुद्धि की आज्ञा नहीं ? ।

हिन्दू धर्म को किसने संकुचित किया ?

गत हिन्दुसभा की बैठक में सनातन धर्म के पंडितों की उपस्थिति में शुद्धि का प्रस्ताव पास हुआ । अहिन्दू हिन्दू बनाया जा सकता है-यह घोषणा हिन्दू धर्म के प्रतिष्ठित पण्डितों की ओर से की जा चुकी है ।

भिन्न २ मठों क शंकराचार्यों ने व्यवस्था दे दी है कि आज के ही नहीं किन्तु पांच पांच सौ साल के पतित हुए लोगों को संतान भी यदि आज वह चाहे तो उसे आर्य बनाया जा सकता है । आखिर वह हिन्दू धर्म कौन सा है जो शंकराचार्यों का नहीं, हिन्दू सभा का नहीं, वेद का नहीं, स्मृति का नहीं, पुराण का नहीं, छत्रपति शिवाजी का नहीं— महात्मा जी का है ? क्या कोई ऐसा ही हिन्दू धर्म है जिसे स्वामी दयानन्द की शिक्षा ने संकुचित बना दिया ? इस 'संकोच' के दो अर्थ हो सकते हैं-एक 'विचारों का संकोच', दूसरा 'क्षेत्र का संकोच' । श्री दयानन्द ने हिन्दू धर्म्म के विचारों को विस्तृत किया है वा संकुचित ? इसके क्षेत्र को घटाया है वा बढ़ाया ? वह हिन्दू धर्म जो पहिले केवल हिन्दुओं की संतानों का ही दायभाग था, उसका दरवाजा ऋषि ने मनुष्यमात्र के लिये खोल दिया । वह हिन्दू धर्म जो पहिले चौंके और चूल्हे में बन्द था, जिसकी दृष्टि में अहिन्दू पतित थे अपवित्र थे-इसलिये नहीं कि उनके आचरण अपवित्र हैं किन्तु इसलिये कि उनका जन्म हिन्दुओं के घर नहीं हुआ-वह हिन्दू धर्म जो बंगाल की खाड़ी और अरब के समुद्र के बाहर क़दम रखने से भ्रष्ट होजाता था, जिसके भूगोल में सिवाय भारत के और कोई देश न था, और भारतवर्ष की भी मस्जिदें, गिरजे, जैनियों, बौद्धों और पारसियों के मन्दिर, उनके रहने के मकान, नहीं ! १ उनके बूढ़ों, बच्चों, औरतों और मर्दों के कान, स्वयं हिन्दु जनता के ३/४ भाग के कान इस योग्य न थे कि इस धर्म की दिल को मोहित करने वाली दुंदुभि से पवित्र होते, उसे दयानन्द ने सारे संसार के लिये समान कर दिया है ! यह वह संकोच है जिसे दयानन्द संसार भर के एक विशालतम और उदारतम धर्म में लाया है ! वस्तुतः दयानन्द ने अत्याचार किया है । हां ! हिन्दू धर्म विशाल था, उदार था क्योंकि हिन्दू धर्म्म का कोई लक्षण न

था। कोई परमात्मा को मानो न मानो। वेद की प्रतिष्ठा करो न करो। जीवों की रक्षा करो या कुर्बानी, कुछ करो अपने आपको हिन्दू कहो। प्रत्येक कार्य हिन्दू कार्य है। प्रत्येक विचार हिन्दू विचार है। हां! अहिन्दू की संतान को अपवित्र समझो और उससे घृणा करो। दयानन्द ने ऐसे हिन्दू धर्म्म को संकुचित किया। उसके विचारों को भी संकुचित किया और क्षेत्र को भी। यदि झूठ को सचाई की परिधि से निकाल देना सचाई का क्षेत्र तंग करना है, यदि दुराचार को सदाचार के क्षेत्र से बाहर करना सदाचार का दम घूंटना है तो दयानन्द वस्तुतः दोषी है। उसने हिन्दू धर्म के क्षेत्र को संकुचित किया, उसका दम घूंटा, संकुचित करने के स्थान् यह अर्थ हों कि हिन्दु धर्म में भिन्न २ मतों की समालोचना करने की प्रणाली का आविष्कार किया गया है। स्वामी दयानन्द के आने से पहिले हिन्दू धर्म एक भक्त था जिसके विषय में निम्न कथा वर्णित की गई है:—
एक दिन एक महात्मा खाना पका रहे थे। भजन भी करते जाते थे, तवे पर से रोटी भी उतारते जाते थे। उन्हों ने एक रोटी उतारी ही थी कि कुत्ता झपटा और रोटी उठाकर लेगया। महात्मा ने उस रोटी को अभी चुपड़ा न था। महात्मा ने घी की प्याली उठाई और कुत्ते के पीछे भागे। प्याली आगे आगे करते थे और कहते थे 'रूखी न खाइयो, प्रभु! रूखी न खाइयो'।

उदार हिन्दू धर्म!

अहिन्दू होने में लाभ था, हिन्दू होने में नुकसान। अपने दलित भाइयों को ही देखलो। जब तक वह हिन्दू हैं हमारे साथ नहीं छू सकते। ज्यूं ही मुसलमान वा ईसाई हुए, उनकी छूत हट गई। यह हिन्दुओं की उदारता थी। इन का घर पेश, बार पेश, घर का माल असबाब सब पेश, कोई कुछ कह जाय चूं नहीं करनी, चोर को कम्बल दे आना कि कहीं वह असफलता से निराश न हो, यह हिन्दुओं का काम था। अपनों से लड़ते थे। हिन्दुओं के दर्शन पढ़ जाओ, शास्त्रार्थों से परिपूर्ण हैं, लेकिन हिन्दुओं के साथ। पिछले आचार्यों के आगे अहिन्दुओं का प्रश्न न आया था। स्वामी दयानन्द के सामने यह नई कठिनता थी कि हिन्दुओं के मतमतान्तरों के अतिरिक्त अहिन्दू मतों ने भी डेरे डाले हुए थे। ऋषि के आने से पहिले प्रत्येक अहिन्दू प्रत्येक हिन्दू का अतिथि था। खाने पीने में उससे घृणा करनी लेकिन उसके मत पर अंगुलि न उठानी-वह गाली दे, गलोच दे, वेदों की निन्दा करे, शास्त्रों की निन्दा करे, हमारे महापुरुषों की निन्दा करे, चुप रहना। ऋषि आया और उसने सब से पहिले यह पाठ पढ़ाया कि चोर और अतिथि में भेद करो। स्वामी से पहिले हिन्दुओं की ओर से दूसरे मतों का उत्तर दिया जा रहा था किन्तु उसे जाति न सुनती थी, और वह उत्तर अश्लील था। यदि महात्मा सत्यार्थ प्रकाश के साथ २ मुंशी इन्द्रमणि इत्यादि के लेखों का अध्ययन कर लेते तो उन्हें मालूम होता कि ऋषि ने अहिन्दू मतों के साथ नरमी से काम लिया है वा कठोरता से। ऋषि को न हिन्दू का पक्षपात था और न अहिन्दू का। सत्यार्थ प्रकाश जो महात्मा गांधी के लिये निराशा जनक सिद्ध हुई है, उसकी

भूमिका में महर्षि लिखते हैं "यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूं तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की मिथ्या बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति चाहने वालों के साथ भी वर्तता हूं"। आगे चलकर फिर कहा है—"जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग........करता हूं वैसा सब को करना चाहिये।" ऋषि के सामने हिन्दू जाति पर अन्य मतों की मार हो रही थी, हमले हो रहे थे, परन्तु यह चुप थी। कुछ मनचले ऐसे हिन्दु भी थे जो पत्थर का उत्तर पत्थर से, और मुक्के का उत्तर मुक्के से दे रहे थे। दूसरी ओर अन्य मत थे जो अपने को सच्चा और आर्य धर्म को झूठा बता रहे थे।

ऋषि यदि पक्षपात करते तो अन्य मतों के प्रचारकों की तरह हिंदुओं की बात २ का समर्थन करते, हिन्दुओं की भलाइयों को भी बुरा कहते, परन्तु ऐसा करना उन के उच्च मनुष्य भाव के प्रतिकूल था।

यदि अन्य मतों में शुद्ध सचाई होती और हिन्दू असत्य के ठेकेदार होते तो ऋषि उन्हें प्रेरित करते कि हिन्दु मत को छोड़ दो और अहिन्दू हो जाओ। ऋषि ने सब मतों का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुंचे कि हर मत में सत्य भी है और असत्य भी। ऋषि ने विवाह न किया। वह ब्रह्मचारी रहे। एक ही धुन सवार रही। ३०.वर्ष की आयु तक लगातार अध्ययन किया जिससे उन्हें विश्वास हुआ कि वर्तमान हिन्दू धर्म में संशोधन की आवश्यकता है, वर्तमान इसलाम में संशोधन की आवश्यकता है। वर्तमान इसाई मत में संशोधन की आवश्यकता है। महात्मा गान्धी ने भी जेल में इन मतों का अध्ययन किय है—आखिर कितना समय! फिर इस में भी क्या देखा है?—महात्मा इस अध्ययन से किस परिणाम पर पहुंचे हैं? महात्मा कहते हैं, "मेरी हिन्दू प्रकृति मुझे बताती है कि ह मजहब थोड़ा बहुत सच्चा है"। इनका सारा लेख पढ़जाओ ऐसा मालूम होता है कि उ की दृष्टि में यदि कोई क़तल करने योग्य मज़हब है तो हिन्दुओं का। क्यों कि हिन्दुओं क अत्यन्त पवित्र पुस्तक वेद तक का उपहास कर दिया गया है। अहिन्दू मतों ने संसा को शान्ति दी। इस्लाम और शान्ति? इन दो भावों को महात्मा ही एक स्थान पर र सकते हैं। साधारण जनों की शक्ति में यह चमत्कार नहीं। महात्मा ने वेद को पढ़ा भी है

जल्द बाज़!

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जल्द बाज़ हों—आर्य समाज जल्द बाज़ हो, शायद ऋषि दर नंद भी जल्द बाज़ हों, किन्तु उन में से किसी ने यह जल्द बाज़ी नहीं की कि एक पुस्त को देखा ही नहीं और उस के प्रतिकूल सम्मति उद्घोषित करने लग गए हों। महात गांधी को जल्द बाज़ कौन कहे? वह महात्मा हैं। महात्मा जल्दी नहीं तिलमिलाए—उ ने तो स्वामी श्रद्धानन्द जी के कुछ स्वभावों को जो उनके विचार में आक्षिप्य हैं, आर्य सम

का दायभाग बताने में बड़े सोच विचार, बड़े धैर्य, बड़ी शान्ति से काम लिया है। आर्य समाज पर ही बस नहीं आर्य समाज के प्रवर्तक पर भी अत्यन्त निडरता से हाथ साफ किये हैं। वेद तक इन के आक्षेपों से बच न सके। कौन कहे महात्मा जी तिलमिला गए हैं।

कुछ हो! हमें अपने विषय पर रहना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने अन्य मतमतांतरों के गुणों को स्वीकार किया और बुराइयों की समालोचना की। सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में भी स्वामी जी लिखते हैं "जो २ बात सब के सामने माननीय है उस को मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं। और जो परस्पर मतमतांतरों के विरुद्ध झगड़े हैं उन को मैं पसन्द नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा परस्पर शत्रु बना दिया है।"

ऋषि को मत मतांतरों के झगड़े पसंद न थे। उन्हें शांति की खोज थी किंतु शांति को झूठ के दामों पर खरीद नहीं कर सकते थे। ऋषि ने पक्षपात को अपने पास फटकने तक न दिया। दस समुल्लासों में वह लिखा जो आप को पसंद था और जो सब के मानने योग्य था। यह सचाईयां हिंदुओं की मलकीयत नहीं। जैसी वेद की प्राचीन शिक्षा को हिंदुओं के वर्तमान रीति रिवाजों ने विगाड़ दिया था, वैसे ही अन्य मतमतान्तर भी वेद ही से निकले थे किन्तु उन्हों ने उस पवित्र शिक्षा को अपनी मौलिक शुद्धावस्था में न रहने दिया था। ऋषि ने दस समुल्लासों में सब मत मतांतरों की साझी सचाइयों का वर्णन किया। वेद सब मतांतरों का साझा स्रोत है। उसी का प्रमाण दिया। मतांतरों के प्रमाण पेश करना व्यर्थ में बात को तूल देना होता। मनुष्यकृत प्रमाणों में से केवल मनुस्मृति आदि आर्ष ग्रन्थों के ही प्रमाण दिये क्योंकि मनुस्मृति सब से पहली धर्म पद्धति है जिस से दूसरे धर्म शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। इस से ऋषि को यह दिखाना भी अभीष्ट था कि अन्य मनुष्यकृत ग्रंथों का अध्ययन भी किस दृष्टि से किया जाय? जैसे मनुस्मृति की परख वेद की कसौटी पर की गई है वैसी ही कुरान और इञ्जील आदि की भी होनी चाहिए। उनके जो हिस्से वेदानुकूल हों वे ठीक हैं, जो विरुद्ध हों वह अशुद्ध हैं।

अनजाने में मिथ्या कथन।

महात्मा कहते हैं ऋषि ने अनजाने में इन मतांतरों के विषय में मिथ्या कथन किया। 'अनजाने में मिथ्या कथन' से महात्मा का तात्पर्य क्या है? क्या ऋषि ने इन मतमतांतरों का भाव अशुद्ध समझा? यह सम्भव है। अन्ततो गत्वा ऋषि भी मनुष्य थे। दूसरा है, कि समझा तो ठीक किन्तु स्वभाव से बाधित हो कर उन को अशुद्ध रूप में पेश किया। यह बात ऋषि के स्वभाव से इतनी ही दूर थी जितनी कि महात्मा गांधी के स्वभाव से मत मतांतरों की सत्यासत्य निर्णायक समालोचना। ऋषि को यदि अहिन्दुओं की धज्जियां उड़ानी होतीं तो उन से पहले ऐसी पुस्तकें विद्यमान थीं। उन में से

किसी एक का प्रचार करते। सबसे पहिले ऋषि ने हिन्दु मत की बुराइयों का वर्णन किया। यह समुल्लास सत्यार्थ प्रकाश का सब से लम्बा समुल्लास है। जैसे महात्मा गांधी को हिंदुओं से विशेष प्यार है। हिंदुओं को कारण निष्कारण दोषी ठहराते हैं। उन्हीं को झाड़ते हैं, दूसरों को नहीं। ऋषि भी हिन्दू घराने में पैदा हुए थे। हिन्दुओं के रीति रिवाज देखा करते थे। उनकी त्रुटियों से अधिक परिचित थे, इस लिए उन की पुस्तकों की अधिक समीक्षा की। अन्य मतमतान्तरों को नमूने के तौर पर थोड़ा २ परखा। महात्मा इसे मिथ्या वर्णन बताते हैं और कहते हैं कि अनजाने से होगया होगा। महात्मा के लेख का बड़ा भाग हिन्दू मुसलिम झगड़ों के विषय में मिथ्या कथन है। मुसलमानों के अत्याचारों से वे अच्छी तरह परिचित हैं। हिन्दुओं के अत्याचारों की उनके पास शिकायतें गई हैं। इस डर से कि कहीं यह शिकायतें सत्य सिद्ध न हो जांय, महात्मा जी ने उनके विषय में खोज करने की आवश्यकता नहीं समझी। एक भी घटना ऐसी नहीं लिखी जिसे सिद्ध वा सत्य कहा जासके। यही खोज न करना ही अनजाने की मिथ्या वादिता है। स्वामी दयानन्द ने ऐसी अनजाने की मिथ्या वादिता नहीं की।

"मिथ्या वादिता" का परिणाम।

ऋषि ने जो किया, इस का परिमाण यह है कि सब मतमतान्तरों ने अपना संशोधन किया है। कुरान के भाष्य बदल गए हैं। जिस आयत में औरतों को उजरत (उजूरहुन्न) दे कर उनसे व्यभिचार करने की शिक्षा थी, जिसके आधार पर आज भी ईरानी खुला 'मुत्ता' करते हैं, मज़हब के नाम पर सतीत्व का विक्रय होता है, आज उस आयत का मतलब बदल गया है। 'अजूरहुन्न' के नए अर्थ हैं हक्कमहर (स्त्रीधन)। यह अर्थ केवल नए भाष्य में आते हैं, पुराने भाष्यों में नहीं।

ऋषि का 'मिथ्या वर्णन' भारत ही में रहा और इसका प्रभाव यह है कि इस्लाम शुद्ध हो रहा है। परमात्मा इसे ईरान में ले जावे। वहां की औरतों पर से भी इस्लामी अत्याचार (शाप) हट जायेगा। महात्मा कुछ कहें, संसार भर की औरतों के रोम २ से ऋषि के उपकारों के लिये धन्यवाद की ध्वनि उठ रही है। स्थानाभाव अन्य मतों के उदाहरण उद्धृत करने में बाधक है।

सत्य वादिता का प्रभाव।

अब ज़रा महात्मा गांधी के सत्य वर्णन का प्रभाव देखना। ख्वाजा हसन निज़ामी की दावत इस्लाम' से ग़ैर-मुस्लमों के अन्तः पुर सुरक्षित नहीं। लज्जा और सतीत्व सुरक्षित नहीं। नवयुवकों का सदाचार ख़तरे में है। महात्मा की 'सत्य वादिता' यह है कि उस महात्मा का नाम तक नहीं लेते। संकेतों २ में बातें करते हैं। उन हज़रत का नाम रखा है—रसूल के महान् संदेश का अशुद्ध अनुवादक। रियासत हैदराबाद में इस अशुद्धानुवाद से प्रतिपादित हुई 'शुद्ध' प्रचार-प्रणाली पर काम होना शुरु हो गया है। दिल्ली

से समाचार आरहे हैं कि वहां यह इस्लामी नीति अपना फल दिखा रही है। भला यह अशुद्ध अनुवाद कैसे हुआ? एक भी मुसलमान है? कोई मौलाना? कोई प्रचारक? कोई राजनैतिक नेता? जिस ने इस अशुद्ध अनुवादक के विरुद्ध आवाज़ उठाई हो। कहा हो कि यह इस्लाम का मन्तव्य नहीं। सब देख रहे हैं और दिल ही दिल में खुश हो रहे हैं कि इस्लाम अपने वास्तविक रूप में फैल रहा है। यह है अरबी रसूल का महान् संदेश जिसने तड़पती दुनियां को आत्मिक शांति प्रदान की है।

यदि यह सत्य वादिता है तो ऐसी लाखों सत्यवादिताएं ऋषि की उस एक "असत्यवादिता" पर न्योछावर है, जिस ने स्त्री जाति के सतीत्व की रक्षा की, जिसने केवल हिंदु स्त्रियों का ही नहीं किन्तु मुस्लमान महिलाओं का भी मान रख लिया।

शुद्धि।

महात्मा का कथन है कि प्रत्येक नर नारी अपने धर्म में पूर्णता प्राप्त करे यह सच्ची शुद्धि है। एक मुस्लमान अवश्य मुस्लमान रहे। अगर उसे आर्य बनने में अपनी आत्मा का कल्याण नज़र आवे तो उसे सुना दिया जाए कि महात्मा गांधी अपने विशालतम और उदारतम धर्म में तुझे दाखिल नहीं होने देते। इस्लाम के "कुर्बानी" के सिद्धांत को लेलो। महात्मा अहिंसा धर्म के प्रचारक हैं उन की दृष्टि में किसी पशु का सताना सब से बड़ा अपराध है। दूसरी ओर एक धर्म है, जो निरपराध जानवरों का बध करना न केवल विहित, किंतु आवश्यक बतलाता है, धार्मिक कर्तव्य ठहराता है। एक मुस्लमान है, उसे अहिंसा का सिद्धांत पसंद आता है। वह क्या करे? कुर्बानी न करे तो वह मुस्लमान नहीं। महात्मा के पास आए तो उन का उपदेश ही यह हुआ कि अपने धर्म में पूर्णता प्राप्त करो, अर्थात् खूब 'कुर्बानी' करो। आखिर यह कैसा तर्क है।

महात्मन्! आंखें मींच लेने का नाम सत्यवादिता नहीं। दुनियां में मज़हब हैं। हां, मज़हब हैं जो दुराचार पर बल देते हैं, बुरे से बुरे आचरण से मनुष्यों का उद्धार बतलाते हैं। इन में पूर्णता प्राप्त करे—यह अच्छी शुद्धि है!

क्या सत्यार्थ प्रकाश इस लिए निराशा जनक है कि ऐसी शुद्धि का विधान नहीं करता? संसार के लोगों के सामने एक कर्म पद्धति रखता है जिस के मानने और आचरण में लीन होने से ही आत्मा का कल्याण होता है। सत्यार्थ प्रकाश की दृष्टि में वाममार्ग की पराकाष्ठा शुद्धि नहीं। इस्लाम की पराकाष्ठ शुद्धि नहीं। सचाई की पराकाष्ठा ही शुद्धि है। सदाचार की पराकाष्ठा ही शुद्धि की पराकाष्ठा है। वैदिक धर्म की पराकाष्ठा ही शुद्धि की पराकाष्ठा है।

अन्तरात्मा की आवाज़।

महात्मा ने एक बात बड़े पते की कही है। लिखते हैं—शुद्धि यदि आर्य समा-

जियों की अंतरात्मा की आवाज़ है तो उसे रोका न जायगा। महात्मा को हम कैसे विश्वास करायें कि शुद्धि हमारे अंतरात्मा की आवाज़ है? महात्मा किसी आर्य समाजी का दिल चीर कर देखें तो उन्हें पता लगे कि उस में किन उमङ्गों का दरिया ठाठें मार रहा है। सत्यार्थ प्रकाश आर्य समाजी का हृदय है। इस से महात्मा को निराशा हुई। वेद आर्य समाजी का प्राण है—महात्मा ने उसे 'बुत' कहा। तोड़ा इस लिए नहीं कि महात्मा मूर्ति-भञ्जक नहीं। अब और क्या प्रमाण है जो महात्मा के आगे प्रस्तुत करें? लेखराम की लाश? जिसने शुद्धि की छुरी पर अपना कलेजा रक्खा, कटार खा ली और उफ़ न की। मारने वाले को मारना तो दूर रहा, उसके लिए एक अपशब्द भी न कहा। तुलसीराम का खून? जो अहिंसा धर्म के अवतारों, जैनियों के हाथों बलिदान हो गया। रामचन्द्र का ठिठरा हुआ शरीर? जिसे माघ मास की ठिठराती शाम को लाठियों की बौछाड़ ने सर्वदा के लिए चुप करा दिया। ये सब शुद्धि के मतवाले थे। यदि उनकी तड़पती लाशें बोलें और अपनी आवाज़ महात्मा गांधी के कानों तक पहुँचाएं तो महात्मा को पता लगे कि उनकी तड़फ शुद्धि की उत्कण्ठा की तड़फ है। उनकी मृत्यु शुद्धि का जीवन है। यही लोग आर्य समाज की अन्तरात्मा हैं। जो उनकी साक्षि है वही आर्य समाज की साक्षि है।

एक बात शेष रह गई है। महात्मा गांधी शुद्धि की आज्ञा दे सकते हैं पर कैसे? आर्य धर्म की चार कसौटियां हैं—सब से मुख्य वेद, फिर स्मृति, फिर सदाचार। ये तीनों महात्मा गांधी की अदालत में प्रामाणिक नहीं। चौथी और सब से छोटी कसौटी है 'स्वस्य च प्रियमात्मनः"। इसी को दूसरे शब्दों में अपने अन्तरात्मा की आवाज़ कह सकते हैं। इसी के आधार पर महात्मा जी शुद्धि की आज्ञा दिये देते हैं। इतना ही सही। फिर ग़नीमत है। अब आक्षेप है तो शुद्धि के ढंग पर। इस में हमें कोई आपत्ति नहीं। हम ढंग बदल लेंगे। जब महात्मा जी वर्तमान ढंग से कोई उत्तम ढंग पेश करेंगे तो हम उसी का अनुसरण करेंगे।

ईसाइओं की नक़ल।

पर प्रश्न यह है कि वर्त्तमान ढंग में दोष क्या है? महात्मा जी फ़रमाते हैं कि यह ईसाइयों के ढंग की नकल है।" ईसाइयों के ढंग में क्या दोष है—यह नहीं बताया। क्या कोई काम इस लिए भी दूषित हो सकता है कि वह ईसाइयों का है? लो! महात्मा जी खुद फैसला फरमायें। स्वामी दयानन्द का हृदय संकुचित हुआ या महात्मा गांधी का? स्वामी जी तो लिखते हैं कि मैं सब मतों के गुण ग्रहण करता और बुराइयां छोड़ता हूँ। पर यहां तो कोई चीज दूषित ही इसी लिए है कि वह ईसाइयों की है। महात्मा गांधी को ईसाइयों से भी न्याय का वर्ताव करना चाहिए। वे भी तो परमात्मा के पुत्र हैं, केवल मुसलमान नहीं। क्या जो दोष ईसाइयों के प्रचार में हैं, वे दोष आर्य

समाज के प्रचार में हैं भी ! सिद्ध करना होगा ! दावा बेदलील बे शहादत मानने योग्य नहीं।

वेद विहीन हिन्दू !

महात्मा का कथन है कि शुद्धि की कसौटी सदाचार होना चाहिए। हम महात्मा के इस कथन की प्रशंसा करते हैं परन्तु स्वयं सदाचार की कसौटी क्या है ? शुद्धि के औचित्य अनौचित्य पर विचार करते हुए हम ने निवेदन किया था कि जिस शुद्धि की आज्ञा वेद में है, स्मृति में है, जिस के उदाहरण पुराण में हैं, और जिस के क्रिया रूप में आने की साक्षि इतिहास देता है, वह महात्मा की दृष्टि में उचित नहीं। महात्मा की व्यवस्था अपनी होती तो हानि न थी। महात्मा कहते हैं कि शुद्धि का हिन्दू मत में विधान नहीं। हम ने पूछा था किस हिन्दू मत में ?।

महात्मा जी की आशा सत्यार्थ प्रकाश ने पूरी नहीं की। क्या वेद करते हैं ? महात्मा का कथन है कि वेद के प्रत्येक शब्द पर विश्वास रखना एक सूक्ष्म प्रकार की मूर्ति पूजा है। यह खूब रही ! आखिर वेद का अपराध क्या है ? यही कि आप की मांग पूरी नहीं करता। आप किसी अहिन्दू को अपना धर्म का भाई नहीं बनाना चाहते और वेद बनाता है। अब सदाचार के विषय में भी वही कठिनता है। इस की कसौटी क्या है ?

हमें स्वामी श्रद्धानन्द की चिन्ता नहीं, आर्य समाज की चिन्ता नहीं, स्वामी दयानन्द की चिन्ता नहीं। यह न रहे तो क्या ? इन का नाम मिट गया तो क्या ? महात्मा तो वेद को ही मिटाने पर कमर कसे हुए हैं। ले दे कर आर्य जाति की यही पूँजी रह गई है। महात्मा को वह भी एक आंख नहीं भाती। हिन्दू मुसलिम संगठन की वेदी पर सब कुछ कुर्बान करते। दयानन्द का सिर हाज़िर ! आर्य समाज की जान हाज़िर ! लेकिन परमात्मा का वास्ता ! एक वेद की बलि न चढ़ाना। किसी की मांग हो— यह पूरी न होगी। ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त सब ऋषियों ने वेद को परम प्रमाण माना है। हिन्दुओं के दर्शनों में, साहित्य में, कलाओं में सब तरह के मतभेद ह, लेकिन वेद के आगे जो कोई भी आया है उसने सिर झुका दिया है। स्मृतियां वेद के आगे सिर झुकाती हैं तो इतिहास वेद की पूजा के गीत गाते हैं।

आश्चर्य यह है कि महात्मा ने वेद को पढ़ा ही नहीं। क्या उसके पढ़ने में भी 'मूर्ति पूजा' का डर है ? आखिर वह हिन्दू मज़हब कौनसा है जिस में वेद को ही तिलाञ्जली दे दी जाय।

मुसलमानों के कुरान को भी 'बुत' कह देते। हिन्दू वेद छोड़ते, मुसलमान कुरान को जवाब देते— और इस अश्रद्धा व विश्वास-हीनता का नाम होता हिन्दू मुसलिम

संगठन। परन्तु नहीं! इस हिन्दू मुसलिम संगठन में तो हिन्दुओं को देना ही देना है और मुसलमानों को लेना ही लेना। हिंदुओं की आख़िरी पूँजी वेद है, इस पर भी महात्मा के किसी मित्र की नज़र होगी।

दोष! महादोष!! परन्तु झूठा।

हां! एक दोष बताया और वह ईसाईयों का नहीं, मुसलमानों और आर्यसमाजियों का। वह क्या? वह यह कि ये दोनों औरतों को बहका कर ले जाते और उन्हें शुद्ध करने का यत्न करते हैं। यह झूठ है जो महात्मा के किसी भक्त ने महात्मा से कहा है। यह झूठ उस भक्ति से कहीं बड़ा है, जो महात्मा के लिये महातम के उस भक्त के हृदय में है। महात्मा ने उस पर विश्वास करके उसे और भी बड़ा बना दिया है। हिन्दुओं पर इतनी आपत्तियां तोड़ी ही थीं, कहे सुने के आधार पर उन पर काल्पनिक अत्याचारों का दोष लगाया ही था। "मुझ से कहा गया है" की आख़िर कोई हद्द! कोई उदाहरण दिया होता, कोई घटना से पेश की होती। आर्यसमाजी पापी हैं, दोषी हैं, अपराधी हैं। एक बालब्रह्मचारी का नाम जपते हैं और उनमें से अकसर में ब्रह्मचर्य नाम को नहीं। आदित्य के चेले हैं और उनमें अकसर तेजोहीन हैं। लाख निर्बलताओं के शिकार होंगे, लेकिन औरतें बहकाने का इल्ज़ाम! यह इनसे इतना ही दूर है जितना महात्मा से पड़ताल का परिश्रम। आर्यों की जल्दबाज़ी इसी में है कि ज़रा से अपराध पर बड़े से बड़े मनुष्य को आर्यसमाज से बाहर कर देते हैं। ज़रा २ सी बात पर तिलमिला उठते हैं। परमात्मा करे, इस इल्ज़ाम से और तिलमिला उठें और बाल ब्रह्मचारी के समाज को वस्तुतः ब्रह्मचारियों का समाज बनायें।

अन्तिम निवेदन।

महात्मन्! अन्त में आप से एक निवेदन है। आज के हिन्दू दो बरस पहिले के हिन्दू नहीं हैं वे दिन गये जब यह रोटी उठाले जाने वाले कुत्ते के पीछे घी की प्याली लेकर दौड़ते थे कि "रूखी न खाइयो प्रभु! रूखी न खाइयो"। उन्हें चोर और महमान में विवेक है। वेद और शास्त्र तो क्यों छोड़ें, ये तो अब सांसारिक सम्पति भी नहीं छोड़ने के। आख़िर आप मुसलमानों को कब तक मेहमान समझेंगे। हम तो उन्हें अपना भाई जानते हैं। उन्हें भारत में बसते सदियां हो गईं। बच्चा घर संभालने के योग्य हुआ। मेहमान ने अपना घर बसा लिया। अब उनका हमारा बराबर का पड़ोस है। हम आपस में लड़ेंगे, झगड़ेंगे, हाथ मिलायेंगे और गले मिलेंगे। हमेशा कौन आतिथ्य कर सकता है? और जिस ने प्रलय तक अतिथि रहने की कसम खाली हो, वह भी तो आदरणीय अतिथि नहीं। कवि ने कहा है:—

मक्खी बन कर पड़ा रहे वह अतिथि प्रतिष्ठा खोता है।
फ़िर अथिति के भी तो कर्त्तव्य हैं। जितना शील गृहपति के लिए आवश्यक है

उससे कम अतिथि के लिए नहीं। आप हिन्दुओं को कहते हैं कि तुम मुसल्मानों पर छोड़ दो कि वे जो अधिकार चाहें तुम्हें दें। क्यों? इस लिए कि हिन्दुओं की संख्या अधिक है। बहुत अच्छा, पंजाब की अवस्था इस से ठीक उलटी है। ज़रा यहां के मुसलमानों से कह दीजिये कि तुम अपने अधिकारों से हाथ उठालो और हिन्दुओं को फैसला करने दो कि तुम्हें क्या मिले और उन्हें क्या? मुस्लिम लीग से पूछिये, वह क्या उत्तर देती है? लीग का तो प्रस्ताव ही है कि यहां हमें अधिक अधिकार इसलिये चाहियें कि हम अधिक हैं और दूसरे प्रान्तों में इसलिये कि हम वहां कम हैं। ना! क्या भोलापन है! यह हैं परमात्मा के सरल सूधे बच्चे!

मगर नहीं, हम तो यहां भी न्याय चाहते हैं और वहां भी। आपके शील से डर इस लिये होता है कि अब आप धर्म तक की बलि देने को तैयार हो गये हैं। यह हम न होने देंगे। आप का हिन्दू धर्म जो हो, हमारा तो वेद का, शास्त्र का, ऋषियों और मुनियों का आर्य धर्म है।

आर्य भाषा चतुर्मास

में

आर्यों को आर्य भाषा पढ़नी और

पढ़ानी है।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर का ब्यौरा आय व्यय बाबत सं १९८० ।

निधि	इस वर्ष की आय	इस वर्ष का व्यय
वेद प्रचार	३२०६६।)८	
दशांश	२५०१।।।-)१०	
चार आना निधि	१७०३।)१	
आर्य्य	१४४९॥=)॥।	१८३२=)
वेतन उपदेशकों का		१५१५३॥=)।।।
मार्ग व्यय		५५५७।=)=
सहायता माता पं० गणपति शर्मा	१०)	२४)
कार्य्यालय		६०५०।।।-)४
पुस्तक त्यार कराई		६६२)
दायाद्य		५७०।≡)
वैदिक पुस्तकालय	८७≡)११	१०५६।।।)।
ट्रैक्ट विभाग	२०२।)	
पंचमाशं सार्वदेशक सभा		३३०)
मुफत पुस्तक प्रचार		
वीमा जीवन		१७।≡)
गुरुकुल से दत्तांश	१०००)	
लेखराम निधि से दत्तांश	५०)	
बोनस		६३८=)१
सहायता वेद स्वाध्याय		५००)
सूद संवत १९८०	४९७३।)॥	
योग	४४०५७-) ।।।	३२८२३-)१
लेखराम स्मारक निधि	३०२१।।।)।	५०)
उपदेशक वेतन		५००)
मार्ग व्यय		२५७॥)।
गुज़ारा विधवा पं० तुलसीराम		१२०)
,, ,, वजीर चन्द		६६)
योग	३०२१ ॥) ।	१०२३॥)।
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	२२४४।-)	२०६५। =)४
प्रेमदेवी होमकरण भंडार	९१)	२४)
मद्रास प्रचार	२६६)	३१२॥=)
विदेश प्रचार	३१०७।=)।।।	...
दलितोद्धार	९२१२ ≡ ७	५२६९=)४
राजपूतोद्धार	७५३२।≡)	२२४७।।≡)२
गुरुकुल मुलतान	७)	...
,, कुरुक्षेत्र	१०२)	१०२)
प्रोवीडेंट फण्ड	१३३८=)७	१६३३।≡)११

* ब्योरा आय व्यय बाबत सं० १९८० *

निधि	इस वर्ष की आय	इस वर्ष का व्यय
किराया	२१)	२१)
भूमि आय	३६७॥)	३६७॥)
सूद	१६४२३≡)	१९४०६≡)
अज्ञातिनिधि	८३०२॥।,॥	८७८८=)।
अमानत अन्य संस्थायें	१६९४॥≡)	१०१६॥≡)
,, आर्य विद्यार्थी आश्रम	६८७॥-)	३६७)
,, आर्य समाजें	९५९४)१	१६३३।-)
,, वैदिक पुस्तकालय	९६)	७०॥≡)११
,, नौलखा भूमि	१७॥)	१०६६२)
,, बोनस	१०००)	९३३।≡)४
,, इशशाई दुकानात	५७=)	२११।)।।।
,, शाहना भूमि		२८७-)।।।
आर्य विद्यार्थी आश्रम शाला	४२१२॥≡)॥	
वसीयत पं० पूर्णानन्द	५३९५।≡)	२७९≡)
कन्या गुरुकुल	११८६६॥=)।	३६॥।=)
दयानन्द जन्म शताब्दी	५६०१-)	५७१≡)॥
राम चन्द्र स्मारक	४४८।-)	
निहाल देवी जींदाराम	५०३॥।)	
आचार सुधार निधि	८२।≡)	
दयानन्द व्याख्यान माला	६६।)८	
योग	६६४३८।)।	४४९७४॥।≡)॥
गुरुकुल महानिधि	१४८७०८।=)॥	१४००२२॥।)
,, अस्थिर छात्रवृति	१३१२४॥)	
,, उपाध्याय वृति	३३०००)	
,, अन्य दान स्थिर कोष	७९३२=)	
,, आयुर्वेद	१६)	
योग	२०२७८१)॥	१४००२२॥।)
सर्वयोग	३४३१६८॥।≡)८	२३०५३९=)७
गत योग	८४०९५१॥≡)११	
योग	११८४१४०॥।=)११	२३०५३९=)७
वर्षान्त पर शेष	[illegible]	

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर।

शेष पत्र वेद प्रचारादि विभाग बाबत सं० १९८०

निधि	राशि	जहां धन लगा हुआ	राशि
वेद प्रचार	५७५०९≡)११	ऋण वीरभानु सीताराम मियांचन्नु	१०६३=)
दयानन्द सेवा सदन	१४०८)	,, पं. जगन्नाथ आदि अमृतसर	२१५१८॥-)२
लेखराम स्मारक	२७०१४।=)॥	,, आर्य्य समाज वज़ीराबाद	४५९॥।=)॥
विदेश प्रचार	२२६८१॥-)५	,, ,, ,, शिमला	२२४३॥)
गुरुदत्त भवन विद्यार्थी आश्रम	६८७४६।-)४	,, ईश्वरदास अबोहर	७७७।)
गुरुकुल मुलतान	५११०॥।)	,, हरदयालु उपदेशक	११४॥।=)॥
प्रोवीडेंट	६५६०॥।-)॥	,, गुरुदत्त विद्यार्थी आश्रम	१२२८७।=)।
बोनस	५८९१॥।=)४		
अमानत वैदिक पुस्तकालय	३९४)	,, डा० मथुरादास मोगा	५७११-)१
,, आर्य समाजें	१३६२६=)११	शीशमहल भूमि	१४८८५॥)॥
,, अन्य संस्थायें	२८३६॥≡)११	एजंट अकौंट	६७१॥≡)१
,, भोले शाह	४९१)	अगाऊ	८४२॥≡)॥
,, ईश्वर दास	६१८२॥।)१	इम्प्रेस्ट	५००)
,, विद्यार्थी आश्रम	५५२)	शुजाबाद भूमि	५०००)
कन्या गुरुकुल	१२६६१॥=)१	गुरुदत्त भवन आश्रमशाला	६६५६७-)॥
प्रेम देवी होमकरण भंडार	१४४३॥।≡)११	संट्रल बैंक	५८९०॥।)८
दयानन्द व्याख्यान माला	९७९।)१	पंजाब नैशनल बैंक	१२११७१॥।-)
आचार सुधार	१३१७≡)८		
अज्ञात निधि	३६६॥≡)		
सभा के सेवकों की सहायता	५००)		
राजपूतोद्धार निधि	९७४१।१		
दलितोद्धार निधि	९१५७॥=)१०		
मद्रास प्रचार	२१३=)		
विद्यार्थी आश्रम	१७८॥=)८		
दयानन्द जन्म शताब्दी	५०२६॥।-)॥		
वसीयत पूर्णानन्द	५११६।)		
राम चन्द्र स्मारक निधि	४४८।-)		
निहाल देवी जींदा राम	५०३॥।)		
योग	२६६९९९॥≡)८	योग	२६६९९९॥=)२

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर।

शेष पत्र गुरुकुल विभाग बाबत सं० १९८०।

निधि	राशि	जहां धन लगा हुआ है	राशि
गुरुकुल महानिधि	३१४२[illegible]८॥=)४	गुरुकुल भूमि	१६३९३)
,, स्थिर छात्रवृत्ति	१०८२१०॥≡)२	,, मकानात	१२४२६१≡)॥
,, अस्थिर ,,	१११५८७॥-)॥	,, इन्द्रप्रस्थ मकानात	७७१५३।-)॥
,, आयुर्वेद	२०८३४= ।	,, मायापुर भूमि	१२७४९॥=)॥
,, उपाध्याय वृत्ति	१२३०७६॥-)१	,, अमरोहा भूमि	१६००)
,, स्थिर कोष	८०७१=)	,, धर्मशाला कोठी	१७७०६)॥।
		,, शीशमहल भूमि	३४७३३॥=)
		,, भूमि रेलवे रोड लाहौर	२४४९५)
		ऋण चौ. रामकृष्ण देवबन्धु	६०००)
		,, गुरुकुल कुरुक्षेत्र	२५०१।)
		,, चौ ठाकुरदास धर्मशाला	१०६।)।
		,, डा. मथुरादास मोगा	११४२२-)२
		म० गंगासहाय लुधियाना	२०४३॥)
		गुरुदत्त भवन	२७०००)
		डायमंड फलोर मिल कम्पनी	१००)
		पंजाब कोआप्रोटिव बैंक	५०)
		आर्य्य ट्रेडिंग कम्पनी	२०९)
		प्रामेसरी नोट	१०००)
		ट्रेस्ट आफ इन्डिया	८००)
		पंजाब नैशनल बंक	३८५१०२॥
		गुरुकुल अगाऊ	५९८२७॥=)॥
योग	६८६६०२-)२	योग	६८६६०२-)२

Registered No. L. 1424.　　रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ५　　आश्विन १९८१
अङ्क ६　　अक्तूबर १९२४

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य　　३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा ।

विषय सूची ।

'आर्य्य' के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मासकी १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है। (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभाने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभाकी सूचनायें दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होनेके लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।=)

आर्य्य

भाग ७] लाहौर-आश्विन १९८१ तदनुसार अक्तूबर १९२४ [अंक ५

वेदामृत ।

गोपालन ।

ओ३म् सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु ॥

अथर्व ३ । १४ । २ ॥

गायें न्यायी भूपति पाले ।
पालें गायँ वैश्य धन वाले ॥
ब्राह्मण पुष्टि पायँ गायों से ।
गायें बढ़ें, धान्य धन बरसे ॥

३२५६

चार सोपान ।

(श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार)

पिछली वार हमने लोभ की समस्या का उत्तर दिया था । इस वार ईर्ष्या और प्रतिहिंसा की समस्या का उत्तर देने का यत्न करेंगे । वर्त्तमान युग की धन पूजा से उत्पन्न हुए अनर्थों की कहानी पिछली वार के लेख में समाप्त नहीं हो गई । पिछली वार हमने इस पूजा के कारण उत्पन्न हुए सङ्घर्ष से जनित बेईमानी का वर्णन किया था, इस वार ईर्ष्या का निदर्शन कराएंगे । मनुष्यों में समानता की इच्छा स्वाभाविक है वह ही निमित्त तथा अधिकारि-भेद से स्पृहा, विजिगीषा, और ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है । सात्विक मनुष्यों में वह इतर निरपेक्ष स्पृहा होती है, राजस लोगों में साधनों की पवित्रता की परवाह न करने वाली विजिगीषा तथा तमोगुणी लोगों में अनवरत हृदय-दाहिनी ईर्ष्या । पिता मेले में जाता है वहां खिलौने बिक रहे हैं । वह दो एकसे खिलौने लेता है । क्यों ? यदि एक लेगा तो राम श्याम दोनों लड़ेंगे और रो रोकर सारे मोहल्ले में अपने असन्तोष की घोषणा करेंगे । यहां से उस असन्तोष का आरम्भ होता है जो किसी दिन विशाल रूप धारण करके रक्त महानदी मूल बोलशेविज्म् का रूप धारण करता है । ईर्ष्या एक दुर्गुण है, उस में स्वयं इतना बल नहीं कि वह इतने बड़े जन सङ्घात को किसी भारी अध्यवसाय के लिये कटिबद्ध और उत्तेजित तथा उन्मत्त कर सके । किन्तु जब उसे न्याय तथा सत्य का थोड़ा सा बल मिल जाता है तो वह बम के गोले में बन्द बारूद के समान घोर प्रलय-कारिणी शक्ति धारण कर लेता है ।

इस असन्तोष, इस ईर्ष्या की मीमांसा हमारे आज के लेख का विषय है । संसार में विषमता है । वह कहां तक न्याय्य है और कहां तक नहीं—इसी विषय की आज हमें जांच करनी है । इसीलिये हमने चार सोपानों का उल्लेख किया है । वह चार सोपान इस प्रकार हैंः—

(१) अमङ्गल विषमता ।
(२) अमङ्गल समता ।
(३) मङ्गल विषमता ।
(४) मङ्गल समता ।

इस युग में मुख्यरूपेण अमङ्गल विषमता का राज्य है । अर्थात् यह संसार बहुत अंशों में अभी पहली ही सीढ़ी में पड़ा है । इस समय जिधर देखिये विषमता है—भारत में मिथ्या वर्ण विभाग की विषमता है । एक जाति दूसरी जाति को अपनी सड़कों तक पर चलने देना पसन्द नहीं करती । उसका बस नहीं चलता, नहीं तो यहां तक करने को तय्यार है कि—

तस्य हि शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम् ।
उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥

अर्थात शूद्र यदि वेद मन्त्र सुनले तो उसके कान में सीसा और लाख गरम करके डाल दो, यदि उच्चारण करे तो जिह्वा काट लो और यदि पुस्तक उठाकर चले तो हाथ काट डालो ।

दूसरी ओर रङ्ग निमित्तक विषमता है। स्वातन्त्र्य-प्रियम्मन्य अमेरिका में लिञ्चिङ्ग की जितनी घटनाएं सुनने में आती हैं-जिस प्रकार कुल्क्लैन नामक विशाल संस्था की स्थापना केवल काले आदमियों के न्याय-सिद्ध अधिकारों को कुचलने मात्र के उद्देश्य से स्थापित हुई है, दक्षिण अफ्रिका तथा केनिया में जिस प्रकार दिन दहाड़े कोरा झूठ बोल कर भारत वासियों के अधिकारों को पद-दलित किया जा रहा है, उसे देखकर प्रतीत होता है कि समानता तथा स्वतन्त्रता की पुकार करना केवल गोरे मक्कारों की अखण्ड निर्लज्जता का ही विलास है और कुछ नहीं।

इन दो विषमताओं के साथ तीसरी इससे भी घोर विषमता अब इस युग में ही आविष्कृत और प्रचलित हुई है। यह तीसरी है आर्थिक विषमता। एक ओर वह करोड़पति हैं जो अभ्रंलिह प्रसादों में विलास की मदिरा में झूम रहे हैं, जिन्हें अपने विलास सदन की बगल में निरन्तर स्यन्दमान अश्रुप्रवाह और आर्त्तनाद का किञ्चित् भी ज्ञान नहीं और न ही तनिक पर्वाह है, जो इन ग़रीबों के बालकों की हत्या करके उनकी स्त्रियों के प्राणाधिक प्रिय धन सतीत्व का यथेच्छ निरङ्कुश विध्वंस करके भी फिर पीछे से स्वर्ण-सूत्रमयी रज्जु से सर्वलोक-प्रत्यक्ष न्याय का गलाघोट सकते हैं और मोछों पर ताव देते हुए फिर उन्हीं दुष्कर्म्मों की आवृत्ति में लग जाते हैं। दूसरी ओर वह दरिद्र हैं जिन्हें खाने को अन्न भी नहीं मिलता और जो न्याय को लक्ष्मी का खिलौना, परमेश्वर को धनियों का खानसामा, और धर्म्म को उनकी कचहरियों का झूठा गवाह समझने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते, और जिनके हृदयों में प्रतिहिंसा की घोर ज्वाला दिन रात जला करती है, और जो अपने सामने अपनी गाढ़े पसीने की कमाई का प्रति दिन अपने ही अधिकारों के मर्दन में उपयोग होता पाते हैं।

इस विषमता से छूटने का उद्योग करते हुए ही संसार दूसरे सोपान की ओर जा रहा है। वह दूसरा सोपान है—

अमङ्गल समता।

इस विषमता से छूटने का सरलतम उपाय लोगों के पास हड़ताल है, परन्तु वह कोई स्थायी परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता। कारण स्पष्ट है कि दरिद्र लोग हड़ताल द्वारा वेतन-वृद्धि करवाते हैं, धनी लोग उसकी पूर्ति के लिये मूल्य वृद्धि कर देते हैं। कष्ट वैसे का वैसा ही बना रहता है। यदि सरकार वेतन-वृद्धि करती है तो उसके साथ ही कर में भी वृद्धि होती है। कर-वृद्धि के साथ फिर मूल्य-वृद्धि, और यदि कर भी दरिद्र लोगों पर लगा तो उन्हें दोहरी मार खानी पड़ी।

इस प्रकार इस उपाय से तङ्ग आकर वह विध्वंसवाद की शरण लेते हैं। कोई मकान जलाता है, कोई धनियों को गोली से मारता है, कोई बम प्रयोग करता है, इस प्रकार अपना दुःख तो दूर नहीं होता, हां! अपने समान दो चार दुःखी और हो जाते हैं। इससे भी तङ्ग

आकर विचारशील लोग अमङ्गल समता की ओर झुकते हैं। तब इस प्रकार के उपाय उपस्थित होते हैं।

भूमण्डल की सारी भूमि समान भागों में बांट दी जाय—प्रत्येक मनुष्य अपनी जोते अपनी खाय।

यह उपाय देखने में तो बड़ा ठीक प्रतीत होता है, परन्तु कुछ गम्भीर दृष्टि से देखने में इस पर भी हंसी आती है। प्रथम तो यह कार्य्य है ही असम्भवकल्प, फिर सब भूमि एक सी न होने से मूल से ही विषमता आरम्भ हो जायगी। तीसरे, यह समता कृत्रिम होने के कारण चिरस्थायी न रह सकेगी। कारण, भूमि के समान मनुष्यों में भी स्वाभाविक विषमता है। यदि सब मनुष्यों को एक नियत ऊंचाई पर ले आवें—छोटों की टांग में लकड़ी बांधदें और नियत ऊंचाई से अधिक ऊंचों की टांगे कुछ काटदी जावें; इसी प्रकार नियत मोटाई से कम मोटे कपड़े पहिनाकर मोटे कर दिये जावें, और अधिक मोटे कुछ कुछ छील दिये जावें, अथवा सब को समान बनाने के लिये आबाल वृद्ध सब को समान कुर्ता धोती पगड़ी आदि पहिना दिये जावें, तो संसार की जो उपहसनीय अवस्था होगी वही इस व्यवस्था का परिणाम होगा। प्रथम तो इसमें भी विषमता होगी, क्योंकि कुछ बनावटी कदके होंगे और कुछ स्वाभाविक, फिर बनावटी कद वालों को चलने में कठिनता होगी और स्वाभाविक कद वालोंको शरण लेनी पड़ेगी। इस प्रकार आश्रिताश्रयी होने के कारण स्वाभाविक विषमता का प्रकाश हो ही जायगा।

कारण तो स्पष्ट है। विषम में विषम जोड़ने से समता आती है, न कि विषम में सम जोड़ने से।

आप देखते हैं ५. ३. २. ४. १. ७. को ८ बनाने के लिये क्रमशः ३.५. ६.४. ७.१. जोड़ने पड़े किन्तु यदि सब में एक ही संख्या जोड़ते तो विषम ही रहते।

एक स्पष्ट उदाहरण लीजिये। कल्पना कर लीजिये कि एक ग्राम की भूमि भी लगभग समान है। आपने वह ५० आदमियों को समान भागों में बांट दी। अब उन में एक का कण्ठ स्वर अच्छा है, उसने गाना आरम्भ किया, वह सब को अच्छा लगा। लोगों ने उसको गाना सुनाने को कहा, तो उसने कार्य्य व्यग्रता की आपत्ति उठाई। लोगों ने उसका थोड़ा थोड़ा कार्य्य बांट लिया। उसने गाना सुनाना आरम्भ किया और विषमता की सृष्टि होगई। अब ज्यों ज्यों उसकी गाने सुनाने में योग्यता तथा लोगों की उत्सुकता बढ़ेगी, त्यों त्यों विषमता बढ़ती जायगी। इसी प्रकार एक मनुष्य में विभावना शक्ति (Power of observation) औरों की अपेक्षा अधिक है। उसने कुछ बूटियों और कुछ रोगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

अब फिर वही घटना घटेगी। फिर वही गानार्थियों के समान भैषज्यार्थियों की भीड़, वही समय की शिकायत, वही कार्य्य-विभाग और वही योग्यता-वृद्धि और वही वैषम्य-वृद्धि। इस प्रकार ग्राम में सङ्गीताचार्य्य तथा प्राणाचार्य्य की सृष्टि होगई। धीरे धीरे और भी इसी प्रकार होजावेंगे। इसलिये यह उपाय भी व्यर्थ है।

अब एक और कृत्रिम समानता का उपाय है। वह यह कि ममता का नाश होना चाहिये। भूमि, बालक, स्त्री, बन्धु, किसी में ममता न रहे, सब के सब सार्वजनिक सम्पत्ति हों। किसान खेती जोतें। जो प्राप्त हो सब बांट खावें। इस में भी निम्न लिखित दोष उत्पन्न होंगे:—

(१) उत्तरदायित्व का अभाव।

(२) कार्य्य-क्षमता का अभाव।

(३) शूद्र-पूजा अर्थात् शारीरिक-श्रम-पूजा तथा वैज्ञानिक उन्नति का नाश।

ममता के नाश के साथ इसमें सन्देह नहीं कि अनेक युद्धों की भी समाप्ति हो जायगी, किन्तु साथ ही उस से अधिक सद्गुणों की भी समाप्ति हो जायगी। सार्व्वजनिक प्रेम के साथ परिवार का प्रेम मनुष्य के हृदय में सदा प्रेम की धारा प्रवाहित रखता है। सच पूछो तो परिवार-प्रेम के दृढ़ तने पर ही देशप्रेम तथा विश्वप्रेम पुष्पित पल्लवित तथा विकसित होता है। इस ममता का नाश क्यों करते हैं? इस भय से कि ममता के कारण स्वार्थान्ध होकर मनुष्य घोर अत्याचारों पर उतारू होजाते हैं। पारिवारिक ममता का नाश करके हमने सार्व्वजनिक ममता उत्पन्न की। जो पारिवारिक ममता में स्वार्थ-वश हो सकते हैं, वह जनता के प्रति जहां प्रेम की स्वाभाविक प्रगाढ़ता भी नहीं कैसे निस्स्वार्थ प्रेम का प्रकाश कर सकेंगे, यह समझ में नहीं आता। परिणाम होगा प्रमाद। आज जब एक मनुष्य अपने बच्चों को अपना समझता है, तो वह सन्तान के पालन के लिये यत्न, तथा अनुचित कृति को रोकने के लिये संयम अथवा अन्य उपाय करता है। किन्तु जब मनुष्य केवल सन्तान उत्पन्न करेंगे और पालन समाज करेगा तो उत्तर दायित्व न रहने से यथेच्छ निकम्मी सन्तान की वृद्धि होगी।

इसी प्रकार अपनी भूमि जान कर एक मनुष्य जो यत्न उस भूमि पर करता है, वह जनता की भूमि पर कभी न करेगा। इससे कार्य्य-क्षमता अत्यन्त घट जायगी।

साथ ही, इस व्यवस्था में केवल शारीरिक श्रम की अर्थात् शूद्र की पूजा होगी। परिणाम यह होगा कि वैज्ञानिक उन्नति का अभाव होजायगा। सङ्गीत, साहित्य, तर्क शास्त्र का गुण-ग्राहक कौन बनेगा। सौभाग्य से बोलशेविक लोगों में भी इस व्यवस्था का अक्षरशः पालन नहीं हुआ।

अच्छा! जो हो, इस व्यवस्था में कितने भी दोष हों, किन्तु सञ्चय का नाश होने के कारण मेहनत करने पर भी भूखे मरना तो हट जायगा। विष्णु दिगम्बर जी की भैरवी न सही, परन्तु श्रम करने के पीछे अन्न से सुसन्तुष्ट किसान का अल्हड़ गीत तो सुनना

मिलेगा। वह भी कुछ कम मीठा न होगा। देश में अन्न पड़ा सड़ रहा है, पर प्रजा भूखी मर रही है, वस्त्र पड़े हैं पर लोग नंगे जाड़े में ठिठुर कर प्राण दे रहे हैं यह घोर, यह असह्यतम, दुरवस्था तो दूर होगी।

अब प्रश्न एक है। क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती कि ममता का नाश भी न हो और उससे उपद्रव भी नहों।

ऋषि दयानन्द का उपहास करने वालो! देखो, तुम दुष्ट से दुष्ट पुत्र को पिता के अधिकार दिलाना चाहते हो,परिणाम क्या होता हैं,परिणाम बोलशेविज्म्। वह पुत्र-प्रेम ही उड़ाना चाहता है। क्रिया से प्रतिक्रिया अवश्य होती है। क्या कोई मध्यम मार्ग नहीं है ? अवश्य है, देखो ऋषि क्या कहते हैं।

प्रश्न – जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रवेश करे, उसके मांबाप की सेवा कौन करेगा ? और वंशच्छेदन भी हो जायगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये ? (उत्तर, न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा। क्योंकि उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे ? इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी। यह गुण कर्म्मों की व्यवस्था कन्याओं की १६वें वर्ष और पुरुषों की २५वें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये।

[सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास ८९ पृष्ठ]

पुत्र को अधिकार दो पर दुष्ट होने पर छीन लो, यह है मध्यम मार्ग। क्या अब भी ऋषि का उपहास करोगे ? यदि करोगे, तो बोलशेविज्म् के लिये तय्यार होजाओ।

तीसरा सोपान

मङ्गल विषमता।

सच तो यों है कि विषमता एक सत्य है। उसे स्वीकार करना ही होगा। हां उसकी अमङ्गलता दूर की जा सकती है। कैसे ? बनावटी विषमता दूर करके स्वाभाविक योग्यता की विषमता का आश्रय लेकर। इसी को आगे स्पष्ट करते हैं। विषमता अखरती क्यों है ?

(१) आवश्यक आलम्बन पदार्थों के भी प्राप्त न होने पर।

(२) स्वाभाविक तृष्णा, ईर्ष्यादि निमित्तक असन्तोष के कारण।

पहिला असन्तोष न्याय पर अवलम्बित है, इस लिये उस की मांग पूर्ण करनी होगी।

दूसरा, धर्मोपदेश तथा धर्मोपदेष्टाओं के आचरण अथवा यथा समय दण्ड से दूर हो सकता है। तात्पर्य्य यह कि किसी भी व्यवस्था को सफलता तब प्राप्त हो सकती है जब आलम्बन पदार्थ सब को प्राप्त हों।

दोषजन्य असन्तोष उपदेश तथा दण्ड से दूर किया जाय।

इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम आलम्बन-पदार्थों का उल्लेख करते हैं। आलम्बन पदार्थ चार हैं :—

(१) धर्म्मोपदेश।

(२) भोजन।

(३) रोग प्रतीकार।

(४) परिच्छादन (वस्त्र तथा घर)

यदि हर एक मनुष्य को यह चार पदार्थ प्राप्त हों, तथा अन्य अनुबन्ध पदार्थों को वह अन्याय पूर्वक प्राप्त करने की इच्छा छोड़ दे,तो संसार में शान्ति निवास कर सकती है।

चार आलम्बन पदार्थों के सब को प्राप्त न होने का कारण क्या है? सञ्चय। इसी लिये चरक मुनि ने इस की इतनी निन्दा की है।

सञ्चय का मूल क्या है? वर्त्तमान युग की यन्त्रप्रधान सभ्यता। वर्त्तमानयुग ग्राम और जङ्गलों को उजाड़ कर महा नगरों को बसा रहा है। महनगरों के मूल हैं महायन्त्र।

इसी लिये प्रायश्चित्ताध्याय में मनुमहाराज लिख गए हैं —

सर्व्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्र प्रवर्त्तनम्।

महायन्त्रों के बनाने में मनु महाराज ने वही पातक बताया है जो घर की स्त्रियों को बाज़ार में बैठा कर व्यभिचार कराने में। यह क्यों?

एक नगर का उजड़ कर नगर बसने के इतिहास को देख लीजिये। राजिलक एक जुलाहा है, उसके घर में दो गैय्या भी बंधी हैं और ग्राम की खुली हवा और दिन भर के श्रम के कारण वह रोगी नहीं होने पाता। कपड़े सब गांव भर को पहिनाता है। यदि दुर्दैव वश वह कभी रोगी हो भी जाता है तो गांव के पण्डित जी जो उसे शिक्षा और मानसिक दुःख में उपदेश देते हैं, शारीरिक दुःख में भी उस के सहायक होते हैं। यही हाल सब गांवों का है।

अब देश में एक कपड़े की मिल ने प्रवेश किया, लाखों गज़ कपड़ा प्रतिमास तय्यार होने लगा, गांव के जुलाहे भूखे मरने लगे। उन्हों ने पवनाकृष्ट पक्षी की तरह इस अजगर के मुख में प्रवेश किया। अब उसी राजिलकी अवस्था देखिये। जब गांव में आप उस के घर गए थे तो अतिथि धर्म का पालन करते हुए स्वच्छ ताज़े हंडिया के कढ़े दूध का कटोरा लेकर उस की पत्नी ने आप का स्वागत किया था। आज वह कारख़ानों से दिन भर का थका मांदा निकला है, यन्त्रशाला के धूएं के मारे उसकी सूरत भी नहीं पहिचानी जाती, न वह चाहता है कि आप उसे पहिचानें। थका मांदा कहां जाय? इस महानगरी में जब सञ्चय के कारण भूमि इतनी मँहगी है कि बड़ा वेतन पाने पर भी वह कठिनता से एक सड़ी कोठड़ी किराये पर ले सका है। इसमें वह कहां स्वयं रहे,कहां पत्नी तथा बच्चों को रक्खे, और कहां गैय्या बांधे? पांचवीं मंज़िल पर? यहां उसका कोई नहीं,न बच्चे न पत्नी न भगिनी न माता न गैय्या। अब वह कहां जाय? शरीर में थकावट, हाथ में पैसे, खोपड़ी में विवेक

और सदुपदेश का अभाव और सामने खुली हुई विचित्राभरणा शराब की दुकान का उन्मुक्त बाहु-निमन्त्रण। सर्व्वनाश में देर ही कितनी है। कितनी ही अबोध ग्राम-बालिका सभ्यता के पुजारियों के पञ्जे में फंस कर यहां दीपशिखा बन कर इन पतङ्गों के भस्म करने की प्रतीक्षा में बैठी इस बात की घोषणा कर रही हैं। 'धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः'। इस पर शासन के नामको कलङ्कित करने वाले भूमण्डल के प्रच्छन्न डाकू शासक वर्ग पद पद पर जितनी मद्यशाला खुलवाने का उद्योग कर रहे हैं, उसका शतांश भी एक टूटी फूटी पाठशाला बनाने में नहीं करते और सर्व्वनाश की इस प्रबल आंधी में बेचारी पाठशाला की डोंगी भी क्या कर सकती है? यदि किसी को नरक में विश्वास न हो तो किसी महानगरी में प्रवेश करके श्रम जीवियों अथवा मध्यम श्रेणी के लोगों के घरों को देखले। इसका नाम है सभ्यता। बोलो निर्धन जन वक्षःस्थल भैरव नाद कारिणी, शत शत निरपराध जनाक्रन्द नन्दिनी, मद्य मण्डप विहारिणी, वञ्चक जन वन्दिता महायन्त्रमाया, विशाल काया पाश्चात्य सभ्यता की जै।

यदि इस नरक से बचना चाहते हो, यदि सर्व्वरोगमूल इस दैत्य सञ्चय का विनाश चाहते हो तो नगरों को उजाड़ो, गांव बसाओ, महायन्त्रों को उखाड़ कर फिर गांव गांव चर्खा चलने दो और फिर जुलाहे की झोंपड़ी आबाद होने दो।

सारा दोष धनपतियों के सिर मढ़ने से भी काम न चलेगा। अपने धन का मद्य पानादि में अपव्यय करने वाले श्रमजीवी भी दोषी हैं, परन्तु साथ ही उन्हें सदुपदेश न पहुंचाने तथा पग पग पर मद्यशाला खोलने के कारण समाज तथा राज्य भी कम दोष का भागी नहीं। सञ्चय का निवारण सञ्चय के मूल महायन्त्रों के उच्छेद से होगा, किन्तु ईर्ष्या, असन्तोष, चोरी आदि दुर्गुणों की व्यवस्था तो ब्राह्मण तथा राजदण्ड ही कर सकते हैं। राजदण्ड को कुछ नहीं कहना क्योंकि वह सर्व्वाङ्ग सुन्दर है। केवल ब्राह्मणों का अधिकार न होने से यथा स्थान नहीं पड़ता और ब्रह्मदण्ड की शक्ति बिना वह है भी निर्जीव। सञ्चय की चिकित्सा है चर्खा तो असन्तोष का उपाय है ब्राह्मण। ऐ धन पूजक संसार! ब्राह्मणों का आदर करना सीख, नहीं तो तेरा उद्धार न होगा। वेद-ध्वनि कानों में पड़ रही है "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत" जब तक त्यागधन तपोनिष्ठ विद्यारसिक ब्राह्मण पदाधिकारियों की गांव गांव पूजा न होगी, जब तक चक्रवर्त्तियों के सिर उनके चरणों में न झुकेंगे, जब तक पेट सिर के स्थान को न छोड़ेगा, इस भूमण्डल में कोई शान्ति न पा सकेगा। ऐ पादाक्रान्त आर्य्य जाति! अपने गौरव को समझ। भूमण्डल रोग-पीड़ित है, उसका परम औषध वेद तेरे पास है, पर हाय! तेरी हत बुद्धि की चिकित्सा कौन करे।

समुद्रपार से यन्त्रमयी सभ्यता अस्त्र शस्त्र से सज्जित होकर भारत में प्रवेश कर रही है। दूसरी ओर रक्त पताका उड़ाता हुआ बोल्शेविज़्म उत्तरीय सीमा पर खड़ा है। पर इस दैत्य का मुक़ाबिला अस्त्र शास्त्रों से न होगा। दो दो दुबले पतले हाथ दो ओर फैले हुए हैं। एक ओर से उन्होंने इस यन्त्रमयी सभ्यता के अजगर का मुंह रोक रक्खा है, दूसरी ओर

रूसके इस विशालकाय दैत्य की छाती रोक रक्खी है। बीच में यह कौन है ? यह है जुलाहा गान्धी। हाय ! भारत ने अभी चर्खे के राजनैतिक तत्त्व को ही नहीं अपनाया ? इस के सार्वभौम तत्त्व को कब और कौन पहिचानेगा ? महात्मन ! तुम आर्य्यसमाज का गौरव नहीं जानते, पर आर्य्यसमाज तुम्हारा गौरव जानता है क्योंकि वह तुम से भी गम्भीर गुरु का शिष्य है। तुमसे अन्याय पाकर भी उसे तुम्हारे साथ न्याय करना आता है। अरे न्याय की पुकार, सत्य की पुकार, तप की पुकार, ब्रह्मचर्य्य की पुकार, ईश्वर भक्ति की पुकार, पाप के साथ अविरत युद्ध की पुकार, यह सब पुकारें कहां से निकलेंगी ? इन सब शब्दों को एक शब्दमें कहना हो तो ब्राह्मणत्व की पुकार कहांसे आएगी ? यह जानना चाहते हो; यहहै दयानन्द की पुकार। चर्खा संसार के सञ्चय दोष को तो हटा देगा पर अन्तःकरणों में जो घोर अन्धकारहै उसे कौन दूर करेगा ? उस पर कठोरतर चोट की आवश्यकता है। अच्छा, तो उसे दूर करेगा आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द। वेद कहता है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्।"

इसका नाम है मङ्गल विषमता। जब तक शक्ति, योग्यता तथा आकांक्षा में विषमता है संसार में विषमता रहेगी। परन्तु सञ्चय के दूर होने से आलम्बन पदार्थ सब को मिलेंगे, ईर्ष्या के पैरों तले से न्याय का आधार निकल जायगा। तथा ब्राह्मण का आदर होने से योग्य की पूजा होने के कारण विषमता किसी को न अखरेगी। परन्तु जब तक धन की पूजा संसार में है तब तक एक ही परिणाम है—घोर युद्ध तथा अशान्ति।

चौथा सोपान।

अब हम थक गए। तीसरा सोपान ही क्रियात्मक जगत् का विश्राम विधान है। अब स्वप्न दीखता है। ब्राह्मणों के संसर्ग से सारे विश्व ने ब्राह्मण रूप धारण कर लिया है। सब ही विद्वान्, सब ही धर्म्मात्मा, सब ही तपोनिष्ठ, सब ही त्यागी और सब ही पर-दुःखकातर हैं। अब न राजाकी आवश्यकता है न वधिक की। सब की शक्ति, योग्यता, आकांक्षा समान हैं। यह स्वप्न कैसा मीठा है ? पर है स्वप्न। वेद कहता है 'समानमस्तु'। कहीं भूल न जाना, यह नहीं कहता 'समानमस्ति'। चलो ! इस स्वप्न का आनन्द लेते ही रहें। यह निद्राभङ्ग न हो।

ठा. नन्द किशोर
हरिद्वार
सदस्य वैदिक यति मण्डल
अध्यक्ष - स्वामी सर्वानन्दजी महाराज
दयानन्दनगर - २६/११/८४

गुरु ग्रन्थ का इतिहास।

[श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज]

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब इस समय सिखों का धर्म पुस्तक है। जिस भांति महम्मदी कुरान को मानते हैं उसी भांति सिख इस पुस्तक को मानते हैं। यदि इस नाम को कुछ छोटा करके कहना हो तो 'गुरु ग्रन्थ' कह कर पुकारते हैं। साधारण लोगों को यह पता नहीं है कि गुरु ग्रन्थ कितने हैं, उनमें भेद किस आधार पर है, इसका संग्रह किस रीति से किया गया है, तथा उसमें जो शब्द हैं वह किस प्रकार लिये गए हैं और किस २ महानुभाव के हैं इत्यादि।

इन्हीं बातों को जिस भांति सिख मानते हैं, उसी भांति, किसी प्रकार की टीका टिप्पणि न करके, लिखना इस लेख का प्रयोजन है। मैं आशा करता हूं कि पाठक इस लेखको इसी दृष्टि से देखने का यत्न करेंगे।

(१) मुख्यतया गुरु ग्रन्थ के दो भेद माने जाते हैं। इन्हें मिठी बीड़ और खारी बीड़ के नाम से पुकारते हैं।

बीड़ के अर्थ सिख परिभाषा में प्रति हैं। जो प्रतिएं पहले लिखी गई थीं, उस समय उन्हें किसी आधार पर यह नाम दिये गए थे। पाठक ध्यान रखें मैं इस लेख में बीड़ शब्द का ही प्रयोग करूंगा।

मिठी बीड़ के भी दो भेद है-१. करतारपुर वाली मिठी बीड़ और २. दमदमे वाली मिठी बीड़।

(२) जिस समय गुरु अर्जुन जी ने निश्चय किया कि गुरु वाणी का संग्रह करके एक पुस्तक बनाया जाय तब उन्होंने एक पुस्तक लिखवाया। जिस भांति महाभारत के लिखवाने वाले व्यास और लिखने वाले गणेश जी थे, इसी भांति इस ग्रंथ के लिखवाने वाले गुरु अर्जुन जी और लिखने वाले भाई गुरुदास जी थे। पुस्तक लिखा जा कर जिल्द बंधवाने के लिये एक सिख को लाहौर भेजा गया। उन्हों ने शीघ्रता से कई लिखने वाले लगा कर एक प्रति और लिखवाई। जब वह पुस्तक की जिल्द बंधवा कर लाहौर से लौटा तो गुरु अर्जुन जी के सामने उसने दोनों पुस्तक रखे। उस समय दो प्रतिएं देखकर गुरु जी ने पहली प्रति को मिट्ठी और दूसरी को खारी नाम दिया। इस दूसरी प्रतिमें शीघ्रता के कारण शब्दों का क्रम वह न रहा जो प्रथम में था, और कुछ शब्द दूसरी में ऐसे भी हैं जो प्रथम में नहीं हैं। यही इस बीड़ और उस बीड़ में भेद हैं। जिल्द बँधवाने वाले का नाम बन्नो था, इस लिये कोई २ इस बीड़ को खारी बीड़ न कह कर बन्नों वाली बीड़ भी कहते हैं। यह बीड़ ज़िला शाहपुर में बन्नों के वंश के पास इस समय भी है, परन्तु इसका प्रचार अधिक नहीं है।

जो मिट्ठी बीड़ प्रथम गुरु अर्जुन जी ने लिखवाई थी वह इस समय करतारपुर जिला जालंधर में है। वह उस समय से सोढियों के पास रही है। जब करतारपुर से गुरु हरगोविंद

जी कीरतपुर को गए उस समय वह ग्रंथ धीरमल के पास रह गया और वकाला में गुरु तेग बहादुर जी के पास आया। उन्होंने धीरमल को फिर दे दिया और उस समय से वह करतारपुर में ही है। प्रथम इसमें गुरु तेग बहादुर जी की वाणी न थी, फिर लिखी गई। इस लिये इस बीड़ को करतारपुर वाली बीड़ भी कहते हैं।

दूसरी मिट्ठी बीड़ दमदमे वाली है। दमदमा पटियाला राज्य में तलवंडी मावा के समीप एक गुरु द्वारा है। वहां गुरु गोविंदसिंह जी लगभग ९ मास ठहरे थे और गुरु ग्रंथ लिखवाया था। इसलिए उस बीड़ को दमदमे वाली बीड़ कहते हैं। इस समय प्रायः इसी बीड़ का प्रचार है। गुरु तेग बहादुर जी रचित शब्द प्रथम इसी बीड़ में लिखे गए थे। यह भी कहा जाता है कि गुरु जी ने पुस्तक लिखवाते समय एक पाठ भेद जान बूझ कर किया था। कोई कहते हैं 'कह कबीर जन भए खलासे' के स्थान में 'कह कबीर जन भए खालसे' किया है। और कोई २ कहते हैं 'तरना बुरना तजयो है कबीरा' के स्थान 'तनना बुनना तजयो है कबीरा' किया है। शेष पाठ में ऐसा कोई भेद नहीं है। परंतु पञ्जाबी भैण (एक पत्रिका है जो फीरोज़पुर से सिख कन्या महाविद्यालय की ओर से निकलती है) ने एक अंक में अनेक पाठ भेद बताए थे। इस समय मैं इस विषय पर कुछ नहीं लिखता कि शब्दों में कहां २ पाठांतर है, यह फिर कभी देखा जायगा। हां, एक बात और स्मरण आगई और वह यह कि करतारपुर वाली बीड़ में 'सो पुरुष' वाली पौड़ियां नहीं हैं और दमदमे वाली बीड़ में हैं, यह विशेष भेद है। इसके अतिरिक्त गुरु ग्रंथ में एक दोहा है जो इसी बीड़ में गुरु गोबिंदसिंह जी का बनाया माना जाता है। यथाः—

"बल होआ बंधन छुटे सब कुछ होत उपाय। सब कुछ तुमरे हाथ में तुमही होहि सहाय॥" करतारपुर वाली और दमदमे वाली मिट्ठी बीड़ में उपरोक्त बातों का परस्पर भेद है। इन दोनों को मिट्ठी बीड़ के नाम से ही पुकारते हैं॥

(३) [संग्रह] जिन पुस्तकों से गुरु ग्रंथ लिखा गया वह मोहनवाली पोथियां और भाई बखते वाला ग्रंथ है॥

मोहन गुरु अमरदास जी का पुत्र था। गुरु अमरदास जी के समय तक जो शब्द उन्होंने संग्रह किये थे वह उन्हीं पोथियों में थे। उनके विषय में ज्ञानी ज्ञानसिंह जी लिखते हैंः—

"उनकी पाठ पढ़ा नहीं जाता, केवल शब्द कंठस्थ होने पर पाठ पढ़ सकते हैं और पाठ भेद तो अत्यंत ही है। वारों में से कोई वार नहीं है और उसमें निम्न लिखित वाणियों की शब्द संख्या इस प्रकार है :—

	ओंकार दखणी (दक्षिणी)	सिद्ध गोष्ट	अनंद
	५४॥	२८॥	१३
गुरु ग्रंथ में ,, ,,	५४॥	,, ,, ७३॥	,, ४० हैं॥

इसके अतिरिक्त उन पोथियों में जहां जपजी का आरंभ है वह पाठ ऐसे हैं:—

"बाबा नानक वेदी पातशाह दीनदुनी दा टिका १ ओं सतगुरु प्रसाद सच नाम करतार निरभउ निराकार अकाल मूरत अजूनी संभउ गुरु पूरे के प्रसाद", किन्तु वर्तमान

ग्रंथ में यह पाठ इस प्रकार है "१ओं सत नाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकाल मूरत अजूनी सै भं गुर प्रसाद"॥

भाई बखता अरोड़ा ग्राम जलालपुर परगणा हसन अबदाल का रहने वाला था। उसने एक ग्रंथ में गुरु नानक से लेकर गुरु रामदास तक के शब्द लिखे और उस पर चारों गुरुओं के हस्ताक्षर थे। वह गुरु अर्जुन जी ने मंगवाया और उसमें से जो शब्द लिखने चाहे वह लिख लिये शेष छोड़ दिये। वह पुस्तक अब रावलपिण्डी में बूटासिंह पनसारी के पास है (बूटासिंह भाई बखता के वंश में हैं)। वह पुस्तक गुरु ग्रंथ का कोष (खजाना) समझना चाहिये। उसे एक मनुष्य कठिनता से उठा सकता है और इस समय उस पर गुरु नानक से लेकर गुरु गोविंदसिंह तक दस गुरुओं के हस्ताक्षर हैं क्योंकि भाई बखता की संतान ने पीछे शेष गुरुओं के भी हस्ताक्षर करवा लिये थे॥

४. गुरुओं के अतिरिक्त भक्तों के शब्द हैं। ये शब्द किस ढंग से प्राप्त किये गए इस विषय में मत भेद है—

(क) भक्त लोग स्वयं गुरु अर्जुन जी के पास आते थे और शब्द लिखवा दिया करते थे। भाई गुरुदास को संदेह हुआ कि गुरु जी शब्द स्वयं कहते हैं और नाम भक्तों का लेते हैं इसलिये गुरु जी ने उसे सर्व भक्तों के दर्शन करवाए, तब उसका संदेह दूर हो गया।

(ख) ज्ञानी ज्ञानसिंह जी कहते हैं कि यदि भक्तों की मुक्ति हो गई तो उनका शरीर असंभव है। यदि मुक्ति नहीं हुई तो कर्मानुसार अन्य योनि को प्राप्त होगए। उस योनि में शरीर सम्भव होने पर भी गुरु जी के पास आकर शब्द लिखवाना युक्ति युक्त नहीं है। अतः गुरु जी ने भक्तों के शब्द और पुस्तकों में से देखकर लिखे हैं।

(ग) पण्डित तारासिंह जी ने भक्तवाणी की टीका लिखी है। वह उसकी भूमिका में लिखते हैं "कई भक्तों के शब्द तो किसी पुस्तक में नहीं हैं और किसी २ के पुस्तकों में है। उदाहरणार्थ भक्त कबीर जी को ले लीजिए। इनकी वाणी पुस्तकों में है, परन्तु जो वाणी कबीर की पुस्तकों में है यदि उसे गुरु ग्रन्थ के साथ मिलाएं तो इतना भेद है कि कोई भी शब्द नहीं मिलता। इसलिये यही मानना उचित है कि गुरु अर्जुन जी ने शब्द स्वयं बनाकर भक्तों के नाम से लिखे हैं और यह शब्द वास्तव में गुरु जी के ही बनाए हुए हैं।

(५) गुरु ग्रन्थ में जिन २ महानुभावों की वाणी है उनके नाम निम्नलिखित हैं—

१ गुरु नानक, २ गुरु अंगद, ३ गुरु अमरदास, ४ गुरु रामदास
५ ,, अर्जुन, ६ ,, तेगबहादुर ७ ,, हरगोविंद, ८ कबीर,
६ फरीद, १० नामदेव, ११ धन्ना, १२ सधना,
१३ सैण, १४ पीपा, १५ रविदास १६ परमानन्द,
१७ मीरांबाई १८ सूरदास १६ वेणी २० तिलोचण,
२१ जयदेव २२ रामानन्द २३ मथुरा २४ जालब
२५ वल २६ हरवंस २७ कल २८ जल

२९	नल,	३०	कलमहार	३१	दल्प	३२ सल्प
३३	जल्प,	३४	भल्प	३५	सिखा	३६ दासर
३७	कीरत,	३८	गिनगपंद	३९	सदरंग (यह१७मद)	४० सत्ता
४१	वलवंड	४२	सुंद्र	४३	जमाल	४४ रतंग
४५	सम्मण	४६	मूसण	४७	ईश्वर	४८ गोरख
४९	भर्तृहरि	५०	गोपीचन्द	५१	आलम	५२ गुरु गोविंदसिंह
५३	बाबा श्रीचन्द ।					

जैसे ऊपर लिखा जाचुका है, गुरु गोविंदसिंह जी का एक श्लोक है और कईयों का कथन है कि सुख मनी की १६ अष्टपदियां तो गुरु अर्जुन जी ने बनाई हैं और "आदि सच जुगादि सच है भी सच नानक होसी भी सच" से लेकर अंत तक ८ अष्टपदिएं बाबा श्रीचन्द (गुरु नानक के ज्येष्ठ पुत्र) ने बनाई थीं। इसलिये मैंने अंत में उनका नाम भी लिख दिया है।

इस लेख में मैंने प्रथम लिखित पांचों बातों का संक्षेप से निरूपण किया है। इन बातोंपर विस्तार से भी लिखा जासकता है, परन्तु इस समय ऐसा करना उचित नहीं समझा गया। यदि किसी समय उचित प्रतीत हुआ तो विस्तार से लिख दिया जायगा। आशा है पाठक इससे लाभ उठाएंगे। इति ॥

गीता में वर्णित सन्यास और कर्म योग ।

(लेखक—श्री० पं० दीननाथ सिद्धान्तालङ्कार स० सम्पादक अर्जुन दैनिक, देहली)

दोनों का अर्थ ।

यूरुप में अरिस्टाटल से लेकर अब तक जिस प्रकार दो पक्ष हैं, उसी प्रकार वैदिक धर्म के भी प्राचीन काल से लेकर अब तक दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं। इन में से एक को सांख्यमार्ग, सांख्यनिष्ठा या केवल सांख्य (ज्ञाननिष्ठा) वा सन्यास भी कहते हैं और दूसरे को कर्मयोग अथवा केवल योग या कर्मनिष्ठा कहते हैं। यहां "सांख्य" और "योग" शब्दों से क्रमशः कापिल सांख्य और पातंजल योग इष्ट नहीं ॥

प्रकरणवश, यहां पर "सन्यास" के सम्बन्ध में भी कुछ कहना अनुचित न होगा क्योंकि आजकल यह शब्द बड़ा सन्दिग्ध हो गया है। इस शब्द से "विवाह न करना" "संसार को छोड़ भगवे कपड़े रङ्ग लेना" वा केवल चौथा आश्रम ग्रहण करना, इतना ही अर्थ विवक्षित नहीं हैं, किन्तु चतुर्थाश्रम में जाकर भी वीरता पूर्वक संसार में धार्मिक उपदेश देते हुए अपना कर्त्तव्य पालन करना इष्ट है। भीष्म पितामह, भगवान् शङ्कराचार्य, महाराष्ट्र के गुरु श्री समर्थरामदास और इस सदी के आचार्य भगवान् दयानन्द इस सिद्धान्त के मुख्य और ज्वलन्त उदाहरण हैं। अब मुख्य प्रश्न यही है कि ज्ञानोत्तर संसार के व्यवहार केवल कर्त्तव्य समझ कर लोककल्याण के लिये किये जावें वा मिथ्या

समझकर एक दम छोड़ दिये जावें ? जो धर्म पूर्वक निष्कामभाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है वही कर्म योगी कहलाता है, फिर चाहे वह ब्याहा हो या क्वारा, भगवे कपड़े पहिने वा सुफेद। हां, यह ठीक है कि ऐसे उत्तम कार्यों के लिए अविवाहित रहना, भगवे कपड़े पहिनना वा वस्ति से बाहर रहना हो कभी २ विशेष सुभीते का हेतु होता है, क्योंकि ऐसा करने से कुटुम्ब के भरण पोषण की झंझट अपने पीछे न रहने के कारण सारा समय और परिश्रम लोकहित के कार्यों में लगा देने में कोई रुकावट नहीं रहती। यदि ऐसे महानुभाव वेष से सन्यासी हों तोभी वे तत्त्वदृष्टि से कर्मयोगी ही हैं। इसके विरुद्ध जो लोग इस संसार के व्यवहारों को निःसार समझ उनका त्याग करके चुपचाप बैठ रहते हैं उन्हीं को सन्यासी कहना चाहिये, चाहे उन्हों ने प्रत्यक्ष में चौथा आश्रम ग्रहण किया हो या नहीं।

स्वतन्त्र मार्ग।

गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मयोग एक पहिली सीढी है और अन्तिम सीढो सन्यास ही है। इस दृष्टि से कर्मयोग का मार्ग स्वतंत्र न रह कर सन्यास मार्ग का एक पूर्वांग ही बन जाता है। पर क्या वस्तुतः उनका यह मत ठीक है ? गीता के दूसरे और तीसरे अध्यायों में जो वर्णन है उससे जान पड़ता है कि दोनों मार्ग स्वतंत्र हैं। उदाहरणार्थ—तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) द्विविध अर्थात् दो प्रकार की निष्ठाएं इस संसार में हैं। यहां पर कर्मयोग का क्या अभिप्राय है ?—हमारे विचार में इसके तीन ही अर्थ हो सकते हैं :—

(क) पहिला यह कि ज्ञान हो या न हो, चातुर्वर्ण के यज्ञ-योग आदि कर्म अथवा श्रुति-स्मृति वर्णित कर्म करनेसे ही मोक्ष मिलता है। परन्तु मीमांसकों का यह पक्ष गीता को मान्य नहीं है।

(ख) दूसरा अर्थ यह, कि चित्तशुद्धि के लिए कर्म करने (कर्मयोग) की आवश्यकता है इस लिए केवल चित्तशुद्धि के निमित्त ही कर्म करना चाहिये। इसके अनुसार, अर्मयोग सन्यासमार्ग का पूर्वाङ्ग हो जाता है परन्तु गीता में वर्णित कर्मयोग ऐसा नहीं है।

(ग) जो जानता है कि मेरे आत्मा का कल्याण किसमें है—वह ज्ञानी पुरुष स्वधर्म प्रतिपादित युद्धादिकर्म मृत्यु पर्यन्त करे या नहीं—यही गीता की मुख्य समस्या है, और इसका उत्तर यही है कि ज्ञानी पुरुष को भी चातुर्वर्ण के सब कर्म निष्काम बुद्धि से करने ही चाहियें (गी० ३। २५)। कर्मयोग का यह तीसरा अर्थ है और इसे ही गीता में प्रतिपादित किया गया है। यह कर्मयोग सन्यास मार्ग का पूर्वाङ्ग कदापि नहीं हो सकता क्योंकि इस मार्ग में कर्म कभी छूट ही नहीं सकते। अब प्रश्न रह जाता है मोक्षप्राप्ति के सम्बन्ध में। इस विषय में भी गीता में स्पष्ट कहा गया है कि सन्यास से जो मोक्ष मिलता है वही इस कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। (गी० ५। ५)। इस लिए गीता के स्वाध्याय से हम इस परिणाम पर पहुंचे विना नहीं रह सकते कि ज्ञानके बाद ये दोनों मार्ग मोक्ष दृष्टिसे स्वतंत्र अर्थात् तुल्य बल के हैं। (गी० ५। २)।

श्रेष्ठ कौन है ?

मोक्ष दृष्टि से अगर दोनों मार्ग समबल के हैं तो कहा जा सकता है कि जो मार्ग हमें पसन्द होगा उसे ही हम स्वीकार करेंगे। फिर अर्जुन को अधिकार है कि वह इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध करे वा लड़ना मरना छोड़ कर सन्यास ग्रहण करले। उसकी यह शङ्का सर्वथा स्वाभाविक थी। जब उसने श्रीकृष्ण से यह पूछा कि—"इन दोनों मार्गों में से जो अधिक प्रशस्त हो वह एक ही निश्चय से मुझे बतलाओ" (गी० ५ । १) जिससे आचरण में कोई गड़बड़ न हो, तो अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में अगले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि "सन्यास और कर्मयोग—दोनों ही मार्ग मोक्षदायक हैं तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते)" (गी० ५ । २)। कर्मयोग की श्रेष्ठता में गीता में एक यही वचन नहीं है अपितु अनेक वचन हैं। जैसे गीता अ० २ श्लोक ५०, अ० २ श्लोक ४७, अ० ३ श्लोक ७, अ० ४ श्लोक १५, अ० ३ श्लोक ४६, अ० ८ श्लोक ७ इत्यादि। इन सबमें "ज्यायः" "अधिकः" और "विशिष्यते" इत्यादि पद स्पष्ट हैं। १८ वें अध्याय के उपसंहार में भी भगवान् ने फिर कहा है कि "नियत कर्मों का सन्यास करना उचित नहीं है, निरासक्त होकर सब काम सदा करना चाहिये, यही मेरा निश्चत और उत्तम मत है" (गी० १८ । ६. ७.)। इन सब प्रमाणों और वचनों से निर्विवाद सिद्ध होता है कि गीता में सन्यास मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता दी गई है।

कर्मयोग की श्रेष्ठता बताते हुए भगवान् ने एक और प्रबल युक्ति तीसरे अध्याय में दी है और वह "लोक संग्रह" की है। "लोकसंग्रह" क्या है और इसका कर्मयोग से क्या सम्बन्ध है—यह एक स्वतंत्र विषय है और अपनी व्याख्या के लिए पर्याप्त स्थान चाहता है। इस विषय को अगले अङ्क पर छोड़ते हुए आज हम इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं॥

प्रकीर्ण-विचार।

आर्यपत्रिका आश्विन १९८१

अर्थ सुधार या अनर्थ संभार ?

(लेखक-श्रीस्वामी वेदानन्द तीर्थ)

ऋषि दयानन्द ने आर्य्य धर्म्म का पुनः संस्कार करते हुए परमात्मभक्ति पर बड़ा बल दिया है। उनके समस्त ग्रन्थ उनकी अगाध प्रभुभक्ति का जाज्वल्यमान प्रमाण हैं। आर्य्य संस्कृति में निःसंशय प्रभुभक्ति का इतना मान होना इस संस्कृति के गौरव का परिचायक है। आर्य्य जहां सन्ध्या करते हैं, वहां कुछ स्तोत्रपाठ भी करते हैं। ऋषि ने जहां आर्य्यों को पौराणिक पद्धति की सन्ध्याविधि छुड़ा वैदिक सन्ध्या का उपदेश किया, वहां साथ ही साथ पौराणिक स्तोत्रों के स्थान में एक वैदिक स्तोत्र बनाया। उसका नाम रक्खा "आर्य्याभिविनय"। भक्त जो कुछ उच्चारण करे, उसका उसे ज्ञान होना आवश्यक है, इस

लिए महाराज ने उन मन्त्रों के अर्थ भी कर दिए। जिन्हें कुछ भी वैदिक भाषा का परिचय है, वे जानते हैं, कि उनके किए अर्थ कितने सुन्दर, कितने गम्भीर हैं। परन्तु किसी संस्कृतानभिज्ञ, वेद भाषा ज्ञान विहीन ने इसे "कई एक विद्वानों की सहायता द्वारा मन्त्रों के अर्थ ठीक कर" छपवाया है। पाठक महानुभाव! नीचे केवल एक उदाहरण दिया जाता है। उसी से आपको पता लग जाएगा कि विद्वानों की सहायता से मन्त्रों का अर्थ ठीक किया गया है या मूर्खों के साहाय्य से अर्थ का अनर्थ किया गया है। "आर्य्याभिविनय" में मन्त्र आया है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

"मन्त्रों के अर्थ ठीक" करने वाले महामना इसका अर्थ ठीक करके यों लिखते हैं—

(अदितिः) परमात्मा (द्यौः) द्युलोक (अदितिः) परमात्मा (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (अदितिः) परमात्मा (माता) पृथिवी (सः, पिता) वही वायु (सः पुत्रः) वही जल (विश्वेदेवाः) तथा वही तेजादि सब प्रकाशमान पदार्थ है (अदितिः, पञ्चजनाः) परमात्मा पांच प्राण (अदितिः जातं) परमात्मा ही सब वर्त्तमान पदार्थ और (अदितिः जनित्वं) उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ भी परमात्मा हैं ॥

पाठक "मन्त्रों के ठीक अर्थ" की अन्तिम पंक्ति को ध्यान से पढ़िए और फिर ऋषिकृत अर्थों से ज़रा इन अर्थों की तुलना कीजिए।

ऋषिकृत अर्थ—

हे त्रिकालाबाध्येश्वर (अदितिर्द्यौः) आप सदैव विनाश रहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप हो (अदितिरन्तरिक्षं) आप अविकृत=विकार रहित और सब के अधिष्ठाता हो (अदितिर्माता) आप मोक्षप्राप्त जीवों को अविनश्वर=विनाश रहित सुखदेने वाले तथा मुक्तों का मान करने वाले हो (सः पिता) सो आप अविनाशि स्वरूप हम सब जीवों के पिता=जनक और पालक हो और (सः पुत्रः) सो ईश्वर! आप मुमुक्षु धर्म्मात्मा विद्वानों को नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण=रक्षण करने वाले हो। (विश्वेदेवाः अदितिः) सब दिव्यगुण=विश्व का रचन, धारण, पालन, मारण आदि कार्य्यों को करने वाले आप अविनाशी परमात्मा ही हैं। (पञ्चजना अदितिः) पांच प्राण जो जगत् के जीवन हेतु वह भी आपके रचे और आप के नाम भी हैं। (जातमदितिः) वही एक चेतन ब्रह्मही सदा प्रादुर्भूत है, अन्य कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत=विनाशभूत भी होजाते हैं (अदितिर्जनित्वम्) वही अविनाशि स्वरूप ईश्वर आप ही सब जगत् के (जनित्वम्) जन्म के हेतु हैं, अन्य कोई नहीं।

दोनों अर्थों की तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषिकृत अर्थ कितने सुन्दर तथा वैदिक आशय के अनुकूल हैं, और "कई एक विद्वानों द्वारा" ठीक किए हुए अर्थ कितने बेठिकाने तथा असमञ्जस हैं। इसे देखकर एक सहृदय महानुभाव ने कहा-कि यह "अर्थ सुधार है या अनर्थ सम्भार!"

आश्चर्य्य तो यह है कि अर्थ ठीक कराने वाले महामना के परलोक गत होने पर उनके अर्थ इस लोक में ही विचर रहे हैं। इसका श्रेय एक लाहौरी सज्जन को है।

यदि आर्य्यविद्वानों की एक सुसङ्गठित परिषद् हो, तो "कई विद्वानों द्वारा अर्थ ठीक" करके छपी हुई पुस्तकों का "अदर्शनं लोपः" हो जाए।

ऋषि की तपस्या।

(लेखक—ब्र० चन्द्रगुप्त गुरुकुल विश्वविद्यालय)

(स्थान-गंगोतरी की हिमाच्छन्न चोटियां। समय-मध्यान्होत्तर। क्षीणकाय गंगा-नदी बड़े वेग से बह रही है। चारों ओर घना कुहर छाया हुवा है। नदी के किनारे एक चट्टान का सहारा लिये हुवे स्वामी दयानन्द खड़े हैं। उनके शरीर पर सिवाय एक लंगोट के और कोई वस्त्र नहीं है। वे एक टक स्थिर दृष्टि से गंगा नदी में बहने वाले बड़े बड़े बरफ़ के टुकड़ों की ओर देख रहे हैं।)

स्वामी दयानन्द—(आप ही आप) यह स्थान कितना पवित्र है! नगरों के विषमय वायु-मण्डल से दूर, उनके अशान्त कोलाहल से परे, ये हिमालय की निर्जन चोटियां कितनी शान्त हैं, पुण्य-सलिला भागीरथी किस प्रकार अठखेलियां खेलती हुई बही चली जा रही है!

(वे चुप होकर कुछ देर तक निश्चेष्ट भाव से देखते रहते हैं, इसके बाद कुछ उद्विग्न से होकर कहने लगते हैं)।

ओफ़, वह दिन मैं अभी तक भुला नहीं सका। मेरी प्यारी बहिन! मेरे पूज्य चचा! मुझे ठीक याद है, हम दोनों मिलकर किसी छोटी सी बात पर खूब हँसे थे। इस के बाद मेरी बहिन ने कहा था—"मूल! मेरे पेट में दर्द उठ रहा है।" मैं पिता जी को इस बात की सूचना देकर अपने एक मित्र के साथ कहीं बाहर चला गया था। एक घण्टे के बाद जब मैं लौट कर आया तो मेरे आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा। मैंने देखा, मेरी बहिन क़य पर क़य कर रही थी। मेरे माता पिता और अन्य सम्बन्धी उसे घेरे हुए बैठे थे। मुझे देखकर बहिन ने बड़े यत्नसे पुकारा-"मूल!" मैंने बड़े दुःख से उत्तर दिया—"लक्ष्मी!" उफ़, क्षण भर बाद क्या हुवा। आसपास के सब लोग धाड़ें मार मार कर रोने लगे! मैं दीवार का सहारा लिये हुए विस्मय और भय के साथ चुपचाप अपनी बहिन के मृत शरीर की ओर देख रहा था। इतने में किसी ने मेरी पीठ पर हाथ रख कर कहा था—"मूल, तुम्हारा हृदय पत्थर का है!" ये वाक्य मुझे तीर के समान चुभे थे। सच कहता हूं, उस

समय मेरे हृदय की अवस्था ऐसी हो रही थी जो मुझे रोने न देती थी। मैं सोच रहा था–इस खाली पिञ्जरे में से कौन सा पक्षी उड़ गया! वह हँसी और चञ्चलता की प्रतिमूर्त्ति पत्थर के समान निश्चेष्ट क्योंकर हो गई!

(इस के बाद वे स्थिर होकर कहने लगे)

उस समस्या ने मेरे हृदय में चिन्ता के समान घर कर लिया है। वह मुझे कहीं भी चैन नहीं लेने देती। वर्षों से इसी चिन्ता का शिकार बन कर मैं इधर उधर भटक रहा हूं। कितना लम्बा चौड़ा मुल्क पार कर आया! हिमाचल के ये हिम-पूर्ण शिखर भी मेरे हृदय के इस 'ताप' को दूर नहीं कर सके। घर से एक समस्या को हल करने के लिये निकला था, यहां अनेक दूसरी समस्याएं मेरे मार्ग में बाधक के रूप में आकर खड़ी हो गई हैं। प्रायः सारे देश में भ्रमण करके जो अनुभव मैंने प्राप्त किये हैं, वे अगर न होते तो अधिक अच्छा था। क्या इस देश में बसने वाले लोग उन्हीं प्रातः स्मरणीय ऋषियों की सन्तान हैं? ओफ़, कितना बड़ा अधःपतन है।

(नदी के दूसरे पार, दूर पर दो शिकारियों का प्रवेश। दोनों के शरीर रीछ की खालों से ढके हैं। हाथों में बड़े बड़े भाले हैं।)

१ शिकारी—इस स्थान की सरदी सही नहीं जाती।

२ शि०—सच है यार, इतनी दूर तक तो हम कभी भी न आए थे। इस रीछ ने बड़ा परेशान किया।

१ शि०—वह पाजी अब भी तो दिखाई नहीं देता। चलो, अब लौट चलें।

२ शि०—नहीं, अभी तो दोपहर ही है, आज इस रीछ को मारे बिना वापिस न लौटूंगा।

१ शि०—तुम भी आफ़त के मारे हो! इस ग़ज़ब के कुहरे में किसे ढूंढ़ोगे और किसे मारोगे?

२ शि०—वह देखो, सामने की बरफ़ीली चोटी धूप पड़ने से कितनी चमक रही है। ऐसा सुन्दर नज़ारा पहले भी कभी देखा था?

(दोनों शिकारी आंखों से ओझल होजाते हैं।)

स्वामी दयानन्द—इस पवित्र स्थान पर भी मानव प्रकृति अपने उपद्रवी स्वभाव का दमन नहीं कर सकती! जाने दो। मेरी प्यारी आर्य्य जाति! मेरा अभागा देश! आज तुम्हारा वह प्राचीन गौरव कहां गया? इतनी मूर्खता! इतना अन्धविश्वास! घर से निकला था शान्ति प्राप्त करने के लिये, अब इच्छा होती है कि फिर उसी कोलाहल में कूद पड़ूं। मैं अकेला सारे संसार से लड़ूंगा। क्या उस गरिमापूर्ण प्राचीन आर्य्य सभ्यता को पुनरुज्जीवित कर सकूंगा? न होगा, अपने जीवन की तुच्छ बलि तो अवश्य भेंट कर सकूंगा।

(दोनों शिकारी फिर वापिस आते हैं)

१ शि०—मैंने तो तुम्हें पहले ही कहा था कि वह रीछ हाथ न आएगा। तुम माने नहीं।

२ शि०—आज किस बुरी घड़ी में घर से चले थे। इतनी दूर निकल आए फिर भी कोई शिकार हाथ नहीं लगा।

१ शि०—आज की थकान के कारण अब तीन दिन तक तो घर से निकलना भी कठिन होगा।

२ शि०—इस सफेद रीछ को कभी न कभी अवश्य मारकर छोड़ूंगा। यह बड़ा कीमती है।

१ शि०—यार, गज़ब की सरदी है। थोड़ी शराब तो दो।

२ शि०—(अपनी आस्तीन टटोलकर) ओफ़! शराब की कुप्पी कहीं गिर गई!

१ शि०—बुरी आफ़त में फँसे!

२ शि०—घबराओ नहीं, सूर्य्य डूबने से पहले ही घर पहुंच जाएंगे।

१ शि०—कुहुर कितना घना होता चला जा रहा है।

२ शि०—यार, वह रीछ कमाल का था।

१ शि०—तुम फिर वही रोना रोने लगे। (स्वामी दयानन्द की ओर देखकर) अरे, वह कौन है।

२ शि०—(बिना देखे) कहां? मुझे तो कोई दिखाई नहीं देता।

१ शि०—वह देखो, नदी के दूसरे पार।

२ शि०—कोई पेड़ का तना वना होगा।

१ शि०—इस बरफ के पहाड़ पर पेड़ कहां से आए?

२ शि०—तो कोई चट्टान ही होगी। तुम हरएक चीज को देखकर चौंक क्यों उठते हो?

१ शि०—कहीं चट्टान के भी हाथ पैर देखे हैं।

२ शि०—(आंख उठा कर) हां भाई, मालूम तो आदमी ही होता है। मगर यह तो बिलकुल नंगा है।

१ शि०—किसी मनुष्य की लाश होगी। कोई मनुष्य इस अवस्था में यहां जीवित नहीं रह सकता।

२ शि०—चलो, चलकर देखें। क्या मामला है।

१ शि०—ना भाई, मुझे भय मालूम होता है।

(इतने में एक लोमड़ी दिखाई देती है। दोनों शिकारी उसके पीछे भागते हैं।)

स्वामी दयानन्द—चलूं, फिर उसी अविराम कोलाहल की ओर लौट चलूं। अकेला हूं, तो क्या हुवा? वे मेरी सहायता करेंगे। सायंकाल होने में बहुत देर नहीं रही, अब लौट चलूं! (इधर उधर मार्ग ढूंढ़ने लगते हैं, परन्तु अपने यत्न में असफल रहते हैं। इसके बाद वे फिर गंगा के किनारे आकर कहने लगते हैं) इस घने कुहुर में मार्ग प्राप्त होना असम्भव सा है। नदी के दूसरे पार पहुंच कर शायद मार्ग प्राप्त कर सकूंगा। उधर ही वे दोनों शिकारी मुझे दिखाई दिये थे। परन्तु क्या इस हिम-पूर्ण गंगा नदी को

पार कर सकूंगा ? (वे ओम् का उच्चारण करके नदी में उतर आते हैं। गंगा में बहने वाले बरफ़ के तेज नोकीले टुकड़ों के कारण उनकी टांगों से खून निकलने लगता है। गंगा के हिममिश्रित शीतल जल में उनके पैर भी लड़खड़ाने लगते हैं) ओफ़, कितना शीतल जल है ! (इसके बाद उनका स्वर धीमा पड़ जाता है) चारों ओर घना अन्धकार है, निराशा का राज्य है। मै क्षुद्र-शक्ति अकेला मनुष्य क्या कर सकूंगा। आहा ! मन्दाकिनी की यह क्षीण धारा कितनी पवित्र है। मैं अपने को इसके साथ एक क्यों न करदूं। (वे गिरने लगते हैं परन्तु दूसरे क्षण ही आवेश में आकर बोल उठते है।) दयानन्द ! क्या करने लगे हो ? इस शरीर पर तुम्हारा क्या अधिकार है ? कायर मत बनो ! (वे शीघ्रता से दूसरे पार जा पहुंचते हैं। वहां पहुंच कर वे एक वार फिर उच्चारण करते हैं 'ओ३म्')

(दोनों शिकारी ख़ाली हाथ वापिस आते हैं)

१ शि०—इस नाचीज़ लोमड़ी को भी मार नहीं सके।

२ शि०—आज किस्मत ही खोटी है।

१ शि०—(स्वामी दयानन्द की ओर देखकर) अरे भाई भागो !

२ शि०—क्यों कुछ बताओ भी सही।

१ शि०—वह देखो ! (स्वामी दयानन्द की ओर निर्देश करते हुए) अभी वह उस पार था और अब इस पार आगया। इस नदी को तो देवता भी पार नहीं कर सकते !

२ शि०—हां भाई ! बात तो आश्चर्य की है। चलो इनके पास चलें। कोई सिद्ध महात्मा मालूम होते हैं।

१ शि०—ना भाई, यहां से भागने में ही खैर है।

२ शि०—डरने की क्या बात है ?

(दोनों शिकारी स्वामी दयानन्द के पास पहुंच कर उन को झुक कर प्रणाम करते हैं।)

स्वामी दयानन्द—क्यों भाई ! तुम लोग कहां रहते हो ?

२ शि०—महाराज,इस पहाड़ की तराई में एक गांव है,वहीं हमारा निवास-स्थान है

स्वामी दयानन्द—तुम दोनों भाई हो ?

२ शि०—नहीं महाराज, यह मेरा दूर का रिश्तेदार है। हम दोनों एक ही घरमें रहते हैं

१ शि०—(अभी तक विस्मय से स्वामी दयानन्द की ओर देख रहा था) महाराज ! मेरी कोई सन्तान नहीं होती। कृपा करके आशीर्वाद कीजिये। जन्म भर आप के गुण गाता रहूंगा।

स्वामीदया०—(मुस्करा कर) भाई! सन्तान नियम पूर्वक आचरण करने से और परमपिता परमात्मा की दया से प्राप्त होती है, किसी के आशीर्वाद से नहीं।

दोनों शि०—ठीक है, महाराज!

स्वामीदया०—भाई, मुझे किसी गांव का मार्ग बता सकते हो?

२ शि०—महात्मा आज हमारे गांव को ही पवित्र कीजिये।

स्वामी दया०—चलो चलें। सूर्य डूबने में बहुत देर नहीं रही।

(सब लोग जाते हैं)

एक चीनी आर्य्य से वार्त्तालाप।

(पं० विष्णुदत्तजी वकील फीरोज़पुर)

मैं डलहौज़ी आर्य्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर आया था। वार्षिकोत्सव की समाप्ति पर लाहौल और चम्बा आर्य्य समाजों के वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित होने के पश्चात् विश्रामार्थ डलहौज़ी में कुछ दिन ठहर गया। यह पता लगनेपर आश्चर्य्य हुआ कि डलहौज़ी में एक चीनी आर्य्य निवास करते हैं जो प्रति दिन प्रातःकाल डलहौज़ी से ३ मील के अन्तर पर बहने वाले पञ्च पुले नाले पर स्नान करने के पश्चात् संध्या किया करते हैं। ११-६-२४ को जब मैं स्वयं पञ्च पुले नाले पर स्नान सन्ध्यादि के लिये गया तो इन चीनी महाशय को स्नान करते हुए देखा। इन को यज्ञोपवीत धारण किए हुए देख कर मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ। कौतूहल वश उसी दिन १२ बजे महाशय हीरालाल सेठ स्थानीय आर्य्य समाज के प्रसिद्ध कार्य्यकर्त्ता के द्वारा उक्त महाशय के दर्शन करने और उन से वार्त्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पाठक गण के मनोरञ्जनार्थ वह वार्त्तालाप नीचे प्रकाशित किया जाता है। इस से यह सिद्ध है कि इस श्रद्धालु चीनी के वैदिक धर्म्म को ग्रहण करने से चीन में वैदिक धर्म्म के प्रचार की बहुत सी आशाएं हैं:—

चीनी महाशय—नमस्ते महाराज!

मैं—नमस्ते महाराज! आप के दर्शन कर के बड़ा ही आनन्द हुआ।

चीनी महाशय—आप की कृपा है।

मैं—आप का नाम क्या है?

चीनी महाशय—मेरा नाम ऐशशन है।

मैं—आप कहां के रहने वाले हैं और भारत में कब से रहते हैं?

चीनी महाशय—मैं कांटन का रहने वाला हूं। १६०७ से भारत में हूं। कांटन चीन का एक प्रसिद्ध नगर है।

मैं—क्या आप अंगरेज़ी जानते हैं?

चीनी महाशय—मैं अंगरेज़ी किञ्चिन्मात्र भी नहीं जानता?

मैं—क्या आप आर्य्य भाषा [हिन्दी] जानते हैं।

चीनी महाशय—मैं आर्य्य भाषा [हिन्दी] भली प्रकार तो नहीं जानता परन्तु टूटी फूटी बोल लेता हूं और चीनी उच्चारण होने के कारण आप भी प्रायः मेरे तात्पर्य्य को भली प्रकार न समझ सकते होंगे।

मैं—आप इस बात की तनिक चिन्ता न करें। मैं आप के भाव को भली प्रकार समझता हूं। क्या आप आर्य्य हैं? आप आर्य्य समाज में कब और किस प्रकार प्रविष्ट हुए?

चीनी महाशय—मैं बूट बनाने का कार्य्य करता हूं, पहले मरी में यही काम किया करता था। वहां मेरी मित्रता महाशय कृपाराम मालिक दुकान कृपाराम बिरादरज़ से और महाशय मुरारीलालजी से हुई और उन के द्वारा मैं आर्य्यसमाज में दीक्षित हुआ।

मैं—चीनी तो लम्बी चोटी और अंगरेज़ी ढंग की टोपी रखते हैं परन्तु आप ने तो अपना चीनी रंग ढंग बदल दिया है।

चीनी महाशय—लम्बी चोटी चीन में भी अब छोड़ते जाते हैं। परन्तु जैसे आप देख रहे हैं मैंने भारतीय पगड़ी और भारतीय ही वेष धारण कर लिये हैं।

मैं—क्या आप सन्ध्या प्रति दिवस करते हैं और जानते हैं?

चीनी महाशय—हां! मैं सन्ध्या जानता हूं और प्रतिदिवस करता भी हूं।

मैं—क्या आप मुझे सन्ध्या के मन्त्र सुनाएंगे। मुझे आप के मुख से सन्ध्या मन्त्रों का उच्चारण सुन कर बड़ा आनन्द होगा।

चीनी महाशय—मेरा उच्चारण चीनी होने के कारण स्पष्ट नहीं है?

मैं—इस की कोई चिन्ता नहीं है?

चीनी महाशय—ओ३म् शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवंतु नः। ओ३म् वाक् वाक्............।

मैं—इतना ही पर्य्याप्त है। आप का यह बड़ा साहस है। आप की श्रद्धा और प्रेम देख कर बड़ा आनन्द हुआ।

चीनी महाशय—आप की कृपा है।

मैं—आप आर्य्य समाज के नियम पूर्वक सभासद बनें, आर्य्य भाषा पढ़ें, वैदिक धर्म्म की विशेष शिक्षा उपलब्ध करें। स्थानीय आर्य्य समाज के कार्य्यकर्त्ता महाशय हीरालाल सेठ आदि आप को इस कार्य्य में प्रसन्नता पूर्वक सहायता देंगे।

चीनी महाशय—बहुत अच्छा महाराज! मैं यहां आर्य्य समाज में व्याख्यान सुनने जाता हूं और उन्हें समझता हूं। डलहौज़ी में अपने चचा वोग फ़ोंक़शून की दूकान पर बूट बनाने का काम करता हूं। गर्मी में यहां रहता हूं और सर्दी में लाहौर में इनकी दूकान पर ही काम करता हूं। लाहौर में रहता हुआ आर्य्य समाज के अधिवेशनों और व्याख्यानों में सम्मिलित होता हूं। पिछली मई से मैं यहां आया हूं और अब शीघ्र लाहौर जाने वाला हूं। वहां हमारी दूकान अलाइंस बैंक के निकट है।

मैं—अब लाहौर कभी अवसर मिलने पर आप के दर्शन करूंगा। आप यह बतलाएं कि क्या चीन में वैदिक धर्म्म का प्रचार हो सक्ता है?

चीनी महाशय—क्यों नहीं?

मैं—आप चीनी भाषा भली प्रकार जानते होंगे। क्या चीन में यन्त्रालय हैं और वहां पुस्तकें और समाचार पत्र भारत और अन्य देशों की भांति छपते हैं?

चीनी महाशय—हां।

मैं—चीन में कौन २ से सम्प्रदाय और मतमतांतर हैं?

चीनी महाशय—मुसल्मान वहां नहीं हैं। ईसाई मत की प्रबलता भी नहीं है। प्रायः लोग बौद्ध हैं और वहां उनकी मूर्त्तियां और मन्दिर हैं।

मैं—क्या चीन में चूहा बिल्ली आदि सब प्रकार का मांस भक्षण कर लेते हैं?

चीनी महाशय—यह दशा केवल ग्रामीण और नीच लोगों की है। मांस तो लोग खाते हैं परन्तु ऐसी बुरी दशा नहीं है। परञ्च पक्के बौद्ध महात्मा बुद्ध के आदेशानुसार मांस भक्षण को सर्वथा त्याग भी देते हैं।

मैं—क्या आप मांस भक्षण करते हैं?

चीनी महाशय—मैंने पिछली मई से मांस भक्षण सर्वथा त्याग दिया है।

मैं—आप की आयु क्या है?

चीनी महाशय—४९ वर्ष।

मैं—आप की शारीरिक अवस्था अच्छी है। शकल से आप की इतनी आयु नहीं मालूम देती। आप स्वयं शिक्षा पाकर चीनमें वैदिक धर्म्म का प्रचार करें। आपके पारिवारिक जन कितने हैं?

चीनी महाशय—यदि अवसर मिले तो शिक्षा पाकर मैं वैदिक धर्म्म का प्रचार चीन में करने के लिये उद्यत हूं। मैं अकेला ही हूं। मेरा कोई परिवार नहीं है।

मैं—आप को मिल कर बड़ा आनन्द हुआ। मैंने आपको इतना कष्ट दिया, क्षमा करें।

चीनी महाशय—आप ऐसा न कहें। मुझे स्वयं बड़ा आनन्द हुआ और यह तो आप की कृपा है। नमस्ते महाराज!

मैं—नमस्ते महाराज!

———

वेद में अग्नि आदि ऋषियों के नाम ।

शङ्का समाधान ।

(लेखक—श्रीयुत विश्वनाथ आर्य उपदेशक) ।

भाद्रपद १९८१ के 'आर्य' में श्री स्वामी वेदानन्दजी ने मेरे लेख में दिये यस्मिन्नश्वास० मन्त्र के अर्थ पर कुछ शङ्कायें की हैं। पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा ही किसी सिद्धान्त का ठीक २ निश्चय हो सकता है। स्वामीजो आर्य समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में से हैं। आप को आर्य समाज से गाढ़ा प्रेम है, अतएव आप का जीवन आर्य समाज के अर्पण है। इस कारण आप के लेख तो अत्यन्त लाभकारी हो सकते हैं।

प्रश्नों का उत्तर ।

(१) श्री स्वामीजी का प्रथम प्रश्न यह है कि वेद में अग्नि आदि ऋषियों के नाम आजाने से उन के पश्चाद्भावी किसी विद्वान् द्वारा वेद सम्पादन की सिद्धि होजावेगी ?

उत्तर—यह तब हो सकता है जब कि अग्नि आदि से केवल इस सृष्टि में उत्पन्न होने वाले ऋषि अभीष्ट हों। परन्तु मैंने अपने लेख में मन्त्र के इस भाव को स्पष्ट कर दिया है कि सभी सृष्टियों और सभी ब्रह्माण्डों में वेद चार ऋषियों पर प्रकट होते हैं जिन का नाम वेद ने अग्नि आदि रख दिया। यहां किसी व्यक्ति विशेष का उल्लेख नहीं। अतएव स्वामीजी का दोष उत्पन्न नहीं हो सकता।

(२) प्र० जाति का क्या लक्षण है ?

उत्तर—न जाने स्वामीजो को इस से क्या अभिप्रेत है ? जाति शब्द के अनेक अर्थ हैं। परन्तु मुझे तो यहां अनेकाश्रित एक धर्म अभीष्ट है। अतएव जाति वाचक शब्द का अर्थ है सामान्य संज्ञाक शब्द (Common noun)। मनुष्यत्व की अपेक्षा यज्ञदत्त यद्यपि व्यक्तिवाचक है परन्तु जहां यह अनेकाश्रित होगा वहां जाति-वाचक हो जायगा। अतएव अभीष्ट यज्ञदत्त के साथ किसी विशेष पद के लगाने की आवश्यकता होगी। यथा चन्द्रगुप्त प्रथम, जार्ज पञ्चम। और वेद में तो ऐसे सभी शब्द सामान्य संज्ञाक ही होते हैं। यथा मीमांसा दर्शन में कहा है :—

श्रुति सामान्य मात्रम्। मी० १-१-३१

(३) प्र० अग्नि देवता वाला होने से इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन होना चाहिये चाहे अग्नि वाच्य ईश्वरादि कुछ ही हो।

उत्तर—इस मन्त्र में ज्ञान स्वरूप अग्नि परमात्मा का ही वर्णन है क्योंकि वही अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वेद मति को प्रकाश करता है। देखिये। "तस्माद्यज्ञात्" यजुर्वेद ३१-७ इस में भी वेदोत्पत्ति का उल्लेख है परन्तु इस का देवता स्रष्टेश्वर है। मन्त्रस्थ चारों पद स्वतन्त्र हैं।

(४) इस मन्त्र से यह कैसे सिद्ध होगया कि अग्नि आदि से ऋग्वेदादि की उत्पत्ति हुई ?

उत्तर—आप ने स्वयं कह दिया कि ब्राह्मण ग्रन्थों से । इस के अतिरिक्त तस्मादादि वेद मन्त्रों के मेलन तथा अग्नि आदि पदों से भी यह सिद्ध हो जाता है। देखिये मेरा दूसरा लेख।

(५) प्र०—कीलालपे में छान्दसत्व नहीं है।

उत्तर—मुझे यह भूल स्वीकार है। परन्तु इस से मेरी व्युत्पत्ति पर कोई दोष नहीं आता। अतएव कीलालपा शब्दका अर्थ वायु वैसेही सिद्ध है। और वेदार्थ का यह नियम नहीं है कि ब्राह्मण कृत अर्थ से किसी शब्द का भिन्नार्थ न हो और नाही ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद के समग्र शब्द और उनके समग्र अर्थ उपस्थित हैं।

(६) प्र०—सोम शब्द का अर्थ रश्मि और वेधा का अर्थ आदित्य कहां है ?

उत्तर—पद्मचन्द्र कोष देखने की कृपा करें।

(७) प्र०—"चन्द्र एव अंगिरा" इस वाक्य का अर्थ, चन्द्र अंगिरा का दूसरा नाम है, कदापि नहीं हो सकता ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर आप जैसे विद्वान् को क्या दिया जावे। "एव" अव्यय का अर्थ सब स्थानों में अवधारण ही करेंगे। इस का अर्थ सादृश्य कहीं नहीं देखा। पद्मचन्द्र कोष ही देख लेते। यदि यहां भी तसल्ली नहीं, तो कहिये "तदेवाग्निः" वाक्य का क्या अर्थ करेंगे ?

(८) प्र०—यदि अग्नि आदि ऋषियों के नाम वेद में होते तो ऋग्वेद मं० १० के ७०वें सूक्त में मिलते क्योंकि चारों वेदों में वही सूक्त ज्ञान देवताक है ?

उत्तर—वेद का यह कोई नियम नहीं कि एक विषय के सब मन्त्र एक स्थान पर ही हों। आप के इस कथन के ही विरुद्ध वेदोत्पत्ति विषयक "तस्माद्यज्ञात्" मन्त्र अ० १०-९० और यजु० ३१-७ में है।

अन्तिम निवेदन

स्वामीजी ! यदि गीता के "वेद" शब्द का अर्थ इन्द्रिय एक नया अनुसन्धान होसकता है तो एक वैदिक सिद्धान्त का वेद से अनुसन्धान असमञ्जस, असंगत, असम्बद्ध, वेदाशय विरुद्ध कैसे होसकता है ? यदि आप अब भी लिखने की आवश्यकता समझें, तो मैं आप जैसे महानुभाव से अनुत्तेजना और अघृणा की पूर्ण आशा रखता हूं ॥

नकंचिदवमन्येत सर्वस्य शृणुयान्मतम् ।
बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुञ्जीत पण्डितः ॥ कौटिल्य १-१५.॥

मासावतरण

आश्विन ।

हुई प्रकृति-साम्राज्य पर आश्विन में आसीन—
शरद्, इधर नभ हो चला निर्मल अभ्र-विहीन !!
कहीं शस्य-श्यामला मही जल-बहुल कहीं है;
फिर वह घन-स्वन-त्रस्त-शिखी[1]-रव रहा नहीं है;
कुछ प्रसन्न[2]-कुछ अप्रसन्न[3] बहती सरिताएं—
ज्यों जननी तज, पति-गृह चलती हों वनिताएँ !!
विरही जलते चन्द्र से रहते सदा अतन्द्र;
स्त्री-मुख ध्यावें किन्तु लख शरत्-पूर्णिमा-चन्द्र !!

कार्तिक ।

नील-कमल-दल-से-असित, कर के श्याम दिगन्त ।
हुए विमद मातङ्ग-से शान्त पयोधर अन्त !!*
सघन-घनों का, प्रस्रवणों का
अब निरस्त[4] निर्ह्राद[5] हुआ:
औ गौ-कुल में मत्त-वृषों का
श्रुति-गोचर संनाद हुआ;

१—शिखी—मयूर ।
२, ३—नदी-पक्ष में:—
प्रसन्न—अकलुषित-(स्वच्छ);
अप्रन्न—कलुषित-(अस्वच्छ);

* नीलोत्पल-दल-श्यामाः श्यामी कृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ (वाल्मी० रा० कि० कां०)

४—निरस्त—निराकृत (दूर);
५—निर्ह्राद—शब्द;

आः ! विरही जाया-पतियों के
मन में घोर विषाद हुआ;
इधर मिलन-मन्दिर में सुन्दर
पति--पत्नी--सम्वाद हुआ;
"कार्तिक की दीपावली क्या है ! प्रिय ! बतलाइए"
"प्रिये, आर्य-भू देखती 'नायक'[1] दीपावलि लिए" !

सन्तलाल दाधिमथ वैद्यराज

——:o:——

अनादि स्वप्न ।

(स्वरचित अंग्रेज़ी कविता का भाषानुवाद)

इस जगत् की चक्करदार आँधी में फँस कर हम दुःखित हृदय के साथ उदास हुए २ इधर उधर भटकते हैं और आत्मा की उस शान्ति को जिसका अनुभव हम अंश रूप से पहिले ले चुके हैं अब खोते हुए प्रतीत होते हैं।

हम भटक भटक कर थक जाते हैं, यहां तक कि हम आत्मा के अद्भुत सौन्दर्य के लिये आतुर होना छोड़ देते हैं। हमारे नयनों की तेजोमय ज्योति एक दुःख-जनक प्रकाश के रूप में परिणत हो जाती है और एक पल भर के लिये जगमगा कर ओझल हो जाती है।

किन्तु जब कि हम अन्धों के समान भटकते फिरते हैं, हमारे अज्ञान-तिमरावृत आत्मा के अन्दर एक नूतन ज्योति और उस सौन्दर्यस्रोत के लिये नवीन आतुरता उत्पन्न होती रहती है।

यद्यपि हम स्वप्न लेना छोड़ देते हैं, वह पुरातन स्वप्न जारी रहता है और इन नश्वर वस्तुओं में अर्धप्रकाश में सदा अपनी प्रतिध्वनि को गुँजाता रहता है।

हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय मंगलौर।

१—नायक—नेता-(प्रभु);

रेखाङ्कित।

(१)

पं० रुद्रदेव सनातनधर्म सभा के पुराने उपदेशकों में से हैं। इनके व्याख्यानों की धूम है। सिद्धान्तों पर कम बोलते हैं परन्तु सामयिक समस्याओं पर ऐसी अद्भुत पते की बात कहते हैं कि सुनने वाले दंग रह जाते हैं। समाजी इनके व्याख्यानों में जाते हैं और जब तक यह व्याख्यान-वेदिका पर खड़े रहते हैं, आर्य इनकी बात २ पर सिर धुनते हैं। सर्व-प्रिय व्याख्याता रुद्रदेव जैसा और नहीं देखा।

उठते बैठते, खाते पीते, सोते जागते रुद्रदेव को स्वच्छता का विशेष ध्यान रहता है। कोई और उपदेशक चौके से बाहर भोजन कर सक्ता है, रुद्रदेव नहीं। कपड़े बड़े शुद्ध पहिनते हैं—चिट्टे और फिर हाथ से धुले हुए। धोबी की धुलाई से इन्हें ग्लानि होती है।

सन्ध्या इनकी बड़ी लंबी होती है। सन्ध्या करते समय यह किसी को पास फटकने नहीं देते। तिलक लगाते हैं और कंघा करते हैं। वेद-पाठ इनका नित्य नियम है। इनके व्याख्यानों में भी वेद के प्रमाण अधिक रहते हैं।

सनातनियों का विश्वास है कि सात पीढ़ी से इनके पूर्वज वेद का व्याख्यान करते आए हैं। कोई आर्य समाजी प्रशंसा करे तो झट कह उठते हैं, देखा जन्म का प्रभाव। कर्म, कर्म की दुहाई मचाते हो। कोई ब्राह्मण रुद्रदेव ऐसा पैदा तो करो। कोई हठीला समाजी हो तो वाद कर बैठता है; नहीं तो हृदय सत्य स्वीकार किये बिना रह नहीं सक्ता। कहते बनती है तो यही कि हम कब जन्म की अवहेलना करते हैं? हमें कर्म चाहिये, जन्म कहीं हुआ हो।

(२)

वर्षों सनातन धर्म सभा के उत्सव होते रहे। पं० रुद्रदेव नियम पूर्वक इन उत्सवों में दर्शन देते रहे। सुनने वाले इनके व्याख्यानों पर मुग्ध होते रहे। आर्य समाजियों और सनातन धर्मियों का झगड़ा कुछ दिनों के लिये इनके कारण मिट जाता रहा।

एक दिन पंडित जी अपने डेरे पर बैठे समाचार पत्र सुन रहे थे। किसी ने कहा:—अच्छा हुआ?

पं० जी—क्या अच्छा हुआ?

पाठक—आर्यों ने अनर्थ किया था। उन्हें उसका दंड मिला।

पं० जी—क्या अनर्थ?

पाठक—इन्हों ने शुद्धि की थी।

पं० जी—किस की?

पाठक—मेघों की। भला काश्मीर रियासत। वहां के महाराज सनातन धर्म के साक्षात् स्वरूप। ऐसा अंधेर होने देते थे?

पं० जी—तो महाराज ने वह शुद्धि रोक दी?

पाठक—नहीं! शुद्धि की आज्ञा तो वह पहिले ही कभी के देही चुके हैं। वह तो हुए ही दया के अवतार। अब आर्यों ने एक और उद्दण्डता की है कि इन मेघों को यज्ञोपवीत भी पहिना रहे हैं। एक को पहिनाया था, उसे राजपूतों ने सदा के लिये उपवीत कर दिया है। अर्थात् उसका तागे का यज्ञोपवीत तोड़ कर उसके स्थान पर जलते लोहे से रेखा खींच दी है। यह यज्ञोपवीत कभी न उतरेगा।

अन्तिम वाक्य पं० जी न सुन सके। उनकी आंखों में जल भर आया। मुख से करुण स्वर में निकला—हाय! आर्य जाति!

देखने वालों पर सन्नाटा छागया।

(३)

अगले दिन पंडित जी को आर्यसमाजियों ने घेरा हुआ था। कट्टर सनातनी उन्हें 'गुप्त आर्य समाजी' कहने लगे। बुद्धिमान् लोग जिह्वा का संयम कर चुप थे। ऐसा योग्य पण्डित अयथार्थ खिन्न न होगा। सहृदयों का हृदय स्वयं यह समाचार सुन कर पसीज २ जाता था। जलते लोहे से अंकित करना? क्रूर अत्याचार है।

यों तो शाहपुर के लोग इस घटना का पता भी पाते या न। सुनी अन सुनी कर देते। परन्तु पंडित जी के आंसुओं ने व्याख्यानों की झड़ियों से अधिक कार्य किया। दलितोद्धार के विरोधी इस घटना के ढंढोरची होगए। घर बार, गली बाज़ार, स्थान २ पर इस दुर्घटना की चर्चा थी।

आर्य समाजियों ने पं०जी से अनुरोध किया—दलितोद्धार पर हमारे पंडालमें व्याख्यान दीजिये। उन्हों ने स्वीकार न किया।

सनातन धर्मियों ने सानुरोध पूछा—आपकी शुद्धि के संबन्ध में क्या सम्मति है? कहा—इस समय सम्मति देने की अवस्था में नहीं।

जितने मुँह उतनी बातें। पीठ पीछे कोई कुछ कहता, कोई कुछ। परन्तु सन्मुख जाकर सब संयत-मुख होजाते।

(४)

उत्सव का दूसरा दिन है। अन्तिम व्याख्यान पं० रुद्रदेव का होना निश्चित है। परन्तु पं० जी हैं नहीं। उन्हों ने जम्मू जाने की ठानी है। शहर के सेठों ने, पंचों ने पं० जी को पूर्ण सम्मान और प्रतिष्ठा से विदा किया है।

अगले दिन भरे पण्डाल में पंडित जी का पत्र आया। उसकी प्रति आर्यसमाज के मन्त्री को भी मिली थी। ऐसे समय जब कि उत्सव न था आर्य समाजियों ने नगर-निवासियों को समाज मन्दिर में पधारने का निमन्त्रण दिया। निमन्त्रण का निमित्त था पं० रुद्रदेवजी के पत्र का पढ़ा जाना। अब लोग कैसे न आते? वहां भी उत्सव सा ही होगया।

पत्र का विषय यह था:—

महाशय! रेलगाड़ी में बैठते ही मेरा विचार था कि यज्ञोपवीत तोड़ फेंकूं। ऐसे यज्ञोपवीत से लाभ? जिसे पहिनने से जलते लोहे से रेखाङ्कित होना पड़े! इस सूत्र को

रेखा का स्मारक समझ कर शरीर पर रहने दिया। अब शरीर जल रहा है। जहां २ यज्ञोपवीत छूता है, वहां २ सारी देह पर जलते लोहे की सी जलन अनुभव करता हूं।

रेखाङ्कित होने वाला मेरा भाई है। मैं जन्म का मेघ हूं। किसी प्रकार, जो इस पत्र में बताना आवश्यक नहीं, मैं बचपने में आर्य्य-समाजियों के हत्थे चढ़ा था। उन्होंने मुझे शुद्ध किया और चुपके से एक सनातनधर्मी पण्डित के पास पढ़ने को डाल दिया। उन पण्डितजी का नाम भी न बताऊंगा। उन्होंने मेरा पुत्रवत् पालन किया। समाजी महाशय समय समय पर मेरी सुध लेते थे। मेरी शिक्षा समाप्त हुई, तो उन्होंने गुरुजी को मेरी ज़ाति बताई। गुरुजी क्रुद्ध हुए, परन्तु कोई उपाय न देख लाचार अपनी लाल लाल आंखों, फड़कते होठों, धड़कती छाती, ज़ोर ज़ोर से निकलते श्वासों को थामा और चुप रहे। मुझे अपने घर रखने का कठोर प्रायश्चित्त किया।

आर्य्य-समाजी मुझे प्रचार-कार्य में लगाना चाहते थे। परन्तु गुरुजी का क्रोध मेरे हृदय में जल रहा था। मैंने प्रचार का व्रत तो लिया, परन्तु आर्य्य-समाज की वेदी से पृथक् रहा। सनातनधर्म सभा में अपनी जाति आदि कुछ न बताकर व्याख्यानादि देता रहा। हां! वादास्पद विषयों पर मौन धारण किये रक्खा, क्योंकि उनका समर्थक मेरा अपना हृदय न था।

मैंने अपना जन्म-स्थान अपने हृदय से भुला दिया। अपने आपको अनाथ बालक समझ सारी आयु धर्म के अर्पण करने की ठान ली। परन्तु जब अपने भाई के देह-दाहन का समाचार सुना, रह न सका।

अब जारहा हूं। यज्ञोपवीत पहिने जारहा हूं। अपने आपको मेघ उद्घोषित करने जारहा हूं। अपने शरीर को लोहे की आग से अंकित कराने जा रहा हूं।

मैं हूं—

रुद्रदेव मेघ।

(५)

शहर में कोलाहल मच गया—रुद्रदेव पापी है, पतित है। तो भी जलते लोहे से दाग़ा जाए—यह असह्य क्रूरता है। जिन कानों ने रुद्रदेव की मधुर वाणी सुनी थी, जिन आंखों ने रुद्रदेव की सौम्य-मूर्ति देखी थी, वे सह न सकी थीं, कि इनके प्राणों पर विपत्ति हो। सनातनी लाख जलें भुनें, उनके मुख से निकलता 'पं० रुद्रदेव' ही था।

अब पं० रुद्रदेव अख़बारी नाम है। पत्रों में छपता है—पं० रुद्रदेव मेघ। इस तिलक-धारी, वेदपाठी पण्डित ने जब अपने आपको भरी सभा में मेघ कहा, सुनने वाले चकित थे। किसीको विश्वास न था। उसने राजपूतोंको ललकारा—मुझे जलते लोहे से जलाओ। उन्होंने माना ही नहीं, कि यह मेघ है।

महाराज के दर्बार में बड़े २ पण्डितों से रुद्रदेव की भेट हुई। उसने शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध किया, कि मेघों का वही अधिकार है, जो दूसरे आर्य्यों का। इसके

प्रकाण्ड पाण्डित्य, धाराप्रवाह सरल संस्कृतोक्ति, अदम्य भाषण-शक्ति के सामने राज पण्डितों में से किसी की न चली।

मेघों में यज्ञोपवीत वितरण हुए, और किसी ने न रोका। शुद्धि पर शुद्धि हुई, और किसी ने टेढ़ी दृष्टि से देखा तक नहीं।

(६)

आर्य्य-समाजी इस आन्दोलन में रुद्रदेव की पीठ ठोकते रहे। उनसे प्रार्थना की गई, कि आप आर्य्य-समाज के उपदेशक बन जाइये। परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं को। जुलाहों का सा ताना बाना लगा लिया है। मेघों में रहते हैं। अपने आपको 'रुद्रदेव मेघ' लिखते हैं। आर्य्य-समाज की पद्धतियां, सिद्धान्त सम्बन्धी लेख इनके पास संशोधनार्थ जाते हैं। किसी बड़े उत्सव पर आ भी निकलते हैं। व्याख्यानों में वही मधुरता है, वही लालित्य, वही युक्ति-युक्त उक्ति, वही दिलों में जम जाने वाली पद-प्रणाली। इनकी रहन सहन में अब भी वही शुद्धता है, जो पहिले थी। भोजन चौके में होता है। कपड़े हाथों से धुलते हैं। सन्ध्या लम्बी होती है। वेदपाठ का नियम स्थिर है। विज्ञापनों में इन्हीं के अनुरोध से इन्हें 'पंडित रुद्रदेव मेघ' लिखा जाता है। आर्य्य-समाजियों को डर है, कि कहीं मेघ ब्राह्मणों की एक नई उपजाति न बन जाए।

पं० रुद्रदेव के साथ उनका रेखाङ्कित भाई भी आता है। वह रेखाङ्कित वाक्यों की भान्ति दर्शकों का ध्यान अपनी ओर विशेष आकर्षण से खींचता है॥

'दर्शक'

बाइबिल के विषय में मौडर्निस्ट लोगों के विचार।

(रैवरण्ड जैवैज़ टी० सुन्डरलैण्ड ऐम० ए०, डी० डी०)

[गताङ्क से आगे]

बाइबिल के विषय में यह बात विशेष महत्त्व रखती है, और हमें अपने उद्देश्य पर पहुंचाती है। बाइबिल सब महत्त्व-पूर्ण विकासों (Evolutions) का—जो १ हज़ार साल के अन्दर २ धर्मों में और विशेष करके हिब्रू लोगों के धर्म में हुए हैं—एक पोथा (Record) है। संसार भर में बाइबिल से बढ़कर इस विषय पर और कोई ऐसी पुस्तक उपयुक्त नहीं है। हिब्रू लोगों का जीवन बहुत हीन अवस्था से आरम्भ होता है। उनकी ईश्वर-विषयक कल्पना बड़ी क्रूर और निराधार तथा अपूर्ण थी। वे प्रायः मूर्ति-पूजक थे। आचार की दृष्टि से यद्यपि उनके जीवन नभीलकों की अपेक्षा कुछ उच्च थे, किन्तु मस्तिष्क सम्बन्धी विचारों में वे सर्वथा ही तुच्छ और कमज़ोर थे। फिर धीरे २ उनमें किस प्रकार से मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता गया और अन्ततो गत्वा ईसाईयत

के समय उनकी कैसी उच्च अवस्था होगई—यही सब बाइबिल से भली भान्ति मालूम पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, इसी विकास का साहित्य ही बाईबिल है। ऐसा समझ लेने से बाइविल का महत्त्व हमारी समझ में भली प्रकार आसकता है और इसी अवस्था में बाइविल अपने ऊपर हुए कई प्रकार के आक्षेप-रूप भारों से ऊपर उठ सकती है।

यहां इस बात से इन्कार नहीं किया जासकता कि अब तक बाइबिल की शिक्षाओं का बुरा व अच्छा दोनों प्रकार का प्रभाव मनुष्य-जाति पर पड़ता रहा है। उदाहरणार्थ—यह हिसाब लगाया गया है कि इसके एक वाक्य "you shall not suffer a witch to live" ने सैंकड़ों ही नहीं, किन्तु सहस्रों निरपराध मनुष्यों को मृत्यु के घाट उतार दिया है। इसके अतिरिक्त 'दासता' के नीच-तम भाव के प्रचार में भी बाइबिल की शिक्षाओं ने पर्याप्त रूप से काम किया है। एवं बहु-विवाह की बुराई को फैलाने में भी बाइविल ने बहुत दूर तक हाथ बंटाया है। क्या अब्राहम, आइज़क, जैकब, डैविड, सोलोमन ये एक पत्नीव्रत थे? नहीं। किन्तु फिर भी ईसाई मत ने ईन्हें ईश्वर का प्यारा माना। इसी प्रकार स्त्री-जाति पर भी उस समय बाइविल के द्वारा ही बहुत क्रूर से क्रूर अत्याचार किए गए। एवं कहां तक गिनावें—इन्कोज़शन्स की स्थापना, और घोर से घोर अत्याचार करने के लिये भी—जिनका वर्णन करते हुए भी हृदय कांप उठता है—बाइविल का ही आश्रय लिया गया। शायद ही कोई विज्ञान (Science) ऐसा रहा है जिसको बाइबिल के मानने वालों के क्रूर हाथों से असह्य कष्ट न उठाने पड़े हों और उनके मार्ग में रुकावटें न डाली गई हों। ये सब ऐतिहासिक सचाइयां हैं, जिनसे कि हम अपनी आंखें बन्द नहीं कर सकते।

बाइविल के आश्रित इन सब अत्याचारों और बुराइयों का एकमात्र कारण यही है, कि इसे 'ईश्वरीय पूर्ण-ज्ञान' की पुस्तक मान लिया गया। यदि उस समय इस सचाई का पता लग जाता (जैसा कि अब पता लग रहा है) कि यह सिवाय मानवीय विकास के इतिहास के और कुछ नहीं तो यह ऐसी घृणित बुराइयां और घोर-तम अत्याचार आज कभी सुनने में भी न आते।

बाइबिल विषयक वर्तमान खोज हमें बता रही है, कि हमें बाइविल की उन उच्च शिक्षाओं की ओर ही अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिये, जो कि ईसाइयत की दृष्टि से अपने विकास की चरमावस्था तक पहुंच चुकी है। न कि हिब्रू लोगों की तात्कालिक शिक्षाओं पर जो उस समय अपूर्ण और अपरिपक्वावस्था में थी।

अब मैंने वाइविल के विषय में मौडर्निस्ट लोगों के विचार रख दिए हैं, जो पुराने विचारों से बहुत मतभेद रखते हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि समय की उन्नति के साथ ये विचार अपना प्रसार पाते जावेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दियों के पुराने थोथे और पके हुए विचारों को अलग करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, परन्तु विचार-शील व्यक्तियों के दिल और दिमाग़ हृदय से इन नए विचारों का अवश्य स्वागत करेंगे क्योंकि यह युक्ति और सत्यता पर आश्रित हैं।

क्या किसी को इस बात का डर है कि पुराने विचारों के निकल जाने से बाइबिल के महत्व में अन्तर आजायगा ? नहीं--कदापि नहीं । नए विचारों के आजाने से बाइबिल का स्थान मनुष्य और समाज की दृष्टि में और भी अधिक उच्च और उन्नत हो जायगा।

मौडर्निस्ट विचार बतलाते हैं कि परमेश्वर का दर्ज़ा तुच्छ मानवीय विचारों और ज्यूज़ वा ईसाईयों की पुस्तकों से कहीं बढ़ कर ऊंचा है। वह परमात्मा प्राणिमात्र का परमात्मा है। दैवीय विचार किसी एक जाति व मनुष्य से सम्बन्धित नहीं हैं किन्तु वे प्राणिमात्र के लिये एक समान हैं। परमेश्वर की ज्योति नए और पुराने सब मनुष्यों में, सब समयों में एक समान प्रकाश देती है।

(मौडर्न रिव्यू)

दार्शनिक सिद्धान्त पुष्पमाला।

(श्री पं० मुक्तिराम उपाध्याय)

(ज्ञानी) आइये रसिक महोदय ? नमस्ते। मुझे यह सुन कर बड़ा हर्ष हुआ कि आ अविद्या के महा अन्धकार से निकल कर आगे बढ़े। मनुष्य के हृदय सागर में विचा की अनेक तरंगें उठती हैं और आपस में टक्कर खाकर लीन हो जाती हैं। महाभारत यु के आरम्भकाल में जिस धर्म संकट ने महावीर अर्जुन को आ दबाया था, 'लडूं या पीछे ह का उत्तर उसे कुछ नहीं सूझ पड़ता था। ठीक इसी प्रकार की उलझनें मनुष्य के सा उसके जीवन में अनेक वार उपस्थित होती हैं। कितने ही भीरु पुरुष तो मकड़ी के जा में फंसी मक्खी की तरह इन उलझनों में फंसे फंसाए ही अपने जीवन रत्न को यमरा के अर्पण कर देते हैं, और कुछ विचार शील सोचते हैं—मनुष्य जीवन एक ऊंचा जी है, प्रभुने अन्य योनियों की अपेक्षा मनुष्य को विचार शक्ति विशेष प्रदान की है। जितना चाहे अपने आप को ऊंचा उठासक्ता है, अवनति के गहरे गढ़े में गिरना या उ के ऊंचे शिखर पर चढ़ना मनुष्य के अपने आधीन है। पहाड़ को खोदे विना हीरा क मिल सक्ता है। समुद्र में गोता लगाने वाले ही मोतियों को प्राप्त कर सक्ते हैं। दूध अ मधानी के घर में होते हुए भी विना मन्थन के मक्खन कहां। बुद्धितत्व में गुप्त रूप से हुआ अनेक शुभ वासनाओं का कोष भी रात्रि दिन विचार के आन्दोलन विना कहां सका है। और इसकी प्राप्ति के बिना धर्म का ज्ञान भी मनो मोदक मात्र है। किसी के कहने पर विश्वास कर अपनी बुद्धि को सर्वथा ताला लगा बैठ जाने वाले भारी में पड़ते हैं। यह अन्ध परम्परा उन्हें ऐसे गढ़े में गिराती है कि नाम ठाम कुछ भी नहीं रहता। ऐसे मनुष्य अपने ही घातक नहीं होते, वे अपनी जाति को भी अनेक प्र की कुप्रथाओं का घुन लगा सदा के लिये जीर्ण शीर्ण कर देते हैं। अनेक विचित्र प

के भण्डार इस जगत् में आ अपने महान् जीवन रत्न को एक निर्गन्ध फूल पर बैठ कौड़ी के भाव बेच देना आप जैसे विचार शील सज्जन के लिये कहां उचित था । अतः आपने जो कुछ किया अच्छा ही किया । अब आप कुछ और आगे बढिये और विचारिये, यदि एक फूल अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहै तो क्या करे ? । जिस समय यह उत्पन्न हुआ था इसके पास न यह गन्ध था और न यह रूप । हां इस में एक ऐसी शक्ति गुप्त रूप से छिपी हुई अवश्य थी जो इस गन्ध और रूप को पदार्थ समूह सूर्य्य पृथिवी आदि में से खींचने में समर्थ थी । परन्तु यदि कोई कह बैठे कि पृथिवी और वायु कोई वस्तु ही नहीं तो वह फूल की इस उन्नति को सिद्ध करने में असमर्थ ही रहेगा ।

एक फूल ही नहीं सब पदार्थों की यह ही व्यवस्था है । जब वे उन्नति करते हैं तब दूसरे पदार्थों के किसी भाग को खींच कर अपने साथ मिलाते हैं । और जब अवनति करते हैं तब अपने किसी भाग को दूसरों के अर्पण करते दिखाई देते हैं । बड़ का पेड़ जल, वायु, पृथिवी, सूर्य्य आदि से भिन्न २ तत्व ले लेकर इतना बढा कि जहां वह एक चींटी का भी पूरा भार न था अब पचासों हाथी भी उसे ढो ले जाने में असमर्थ हैं । आर्य्य जाति जहां वीरता धार्मिकता जन संख्या आदि में अनुपम (बेनज़ीर) थी, आज दूसरों को यह सब कुछ दे देकर यहां तक घटी कि आज प्रातःकाल के तारे की तरह हीन से हीन जाति के सामने भी फीकी दिखाई देती है । हमारा आत्मा रूपी फूल भी इस उन्नति और अवनति के चक्र से बचा नहीं है । यह कभी ज्ञान को देकर जड़ता को लेता है, दुःख को ग्रहण कर आनन्द से हाथ धो बैठता है, और कभी इसके विपरीत (उलटा) ही किया करता है । बुद्धिमान् लोग ज्ञान और आनन्द के ग्रहण को आत्मा की उन्नति और दुःख और जड़ता के ग्रहण को इसकी अवनति कहा करते हैं । आत्मा इन सब गुणों को कहां से ग्रहण करता और किसे समर्पित कर देता है यह विषय अभी विचाराधीन है । आत्मा के पास अनुभव करने की शक्ति विद्यमान् है । जड़ता और दुःख का संग्रह वह प्रकृति देवी के भण्डार से करता है । क्योंकि प्रकृति जड़ तो है ही, और परिणाम शील (तबदीलसुदा) होने से दुःख रूप भी है । अतः "जीव जड़ता को नष्ट कर रहा है" इसका अर्थ यह ही होगा कि वह प्रकृति देवी के धन तमोगुण को उसके अर्पण कर रहा है । जीव का दुःख से छुटकारा पाना भी प्रकृति के रजोगुण को उसके अर्पण कर देना ही है । इसके साथ ही साथ जीव जिस समय जड़ता और दुःख से छुट्टी पारहा होता है, उस समय उस में ज्ञान और आनन्द का समावेश भी होता प्रतीत होता है । ये दोनों तत्व क्या हैं और कहां से आगये ? दुःख के अभाव को आनन्द और जड़ता के अभाव को ज्ञान तो कहा नहीं जासक्ता । क्योंकि ज्ञान और आनन्द की दशा में जीव एक विशेष अवस्था का अनुभव करता है, और अभाव तुच्छ होने से किसी विशेष अवस्था का सम्पादक कहा नहीं जासक्ता । प्रकृति का भी कोई भाग ऐसा है नहीं जिस में आनन्द और ज्ञान की सत्ता विद्यमान् हो ।

(रसिक) ज्ञान और आनन्द जीव के अपने स्वभाव हैं इन्हें ढांप देने वाली प्रकृति जड़ता और दुःख शक्ति के दूर होजाने पर ये स्वयं प्रकट हो जाते हैं ।

(ज्ञानी) यह भी एक भोला भाला विचार है। कोई कितनी भी प्रबलशक्ति हो किसी के स्वभाव को उसके लिये अव्यक्त नहीं कर सकी।

(रसिक) यह आप क्या कहने लगे। देखिये सूर्य्य का प्रकाश तारे के प्रकाश को में अव्यक्त कर देता है। अग्नि की उष्णता जल की शीतता को अव्यक्त कर देती है। इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण दिये जासके हैं।

(ज्ञानी) हां दिये जासक्ते हैं। परन्तु इन उदाहरणों के गूढ भाव को समझने के लिये ज्ञानतन्तु को थोड़ी और गति दीजिये। ध्यान दीजिये कि तारे का प्रकाश आपके लिये ही अव्यक्त होगया है या तारे के लिये भी। जल की शीतता जल के लिये भी छिप गई है या आप ही के लिये। कल्पना कीजिये, कि तारा और जल यदि अनुभव करने की शक्ति रखते हों तो सूर्य्य और अग्नि के आजाने पर भी अपने अन्दर विद्यमान प्रकाश और शीतता का अनुभव करें या नहीं? मैं तो कहूंगा वे अवश्य अनुभव करेंगे। यदि तारे का प्रकाश उसमें न रहा होता तो हम मान लेते कि वह उसका अनुभव कर सकेगा। परन्तु वह उसी में है इसे आप भी मानते ही हैं। किसी अन्य वस्तु के गुण की अपेक्षा अपना गुण अधिक समीप होता है, यह भी आपको मानना ही पड़ेगा। तारा सूर्य्य के प्रकाश का अनुभव न करेगा, यह हम नहीं कहते, परन्तु यह कहना पड़ेगा, कि वह अपने स्वभाव प्रकाश का जो उसके अधिक समीप है, अवश्य अनुभव करेगा। क्या कभी आपने जीव को उसके स्वभाव प्रयत्न से रिक्त (खाली) देखा है?। इसी प्रकार जीवात्माके उच्च ज्ञान और आनन्द भी स्वभाव हों तो वे भी कभी उससे दूर न होने चाहियें, और सर्वदा उनसे परिपूरित दिखाई दे। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि जैसे प्रकाश भी तारे के प्रकाश को तारे के लिये नहीं ढांप सका, अन्धकार की तो गणना ही क्या है, इसी प्रकार प्रबल चैतन्य और आनन्द की भण्डारशक्ति भी जीव के अपने स्वभाव ज्ञान और आनन्द को जीव के लिये अव्यक्त न कर सकेगी। प्रकृति बेचारी के तमोगुण की तो सत्ता ही क्या है। परन्तु जीव में ये दोनों गुण देखे नहीं जाते, अतः ये जीव के स्वभाव नहीं हैं।

इस इतने विचार से यह सिद्ध हुआ, कि जीव जिस प्रकार जड़ता और दुःख को प्रकृति देवी से ग्रहण करता है, इसी प्रकार उच्च ज्ञान और आनन्द को भी किसी इन गुणों की भण्डार शक्ति से प्राप्त कर उन्नत होता है। उसी शक्ति का नाम विद्वान् लोग ओ३म् कहते हैं। जीवात्मा को शरीर से भिन्न मानते हुए आप अभी तक उसे नहीं मानते, अतः आपका प्रिय फूल अभी अधूरा है।

(रसिक) क्या आप ज्ञान और आनन्द को भी जीव के स्वभाव नहीं मानते?।

(ज्ञानी) उत्तर देने से पूर्व मैं यह निवेदन किये देता हूं, कि मैंने प्रथम सब जगह ज्ञान पद से योगी का तत्त्वज्ञान और आनन्दपद से मुक्तिदशा का आनन्द कहा है। अब उत्तर भी सुन लीजिये। हम ज्ञान और प्रयत्न जीवात्मा के स्वभाव मानते हैं। ज्ञान नाम है अनुभव करने की शक्ति का। यह जिस समय प्रकृति का विशेष अनुभव करती है, उस समय सुख,

दुःख और मोह दूसरे शब्दों में सत्त्व, रजः और तमः के प्रभाव से प्रभावित होजाती है, और सत् असत् के विवेक में उतनी समर्थ नहीं होती। और जब इस ओर से हट कर ओ३म् के समीप पहुंच उसके स्वभाव विशुद्ध विज्ञान का अनुभव करती है, तब उसीके रंग में रंग जाती है, और सत् असत् के विवेक में समर्थ होती है। इसी यथार्थ विवेचन का नाम हमने तत्त्व-ज्ञान कहा था। इसी प्रकार उस अवस्था में जीव को प्रभु के आनन्द-स्वरूप का भी अनुभव होता है। उसी समय यह आनन्द को प्राप्त करने वाला आनन्दी कहलाता है, आनन्द इसका स्वाभाविक गुण नहीं है। यदि स्वाभाविक होता, तो इसमें सदा रहना चाहिये था। अब आप समझ गये होंगे, कि जहां प्रकृतिरूपी फूल में जीवरूप गन्धका होना आवश्यक है। इसके साथ ही उस गन्धके सञ्चारक सूर्य्य पृथिवी आदि की भांति चैतन्यदेव परमपिता ओ३म् का मानना भी परम आवश्यक है। बस आप आज अपने इस अधूरे फूलको पूर्ण कर लीजिये, कल आपके क्षणिकवाद का विवेचन करेंगे। ओ३म्।

(क्रमशः)

गप्प शप्प।

कांग्रेसी मुसलमान—कुरान के पढ़ने की सुफारिश महात्मा जी ने की है। इसे कांग्रेस की पाठ्य पुस्तक बनाना चाहिये।

महात्मा का भक्त—बेशक!

कांग्रेसी हिन्दु—और वेद?

कां० मु०—वेद का अक्षर २ सत्य मानना मूर्तिपूजा है, जो इसलाम के विरुद्ध है।

भक्त--बेशक! वेद कांग्रेस में आया तो सिर फटौल होगी।

आर्यसमाजी—(हँस कर) भाई! कुरानी स्वराज्य अरब को देना। भारत का स्वराज्य तो वेद ही से होगा।

(२)

मोपलों ने बलात्कार केवल एक हिन्दू पर किया। क्योंकि लिंग-छेद (ख़तना) केवल एक का हुआ।

मलकाने सब बलात्कार से शुद्ध हुए। क्योंकि एक का भी अंगछेद नहीं हुआ।

इसलिये मोपलों को प्रचार की खुली छुट्टी; आर्यों की शुद्धि बन्द!

(३)

प्रस्ताव—मन्दिर का निरादर पाप है।

संशोधन—'मन्दर' के स्थान में 'मन्दिर और मसजिद' लिखा जाए।

भाई! मसजिद का निरादर तो हुआ ही नहीं। कहीं इस संशोधन से करा न दो।

निरादर न हो तो हम संशोधन भी न करें?

'गप्पी'
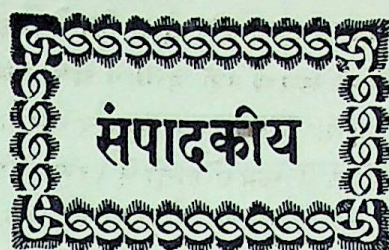
संपादकीय

वेदासन—

म० नत्थनलाल जी के लेख के पीछे कुछ और पत्र भी इस विषय के हमारे पास आए हैं कि वेदासन की स्थापना से वस्तुतः मूर्तिपूजा के प्रचार की संभावना है। कुछ महानुभावों ने हमारे मौन से यह परिणाम निकाला है कि हमारा पक्ष भी इस विषय में वही है जो उपरोक्त महाशय जी का है। भ्रान्ति एक ही बात से हुई प्रतीत होती है। हमारे भाइयों को भय है कि कहीं हमारा वेदासन सिक्खों के ग्रन्थ साहब का स्थान न ले ले महा० नत्थनलाल लिखते हैं:—आ० प्र० नि० सभा ने

'यह भी निश्चय किया हैं, कि प्रत्येक आर्य्य-समाज मन्दिर में एक वेदासन बनाया जावे, जिस पर वेद भगवान् हर समय विराजते रहें।'

आगे चल कर फिर कहा है:—

'यह बात असम्भव नहीं है कि कुछ समय के पश्चात् कुछ श्रद्धालु महाशय उस आसन के आगे शिर झुकाने लगें, फिर होते २ वेद भगवान् पर चवर झुलने लगें, फिर वार्षिक उत्सवों पर भगवान् की सवारी निकलने लगे, अन्त में वेद भगवान् पर चढ़ावे चढ़ने आरम्भ होजावें और हम पूर्ण रूप से सिक्खों की तरह पुस्तक-पूजक बन जावें।'

वेद के वेदासन पर हर समय विराजने की कल्पना इन महाशय को अपने हृद हुई है। प्रतिदिन वेद का प्रवचन हुआ करे—यह तो शताब्दी समिति का निश्चय है, विराजा करे—यह नहीं।

महाशय जी का विचार है कि—

'आर्य्यसमाज मन्दिरों में अब भी तो कोई न कोई ऐसी ऊंची जगह बनी हुई होती ही है जिस पर बैठ कर व्याख्याता व्याख्यान देता है इसी वेदी का नाम वेदासन रख लिया जावे तो क्या हर्ज है? पर उसकी न तो कोई नियत आकृति हो और न ठाकुर जी की तरह हर समय उस के ऊपर वेदों के पधारे रहने की आवश्यक्ता है। नियम यह होना चाहिये कि साप्ताहिक अधिवेषनों में दूसरी प्रकार के व्याख्यान की जगह वेद मन्त्र की व्याख्या अधिक हुआ करे और समाजियों के घर चारों वेदों की पुस्तकें अवश्य रहा करें ऐसा करने से आर्यों के हृदयों में अवश्य वेदों में श्रद्धा उत्पन्न हो जावेगी और वह सच्ची श्रद्धा होगी।'

वेदासन बनाए जाने में महाशय जी को आपत्ति नहीं। है तो केवल वेदासन

विशेष आकृति पर या उस के ऊपर ठाकुर जी की भान्ति वेदों के विराजने पर । आकृति के संबन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि सभा ने सब समाजों के लिये कोई विशेष आकृति निश्चित नहीं की । हां ! एक नमूना बनवाया है जिस में वेदासन संबन्धी आवश्यकताएं पूरी होती हैं । प्रत्येक समाज अपनी स्थिति के अनुसार उस में परिवर्तन कर सक्ता है । नमूना बनवाने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि सब जगह इंजिनीयर नहीं होते । आख़िर यज्ञ कुण्ड का नमूना ऋषि ने अपने पुस्तकों में लिख ही दिया है । उस से मूर्ति पूजा नहीं चली तो वेदासन से भी न चलेगी । रहा वेद के विराजने का प्रश्न । ठाकुर जी की तरह नहीं, पर वेद की तरह तो वेद विराजेगा ही । प्रवचन के समय तो उसे विराजना (आसन पर रखा जाना) ही होगा । यदि वेदासन में डेस्क हो और कोई समाज उस डेस्क में वेदों को सदा के लिये रखदे तो इसमें सभा बाधक न होगी । पुस्तक की रक्षा और सुसज्जा कोई बुरा काम नहीं—उल्टा रखने वाले के स्वच्छ स्वभाव की द्योतक है । उस पर चढ़ावे चढ़ाना बुरा है पर चढ़ावों के डर से उसे अच्छे चौखटे अथवा ओढने में न रखना कुछ सीमा से अधिक सावधानता है । छाछ को फूंक २ कर पीने वाले सावधान नहीं कहलाते ।

हम महाशय जी के इस प्रस्ताव से पूर्णतया सहमत हैं कि आर्य समाजों में वेद मन्त्रों की व्याख्या अधिक हुआ करे और आर्यसमाजी अपने घरों में वेद का पुस्तक रखें । जिस की रक्षा करें और उसे पढ़ते रहें ।

मसजिदों में मिम्बर होते हैं । गिरजों में पुलिपट होती है । हां ! उन पर कुरान वा इंजील रात्रि दिवा धरी नहीं रहती । सो वेदासन पर भी यह नियम नहीं कि वेद हर समय विराजे । इतनी अनुमति तो आर्यसमाजी भी दे ही देंगे कि वेद के पुस्तक प्रत्येक समाज में रहें । अलमारी में रहें या वेदासन के डेस्क में—सुरक्षा से रहें और स्वच्छता से । यह नहीं कि उन पर मट्टी की तह जमी रहे ।

म० नत्थनलाल जी से हमारी शिमले में भेंट हुई थी । उन्हों ने 'वेदों के विराजने' की भ्रान्ति से प्रेरित होकर यह लेख लिखा था--ऐसा उन का कथन था । उन्हें पत्र द्वारा उत्तर देने की आवश्यकता न थी । परन्तु चूंकि और पाठकों को भी वही भ्रम है अतः यह संक्षिप्त टिप्पणि प्रकाशित कर दी है ।

लाहौर आर्यसमाज का उत्सव—

लाहौर आर्यसमाज का उत्सव अब सिर पर आ गया है । उसकी तैयारियां होनी आरंभ हो गई हैं । यह उत्सव प्रान्त का कैंद्रिक उत्सव है । इसका प्रकार अन्य उत्सवों से विलक्षण रहेगा । इस में व्याख्यानों की भरमार, सारे दिन की व्यापृतता होनी स्यात् अनिवार्य हो । अपनी स्थानिक आवश्यकताओं को अधिकारी ही भली भान्ति जानते हैं । परन्तु एक परिवर्तन, जिसका प्रस्ताव हमने पिछले वर्ष भी किया था, हम इस कैन्द्रिक उत्सव में अवश्य देखना चाहते हैं । प्रातःकाल की कार्यवाही प्रत्येक दिन आर्य परिवारों के लिये हो । सब आर्य अपने बाल बच्चों समेत यज्ञ के समय से पधारें । गीत इकट्ठे गाएं । और

उपदेश ऐसे महानुभाव का हो जो अनुभवी और वेद-पाठी हो। उन महानुभाव का संबोधन आर्यों को लक्ष करके हो। हो सके तो उपदेश के पश्चात् आर्यों का परिचय भी कराया जाय।

उत्सवों का स्थायी लाभ उसी समय होगा जब उन का कोई भाग आर्य समाजियों का अन्तरीय सुधार करने के निमित्त से मनाया जायगा। लाहौर इस विषय में प्रान्त भर का अगुआ बने तो विशेष श्रेय का पात्र हो।

गुरुकुल में बाढ़—

इस वार बाढें सारे देश में आरही हैं। दक्षिण भारत की बाढ़ों ने सैंकड़ों मनुष्यों को बेघर किया। सैंकड़ों की समाध जलतल में बनवाई। यही अवस्था सिन्ध की बाढ़ से हुई। अब उत्तरीय भारत की वारी थी। गंगा और यमुना दोनों में एक साथ जल-विप्लव आया है। इस में गांव के गांव बह गए हैं। बहे जाते मनुष्यों के समाचार नित्यंप्रति पत्रों में निकल रहे हैं। गंगा की बाढ़ ने गुरुकुल पर भी वार किया है। मार्ग की गाड़ियां रुक जाने और तार का संबन्ध टूट जाने के कारण समाचार बड़ी देर में पहुंचे हैं। ३० सितंबर का लिखा हुआ पं० विश्वंभर नाथ जी मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी का पत्र ६ अक्टूबर को लाहौर में पहुंचा। उस से ज्ञात हुआ कि विप्लव प्रलयकारी था। २८ सितंबर प्रातः काल पता लगा कि झंडे के पास (जो गुरुकुल भूमि की सीमा है) गंगा की प्रवल लहरें पहुंच चुकी हैं। वहां जाने और वहां से लौटने तक के अन्तर में गुरुकुल के पीछे के नाले का पानी गुरुकुल प्रेस पर चढ़ आया। अधिकारियों का वहां जाना ही था कि दूसरी ओर से भी जल का आक्रमण होना आरंभ हो गया। फिर क्या था सारी गुरुकुल भूमि जलमय हो रही थी। परमात्मा की कृपा यह कि गुरुकुल में ग्रीष्मावकाश था। ब्रह्मचारी गुरुकुल भूमि से बाहर थे। बड़े अपने घरों को अथवा भ्रमणार्थ पर्वतीय स्थानों को गए हुए थे और छोटों को मैलेरिया से सुरक्षित रखने के लिये डेरादून भेजा हुआ था। थोड़े से बड़ी श्रेणियों के ब्रह्मचारी और थोड़े से गुरुकुल के कर्मचारियों के परिवार गुरुकुल भूमि में थे। इन्हीं को बचाना बड़ा कठिन हो गया। गुरुकुल के दोनों कूपों का स्थान साधारण भूमि के तल से ऊंचा जान कर उन पर डेरा लगाया गया। महाविद्यालय और महाविद्यालयाश्रम के बीच में तमेड़ चलानी पड़ी। कुछ सामान इस तरह सुरक्षित किया गया। रात के १२ बजे तक विप्लव का ज़ोर रहा। क्षण क्षण में मौत मुंह खोले नज़र आती थी। इधर उधर मकानों के गिरने की आवाज़ें आरही थीं। जी दहलता था। प्रभु २ करते अन्त को बाढ़ थमी। पानी उतरने लगा। तब कहीं हृदय को शान्ति हुई। परमात्मा का धन्यवाद है कि मनुष्य सब बच गए। मकानों में कालेज का मकान, धर्मशाला, स्नानशाला आदि थोड़े से भवन बच रहे हैं। शेष सब कुछ जल में प्रवाहित हो चुका है। प्रेस में लोहे की मशीनें थीं उनका पता ही नहीं कि क्या हुईं। गोशाला गिर गई। पशु कुछ दब गए, कुछ बह गए। परिवार-गृह प्रायः नष्ट हो गए। आश्रम, व्यायामशाला, खादी भवन, कला भवन, औषधालय, भण्डार जिस में सहस्रों रुपयों की भोजन छादन की सामग्री थी, चिन्ह मात्र भी शेष नहीं।

गंगा की भेंट हो चुका है। सारांश यह कि लाखों की हानि हुई है। अभी हानि का अनुमान करना कठिन है। बाईस बर्ष जिस संस्था के निर्माण में लगे थे, आज क्षण मात्र में वह खंडहरों के रूप में परिणत हो चुकी है। लाखों की सम्पत्ति गई। संस्था को आगे कैसे चालू किया जाए—यह समस्या है। चालू तो करना ही होगा। यदि हम दैव के आगे दब गए तो हमें कोई जीवित जागृत जाति कब कहेगा? आपत्तियां जातियों पर आती ही रहती हैं और इन्हीं में जातियों के जीवन की परख होती है। जो लोग विपत्तियों की टक्कर के आगे छाती ठोक कर उठ खड़े होते हैं वह वीर कहलाते हैं। विपत्तियों से दब जाने वाले भीरु कायर कापुरुष—ऐसी कुत्सित उपाधियों से स्मरण किये जाते हैं। परमात्मा हमें बल देंगे कि हम इस असह्य कष्ट को सहन करेंगे। शीघ्र नए गुरुकुल का निर्माण कर देंगे। आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा का अधिवेशन हो चुका है। दूसरा अधिवेशन २१ अक्तूबर को कांगड़ी में बुलाया गया है। वहां निश्चय होगा कि अब गुरुकुल कहां खड़ा करना है। आज आर्यसमाज की पीठ पर सारा देश है। जैसे श्रीयुत केल्कर ने शिमले में भाषण करते हुए कहा था, आर्यसमाज की सर्व-प्रियता का एक कारण गुरुकुल द्वारा प्रचरित की हुई पुरातन शिक्षा प्रणाली है। आर्यसमाज उत्साह करे और मांगे। देश सहायता देने से इनकार न करेगा।

शिमला आर्य्यसमाज का अखाड़ा—

शिमला आर्यसमाज का उत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। व्याख्यान उत्तम थे। समारोह बहुत था। नगरकीर्तन का संघट्ट सब स्थानीय सोसाइटियों को मात कर गया था। शास्त्रार्थों में आर्यसमाज का पल्ला भारी था। धन १४०००) रु० के लगभग एकत्रित हुआ। सब से विशेष बात आर्यसमाज का अखाड़ा था। यह अखाड़ा प्रातःकाल के ५ बजे से आरम्भ होता है और ९ बजे तक तो प्रातःकाल और फिर ६ बजे सायंकाल से ११ बजे रात्रि तक चालू रहता है। इस में डंड, कुशती, गतका और अन्य प्रकार का व्यायाम होता रहता है। उत्सव का एक दिन इस अखाड़े की प्रदर्शिनी के अर्पण हुआ। शिमला में यह अखाड़ा एक विशेष देशोपकारक संस्था है। उस से नगर को बहुत लाभ पहुंच रहा है। परमात्मा दूसरे समाजों को शिमला समाज के अनुकरण की शुभ मति दें।

मांस का प्रश्न—

आज भी यदि कोई आर्य्य-समाजी कहे, कि मांसाहार आर्य्य-समाजके सिद्धान्तानुकूल है, तो वह अपने आर्य्यत्व की हंसी उड़ाएगा। आर्य्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभाकी घोषणाके पीछे कि मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है, इस विषयमें दोनों पक्षोंका मत एक समझना चाहिये। हां! उस मतको क्रियामें लानेमें शिथिलता रहे, यह और बात है। गुरुकुल-विभागके समाजोंसे मांसाहारका उन्मूलन कर देना—यह हमारा पहिला प्रयत्न होना चाहिये। कमसे कम सभासद्‌ मांसाहारी न रहें।

कुछ समय हुआ, एक आर्य्य-पण्डितसे हमारा वार्तालाप हुआ। वह मांस न खाते थे। उन्होंने कहाः—"मुझे सन्देह है कि शास्त्र मांसके इतने विरुद्ध हैं, या नहीं। मैं खोज करूंगा। यदि शास्त्रोंने आज्ञा दे भी दी, तो भी स्वयं नहीं खाऊंगा, परन्तु औरों पर उंगली भी न उठाऊंगा।"

अब हमें पता लगा है, कि ऐसा एक समुदाय है। वह मांस का खुला प्रचार नहीं करते,परन्तु संदेहों का बीज बोते रहते हैं। हमें उनकी आत्मिक अवस्था दयनीय प्रतीत होती है। गीतामें कहा है—संशयात्मा विनश्यति। आख़िर कभी निश्चय भी करोगे? और जब निश्चय कर लिया, कि वेद में आज्ञा है, तो फिर क्या उस निश्चयको क्रिया में न लाओगे? नहीं पसन्द आता, और बात है। तब संयम का श्रेय मत लो।

सन्देह है, तो पण्डितों के सामने रक्खो। उसकी निवृत्ति कराओ। सन्देह का प्रकाश साधारण लोगों में करना किसी उत्तम अभिप्राय का द्योतक नहीं।

ख़ैर! हमें क्या? कुछ हो। यदि ऐसे महाशय साहस पूर्वक अपने विचार पब्लिक में रक्खें, तो उनके सन्देहों का समाधान होसके।

अथर्ववेद के एक मन्त्र का पता हमें दिया गया है।

अधि गवं क्षीरं च मांसं च। इस पर वादी को सन्देह है।

प्रकरण यह है कि अतिथि को खिलाने से पूर्व यह पदार्थ न खाए। क्या पदार्थ? गौ का क्षीर, और मांस।

श्री बुधदेव जी ने ज्येष्ठ मास के 'आर्य' में इस मंत्र पर विचार किया है। यहां मांस का अर्थ है गुद्दा। 'अधिगवं' शब्द की आवृत्ति 'मांस' शब्द पर नहीं होती। यदि हो तो उसका अर्थ होगा 'गाय का मांस'। फिर सिद्धान्त यह होगा कि गोमांस का विधान वेद में है। वेद में अन्यत्र स्पष्ट आज्ञा है कि पशु को न मार (यजु०)। मांस खाने वाले के लिये दण्ड का विधान है (अथर्व० ८. ३. १५)। इन आज्ञाओं के अनुकूल उपरोक्त मंत्र का अर्थ करना होगा। 'अधिगवं' की आवृत्ति 'मांस' पर करने की साहित्यिक आवश्यकता क्या है? सूधा अर्थ अन्य स्थलों के साथ संगत है। मांस का अर्थ गुद्दा है। इस के लिये सुश्रुत (सूत्र स्थान अ० ४६ श्लोक १४६, १५०) भी प्रमाण है और स्वयं वेद भी, जहां रोहिणी बूटी के मांस (गुद्दे) से मनुष्य का मांस बढ़ना लिखा है (अथर्व ४. १३. ४)। विस्तार के लिये पं० बुद्धदेव जी का लेख पढ़िए।

एक और शंका यह की जाती है, कि जहां मांस-भोज के लिये वेद में दंड का विधान है, वहां शब्द है 'क्रविः' अर्थात् कच्चा मांस। हम चकित हैं कि यदि कच्चे मांस के लिये घोर दण्ड है तो फिर पका लेने से अपराध में क्या कमी आजाती है कि उसका खाना विहित हो जाता है?

संदेह कोई हो, उस की निवृत्ति करनी चाहिये। जनता की बुद्धि को विचलित करना न बुद्धिमत्ता है न वीरता।

हम ने इस टिप्पणि में न व्यक्तियों का नाम लिया है न किसी पार्टी की ओर संकेत किया है। जब दोनों पार्टियां मांस भक्षण को वेद--विरुद्ध मानती हैं तो दोनों को यत्न करना चाहिये कि क्रियारूप में मांसाहार का विरोध हो। दोनों पक्षों में जिस २ व्यक्ति का जितना अधिक प्रभाव है, उतना उसे अपने सहपक्षियों के लिये उदाहरण बन कर इस तामसिक आहार के उन्मूलन में यत्नशील होना चाहिये।

महात्मा गान्धी का व्रत—

देश में नित नए झगड़े देखकर महात्मा गान्धी ने अपनी धर्म-पद्धति के अनुसार फिर उपवास किया है। महात्मा का विचार है, कि हिन्दू मुसलमानों की वर्तमान जागृति का मुख्य कारण उनका असहयोगान्दोलन है। इस विचार की यथार्थता में किसी को सन्देह नहीं। यह जागृति लगनी तो चाहिये थी विदेशी राज्य के विरोध में, परन्तु लग गई आपस की मुठ-भीड़ में। मालाबार से लेककर कोहाट तक जितना खून खराबी हुआ, वह इसी जागृति के कारण हुआ। इसलिये महात्मा समझते हैं, कि इस खूनखराबे का मूल भी वह स्वयं हैं। दूसरे शब्दों में यह उनका अपराध है, जिसका प्रायश्चित्त महात्मा ने २१ दिन के अनशन व्रत से किया है। हमें तो न महात्मा के इस अपराध की संभावना से सहमति है, न प्रायश्चित्त के प्रकार से। महात्मा की प्रकृति मध्यकालीन भक्तों की सी है, जिन्हें पग २ पर पाप की संभावना होती थी। अपराध कोई करे, अनुताप उन्हें होता था। वैरी को प्रेम से जीतना—यह उनका लक्ष्य होता था। परन्तु जो साधन वह वर्तते थे वह थे उस लक्ष्य की अति। अपकारी का वैसा अपकार न करना जैसा उसने हमारा किया है—यह सहिष्णुता तो हमारी समझ में आती है। उसके अपकार के साथ अपना अपकार मिला कर अपने ऊपर दो अपकारों का भार लेना—यह हमारी समझ में नहीं आता। शत्रु पर विजय पाकर उसे क्षमा कर देना, यह वीरों की दया है। विजय के पूर्व वैरी के पांव पर लोटना—यह मध्यकालीन भक्ति-मार्ग का आदर्श है। महात्मा अनुभव करते हैं, कि इन सब हत्याकाण्डों में मुसलमानों ने पहल की है। यह हत्याकाण्ड अभी बन्द होसक्ते हैं, यदि मुसलमान हिन्दुओं से प्रेम करें। महात्मा का उपवास एक प्रकार से प्रेम की अपील है। अन्यथा एक मुसलमान के घर 'प्रायश्चित्त और प्रार्थना' के कुछ अर्थ नहीं। परमात्मा उनके इस प्रयत्न को सफल करें, यद्यपि अभी इस सफलता के कोई चिन्ह प्रतीत नहीं होते।

एकता सभा—

महात्मा के व्रत से चिन्तित होकर देश के नेताओं का देहली में एक सङ्घ हुआ। लाला लाजपतराय का विचार है, कि सङ्घ काफ़ी बड़ा न था। सब श्रेणियों के प्रतिनिधि इस सङ्घ में सम्मिलित न थे। कई दिन इस सङ्घ की बैठकें हुईं। बड़े उत्तम प्रस्ताव पास हुए। धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रत्येक भारतवर्षीय को दिया गया। धर्म के क्षेत्र से बलात्कार का निर्वास हुआ। यदि इन प्रस्तावों के अनुसार क्रिया हो, तो आज शान्ति

होजाती है। परन्तु इन पर आचरण कराने का कोई साधन नहीं सोचा गया। एक पञ्चायत बनी, जिसका काम है कहीं होगए झगड़े को निबटाना। झगड़ा होने से पूर्व उसकी रोक थाम करने का कोई उपाय नहीं किया गया।

सभा की कार्य्यवाही महात्मा के व्रत से पूर्व समाप्त होगई। महात्मा इससे सन्तुष्ट हैं, या नहीं, यह उनका अपना हृदय जानता है। बात यह है, कि हिन्दू मुसलमान के प्रश्न पर महात्मा अपने मन की बात कहते नहीं। जितने सरकार के सम्बन्ध में महात्मा निर्भीक हैं, उतने अन्तर्जातीय समस्याओं पर महात्मा लज्जाशील हैं। यह उनका सौजन्य है। वह अपनी अन्तर्वेदना व्रतों में, उपवासों में, कठोर कष्टों में प्रकट करते। देखने वाले का हृदय भी पसीजे, तब बात हो। मौलाना मुहम्मद अली से क्या कहें—तुम्हारी जाति मेरी जाति पर आपत्तियां तोड़ती है? उनके द्वार पर आकर आत्म-हत्या का सा सङ्कल्प कर लेते हैं। मौलाना की आंखों में जल आजाता है, और वह हिन्दू-मुसलमान दोनों को कहते हैं—लड़ो मत। महात्मा हिन्दुओं को दोषी बताते हैं—यह उनका शील है। मौलाना दोनों को—यह उनका शील है। एकता-स्थापन का यह अभिनय होता चला जाता है। परमात्मा इसमें कृत-कार्य्यता लाएं।

कलकत्ते का छपा सत्यार्थ प्रकाश—

कार्तिक मास के 'आर्य' में हमने कलकत्ते के छपे सत्यार्थ प्रकाश के संबन्ध में एक टिप्पणि प्रकाशित की थी। copy-right मुद्रणाधिकार के संरक्षण के विषय में हमारा विचार अब भी वही है जो तब था। परोपकारिणी सभा ने अब अपने छपाए सत्यार्थप्रकाश का मूल्य १) रु० कर दिया है। इस का श्रेय हम कलकत्ते के महाशय हासानन्द को देंगे। यदि यह नया संस्करण मंडी में न होता तो परोपकारिणी अपने पुस्तकों के दाम एक धेला भी कम न करती। परन्तु हमने लिखा था कि मुद्रित पुस्तक के साथ कुछ विश्वस्त पण्डितों का प्रमाण-पत्र छपना चाहिये कि यह संस्करण मूल पुस्तक के अनुकूल है। विचारास्पद पुस्तक में ऐसा नहीं किया गया। हमने इसे मूल के साथ मिलाया है। हमें यह देखकर दुःख हुआ कि पुस्तक में वृथा हस्ताक्षेप किया गया है। हम नीचे कुछ पृष्ठों के मूल शब्दों और उनके स्थान में परिवर्तित शब्दों की सूची देते हैं। पाठक विचार करें कि संपादक ने इस पुस्तक के संपादन में कितनी अनधिकार-चेष्टा की है।

पृष्ठ	कौलम	पंक्ति	नया संस्करण	पुराना संस्करण
२	२	३	'वं'	'त्वं'
२	२	७	—	ल
४	१	६	सत्व	सत्य
६	१	१८	क्त्रु	क्तृ
६	१	२६	वियते	व्रियते
६	२	२८	वृह वृहि	बृह बृहि

पृष्ठ	कोलम	पंक्ति	(१) नया संस्करण	पुराना संस्करण
७	२	८	(पुञ् अभिषवे	षुञ् अभिषवे
७	२	१०	विमचनं	विमोचनं
७	२	३२	जानने हारा	जनाने हारा
८	२	१६	कमणा	कर्मणा
१०	२	३	संतापयति	संज्ञापयति
११	१	२०	सेवायाम	सेवायाम्
११	२	२४	द्वैतम	द्वैतम्
१२	१	२६	के	को
१२	२	३२	सबको	सबके
१३	१	१९	अय	अन्य
१३	१	२१	लिखा न	लिखा और न
१३	१	२६	का	के
१३	२	१	संतानो !	हे सन्तानो !
१३	२	१३	आता	आते
१३	२	१५—१६	यह व्याक—भाष्य	इति व्याक—भाष्ये
१३	२	१९—२०	यह पूर्व—मीमांसा	इति पूर्व—मीमांसायाम्
१३	२	२३	यह वैशे—दर्शन	वैशे—दर्शने
१३	२	२५	यह योग शास्त्र	योगशास्त्रे
१३	२	२८	यह—शास्त्र	सांख्य शास्त्रे
१३	२	३०, ३१, ३२	चतुष्टय—वेदान्त सूत्र है	इदं वेदान्त सूत्रम्
१४	१	२	यह—वचन है	इदं छान्दोग्योपनिषद्वचनम्
१४	१	४, ५	यह—वचन है	इदञ्च माण्डूक्योपनिषद् वचनम्
१४	१	६	× × × ×	ये सब उन २ शास्त्रों के आरम्भ के वचन हैं
			(चतुर्थ समुल्लास)	
४६	१	४	जब यथावत्	यथावत्
४६	१	८	धर्मेण	धर्मेण
४६	१	१३	ग्रहण, माला	ग्रहण और माला
४६	२	२०	(१) पहला—	(१) एक—
५०	१	२	बाल्यावस्था	या बाल्यावस्था
५०	१	२३	दूरेहिता भवतीति	दूरेहिता दोग्धेर्वा
५१	२	६	वर्ष विवाह में गौरी	वर्ष गौरी
५१	२	८	जो दशवें	दशवें

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर।

ब्यौरा आय व्यय बाबत मास भाद्रपद १९८१

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
वेद प्रचार	२७२२५)	१५८६|||-)४	८४६१=)५			
दशान्श	२०००)	२८५|-)	८८२||=)||			
आर्य	६८००)	१७६||=)	६६३≡)	६८००)	५)	६१६)
...नानिधि	२०००)	=)	१३१)७			
कार्यालय				६५००)	४८४)|||	२४६०|-)२
वैदिक पुस्तकालय	१००)	२०)	६९|||)	२५००)	५०३=)	११६९≡)
पुस्तक तैयार कराई				५००)		१२०)
...याद्य				७००)	६६|)	३००=)|||
वेतन उपदेशक				१५१४१)	११८०=)||	६३०१|=)१०
मार्ग व्यय				६५००)	७३६|)|||	२८१६||≡)|
बीमा जीवन				६०)		४०||≡)
पुस्तक विभाग	२००)	४२≡)	८२-)||			
वैदिक कोष				१४००)	१२६||-)	५०५≡)||
योग		२११४-)४	१०३२०=)		३१३४|≡)	१४३६२||≡)||
...राम स्मारक निधि	३००)	|=)	४७|=)			
वेतन उपदेशक				१४००)	८५)	३५५)
मार्ग व्यय				५००)	६१||≡)	१९३||≡)
...रा विधवा पं० तुलसी राम				१२०)	१०)	५०)
„ „ पं० वज़ीरचंद				६६)	८)	४०)
योग		|=)	४७|=		१६४||≡)	६३८||≡)
						३७२)
...नत आर्य विद्यार्थी आश्रम		६६३४|||=)२	७२३६|)||		६५६४|||)२	६७६६|||-)२
„ अन्य संस्थायें		३६५)	२४५५=)|			
„ आर्य समाजें			५२)		१०)	८०)
वैदिक पुस्तकालय						
योग		७३२९|||=)२	६७४६|=)||		६५७४|||)२	७२१८|||-)२
...द बैंक		४६०|≡)||	१३७६७|=)११		१०१)५	१०१)•
„ फर्ज़ा		५७||-)||	१८२||-)||			
किराया मकानात			२०)			
भूमि आय व्यय		३०)	१०७)		८०|||=)|||	१४६-)|
					११≡)२	१६६|-...
योग		[illegible]	१४१०७)५			

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर।

व्यौरा आय व्यय बाबत मास भाद्रपद सं० १९८१

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
गुरुकुल मुलतान			५)			
अज्ञात निधि		१०३३।।।≡)।	११८३-)।		४२८।।।)	७६२।।≡)
दयानन्द-जन्म शताब्दि	१००००)	१४५९)	२७४८।।।=)	१५०००)	१३८।।)	४८२४।।-)।
दलितोद्धार	१२०००)	२७३।)	१८५८।।≠)।।।	१२०००)	१९२)।।	१७८४।।।)
राजपूतोद्धार			१८५।।।-)		१८६।)	६५६।।≠)
प्रोवीडेण्ट		८८-)	४४८।)।			८२७।।।≡)।।
बोनस				१०००)		१७७।≡)४
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	२८७०)	७≠)	५२६≠)	२८७०)	१४५।।-)	९२०≡)।।
,, ,, ,, शाला		६५५६।।।=)२	६६६३।।।≠)२			
वसीयत पं० पूर्णानन्द			२६२५)		४०)	२०३।।-)।।
विदेश प्रचार	८०००)		५५)	८०००)		
कन्या गुरुकुल		≡)	३२≡)			५१३)।
सभा के सेवकों की सहायता					८)	१६)
दयानन्द उपदेशक विद्यालय			२)			
आसाम प्रचार			१०७।।-)			
दयानन्द सेवा सदन			२)			
रामचन्द्र स्मारक निधि			३८०।।-)			२२५।[illegible]
ईश्वरदास निधि					१५०)	१५०)
अंडमन प्रचार		४०)	४०)			
योग		९४५८।≡)५	१६८६७।)५		१२४६-)।।	११०६०।)७
गुरुकुल महानिधि		१७२०३)।।।	६४३९३)१०		२६४५७।≠)११	५८७८७-)११
,, अस्थिर क्षात्रवृति		३२६३)	८६०२)			
,, स्थिर कोष			२१०)			
,, उपाध्याय वृति			—८०३५।।)			
,, स्थिर क्षात्रवृति		२०००)	७०००)			
,, आयुर्वेद			१००३५।।)			
योग		२२४६६)।।।	८२२०५)१०		२६४५७।≠)११	५८७८७-)११
सर्व योग		४१६४६।।।≠)८	१३३२९३।)५		३७६७१।।-)।।।	६२२२६।।।≡)।।
गत शेष		६६०३६२।।)	९५३६०१।।।)४			
योग		१०३२३३९।।=)८	१०८६८९५)।।।			
व्यय		३७६७१।।-)।।।	९२२२६।।।≡)१०			
वर्तमान शेष		६६४६६८)११	६६४६६८)११			

Registered No. L. 1424.

रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ५
अङ्क ६

कार्तिक १९८१
नवम्बर १९२४

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना ।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य बनावें ।
[illegible] सुख [illegible] फैलावें ।
आप बढ़ें, तेरे राज्य बढ़ावें ।।
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ।।

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ ।

विषय सूची ।

विषय. | पृष्ठ.

'आर्य्य' के नियम।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मासकी १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है (इस सूचना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है)।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है। सभाने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभाकी सूचनायें दर्ज होती हैं।

४—पत्र में प्रकाशित होनेके लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≤)

* ओ३म् *

आर्य्य

भाग ५] लाहौर–कार्तिक १९८१ तदनुसार नवम्बर १९२४ [अंक ६

वेदामृत।

गोपालन के लाभ।

ओ३म् संजग्माना अबिभ्युषिरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥

अथर्व ३। १४। ३॥

आयें गायें निर्भय होकर।
रल मिल बसें, गिरायें गोबर॥
मधु दें मक्खन गुणकारी दें।
और दूध संकटहारी दें॥

अग्निहोत्र और आर्य्यसमाज का कर्तव्य।

(डा० रामजी नारायण D. Sc.)

आर्य्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने पञ्च महायज्ञ का करना प्रत्येक आर्य्य का, स्त्री हो अथवा पुरुष, वृद्ध हो अथवा युवा, दैनिक कर्तव्य ठहराया है। अतः अग्निहोत्र को आर्य्य जीवन में कितना उच्च स्थान दिया है, यह सहज में ही समझा जा सका है। इसका कारण स्पष्ट है। अग्निहोत्र के आध्यात्मिक लाभ के अतिरिक्त अन्य कितने ही भौतिक अथवा प्राकृतिक लाभ हैं। यह एक ऐसी क्रिया है कि जिसके करने से कोई भी व्यक्ति आर्य्य सिद्धान्तों में विश्वास न रखता हुआ भी अनेक लाभ उठा सकता है। जल वायु की शुद्धि, रोग और व्याधि से बचाव, समय पर वृष्टि ऐसी बातें हैं जिन्हे कौन नहीं चाहता। आर्य्यसमाजियों का यह दावा है कि यह सब लाभ प्रत्येक गृहस्थ को सायं प्रातः प्रति दिन अग्निहोत्र करने से स्वयं प्राप्त होजाते हैं। बहुत से आर्य्यसमाजी और हिन्दू इस यज्ञ को नियम पूर्वक करते भी हैं। परन्तु वह ऐसा धार्मिक विश्वास अथवा ऋषि वाक्य में श्रद्धा ही के कारण करते हैं। यदि कोई विधर्मी उनसे हवन के लाभों के सम्बन्ध में प्रश्न करे तो वह उसको विश्वास नहीं दिला सकते। आजकल विज्ञान का युग है और अग्निहोत्र का भौतिक प्रतिपादन एक वैज्ञानिक विषय है। जब तक वैज्ञानिक रुप से इस वैज्ञानिक क्रिया की व्याख्या न की जाय किसी भी समझदार व्यक्ति को इस में विश्वास दिलाना असम्भव है। आओ देखें कि आर्य्यसमाज ने अपने धार्मिक प्रचार के इस अंग की ओर कितना ध्यान दिया है।

आर्य्यसामाजिक साहित्य के अवलोकन से पता लगता है कि अब तक इस में केवल दो लेख ऐसे निकले हैं जिन में वैज्ञानिक दृष्टि से इस महत्व पूर्ण विषय पर विचार किया गया है। दस वर्ष के लग भग हुए कि इस लेख के लेखक ने वैदिक मैगज़ीन में एक लेख लिखा था। इस लेखका दृष्टि कोण प्रायः खण्डनात्मक था। बहुत से पढ़े लिखे व्यक्ति-जिन्हों ने कि कालिजों में विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की है-प्रायः यह कहते सुने जाया करते हैं कि अग्निहोत्र से लाभ के स्थान में हानि की अधिक सम्भावना है क्योंकि हवन में सामग्री और लकड़ियों के जलने से कार्बन डाई अक्साईड (Carbon Dioxide) नामिक गैस-जो कि प्रत्येक अधातुमय पदार्थ (organic substances) के जलने से उत्पन्न होती है-का पैदा होना आवश्यक है और यह वही गैस है जो कि जलते हुए कोयलों में से पैदा होती है। इसी के कारण, मूर्खता से कोयलों को कमरे के भीतर जलाकर और किवाड़ बन्द करके सोने से कितने ही मनुष्यों के प्राणनाश के समाचार प्रायः सुनने में आते हैं। तब फिर ऐसी हानिकारक गैस को यदि प्रत्येक गृहस्थी दोनों समय नियम पूर्वक उत्पन्न करने लगे तो इससे जो हानि होसकती है उसका अन्दाज़ा सहज में ही लगाया जा सका है। अतः विज्ञान के मतानुसार अग्निहोत्र सर्वथा निषिद्ध

ठहरता है। लेखक ने बतलाया कि प्रथम तो इसका कोई प्रमाण नहीं कि हवन से Carbon Dioxide पैदा होती है या इसके अतिरिक्त और कोई भी गैस उत्पन्न नहीं होती, और दूसरे यदि यह मान भी लिया जाय कि केवल यही गैस पैदा होती है तब भी यह सिद्ध नहीं किया गया कि यह इतनी मात्रा में होती है कि वायु मण्डल को विषयुक्त करदे। आज भी बिना किसी प्रकार के अग्निहोत्र करने के प्रत्येक गृहस्थी अपने घर में प्रति दिन लकड़ी और कोयला जलाता है और उस से कहीं अधिक मात्रा में जलाता है जितना कि हवन के लिये आवश्यक है परन्तु इस से न तो किसी की हानि होते ही देखी और न किसी ने यह आक्षेप ही किया कि हमें अपने घरों में भोजन पकाना छोड़ देना चाहिए क्योंकि इससे विषमय Carbon Dioxide गैस उत्पन्न होती है। इसके विपरीत लेखक ने यह सिद्ध किया था कि जिस मात्रा में हवन से यह गैस पैदा होती है, वह हानिकारक होने के स्थान में लाभदायक है। साधारणतया हमारे वायुमण्डल में १०० पीछे ·003 भाग अथवा १०००० भाग में ३ भाग इस गैस के होते हैं। यदि हम मान लें कि संसार का प्रत्येक गृहस्थ हवन करता है तो अधिक से अधिक इसका फल यह होगा कि कार-बन डाई अक्साईड ३ भाग के स्थान में हवा में ६ भाग हो जाय परन्तु श्वांस द्वारा प्राणियों के लिये विषमय होने के लिये यह आवश्यक है कि यह गैस अपने साधारण प्रमाण से कहीं अधिक अथवा १० भाग प्रति १०००० में हो। इससे भी मृत्यु नहीं होती वरन सिर भारी होजायगा। यह प्रश्न होसकता है कि बैठे विठाये थोड़े ही प्रमाण में सही, इस गैस को पैदा करने से क्या लाभ? कृषि विद्या विशारदों ने यह तजरुवा करके देखा है कि ऐसे वायुमण्डल में जिस में इस गैस की मात्रा साधारण की अपेक्षा अधिक करदी जाय पौदे और फसल कहीं अधिक पैदा होते हैं। जिस युक्ति को हमारे विपक्षी अग्निहोत्र के विरुद्ध पेश करते हैं वह तो इस यज्ञ का समर्थन करती है।

लेखक ने यह भी बतलाया था कि हवन में जो धुआं हो जाता है उसमें बहुत ही बारीक अवस्था में न जले हुए कोयले के भाग रहते हैं और यह वायुमण्डल में फैल कर अलग अलग होकर छिन्न भिन्न होजाते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि वायुमण्डल में वाष्प (भाप) के रुप में जो जल रहता है, वह जम कर पुनः जल का रुप धारण नहीं कर सकता जब तक कि बून्दें बनने के लिये इसको किसी ठोस पदार्थ का सहारा न मिले। अतः वर्षा होने के लिये हवा में रेणुकण का होना परमावश्यक है। यही कारण है कि प्रायः आन्धी के पीछे वर्षा आजाती है। हवन के द्वारा भी हम यह रेणुकण ही वायु-मण्डल में पहुंचाते हैं। कई बार हम देखते हैं कि वर्षा की ऋतु में आकाश में बादल इधर उधर घूमते रहते हैं परन्तु वर्षा नहीं होती। इस अवस्था में यदि पर्य्याप्त मात्रा में हवन किया जाय तो वर्षा होजाने की सम्भावना एक वैज्ञानिक सम्भावना है।

इस विषय का पूरा दुसरा लेख-जो उपरोक्त से कहीं महत्वपूर्ण है, प्रोफैसर राम शरणदास सक्सेना का है जो कि जूलाई १९२० की ज्योति में प्रकाशित हुआ है। यह

मण्डनात्मक है। इस में प्रोफैसर सक्सेना ने अपने किये हुए तजरुवों के आधार पर हवन की उपयोगता सिद्ध की है। उन्होंने कुछ अन्य विद्वानों के मत का भी उल्लेख किया है। मद्रास के सेनेटरी कमिश्नर कर्नल किंग आई-एम-एस ने २५ मार्च सन् १८९८ को ग्रेजुएट विद्यार्थियों को घी, केसर और चावल मिलाकर जलाने का आदेश किया। इन महाशय के विचार में घी, केसर और चावल के मिश्रण को जलाने से जो गैस उत्पन्न होती है, वह वायु को शुद्ध करने वाली और हानिकारक जीवाणुओं Bacteria का नाश करने वाली है। प्लेग इत्यादि के जीवाणु इन गैसों की उपस्थिति में नष्ट होजाते हैं। हैनकिन महाशय ने अपनी व्यूबोनिक प्लेग नामी पुस्तक में उपर्युक्त महाशय के व्याख्यान का वर्णन किया है। फ्रान्स देश के डाक्टर हैफकिन की भी सम्मति है कि घी को जलाने से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं वह हानिकारक जीवाणुओं का नाश करते हैं। डाक्टर ट्रिलर्वन ने जलती हुई शक्कर पर परीक्षण करके बतलाया कि शक्कर के जलने से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं उन में फार्मेल्डि हाइड Formaldehyde की अधिक राशि होती है, जिस से क्षयी रोग, चेचक, हैज़ा के हानिकारक जीवाणु नष्ट होजाते हैं।

प्रोफ़ेसर सक्सेना ने खांड को अलग जलाकर तथा खांड मिश्रित हवन सामग्री को जलाकर वैज्ञानिक रीति से यह सिद्ध किया कि इन दोनों में Formaldehyde विद्यमान है और यह हानि कर क्रिमियों को मारने वाला है। इसी लिये Formaldehyde का घोल antiseptic और Preservation के तौर पर काम में आता है।

जायफ़ल, दालचीनी और लौंग में सुगन्धित श्रेणी के उड्डनशील तैल उपस्थित हैं जो phenol और creosotes की तरह से तीव्र कीटाणु नाशक हैं, इस लिए इन पदार्थों को जब हवन सामग्री में मिला कर जलाया जाता है तो इन से उत्पन्न गैसों में उस उड्डन शील क्रमि नाशक तैल के वाष्पों का होना आश्चर्य्य जनक नहीं। सम्भव है कि हवन की गैस में कीटाणुओं को मारने के गुण इन वाष्पों की उपस्थिति के कारण ही हों। यद्यपि हवन की गैस में अभी तक स्पष्ट रूप से phenol, creosote और terpenes की उपस्थिति का निश्चय नहीं हुआ तो भी इन की उपस्थिति की अधिक सम्भावना है जैसे कि Biochemical experiments (कीटाणु रसायन के परीक्षणों) से विदित होगा (जिन का उल्लेख नीचे किया जाता है)।

कांच की १२ कुप्पियां लेकर उनको सामान्यवस्था में जीवाणुओं से रहित (Sterilize) कर लिया और फिर एक २ जोड़े में दूध, घी, मक्खन, खांड का घोल, अण्डे की सफ़ेदी और मांस की बोटियां इन छह पदार्थों को क्रमशः डाल कर इन को पुनः क्रमियों से रहित कर लिया और मुंह बन्द कर दिया। इस से विदित हुआ कि अभी तक कुप्पियों में अथवा कुप्पियों वाले पदार्थों में क्रमियों के उपस्थित रहने की कोई सम्भावना नहीं रही। अब उपरोक्त ६ पदार्थों वाली ६ कुप्पियों में १५ मिनट तक हवन की वायु गुज़ार कर वही डाट लगादी और इन्हीं ६ पदार्थों वाली बाकी ६ कुप्पियों में १५ मिनिट तक बाग़ की

वायु गुज़ार कर इसी प्रकार डाट लगादी । अब इन्हें अलग रख दिया और ३ सप्ताह तक नित्य २४ घण्टे पीछे इन का सावधानी से निरीक्षण करके नोट करते गये ।

इस सारे परीक्षण का परिणाम इस प्रकार हुआः—

संख्या	हवन की गैस वाली कुप्पियां	संख्या	वायु वाली कुप्पियां
(१)	सड़ाव देर में आरम्भ हुआ ।	(१)	सड़ाव पहिले आरम्भ हुआ ।
(२)	सड़ाव आरम्भ होने पर रासायनिक क्रिया धीरे धीरे बढ़ी ।	(२)	सड़ाव आरम्भ होने पर रासायनिक क्रिया एक दम बढ़ गई ।
(३)	सड़ाव से उत्पन्न गैसों का दबाव कम था ।	(३)	सड़ाव से उत्पन्न गैसों का दबाव बहुत अधिक था ।
(४)	निश्चित समय में इस में सड़ाव कम हुआ ।	(४)	निश्चित समय में इसमें सड़ाव बहुत अधिक हुआ ।

इस से स्पष्ट है कि जीवाणु जो इस परीक्षण में सड़ाव के कारण होते हैं वायु में से ही कुप्पियों के भीतर पहुंचे और सड़ाव के कारण हुये । जो वायु हवन की गैस से शुद्ध हो चुकी थी उस गैस वाली कुप्पियों में सड़ाव कम होने का कारण यही है कि हवन की गैस ने वायु के हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट कर दिया था अर्थात् इनकी बहुत कुछ संख्या कम कर दी थी । जिन कुप्पियों में बाग की वायु गुज़ारी थी उन में सड़ाव शीघ्र और अधिक होने का कारण केवल जीवाणुओं की अधिक राशि ही थी । इस से ज्ञात हुआ कि हवन की गैस हानिकारक जीवाणुओं का विनाशक है ।

इस परिणाम की पुष्टि दूसरे परीक्षण से और भी बढ़ कर होगई जो निम्न प्रकार था।

कूप का ताज़ा जल १ बर्तन में लेकर इस में हवन गैसों को धीरे धीरे तीन घण्टे तक गुज़ारा जिस से हवन गैस के घुलन शील अवयव जल में घुल जावें । फिर यह जल सरकारी हस्पताल के एक योग्य डाकृर के पास परीक्षणार्थ भेजा गया इन्होंने इस जल को अपने लोशनों के स्थान पर ज़ख्मों को धोने के काम में प्रयुक्त किया । उन का कथन है कि पहिले दिन ज़खमों में मवाद अधिक आया फिर इस जल में नल का साफ़ पानी मिला कर हलका करके उस को प्रयोग किया तो इस देशी लोशन को विदेशी लोशनों के समान ही उपयोगी पाया ।

इन परीक्षणों का जो परिणाम है वह स्पष्ट है । उस पर अधिक टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं । सभी परीक्षण इस बात को सिद्ध करते हैं कि हवन गैस में ऐसे पदार्थ उपस्थित होते हैं जो हानि कारक जीवाणुओं के विनाशक हैं । हवन की गैस वायु में मिल कर वायु के जीवाणुओं को मार उसे शुद्ध कर देती है और जल में घुल कर उसे antiseptic बना देती है ।

बस आर्य्य समाज के साहित्य में अग्निहोत्र जैसे महत्वपूर्ण विषय पर केवल यही दो लेख हैं * जिन में कि वैज्ञानिक दृष्टि कोण से कुछ प्रकाश डाला गया है। यह है आर्य्य समाज की अपने महायज्ञों के प्रति श्रद्धा और भक्ति। यदि कोई विपक्षी यह कहे कि हवन में डाल कर जलाने के स्थान में यदि यह घी किसी भूखे के पेट में जाय तो अधिक अच्छा है, तो क्या इस का आर्य्य समाज के पास कोई सन्तोषजनक उत्तर है। यदि कोई अनभिज्ञ सज्जन हमें हवन करते देखे और वह उसका कारण पूछे और समाधान चाहे तो क्या हम उस को संतोष दिला सक्ते हैं। हिन्दु अपने मन्दरों में जाकर शालिग्राम की पूजा करते हैं, मुसलमान मक्के में जा सङ्ग असवद का बोसा देते हैं, ईसाई गले में सलीब लटकाते हैं और आर्य्य समाजी इन सब क्रियाओं पर आक्षेप करते हैं। आर्य्य समाज के धर्म कृत्यों में हवन ही एक मात्र भौतिक मूर्तीमान कृत्य है, यदि हमें हवन करते देख कर कोई विधर्मी हम पर भी मूर्ती पूजा अथवा अग्नि पूजा का आक्षेप कर दे तो क्या यह उचित न होगा। हवन के आध्यात्मक लाभ को छोड़ कर जो कि केवल विश्वासी के ही लिये हैं, अन्य भौतिक लाभ की यथार्थता को सिद्ध करने के लिये आर्य्य समाज ने क्या किया? प्रोफ़ेसर सक्सेना ने जो कुछ किया वह आर्य्य समाज प्रोत्साहन और सहायता के विना किया है, इस के लिये आर्य्य समाज श्लाघा का पात्र नहीं। अभी भी अग्निहोत्र को वैज्ञानिक आधार के लिये बहुत कुछ काम बाकी है। प्रोफ़ेसर सक्सेना का काम अति श्लाघनीय होते हुए भी—उस काम का १००वां भाग भी नहीं जो कि अग्नि होत्र को वैज्ञानिक आधार पर स्थित करने के लिये चाहिये। हमें यह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध करना होगा कि हवन सामग्री में जो २ पदार्थ हम डालते हैं, वह सब के सब आवश्यक हैं। उनकी मात्रा निश्चित करनी होगी, किन २ लकड़ियों से हवन किया जाय इस का निर्नय करना होगा; हवन दोनों समय क्यों किया जाय यह बतलाना होगा। और साथ ही यह भी सिद्ध करना होगा कि हवन से जो गैसें निकलती हैं वह जहां रोगोत्पादक कीटाणुओं के लिये हानिकारक हैं, वहां जीवन को बढ़ाने और स्वस्थ रखने वाले कीटाणुओं की पोसक हैं। इतना महान कार्य हमारे सामने है और इतनी उपेक्षा की जा रही है। आर्य्य समाज लाखों रुपया प्रतिवर्ष अपनी अन्य संस्थाओं पर व्यय करता है परन्तु इस शुभ कार्य के लिये इस से एक कौड़ी भी खर्च नहीं की जाती। आर्य्य समाज के नेता और कामों के लिये धन एकत्र करते हैं, बड़ी २ अपीलें करते हैं, व्याख्यान देते हैं, परन्तु इस ओर उन का ध्यान नहीं जाता। जाय भी कैसे? इस की उपयोगता तो उन के मन में आती ही नहीं। और फिर हमारा दावा है कि हम वैदिक धर्म को योरोप और अमरीका में फैलायेंगे। वैदिक धर्म पञ्च महायज्ञों के विना जीवन रहित 'प्राणि' के समान है। कर्म के विना सिद्धान्त कभी नहीं फैला करते। अब भी समय है कि इस ओर ध्यान दिया जाय। लेखक का

* मास्टर आत्माराम जी ने भी अपनी संस्कार चन्द्रिका में इस विषय पर कुछ विवेचना की है।

अनुसार है कि बीस पच्चीस हज़ार रुपया खर्च करके हम तीन चार साल में अग्निहोत्र को वैज्ञानिक आधार पर दृढ़ कर सक्ते हैं। यह निश्चय कर सक्ते हैं कि सामग्री किन २ वस्तुओं से और किस प्रकार बनानी चाहिये और हवन किस प्रकार किया हुआ अधिक लाभदायक हो सक्ता है। क्या कोई दानवीर धर्म प्रेमी ऐसा निकलेगा जो इस ओर ध्यान दे? क्या आर्य्यसमाज के नेता इस प्रश्न की महत्ता पर विचार करेंगे।

पञ्जाब से बाहर आर्य्य-समाज।

(पण्डित सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार "आर्य्य-सेवक")

मैं जबसे स्नातक बना हूं तबसे मुझे पञ्जाब से बाहर ही समाज का कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है। १९१९ में मुझे कोल्हापुर कालिज में काम करने का मौका मिला। कोल्हापुर रियासत, बम्बई और पूना के आगे है। कोल्हापुर में मैं एक साल तक रहा, इसलिये मुझे पूना तथा बम्बई कई बार जाना पड़ा। कोल्हापुर का कालिज आर्य्य-समाज के हाथ में महाराजा ने हाल ही में दिया था। हाई स्कूल, प्राइमरी स्कूल, अनाथालय तथा एक छोटासा गुरुकुल भी आर्य्य-समाज के निरीक्षण में राज्य की तरफ़ से देदिये गये थे। कोल्हापुर में आर्य्य समाज को काम करने का बहुत काफ़ी मौका था। कोल्हापुर से चार पांच सौ मील की दूरी पर बम्बई है। बम्बई में आर्य्य-समाज का बहुत बड़ा मन्दिर और बड़े २ प्रतिष्ठित व्यक्ति सभासद् हैं। कार्य-कर्ताओं की भी कमी नहीं है। कोल्हापुर तथा बम्बई के बीच में पूना है। जब भी मैं पूना जाता, कोल्हापुर तथा बम्बई से सर्वथा भिन्न दृश्य देखता। कोल्हापुर तथा बम्बई में सब साधनों के मौजूद होते हुए भी वह कार्य नहीं दीख पड़ता था, जो पूना में साधनों के सर्वथा अभाव होते हुए दिखाई देता था। पूना में जब भी कभी मेरा व्याख्यान हुआ, उपस्थिति आशातीत दिखाई दी। मैं जब तक कोल्हापुर रहा, पूना के उत्सवों में शामिल होता रहा। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं, कि पूना समाज के उत्सव लुधियाना समाज के उत्सवों से किसी प्रकार कम न थे। इसके विपरीत कोल्हापुर में साधारण व्याख्यानों की उपस्थिति, देखने में यद्यपि कुछ मालूम पड़ती थी, तथापि उसमें अपने ही स्कूल तथा कालिज के अतिरिक्त साधारण जनता बिल्कुल नहीं दिखाई देती थी। उत्सवों का भी यही हाल देखा। अब सम्भवतः अवस्थाएं बदल गई हों, परन्तु जिस समय का मैं हाल लिख रहा हूं, उस समय वही अवस्था थी, जिसका मैंने अभी उल्लेख किया है। बम्बई में कुछ हाज़री होती दिखाई दी, परन्तु उसमें ८० फ़ीसदी पञ्जाबी दिखाई दिये। जिस समय का मैं ज़िक्र कर रहा हूं, उस समय कोल्हापुर में पञ्जाबी नहीं थे। पूना में जो भी उत्साह दीख पड़ता था, उसके कारण पञ्जाबी थे। बम्बई में तो हाज़री ही पञ्जाबियों की होती है। तीन साल बाद फिर मुझे पूना जाने का अवसर प्राप्त

हुआ। पिछले पञ्जाबी भाई चले गये थे, उनकी जगह नये दिखाई देते थे। इस समय पूना में पञ्जाबियों की संख्या थोड़ी थी, अतः जोश भी पहले की अपेक्षा थोड़ा ही दिखाई देता था। इस सबको ध्यानमें रखकर मैंने परिणाम निकाला, कि पञ्जाब तथा आर्य्य-समाज का कोई ख़ास सम्बन्ध है।

कोल्हापुर के बाद मुझे मद्रास तथा मैसूर-राज्य में आर्य्य-समाज के कार्य के सम्बन्ध में जाना पड़ा। मद्रास में 'आनन्द-भवन' एक होटल है, जिसके अध्यक्ष उस समय युक्त-प्रान्त के एक सज्जन थे। उन्होंने आर्य्य-समाज सङ्गठित करनेके लिये होटलकी तरफ़से ७५ रु० के लगभग मासिक चन्दा करा दिया। रुपया तो मिल गया, परन्तु समाजके साप्ताहिक सत्सङ्गमें आकर सम्मिलित होने वाले सज्जन न मिले। उस समय सबके मुख से यही निकला, कि यदि कुछ पञ्जाबी भाई यहां होते, तो समाज का चलना कठिन न था।

मैसूर-राज्य की राजधानी बैंगलोर है। बैंगलोर शहर में स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी और ब्रह्मचारी नित्यानन्दजी २० साल के लगभग हुए, गये थे। उस समय बैंगलोर छावनी में कई पञ्जाबी भाई काम करते थे। उस समय स्थापित की हुई समाज तब तक चलती रही, जब तक बैंगलौर में पञ्जाबी भाई रहे। पञ्जाबियों की बदलियों के साथ ही समाज-मन्दिर का खुलना भी बन्द होगया। बैंगलौर में स्वामी धर्मानन्द जी मुझसे पहले कार्य कर रहे थे। उन्हें तो समाज के प्रचार के लिये पञ्जाबियों की इतनी आवश्यकता प्रतीत होती थी कि उन्होंने दक्षिणीय भारत में समाज के प्रचार की जो स्कीम बनाई, उसका मुख्य अङ्ग यह था कि पञ्जाबी लोग व्यापार करने के लिये, स्कूलों के अध्यापकों के रूप में, प्रचारक बनकर तथा अन्य जिस किसी प्रकार भी होसके, मद्रास आदि प्रान्तों में जाकर सदा के लिये बस जांय, वहीं अपना घर बनालें। यह स्कीम उन्होंने छपवा कर पञ्जाब में जगह २ भेजी थी। कुछ एक पत्रों में भी यह प्रकाशित हुई थी, परन्तु इसका परिणाम कुछ नहीं निकला।

अभी मैं दक्षिण-भारत ही में था, जब कि मुझे दक्षिण की कई एक छावनियों में जाना पड़ा। मैं जिस छावनी में भी जाता था, वहीं समाज का कोई न कोई चिन्ह दिखाई देता था। और कुछ नहीं, तो कम से कम प्रत्येक छावनी के लोग समाज को याद अवश्य करते सुनाई पड़ते थे। इसका कारण केवल एक था। छावनियों में जो भी पञ्जाबी भाई दक्षिण में कहींसे आ पहुंचे उन्होंने समाज स्थापित की—उनकी बदली होते ही समाज उनके साथ दूसरी जगह जा पहुंची। गुलबर्गा, पूना, बैंगलौर आदि छावनियों के शहर हैं। इन शहरों में समाज का आगमन पञ्जाबियों के आने के साथ ही हुआ।

दक्षिण-भारत में तीन साल के लगभग समाज की सेवा करने के अनन्तर मुझे गुरुकुल कांगड़ी लौटकर आना पड़ा। इस साल प्रो० रामदेव जी और मैं गुरुकुल के डेप्यूटेशन पर ईस्ट अफ्रीका आये हैं। मैं यह लेख ईस्ट अफ्रीका की राजधानी नैरोबी से लिख रहा हूं। मुझे थोड़ासा समय आफ्रीका की समाजों के देखने को भी मिला है। यद्यपि मैंने

इधर बहुत समय नहीं दिया, तथापि मैं समझता हूं, कि जितना भी समय मैं इधर देसका हूं, वह मेरे इस परिणाम पर पहुंचने के लिये पर्याप्त है, कि यहां भी आर्य्य-समाज का सम्बन्ध बहुत कुछ पञ्जाब के साथ ही मालूम होता है। नैरोबी आर्य्य-समाज आफ़्रीका की सब समाजों से बड़ी है। यहां तक कि यहां आफ़्रीका की समाजों के लिये आर्य्य-प्रतिनिधि सभा भी कायम है। नैरोबी को छोड़कर आफ़्रीका में अन्यत्र कहीं समाज के ज़ोर न होने का कारण यही है, कि नैरोबी में दूसरे स्थानों की अपेक्षा पञ्जाबियों की संख्या अधिक है। मुम्बासा, किसुमु, ज़ंजबार आदि स्थानों पर भी समाजें हैं, परन्तु उनमें नैरोबी की तरह का उत्साह नहीं। थोड़े शब्दों में कहा जासकता है, कि इन स्थानों में पञ्जाबियों की संख्या के साथ २ आर्य्य-समाज के प्रति उत्साह की मात्रा बढ़ती और घटती दिखाई देती है। जिन शहरों में पहले समाज पूरी जवानी में थी, उनमें समाज पर बुढ़ापा छाया हुआ है, क्योंकि उन शहरों में जो पञ्जाबी नौकरियों पर थे उनकी बदली होगई। जहां वे लोग बदल कर चले गये, वहां समाज के न होते हुए भी नई समाज की स्थापना होगई और बड़े उत्साह से कार्य होने लगा। अफ़्रीका में जहां पञ्जाब का एक भी भाई है, वहां समाज भी स्थापित है, क्योंकि पञ्जाब में समाज का एक २ आदमी अपने को समाज का प्रतिनिधि समझता है। नैरोबी का समाज-मन्दिर आलीशान है। भारतवर्ष में इस शान के मन्दिर मैंने अभी तक नहीं देखे। दूर से तो वह किले का सा शोभायमान होता है। समाज की कन्या पाठशाला भी पञ्जाब की किसी कन्या पाठशाला से कम नहीं है। व्याख्यानों में उपस्थिति भी सन्तोष-जनक होजाती है। परन्तु इस सब कार्य को चलाने वाले पञ्जाबी भाई हैं। उन्हीं के उत्साह से भारतवर्ष से इतनी दूर वेद का डंका बज रहा है।

भारत से बाहर अन्य प्रदेशों में मुझे अनुभव प्राप्त करने का अधिक मौका नहीं मिला। परन्तु जो कुछ भी मौका मिला है उसके आधार पर तथा अन्य स्थानों के विषय में अनुभवी सज्जनों से सुनकर मैं इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि आर्य्य-समाज का प्रचार पञ्जाबियों के द्वारा ही सर्वत्र होरहा है। पञ्जाबियों के इस प्रेम, उत्साह तथा कर्मयोग को देखकर मेरा हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। ऋषि-ऋण को पञ्जाबी भाई तन, मन तथा धन से चुकाने का भरसक यत्न कर रहे हैं, यह देखकर किसके मुख पर खुशी की किरणें नहीं चमक उठतीं। परन्तु इस सारी खुशी में मेरी आंखों के सामने एक अन्धेरे की रेखा गुज़र जाती है, और मैं आर्य्य-समाज के भविष्य पर चिन्ता में मग्न होकर विचार करने लगता हूं। कभी २ ख्याल उठता है, कि निराश क्यों होते हो? पञ्जाबियों में विश्वास रक्खो। ये वीर जहां पहुंचेंगे, वहीं वेदों के झण्डे भिन्न २ देशों में फहराने लगेंगे। यह सब कुछ ठीक है और यह सोच कर मेरा दिल खुशी के मारे बल्लियों उछलने लगता है। परन्तु एक दम मुझे ख्याल आता है, कि यदि ये पञ्जाबी जहां आज वेदों के जयकार की ध्वनि से गगन को गुंजा रहे हैं, यहांसे चले गये, तब समाज का क्या हाल होगा? मेरी खुशी, खुशी के रूप में बनी रहे यदि कोई मुझे समझा दे कि जहां से पञ्जाबी चले जावेंगे वहां से समाज उनके साथ ही नहीं चली जायगी। पञ्जाबियों की बदलियें हो जाने पर भी यदि समाज वहीं

की वहीं जमी रहे तब क्या किसी को आर्य्य-समाज के भविष्य के विषय में निराशा हो सकती है ? नहीं-कभी नहीं ! परन्तु ऐसा नहीं होता। पञ्जाबियों के साथ समाज आती है और उन्हीं के साथ वह चली भी जाती है। यह अत्यन्त दुःख की बात है और आर्य्य समाज के भविष्य पर विचार करने वालों के लिये यह अवस्था एक भयानक स्थिति की सूचक है।

इस अवस्था को बदलना चाहिये। ऋषि दयानन्द अपने मिशन को संसार भर में फैलाना चाहते थे परन्तु हमारे न जानते हुए हमारा मिशन भारतवर्ष के भी एक प्रान्त विशेष में बन्द होता चला जा रहा है। यदि कुछ देर तक यही अवस्था बनी रही तो मैं कह नहीं सकता कि समाज के भविष्य में आगे क्या २ लिखा है और किन २ की भविष्य-वाणियें सत्य सिद्ध होने वाली हैं। समाज के हितैषियों का ऋषि दयानन्द की शताब्दी मनाने से पहले सब से बड़ा कर्तव्य यह है कि ऋषि के मिशन रूपी स्रोत के धर्म रूपी जल को संसार के प्यासों तक पहुंचने में रुकावट डालने वाली चट्टानों के टुकड़े २ कर दें ताकि कहीं संसार की प्यास बुझाने वाला चश्मा अपने झरने तक ही परिमित न रहे।

हमारे पञ्जाबी भाई जो पञ्जाब से बाहर जाते हैं बड़े उत्साह तथा प्रेम से समाज की स्थापना करते हैं परन्तु जीवन में समाज की शिक्षा को न घटाने के कारण भिन्न २ देश के लोगों पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकते। उनके जोश को देखकर सब लोग वाह २ करते हैं परन्तु उनके जीवन से वे कुछ शिक्षा नहीं ले सकते। इसीलिए अबतक समाज को पञ्जाबियों की जायदाद समझा जाता है, इसकी वसीयत लेने के लिये दूसरे लोग तैयार नहीं होते। इस में कोई शक नहीं कि पञ्जाबी जहां २ गए हैं वहां २ उन्होंने समाज के नाम को उज्वल किया है परन्तु दुःख की बात यही है कि वे समाज के स्थायी कार्य्य को नहीं कर सके। यदि समाज की स्थापना करते हुए वे अपने जीवन से लोगों पर असर डाल सकें तब समाजों का कार्य्य स्थायी हो सकता है और तब इस का सम्बन्ध केवल पञ्जाबियों के साथ न रह कर संसार भर के आर्य्यों के साथ हो सकता है।

जिस तरफ़ मैंने इशारा किया है वह बात कहने को छोटी लेकिन करने को बड़ी है। जहां तक मैं ऋषि दयानन्द को समझा हूं, इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि ऋषि ने एक २ शब्द का उच्चारण जीवन बनाने लिये किया था। ऋषि के सच्चे भक्त बनने के लिये हमें उनकी शिक्षा को जीवन में अवश्य घटाना चाहिये। ऋषि का नाम लेकर आर्य्य समाजी बनने और कहलाने वालों का युग ख़तम होना चाहिये। जब तक हम ऋषि की एक २ शिक्षा को जीवन में घटाना नहीं सीख जाते तब तक पञ्जाबियों के साथ आर्य्य-समाज के जुड़े रहने का ख़तरा वैसे का वैसा बना रहेगा। हमें कोशिश करनी चाहिये कि ऋषि का सम्बन्ध किसी प्रान्त विशेष के साथ न रहे परन्तु प्रत्येक मनुष्य के जीवन के साथ हो जाय। हम पञ्जाबी या गुजराती होने के कारण ऋषि के भक्त न हों परन्तु हम जीवन में ऋषि की उठाने वाली शिक्षाओं से मनुष्य बन जाने के कारण उनके भक्त

हों। जब ऋषि का अथवा आर्य्य-समाज का भिन्न २ प्रान्तों से सम्बन्ध न समझ कर संसार मात्र अथवा मनुष्य मात्र से सम्बन्ध समझा जाने लगेगा तब जिस निराशा का मैंने ऊपर वर्णन किया है उस निराशा के काले पर्दे को उठाकर फेंक दिया जा सकेगा। तब पञ्जाब से बाहर, देश में विदेश में, पञ्जाबियों के साथ ही समाज का कोई खास सम्बन्ध न रहेगा परन्तु जहां एक वार भी समाज स्थापित होगी वहां स्थायी हो जायगी। उस समय उस में काम करने वाले, पञ्जाबी, हिन्दुस्तानी, गुजराती, बंगाली, मराठे तथा मद्रासी सब होंगे, किसी एक प्रान्त के लोगों पर ही समाज का दारोमदार न रहेगा।

———

शताब्दी के समय

श्रीदयानन्द विद्यापीठ की बुनियाद ।

(लेखक—पं० धर्मेन्दुनाथ जी तर्क शिरोमणि शास्त्री ऐम. ए. ऐम. ओ. ऐल)

आर्य समाज के सारे विद्यालयों को, विशेष कर उनको जो सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, नियन्त्रित करने के लिये एक दयानन्द विद्यापीठ या विश्वविद्यालय होना चाहिये; यह विचार बहुत दिन से चला आता है। आर्य समाज के लगभग सभी नेता उसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जो बात अब तक इसमें बाधक रही है वह गुरुकुल कांगड़ी और वृन्दावन के परस्पर सम्बन्ध की थी। कई बार यह आवाज़ उठी कि दो जगह गुरुकुल—विशेषकर कालेज विभाग को—रख कर जिसमें बहुत ही थोड़े विद्यार्थी होते हैं, आर्य जनता का धन क्यों नष्ट किया जाता है? परन्तु कहा जाता है कि प्रान्तीय भावों के कारण इस आवश्यक बात पर कभी विचार नहीं हुवा। लोगों की प्रबल इच्छा थी कि कम से कम शताब्दी के समय "दयानन्द विद्यापीठ" की स्थापना हो जावे, परन्तु निराशा के कारण अब भी यह काम हाथ में नहीं लिया गया। वैसे भी लोग कह रहे हैं कि ऋषि दयानन्द की निर्द्दिष्ट तीन सभाएं धर्मार्यसभा, विद्यार्यसभा, और राजार्यसभा बननी चाहियें। आर्य समाज धर्मार्य सभा है। विद्यापीठ ही विद्यार्यसभा होगी। इस प्रकार हमारा एक पग आगे बढ़ेगा।

इस समय एक साथ एक बड़ी कठिनता दूर होगई है। एक बड़ी उलझन अपने आप सुलझ गई है। अब एक प्रकार से गुरुकुल कांगड़ी और वृन्दावन के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न हल हुवा ही समझना चाहिये। यू. पी. की आर्य प्रतिनिधि सभा ने निश्चय कर दिया है कि गुरुकुल वृन्दावन में स्वामी जी की पाठ विधि के अनुसार केवल संस्कृत पढाई जायगी। इस एक बात से सारा सवाल हल हो जाता है। अब तक कांगड़ी और वृन्दावन कम या ज्यादा एक ही रास्ते पर थे। इस लिये उनमें परस्पर सम्बन्ध करते हुवे कमसे कम एक में से कालेज विभाग हटाना पड़ता। साथ ही एक सा काम होने से प्रान्तीय संघर्ष, स्पर्द्धा और ईर्ष्या की भी कुछ लोग सम्भावना करते थे, किन्तु अब दोनों गुरुकुलों की

स्थिति ही भिन्न २ हो जाती है। वे दो पृथक् २ आदर्शों पर हैं। गुरुकुल कांगड़ी पाश्चात्य विद्याओं के साथ २ संस्कृत और वैदिक साहित्य का उद्धार करने के लिये है। वृन्दावन केवल संस्कृत को अपना लक्ष्य रखता है। इस प्रकार यद्यपि इन दो संस्थाओं का अधिकार दो प्रान्तीय सभाओं को है परन्तु उन दोनों का उतना ही अधिक सार्वदेशिक रूप हो जाता है, जितना दिल्ली के कन्या गुरुकुल का है। कांगड़ी गुरुकुल के समान आर्यों की अकेली संस्था गुरुकुल कांगडी ही है और वृन्दावन के समान संस्था अकेला वृन्दावन गुरुकुल है। जो लोग पाश्चात्य विद्याओं के साथ संस्कृत के उद्धार में विश्वास रखते हैं, उनकी सहानुभूति गुरुकुल कांगड़ी के ही साथ होगी, चाहे वे किसी प्रान्त के हों और वे बिना किसी प्रान्तीय भाव के अपने बच्चे वहीं भेजेंगे। इसी प्रकार जो लोग इस आदर्श को स्वीकार नहीं करते, जो समझते हैं कि केवल संस्कृत पढ़ाने से ही संस्कृत का उद्धार होगा, वह पञ्जाबी होते हुवे भी गुरुकुल वृन्दावन से ही सहानुभूति रक्खेंगे। एवं उनमें परस्पर स्पर्द्धा की कोई बात ही नहीं रहती। आर्य समाज को दो संस्थाएँ दो भिन्न २ कार्यों को पूरा करने के लिये हो जाती हैं, और अब दोनों को प्रान्तीय न समझ कर सार्वदेशिक समझना चाहिये। अब दोनों के मिलाने का भी सवाल न रहा। यह भी बात न रही कि एक ही काम पर दो जगह धन नष्ट हो रहा है। अब तो अलग २ काम हैं जो एक ही जगह हो रहे हैं।

इस स्थिति के आजाने से मैं दोनों प्रान्तों की प्रतिनिधि सभाओं से एक प्रार्थना तो सबसे पहले करना चाहता हूं कि अब वे अपने २ गुरुकुलों की प्रबन्ध कारिणी प्रान्तीय उपसभा में दूसरे प्रान्त के भी कुछ ऐसे लोगों को लेलें जिनकी उन उद्देश्यों से सहानुभूति है। यह पहिला पग है जिसे प्रतिनिधिसभाओं को धर ही देना चाहिये।

परन्तु मैं समझता हूं कि अब दयानन्द विद्यापीठ की स्थापना में भी कोई कठिनाई नहीं रहनी चाहिये। कांगड़ी और वृन्दावन के सम्बन्ध का प्रश्न जो इस आवश्यक कार्य में सब से अधिक बाधक था, स्वयं हल हो चुका है। अब मैं समझता हूं कि निम्नरूप में विद्यापीठ की स्थापना हो सकती है।

(I) विद्यार्य-सभा या विद्यापीठ "जेनरल बौडी" होगी। जिसकी पोज़ीशन यूनिवर्सिटि के कोर्ट या सिनेट के समान होगी। यह साल में केवल एकवार हो। और भिन्न समितियों (councils) और उपसभाओं (faculties) को चुनदें। इस बड़ी सभा में लगभग १०० या १५० निम्न प्रकार से सदस्य हों। जो कि (i) सब प्रान्त की प्रतिनिधि सभाओं से और (ii) शिक्षकों की संख्या के अनुसार गुरुकुलों से (iii) स्नातकों की संख्या के अनुसार स्नातकों में से (iv) सार्वदेशिक सभा से निर्दिष्ट शिक्षा विशेषज्ञ (v) अधिक दान देने वाली आर्य समाजों के प्रतिनिधि (vi) इस प्रकार विद्यापीठ के स्वयं बढाए हुवे सभासद्। इसके संगठन पर और अधिक विचार हो सकता है। इस प्रकार के मिश्रित विद्यापीठ में प्रान्तीयता का कोई सवाल उठ सके इसकी सम्भावना नहीं है।

(II) परन्तु फिर भी यह नया परीक्षण होगा और प्रान्तीय सभाओं को अपनी २ संस्थाओं के विषय में कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहेगा। इसलिये प्रारम्भ में दो बातें की जा सकती हैं जिन में इसका संदेह जाता रहे।

गुरुकुलों का स्वत्वाधिकार तो उन प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं को रहेगा ही जिनके आधीन वे अब हैं। इनका शिक्षा के अतिरिक्ति अन्य प्रबन्ध विशेष कर आर्थिक वे अपने या अपनी बनाई उपसभा के हाथ में ही रक्खें। इस तरह से असली प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में रहेगा। इस प्रकार प्रबन्ध परिषद् आरम्भ में प्रतिनिधि सभाओं द्वारा बनाई जावें।

शिक्षापरिषद्—जो कि शिक्षा सम्बन्धी देखभाल करेगी, विद्यापीठ की बड़ी सभाद्वारा चुनी जावे। भिन्न २ गुरुकुलों की अलग २ शिक्षा परिषदें हों, उनमें भी यह नियम कर दिया जावे। उदाहरणार्थ गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षापरिद् में (i) एक तिहाई पञ्जाब प्रतिनिधि सभा के सदस्य (ii) एक तिहाई गुरुकुलकांगड़ी के स्टाफ़ के (iii) और केवल तिहाई विद्यापीठ की जनरल सभा के चुने हुवे। इसी प्रकार वृन्दावन के विषय में भी। ऐसी दशामें एक प्रकार से शिक्षा सम्बन्ध भी उनके अपने हाथ में ही होगा और किसी प्रकार की शंकाके लिये कोई स्थान नहीं है। आर्य्यसमाज की सब संस्थाओं में एक प्रकार का सम्बन्ध (Co-ordination) भी हो जाता है और वे एक प्रकार से अलग भी बनी रहती हैं। पहिले जो कठिनाई उपस्थित होती थी वह यही थी कि दोनों गुरुकुलों के लिये जिनकी पढ़ाई एक ही हो जो शिक्षापरिषद् बने उसका रूप क्या हो? परन्तु अब काम अलग २ होने से दो शिक्षापरिषदें बन सकती हैं जो अपना २ अलग काम कर सकेंगी।

उपर्युक्त योजना के अनुसार काम प्रारम्भ किया जासकता है। फिर काम करने से विद्यापीठ के संगठन में जो स्वाभाविक विकाश होगा उससे बहुत लाभ होगा। मैंने इस लेख में विशेष कर गुरुकुलकांगड़ी और वृन्दाबन को लक्ष्य में रक्खा है। इसका सवाल हल होने से बाकी सवाल स्वयं हल होजायंगे।

इस प्रश्न को फिर से उठाने में मेरा प्रयोजन आर्य्य जनता को यह दिखलाना है कि अब विद्यापीठ बनने की एक बड़ी सम्भावना हो गई है। प्रारम्भ में यह अच्छा हो कि जन्म शताब्दी एक उपसभा जिसमें सब के दो २ प्रतिनिधि रख लिये जावें इस प्रश्न पर विचार करने के लिये बनादे। फिर आगे कार्यवाही हो सकती है। मैं आशा करता हूं कि आर्य भाई अपने विचारों से मुझे भी सूचित करेंगे। आर्य भाई पूछते हैं कि हम शताब्दी पर कौनसा स्थिर कार्य करेंगे? यह कितने गौरव की बात होगी कि इस अपूर्व अवसर पर **दयानन्द विद्यापीठ** की बुनियाद रक्खी जावे। यदि यह समय भी निकल गया तो फिर दूसरा समय हाथ न आयेगा और शायद कभी न आयेगा।

पञ्जाबी आर्य जनता से एक प्रश्न।

(लेखक—जयचन्द्र विद्यालङ्कार। मन्त्री, पञ्जाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन)

राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी के महत्त्व को जिस महापुरुष ने भारतवर्ष में सब से पहले पहचाना, वे ऋषि दयानन्द थे। अपने को ऋषि के अनुयायी मानने वालों की संख्या आज पञ्जाब में सब से अधिक है। पञ्जाब में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार होना इतना कठिन भी न था जितना, उदाहरण के लिए, मद्रास में। मद्रासियों ने राष्ट्रभाषा सीखने की ज़रूरत अभी हाल में ही समझी है। यह होते हुए भी आज पञ्जाब राष्ट्रभाषा के प्रचार में युक्त प्रान्त विहार को तो जाने दीजिये, मद्रास तक से पिछड़ा दीखता है, इस का कारण क्या है? क्या अपने को ऋषि का अनुयायी कहने वाले सज्जनों ने इस प्रश्न पर कभी विचार किया है?

जहां तक हम ने इस प्रश्न पर सोचा है, हमें तीन स्पष्ट कारण दिखाई देते हैं।

पहला कारण यह है कि हम दयानन्द के शब्दों को दोहराया करते हैं, पर उन के असली तात्पर्य को हम ने नहीं समझा। हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि का आर्य सभ्यता की इमारत में कितना बड़ा स्थान है यह बात हमारे मस्तिष्क में नहीं बैठी। मेरे एक कट्टर हिन्दी प्रेमी और कट्टर आर्यसमाजी मित्र ने एक दूसरे आर्य्य समाजी सज्जन से पूछा कि जब ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश का उर्दू अनुवाद करने का निषेध किया था तब आर्य समाज ने ऐसा क्यों कर डाला। उक्त सज्जन ने उत्तर दिया—आर्य समाज का धर्म सार्वभौम है, संसार के सब देशों की भाषाओं में उसका प्रकाश पहुंचाना हमारा काम है। यही उत्तर सूचित करता है कि हम ने हिन्दी-उर्दू की ठीक स्थिति को नहीं समझा। ऋषि ने उर्दू ही में अनुवाद करने का निषेध किया था, तामिल या तेलुगु में, मराठी वा बङ्गला में करने का तो नहीं। क्या वह बात इतनी निःसार थी कि हम बिना उस के कारणों को समझने का यत्न किये उसका तिरस्कार कर देते?

ऋषि का कथन भारतवर्ष की भाषा सम्बन्धी स्थिति के एक सूक्ष्म विवेचन पर आश्रित था। इस समय भारतवर्ष में बङ्गला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, कनाडी और हिन्दी—ये बड़ी २ भाषायें, तथा आसमिया, उड़िया, सिन्धी और मलयालम, ये छोटी भाषायें प्रचलित हैं। हिन्दी के क्षेत्र में हिन्दी के साथ २ उर्दू भी है। हिन्दी और उर्दू में दो बातों का भेद है, एक तो लिपि पर अक्षरों का, और दूसरा यह कि साधारण शब्दों के एक रहते हुए भी हिन्दी अपने विशेष शब्द संस्कृत से लेती है और उर्दू फ़ारसी अरबी से। पाठकों को यह मालूम होना चाहिए कि ठीक इन्हीं दो बातों में हिन्दी का भारतवर्ष की दूसरी सब भाषाओं के साथ सम्बन्ध है। जिस प्रकार हिन्दी और पञ्जाबी के अक्षर एक ही हैं, इसी प्रकार तामिल से आसमिया तक भारतवर्ष की सब भाषाओं की ही नहीं, प्रत्युत तिब्बती, बरमी और सिंहली भाषाओं की वर्णमाला भी वही है जो कि

हिन्दी की* । इस प्रकार देवनागरी सच्चे अर्थों में राष्ट्र लिपि है । दूसरे, तामिल से लेकर आसमिया तक भारतवर्ष की सभी भाषायें हिन्दी की तरह अपनी शब्दावली संस्कृत से लेती हैं । जो चीज़ें भारतवर्ष की सब भाषाओं में व्याकरण या प्रजातन्त्र कहलाती है, वे अकेली उर्दू में ही जाकर कायदा या ज़म्हूरियत हो जाती हैं । अभी उस दिन हम एक बङ्गाली मुस्लिम कवि की इस्लामी कविता पढ़ रहे थे—

> शातिल् अरब, शातिल् आरब, पूत युगे युगे तब तीर !
> शम्शेर हाते, आंशु-आंखे हेथामूर्त्ति देखेछि वीर नारीर !

दूसरी तरफ़ हमारे पञ्जाबी आर्य समाजी भाई हैं जो गाया करते हैं—

> मुनव्वर चांद सा मुखड़ा तो था असली दयानन्द का ।
> वे मसनूही दयानन्दों की मट्टी ख्वार करते हैं !

उर्दू लिपि में भारतीय नामों की, भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान के, दर्शन के, इतिहास के शब्दों की किस प्रकार दुर्गति होती है, इस की शिकायत आज हमीं नहीं करने लगे, अलबरूनी से लेकर शारदाचरण मित्र तक सभी विद्वान् करते आये हैं । पाठकों को मालूम होना चाहिए कि केवल देवनागरी में ही नहीं, भारतवर्ष की और तिब्बत, बरमा, लङ्का की और सब लिपियों में भारतीय शब्द सर्वथा शुद्ध लिखे जा सकते हैं, केवल एक उर्दू में ही नहीं लिखे जा सकते । देवनागरी लिपि में आप जिस शब्द को जैसा लिखते हैं, गुजराती, बङ्गला, तामिल और तिब्बती में हूबहू वैसा ही लिख सकते हैं, क्योंकि वर्ण माला (alphabet) सब की एक ही है । अकेली उर्दू में आकर भारतीय नामों की आफ़त आती है । उर्दू में शिक्षा पाने और लिखने पढ़ने के कारण अपनी तवारीख-ए-हिन्द लिखते समय श्रीमान् लाला लाजपतराय जी सरस्वती और श्रावस्ती का भेद नहीं समझ सके ! और पञ्जाब के उर्दू दैनिक पत्र बरमा के भिक्षु उत्तम को जहां उटामा बनाया करते हैं, वहां राजस्थान सेवासङ्घ के वीर नेता विजयसिंह पथिक को बी० एस० पाठक वा फाटक लिख डालते हैं !

फिर यदि आप अपने धर्म को सार्वभौम बनाना चाहते हैं, देश-विदेश में उस का प्रचार करना चाहते हैं तो देश विदेश की भाषाओं में अपने विचार फैलाइए, अपने ग्रन्थों का बङ्गला, मराठी और तामिल में तथा पश्तो, फ़ारसी और अरबी में अनुवाद कीजिए । लेकिन यह तो बतलाइए कि उर्दू कौन से स्वदेश की या कौन से विदेश की भाषा है ? क्या उर्दू पञ्जाब की भाषा है ? क्या आप के घरों में आप की स्त्रियां, बहनें, बेटियां उर्दू का प्रयोग करती हैं ? यदि पञ्जाब में उर्दू का एकाधिपत्य हो चुका होता, यदि कांगड़ा के पहाड़ों की कोख तक गांवों की गहराई तक, पञ्जाबियों के घरों के अन्दर तक वही एक मात्र भाषा और लिपि बन कर पहुंच चुकी होती, तो हम एक राष्ट्र भक्त की हैसियत से

* सिन्धी भाषा इस का अपवाद है, उस ने अरबी अक्षर अपना लिये हैं ।—लेखक ।

स्वीकार कर लेते कि अरबी सभ्यता इस अंश में भारतवर्ष में जम चुकी है, भारतवर्ष का एक प्रांत उसे अपना चुका है। किन्तु आज की हालत तो हमेशा नहीं चल सकती। आज पञ्जाब के घरों में भाई की चिट्ठी को बहन नहीं पढ़ सकती, और पति के लिखे को पत्नी! कोई भी देश प्रेमी इस अवस्था को बनाये रखने की अनुमति नहीं दे सकता। या तो स्त्रियों को उर्दू पढ़ाइए, या पुरुषों को हिन्दी। सोच लीजिए, आप आर्य सभ्यता के प्रचारक की हैसियत से दोनों में से कौनसी बात करना पसन्द करते हैं। और यदि पञ्जाब में देवनागरी लिपि का प्रचार करना आर्य्यत्व के प्रचार का एक आवश्यक अंश है, तो सत्यार्थ-प्रकाश को उर्दू चोला पहनाने का क्या अर्थ है?

यही नहीं कि हम लोगों के दिमाग़ ने हिन्दी और देवनागरी की स्थिति को उस वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा जिस से ऋषि दयानन्द ने देखा था, सच २ कहें तो हम देख भाल कर भी कुछ मचले हुए हैं। हम लोगों के दिलों में वह लगन नहीं, सचाई के पीछे चलने का वह उत्साह नहीं कि हम अपने बँधे हुए स्वार्थों को अलग फेंक कर सुधार कर सकें। आर्यसमाज के लिए यह शर्म की बात है कि उसके सब मुख्य पत्र उर्दू में निकलते हैं। क्या हुआ जो वे कुछ हिन्दी शब्द अपनी भाषा में ले आते हैं? ले आते क्या हैं उन की हत्या करते हैं! असल चीज़ तो लिपि है, देवनागरी लिपि का प्रयोग करना अधिक आवश्यक बात थी। हम ने ऐसे उत्साही आर्य्य समाजी सज्जन देखे हैं जिन्होंने वेदों और उपनिषदों की पूरी विवेचनायें उर्दू में पढ़ी हैं! जामनगर के स्वर्गीय हाथी भाई शास्त्री ने दुनियां भर से गीता के संस्करण इकट्ठे किये थे, और उन्हें पञ्जाब की छपी हुई एक उर्दू गीता भी मिली थी जिस में हज़रत्-ए-सिरी किशन का मियां अरजन को उपदेश देने का उल्लेख था!

इन से पूछिये आप हिन्दी में ये चीज़ें क्यों नहीं पढ़ते। कहते हैं—आती नहीं। आती नहीं! कहते हुए शर्म नहीं आती—आती नहीं? अगर वास्तव में लगन होती तो एक महीने में आसकती थी, आज तो तीस साल हो चुके। दूसरी तरफ़ मद्रासियों को देखिये।

कांग्रेस इस साल कर्णाटक में होने जारही है। स्वागताध्यक्ष देश भक्त गङ्गाधरराव देशपांडे हिन्दी न जानते थे। उन्होंने ५५ रुपया महीना पर एक हिन्दी शिक्षक रक्खा है जिस से वे साल भर में हिन्दी सीख जायें और बेलगांव में अपना भाषण हिन्दी में दे सकें। इसे कहते हैं लगन, धार्मिक उत्साह। हम लोगों में इस चीज़ का न होना पञ्जाब में देवनागरी का प्रचार न होने का दूसरा कारण है। आज मद्रास में बीस हज़ार रुपया वार्षिक हिन्दी-प्रचार पर खर्च हो रहा है। पञ्जाब हिन्दी के लिए कितना ख़र्च करता है?

तीसरा कारण यह है कि हम लोगों का तरीका गलत है। आर्य समाजियों को इस काम में एक तो दूसरे हिन्दी-प्रेमियों को साथ लेना होगा, दूसरे एक धार्मिक संस्था साहित्यिक काम को स्वयं ठीक तरह से नहीं चला सकती। इसके लिए एक पृथक् सङ्गठन खड़ा करना होगा, और उस में आर्य्य समाजियों को पूरा सहयोग देना होगा। यह जो

एक भाव आज आर्य्य समाज में फैल रहा है कि जो काम हो आर्य्य समाज के अन्दर से हो, यह भाव हिन्दी-प्रचार में बड़ी भारी रुकावट है। उन से कहिए आप इस में सहयोग दें, कहते हैं—हम तो पहले से कर रहे हैं! पहले से क्या कर रहे हैं? आप की तीस साल की करनी उतनी नहीं है जितनी दूसरे प्रान्तों की चार-पांच साल की। आर्य्य भाषा-चतुर्मास में ही आप ने कौनसा नाम लेने योग्य काम कर लिया?

आर्यों का पौरोहित्य-यज्ञ ।

(लेखक श्रीयुत विश्वबन्धु विद्यार्थी, आचार्य्य श्री दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर)

—:o:—
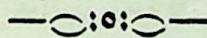
१. ऋषि दयानन्द के पवित्र चरणों में बैठकर हम उस महापुरुष का कोटिशः धन्यवाद करते हैं। उस के असंख्य उपकारों को स्मरण कर कृतज्ञता-भार से ग्रीवा झुकी जाती है। उसके सौम्यस्वरूप और दिव्य गुणों का ध्यान कर चित्त–चकोर उछल २ कर अन्तस्त के आनन्द–प्रवाह का परिचय दे रहा है। उसकी दया से ही हमें अब अपनी आंखें पीछे को फेर कर विस्मृतप्राय पुरातन साहित्य की ओजस्विनी, सुहावनी छटा को निहार २ आनन्दित होने का शुभ दिन प्राप्त होता है। वेद भगवान् में परमात्मा को पुरोहित कह कर स्मरण किया है। कारण कि ज्ञान–सुभूषित सच्चे भक्त जन सदा सब शुभ प्रारम्भों को करते हुए, सब से प्रथम उसी का ध्यान धरते हैं। उसी को सब सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य्य का प्रदाता समझते हैं। हम भूले भटकों को मार्ग पर डालकर, महाराज दयानन्द ने भी सच्चे पुरोहित का कार्य्य किया है।

२. समाज में दो बल होते हैं। वेद उनको ब्रह्मबल तथा क्षत्र बल कह कर पुकारता है। प्रत्येक प्राणी में जीवित रह कर सुख-भोग की कामना स्वभाव-सिद्ध है। इसके लिए बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी हृद्गत भावनाओं का अपनी व्यवहारगत चेष्टाओं से मिलान करके इस रहस्य की सच्चाई को प्रत्यक्ष कर सकता है। इसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए मनुष्य ने विविध प्रकार से सामाजिक संगठन पैदा किया है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह परस्पर सम्बन्ध पैदा करता और तोड़ देता है। इसी कामना से वह धन का उपार्जन करता और कई वार अपने सामने अपना घर जलता देखकर तमाशाई भी बन लेता है। इसी वासना से बँधा हुआ अभी घोर, घमसान युद्ध में,कराल रूप धारण करता है, और अभी दूसरे ही क्षण में आंखें नीचे किए हुए, दीनता की मूर्त्ति बन जाता है। इस सारे नाटक को खेलते २ साधारणतया मनुष्य बेसुध हो अपने स्वरूप को सर्वथा भूलकर साधन को ही साध्य समझ बैठता है। वास्तविक सन्तोष के मार्ग से च्युत होकर, मानो, दिनरात मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ता है। परन्तु कोई २ सौभाग्यवान् पुरुष ऐसा भी होता है जो अपने लक्ष्य को आंखों से ओझल नहीं होने देता। वह उपर्युक्त नाट्यशाला में भिन्न २ भूमिकाओं में से गुज़रता हुआ भी अपने आप को नहीं भूलता। उस में यह भी सामर्थ्य होता है कि अपने अतिरिक्त अपने साथ जाने वाले यात्रियों को भी ठीक मार्ग पर लगाए रखे। यह पुरोहित है। यह सच्चा नेता है। इसी में वेद का ब्रह्म-भाग है। इसका बल ज्ञानकी तीव्रता और त्याग-भाव हैं। दूसरा साधारण जन-समुदाय क्षत्र-भाग का प्रतिनिधि है। उसका बल चेष्टा और प्रयत्न द्वारा सामग्री के उपार्जन और उसके सदुपयोग में प्रकाशित होता है।

३. इन दोनों बलों का समानरूप में उन्नति करना ही सामाजिक संगठन का मूलमन्त्र है। यह कहा तो सदा जाता है कि अति किसी बात में नहीं करनी चाहिए परन्तु व्यक्ति की अवस्था में भी और जातीय जीवन में भी मध्यम-मार्ग की धारणा के विरले ही उदाहरण मिल सकते हैं। प्रायः यह दोनों शक्तियां एक दूसरे के नाश में ही खपती हुई दिखाई देती हैं। मध्य यूरोप के तथा बौद्ध-धर्म के इतिहास से, एवं भगवान् बुद्ध से पूर्व वर्ती ब्राह्मणों के इतिहास से उपर्युक्त कथन की सत्यता परखी जा सकती है। प्रोटेस्टेएट विचार कभी पैदा न होता यदि पोप तथा उसके गुमाशतों ने भिन्न २ प्रकार से जनता को तंग करके आक्रान्ति के लिये भूमि तय्यार न कर दी होती। भारतवर्ष में लोकायत, बौद्ध, जैन तथा आधुनिक सन्त मतों का प्रादुर्भाव भी इसी प्रकार एक शक्ति के अधिक बढ़ कर दूसरी को दबाने के घोर अत्याचारमय वायुमण्डल से ही हुआ। ऋषि दयानन्द के अनन्त उपकारों में यह एक बड़ा भारी, महत्त्वपूर्ण उपकार समझना चाहिए कि उन्होंने इन दोनों शक्तिओं के साम्य का प्रबल प्रचार किया। सब से प्रथम तो उन्होंने अस्वाभाविक ऊँच नीच के कुत्सित भाव को मलियामेट करने का यत्न किया। शरीर के अंगों की नाईं सारे सामाजिक अवयव उपयोगी हैं। अतः पूञ्जीदार हो या श्रमजीवी, ब्राह्मण हो या बनिया,

द्विजन्मा हो या पञ्चम, किसी को यह अधिकार नहीं कि दूसरे को घृणास्पद समझे। कोई काम तथा व्यवसाय, जब तक वह समाजोपयोगी है, नीच नहीं हो सकता। यह उपदेश कभी सफलीभूत नहीं हो सकता जब तक मनुष्य का उत्कर्ष उसकी योग्यता पर आश्रित न हो। जब एक ब्राह्मणकुमार पुरोहित बनने के योग्य नहीं, एक साधारण कोटि का यजमान बन सकता है, तो उसे उसी अवस्था में ही रह कर पूर्ण साफल्य प्राप्त होगा। परन्तु वह ऐसा करना क्यों नहीं चाहता? केवल इस लिए कि उस अवस्था में नीचता का भाव मिला दिया गया है। परन्तु जब उसे निश्चय होजाए कि समाज एक योग्य चमार को एक अयोग्य ब्राह्मण की अपेक्षा (जो अपने पूर्वजों ही की पूञ्जी पर निर्वाह करता हुआ भी दूसरों के सिरों पर अपनी जूती लगाने से पीछे नहीं हटता) कहीं अधिक मान की दृष्टि से देखता है, तो फिर उसे कोई संकोच न होगा। इस प्रकार मनुष्य-समाज में मनुष्यता के समान अधिकारों के समर्थक ऋषिवर ने ब्रह्मबल तथा क्षत्रबल में परस्पर समता का विचार दिया। यह भाव बड़ा आवश्यक होते हुए भी सहस्रों वर्षों से गुम होचुका था। स्वामी जी ने जब संन्यासियों तथा ब्राह्मणों के ऊपर दूसरे मनुष्यों को निरीक्षण का अधिकार दिया, तो उन्हों ने सामाजिक विकास के उच्चतम सिद्धान्त का आविष्कार किया।

४. परन्तु, "धन्य हो मुनिसत्तम! तुम ने कभी भी तो निज चमत्कारों की डींग नहीं मारी। तुम्हारे हृदय की पट्टी पर तो यह स्पष्ट लिख रहा था" "स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।" अथर्व० १९।७१॥ अर्थात् "मैंने जो कुछ सीखा है, अपने पुत्रों को पवित्र कर देनेवाली वेदमाता से ही सीखा है॥

यह सामाजिक उन्नति का मूलोपदेश यजुर्वेद अध्याय २०, मन्त्र २५ में बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥"

इसका अर्थ प्रश्नोत्तर के रूप में यूं जानिए।

प्र० पुण्य लोक कौनसा है?

उ० जहां ब्रह्म तथा क्षत्र मिलकर साथ चलें।

प्र० ब्रह्म से तात्पर्य्य क्या है?

उ० वह विद्वान् सज्जन जो समाज के नेत्रों के समान हैं।

प्र० उन का क्षत्रोपयोगी कर्त्तव्य क्या है?

उ० यह कि वह अपने जीवन को प्रभु की प्रजा के हितार्थ समझें और यज्ञमय हो कर रहें। इसी में संसार का कल्याण है।

५. यह आर्य्यों का पौरोहित्य-यज्ञ है। जैसे आंखों पर पट्टी बांध कर चलने वाला गढ़े में अवश्य गिरता है, ऐसे ही निःस्वार्थ, न्यायशील नेतृ-वर्ग से शून्य समाज अवनति को प्राप्त हो जाता है। वेद में कहे हुए पुरुष स्वरूप को समझ कर जब तक ब्राह्मण लोग सच्चे पुरोहित बने रहे, भारत में स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य्य, ऋद्धि, सिद्धि और धर्म का डंका बजता रहा। जब से जातीय मस्तक ने अपनी उज्वलता को स्वार्थ-परायण होकर घातकों के हाथों बेचना आरम्भ किया है, हमारा अधःपात होता चला आया है। दूसरों के अधिकारों के छीनने वालों की यह परम्परागत नीति रहती है कि वह दबे हुए लोगों में से विचार-शील विभाग के स्वार्थ की ओट में शिकार खेलते हैं। यह आधुनिक जीवन के माथे पर सब से भारी कलंक समझिए कि जिनपर हमारा विश्वास जम सकता है, जो हमारा हाथ पकड़ कर हमें संकट से पार कर सकते हैं, वही प्रायः धोखा देकर, हमें शत्रुओं के हाथ बेच दिया करते हैं। परन्तु वैदिक सभ्यता का पुरोहित एक विचित्रसत्ता होती होगी। मनु आदि ऋषियों के महत्त्व-पूर्ण वर्णन तो आप ने सुने होंगे। आओ आज कलियुग के सब से श्रेष्ठ वेदभक्त के स्वर्गारोहण के परम पुनीत पर्व पर वेद भगवान् के ही गम्भीर घोष को सुनें।

६. स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम" यजु० १८।२९॥ यह आर्य्य पुरोहित का नित्य जाप होता था। कितना उच्चभाव है! इस में कितनी शक्ति है! "हे विद्वानो तथा प्रभु की शक्तियो, आओ मिलकर हम पूरा यत्न करें जिस के द्वारा हम सत्य सुख को प्राप्त हों, हम अमृत हों, हम परमेश्वर की प्रजा हों।" यह जाप था जो राजाओं और सेठ साहुकारों को ब्राह्मण-पुरोहितों के साथ आंख नहीं मिलाने देता था। इसी के प्रताप से प्रतापी सिकन्दर के सामने यहां का ब्राह्मण विनम्र न होता था। उनका जीवन, उनकी विद्या, उनका तप, अर्थात् सर्वस्व परोपकारार्थ होता था। यजु० १७।६८॥ में क्या स्पष्ट कहा है :—

"स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतो धार ँ सुविद्वांसो वितेनिरे॥"

अर्थात् 'जो सच्चे विद्वान् सर्व संसार के धारण करने हारे प्रभु के निमित्त यज्ञ का विस्तार करते हैं, उनके आत्मिक विकास में कोई अड़चन नहीं रहती।' यह उपदेश था जो वसिष्ठ को अयोध्यापुरी में और अगस्त्य को सघन वनों में समानमात्रा में सन्तुष्ट रखता था। एक इस लिए कृतकृत्य था कि मैं अपने रघुवंशी यजमानों के अतुल बल और पराक्रम को बढ़ाने से संसार से अन्याय तथा अत्याचार को मिटा डालने में निमित्त बन रहा हूं। दूसरा इस कारण से आनन्द में था कि मैं प्रभु की आज्ञानुसार वेदामृत पिला कर आर्य्यवंश की उन्नति कर रहा हूं। दोनों का स्वार्थ परार्थ में लीन हो रहा था और इसे ही यज्ञ का तत्त्व समझना चाहिए।

७. वैदिक पुरोहितों का यह यज्ञ मिथ्यावाद का पक्ष-पोषक न था और न मिथ्या २ कहते हुए संसार को अपने घर में डाललेने में सहायक था। आर्य्य ब्राह्मणों को तो वेद ने और ही उपदेश पढ़ाया था। यजु० ११।८॥ 'इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम् ।' 'हे भगवन्, हमारे यज्ञ को बढ़ाओ। हमारा यज्ञ सच्ची पूजा, भक्ति, मित्रता, शक्ति, सुख तथा सम्पत्ति का लाने वाला हो।' ब्राह्मण का ब्रह्मतेज समस्त राष्ट्र की रक्षा करता था। उसी में उसकी अपनी भी रक्षा थी। आज तीर्थों के पण्डों तथा नाशोन्मुख ग्राम-पुरोहितों को वेद पुनः लम्बी नींद से उठाना चाहता है। उनको नेता बनाकर राष्ट्रोन्नति में साधन बनाना चाहता है 'वय ँ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ।' अर्थात् 'हम सच्चे हृदय से चाहते हैं, हम राष्ट्र की वृद्धि के लिए सदा जागते रहें। यह (यजु० ९ २३॥) सूत्र सारी समाज-समृद्धि का बीजमन्त्र है। वह पुरोहित जागते थे जो युद्ध-भूमि में भी यजमान के कन्धे के साथ कन्धा मिलाते थे। वह शत्रु के सिर पर आ धमकने पर हाथ पर हाथ धर कर बैठना और मूर्त्तियों के आगे माथा रगड़ना नहीं सिखाते थे। हां, विश्वामित्र की तरह शस्त्रास्त्रों का गुप्त प्रयोग अच्छी तरह बताते थे। वेद की शिक्षानुसार प्रत्येक पुरोहित अपनी छाती पर हाथ रख कर ललकार कर कहता थाः—

"संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्य्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥"

तथा, "तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः" यह अथर्ववेद के तृतीय काण्ड की श्रुति है। अर्थात् 'मेरे ब्रह्मबल का भण्डार ठीक है। वीर्य्य और बल सुरक्षित है। सुरक्षित क्षत्र सदा चमकता रहे। जिनका मैं पुरोहित हूं वह सदा विजयी होंगे'।

८. इस पौरोहित्य-यज्ञ को धारण करके हमारे देश के प्राचीन ब्राह्मणों ने इस देश को सारे संसार का पुण्य-तीर्थ बना रखा था। द्वीप द्वीपान्तर से लोग अपनी शिक्षा को पूर्ण करने के लिए पुण्य भारत-भूमि की यात्रा किया करते थे। वेद भगवान् के आदेशानुसार मत्सर तथा द्वेष को अपने चित्तों से परे रखते हुए, और परस्पर हाथ बटाते हुए वह लोग समाज के अभ्युदय को ही अपनी उन्नति की कसौटी समझते थे। यजुर्वेद १७।५६॥ में इस तरह यह उपदेश आया हैः—'परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्य्यन्तो अस्थुः' अर्थात्, 'परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुसरण करने वाले, धार्मिक विद्वज्जन इस जीवनयज्ञ को धारण करते हुए परस्पर सहायक होते हैं। काम बिगड़ता ही तब है जब एक २ व्यक्ति अपने हित को समाज के हित से पृथक् समझकर उसे अपना प्रथम साध्य बनाता है।

९. आज जहां सर्वत्र स्वार्थ की प्रधानता होते हुए भी लोग मिल कर थोड़ा बहुत अपने लाभ के लिए अथवा परोपकारार्थ भी कार्य कर लेते हैं, पण्डितों तथा पुरोहितों के विषय

में इतना भी नहीं कहा जा सकता। इन अल्प-बुद्धि लोगों को न अपना हित करना आता है और न दूसरे की भलाई करने की समझ है। यह क्यों? केवल इस लिए कि वेद का पठन पाठन छोड़ देने से हमें अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं रहा। ऋषि दयानन्द की तीव्र आर्ष दृष्टि ने देखा कि शिरोहीन समाज कभी भी आगे बढ़ना तो दूर रहा, जीवित भी न रह सकेगा। उन्हों ने भरसक यत्न करके अपने व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा इन स्वास्थ्यप्रद विचारों को हमारे कानों तक पहुंचाया। हम कुछ जगे भी। पर कुम्भकरण जगता ही जगेगा। इस बीच में ऋषि का आत्मा अधिक प्रतीक्षा न करके हमारे से ओझल होगया। शायद उन्हें विश्वास हो गया था कि अब मेरे पीछे मेरे स्थानापन्न आर्य-समाज की सामुदायिक शक्ति इन विचारों के प्रसार करने वाले, धर्म-वेदी पर बलिदान होने वाले, स्वार्थ-परार्थ-भेद मिटाने वाले, आर्ष-ज्योति के लपकते हुए पतङ्ग, वैदिक चन्द्र के फड़कते हुए चकोर, आन्तरिक तड़प से आर्य्य-मुनियों की मेघ-माला को निहार २ निहाल होने वाले मयूर पैदा करने में समर्थ होगी। परन्तु अब तक हमारा कार्य्य-क्रम सार्वजनिक हित से प्रेरित होते हुए भी समाज के, विशेष कर हिन्दू-जाति के, आन्तरिक रोग के बाह्य चिन्हों की निवृत्ति करना ही रहा है। हमारी चिकित्सा का आन्तरिक प्रभाव अभी बहुत कम पड़ा है। आओ, आर्य्य-गण! आज हम अपने मन में दृढ़ संकल्प करें। हमारा धार्मिक जीवन सूखा सा हो रहा है। पौरोहित्य-यज्ञ से ही इस सूखेपन को दूर करने के लिए अमृत-वर्षा की संभावना हो सकती है। तो क्या आर्य्य नर नारियों में इस आने वाले शताब्दी-समारोह के मध्य में यह शान्त, गम्भीर भाव पैदा होगा कि हम इस पवित्र यज्ञ के करने वाले पुरोहित पैदा करेंगे। हम यत्न करेंगे कि अपने दूसरे कार्यों पर, शानदार विशाल भवनों पर, सुन्दर वस्त्रों पर और बहुमूल्य आभूषणों पर तब तक अधिक व्यय न करेंगे जब तक कि कम से कम दश सहस्र सच्चा पुरोहित प्रचारक मैदान में खड़ा न देखलेंगे।

ब्रह्मर्षि और राजर्षि ।

(लेखक श्रीयुत भीमसेन विद्यालंकार)

वैदिक साहित्य विशेषतः उपनिषदों में यह विचार स्थान २ पर ज़ाहिर किया गया है कि ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति एक दूसरे के सहारे हैं-परस्पराश्रित हैं । निरी ब्रह्म-शक्ति साधारण जनता तक अपना असर या प्रभाव नहीं पहुंचा सकती । साधारण जनता ब्रह्मशक्ति या ज्ञानशक्ति के सूक्ष्मरूप को नहीं समझ सकती । उच्चकोटि की क्षत्र-शक्ति या राजशक्ति व्यावहारिक नियमों की सहायता से साधारण जनता तक पवित्र ज्ञान को पहुंचा सकती है । दोनों शक्तियों में जो भेद है, अन्तर है, उसका कारण यह है कि दोनों शक्तियों का विकास तथा प्रसार भिन्न २ तरीकों से होता है । ब्रह्मशक्ति का संचय करने के लिए आवश्यक है कि बालकाल से ही, त्यागमय जीवन व्यतीत किया जाय । आचार्य दयानन्द, समर्थरामदास, तथा भक्त प्रह्लाद की तरह बचपन में ही धन-त्याग तथा गृहत्याग करने वाली आत्माएं ही ब्रह्मर्षि पद तक पहुंचती है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वसिष्ठ, तथा आचार्य शंकर की तरह, ब्राह्मण वृत्ति से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति ही ब्रह्मर्षि पद को पासकते हैं । यह लोग अपने सिद्धान्तों तथा विचारों का प्रचार करते हुए लौकिक तथा व्यावहारिक साधनों की अपेक्षा आध्यात्मिक तथा ज्ञान-मय साधनों का प्रयोग करते हैं ।

अपने आध्यात्मिक तेज द्वारा यह आत्माएं राजाओं तथा धनी मानी शक्तिशाली सांसारिक प्रभुओं पर अपनी छाप बैठाती हैं । वसिष्ठ, समर्थ रामदास तथा आचार्य दयानन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा क्रमशः राजा दशरथ, छत्रपति शिवाजी, तथा उदयपुर के महाराणा को अपना शिष्य बनाया था । इन राजाओं को शिष्य बनाते समय इन आत्माओं ने किसी सांसारिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया था, अपितु केवल मात्र अपने ब्रह्मबल, तथा ज्ञान बल का ही प्रयोग किया था । वसिष्ठ और विश्वामित्र की युद्ध कथा भी इसी बात को स्पष्ट करती है । ब्रह्मर्षियों की दृष्टि में दिव्य तेज होता है जिसके सामने हरेक को सिर झुकाना पड़ता है । उसी तेज के ज्वलन्त उदाहरण आचार्य दयानन्द की बीसियों जीवन कथाओं में मिलते हैं । बड़े २ मानी सम्पत्ति शाली पण्डितों और नरेशों ने कई वार दृढ़ निश्चय तथा पक्के संगठन के बल पर इन पर वार करना चाहा । परन्तु आचार्य दयानन्द के सामने आते ही-चार आंखें होते ही उन्हें मैदान छोड़ना पड़ा । ब्रह्म-शक्ति या ज्ञानशक्ति की विशेषता इन उदाहरणों से स्पष्ट है । क्षत्रशक्ति तथा राजशक्ति का त्याग पूर्वक प्रयोग करने वाली आत्माएं राजर्षि नाम से प्रसिद्ध हैं यह आत्माएं लोक-संग्रह कहती हैं । सांसारिक शक्ति तथा सम्पत्ति का संग्रह करने में कमी नहीं की जाती । परन्तु इस इकट्ठी की हुई सम्पत्ति तथा शक्ति का प्रयोग निःस्वार्थ तथा त्याग भाव से किया जाता हैं । इस राजशक्ति का संचय त्याग के स्थान पर, साधन संग्रह द्वारा किया

जाता है। ब्रह्मशक्ति में त्याग साधन था, त्याग ही बल था। परन्तु राजशक्ति की उत्पत्ति में संग्रह तथा साधन-संगठन, ही बल है। जो व्यक्ति जितना अधिक साधन संग्रह करेगा वह उतना ही अधिक शक्तिशाली और समर्थ होगा। परन्तु राजर्षि पद उसको मिलेगा जो इन इकट्ठे किए हुए साधनों का निष्काम भाव से-त्याग भाव से प्रयोग करेगा। अथवा राजर्षि वही कहलाएगा जो परिश्रम तथा संगठन द्वारा इकट्ठी की गई सम्पत्ति को किसी शक्ति विशेष के चरणों में अथवा अपनी प्रजा के हित में लगादेगा। भारत के इतिहास में ऐसे राजर्षियों की मिसालें (उदाहरण) देखने लायक़ हैं। महाराजा अशोक ने अपना सारा राज्य तथा ऐश्वर्य उस समय की ब्रह्मशक्ति के प्रतिनिधि, बुद्ध भगवान् के त्यागी शिष्यों के चरणों में बुद्ध-शताब्दि समारोह के समय भेंट कर दिया था। मराठा जाति ने शिवाजी छत्रपति के नेतृत्व में संगृहीत राज्य तथा ऐश्वर्य्य, त्यागी ब्रह्मर्षि रामदास के चरणों में रखदिया था। दोनों सम्राटों ने अपने बाहुबल से अपार सम्पत्ति का संग्रह किया। ब्राह्मणों की तरह त्यागबल का प्रयोग नहीं किया, अपितु सच्चे क्षत्रियों की तरह शस्त्र बल द्वारा शक्ति-संग्रह किया। परन्तु दोनों ने ही अपना सर्वस्व प्रजाओं के गुरुओं के चरणों में धर दिया। असर यह हुआ कि प्रजा-साधारण जनता तत्परता तथा उत्सुकता के साथ अपने राजर्षियों के पद-चिन्हों पर चलने लगी। अशोक के समय में सारा देश तथा अन्य आधीन देश बौद्ध धर्म को स्वीकार करलेते हैं और ब्रह्मर्षि बुद्ध भगवान् के चरणों में सिर झुकाते हैं। बुद्ध भगवान् की महिमा तथा तेज को अनुभव करते हैं, और आनन्द तथा समारोह के साथ शताब्दि समारोहों को मनाते हुए देश देशान्तरों में त्यागी गुरु के संदेश को पहुंचाते है। इसी प्रकार महाराष्ट्र देश छत्रपति शिवाजी को रामदास के चरणों में झुकता देख, राजर्षि का अनुकरण करता हुआ, स्वामी रामदास की शिष्यता को स्वीकार करता है। सारा देश रामदास की शिष्य मण्डलियों से छा जाता है। और इसी शिष्य मण्डली को विधर्मियों के आक्रमणों से जातिधर्म, तथा देश धर्म को बचाने का श्रेय मिलता है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, युरोप में भी यही सचाई दिखाई देती है। ईसाईयत का प्रचार युरोप की आम जनता तक तभी होसका जब कि युरोपियन राष्ट्रों की जैसी तैसी अधूरी राजशक्तियों ने उसके सामने उसके गुरु, रोम के पोप के सामने मुकुट धर दिए। फ्रान्स तथा जर्मनी के सम्राटों ने रोम के पोपों की रक्षा के लिए-उनके अधिकारों की हिफाजत के लिए अपने राज्यो तथा सिंहासनों को कौंसल की भेंट कर दिया। आज इस युगमें भी युरोप में ईसाईयत की जो प्रतिष्ठा है, उसका भी यही कारण है कि आजतक वहां की राजशक्तियां ईसाई धर्म को अपनाना, उसके लिए करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाना अपना कर्तव्य समझती हैं। इस्लाम धर्म के व्यापक प्रचार का भी यही रहस्य हैं। इस्लाम के ख़लीफ़ा मुसलमानों के ब्रह्मर्षि थे। मुसलमान बादशाह इनकी सेवा में सब कुछ समर्पिति करना अपना कर्तव्य समझते थे। जब तक राजशक्ति और ब्रह्मशक्ति क्षत्रशक्ति और ज्ञानशक्ति एक व्यक्ति में ही केन्द्रित रही तब तक इस्लाम वेग के साथ फैला। बड़े २ वीर सेनापति मुसलमान सरदार विजयों में प्राप्त सम्पत्ति

को खलीफाओं की भेंट चढ़ाते थे। ज्ञानशक्ति या ब्रह्मशक्ति तब तक नहीं फैल सकी जब तक उसे तात्कालिक राजशक्ति ने साधारण जनता तक न पहुंचाया हो। आचार्य्य दयानन्द इस सचाई को भली भांति समझते थे। परन्तु वह यह भी जानते थे कि इस समय पहिले समयों की तरह राजसत्तात्मक राजशक्ति को नियन्त्रित कर सुगमता के साथ सचाइयों का फिरसे प्रचार नहीं हो सकता।

इस समय की राजशक्ति तथा प्राचीन या मध्य कालीन राजशक्ति के भेद को वह समझते थे। मध्य काल की राजशक्ति का विकासस्थान या स्रोत एक व्यक्ति व एक दल ही था। इस राजशक्ति या क्षत्रशक्ति का उद्भव या उत्पत्ति, प्रजा की सार्वजनिक सभाओं द्वारा होती है। संसार के अन्य देशों में यह परिवर्तन स्पष्ट रूप में प्रकट होचुका है। युरोपके वर्तमान युग में मेज़िनी, रूसो, टालस्टाय आदि विचारकों ने अपने नए उदात्त विचारों का प्रचार, प्रजासत्तात्मक राजशक्ति द्वारा कराया है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को जनता की सार्वजनिक सभाओं द्वारा स्वीकार कराया। फ्रांस का १८ वीं १९ वीं सदीका इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार रुसो आदि के क्रान्तिकारी विचारों को जनता की सार्वजनिक सभाओं ने स्वीकार कर, क्रान्ति पैदा करदी। इस समय राजशक्ति का स्रोतः स्थान आम जनता है, कुछेक श्रेणियां नहीं। जो विद्वान् या दर्शनिक, आम जनता तक, देहातों तथा गावों में-अपनी भावनाओं को संचारित कर देता है उसकी ही आवाज़ सब जगह सुनी जाती है। रूस के त्यागी लैनिन ने देहातों की इस राजशक्ति का सहारा लेकर, अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया है। भारत में भी धीरे २ यही प्रवृत्ति आ रही है। परन्तु जब तक भारतवर्ष में विदेशी शासन क़ायम रहेगा तब तक यहां की प्रजाएँ राजशक्ति को हासिल नहीं कर सकतीं। आचार्य्य दयानन्द के समय देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। भारत के विदेशी शासक स्वामी जी की बातों को मानने को तय्यार नहीं थे। वह शासक अपने आपको ईसाईयत का संरक्षक समझते थे। उस समय आचार्य्य के सामने दो ही क्षेत्र खुले हुए थे जिनके द्वारा वैदिक सचाइयों को राजशक्ति की सहायता से साधारण जनता तक पहुंचाया जासके। प्रथम देशी रियासतों के देशी नरेश, द्वितीय सभा संगठन तथा संगठनशक्ति। आचार्य्य समझते थे कि देशी रियासतों में वैदिक धर्म का प्रचार तभी सरलता के साथ हो सकेगा जब कि वहां के राजा लोग इस धर्म को स्वीकार करें। देशी रियासतों में राजशक्ति का वही स्वरूप था जो कि मध्यकाल में तात्कालिक राजशक्ति का। इसी लिए उन्होंने उदयपुर के महाराणा तथा जोधपुरके देशी नरेश आदि को विशेष रूप से शिक्षित करने का यत्न शुरू किया था। ब्रिटिश भारत में जनता को अपनाने के लिए उन्होंने उत्तम साधन यही समझा कि स्थान २ पर सभाएँ स्थापित की जायं। यह सभाएं आम जनता तक आर्य्य सिद्धान्तों को पहुंचाने का साधन हैं। आचार्य्य दयानन्द अपने जीवन काल में इन उपायों की सफलता को नहीं देख सके। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आचार्य्य दयानन्द द्वारा तय्यार की गई

क्षत्रशक्ति तथा राजशक्तियों ने गुरु की इच्छा को पूरा नहीं किया। आज हम यह नहीं कह सकते कि ब्रह्मर्षि का सन्देश घर २ में पहुंच गया है। अभी बहुत कुछ करना है। यह सब कुछ तभी हो सकेगा जब हम यथाशक्ति राजशक्ति तथा क्षात्रशक्ति को अपने प्रभाव में लासके। इस समय अवस्था यह है कि आर्य्य जाति के ऊंची स्थिति के लोग ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों की सराहना करते हैं, परन्तु स्पष्ट शब्दों में उन्हें स्वीकार नहीं करते। इस कमी का एक मात्र कारण यही है कि आर्य्य समाज, ब्रह्मशक्ति के साथ २ क्षात्रशक्ति तथा राजशक्ति को हासिल नहीं कर सका। ऋषि दयानन्द ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया था उन सिद्धान्तों के लिए अपने आपको न्योछावर करने वाले, राजा तथा धनी मानी व्यक्ति, आज दिखाई नहीं देते। अब आर्य्य समाज में ऋषि दयानन्द के भक्तों की कमी नहीं है, कमी है तो समर्थ, शक्तिशाली, त्यागी शिष्यों की। जिस दिन लौकिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से, सब जगह पूजित होने वाले, बीसियों, त्यागी शिष्य ब्रह्मर्षि के चरणों में अपनी भेंट रखने को तय्यार होंगे, उसी दिन आर्य्य समाज के सिद्धान्त बौद्ध धर्म की तरह सब जगह फैल सकेंगे। जिस दिन आर्य्य समाज के राज-सम्मानित प्रतिष्ठित, श्रीमान् शिवाजी महाराज की तरह अपने गुरु की सेवा में सारा वैभव न्योछावर करेंगे, उसी दिन आर्य्य समाज को सच्चे राजर्षि तथा सच्चे क्षत्रिय मिल जांयगे। उसी समय आर्य्य समाज भी आर्य्य सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के ब्रह्मक्षत्र बल के आधार पर घर घर में तथा देश देशान्तरों में वैदिक सचाइयों को पहुंचा सकेगा। आज दिवाली की रात को राजर्षि रामचन्द्र के राज्याभिषेक के समय आचार्य्य दयानन्द अपने प्राणों का त्याग कर, अपने भक्तों के नाम सन्देश कह रहे हैं कि—

"यदि—राजारामचन्द्र की तरह आर्य्य सभ्यता के गौरव को ही द्वीप द्वीपान्तर तथा घर घर पहुंचाना है तो राम लक्ष्मण की तरह ऋषि मुनियों की सेवा में अपना सब कुछ न्योछावर करदो।" रामचन्द्र ने अपने समय के ब्रह्मर्षियों को प्रसन्न करने के लिए सांसारिक ऐश्वर्यों को लात मार कर, राजर्षि की तरह सब कुछ ऋषियों की भेंट कर दिया था और आर्य जाति को राक्षसों के आक्रमण से बचाया था। आचार्य दयानन्द के नाम पर अभिमान करने वालो! दिवाली के संदेश को सुनो। गुरुकी इच्छा तथा अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए "तेरी इच्छा पूर्ण हो" का उच्चार करने के लिए, इस रात के ब्रह्मर्षि (दयानन्द) तथा राजर्षि (रामचन्द्र) की तरह, इष्ट प्राप्ति के लिए सब कुछ न्योछावर करदो। तभी हम अपने आपको दयानन्द का शिष्य तथा भक्त कहने के अधिकारी हो सकेंगे।

❀ महर्षि स्तुति ❀

(लेखक—"श्री हरि")

दयाघन ! हो तव जयजयकार

भारत नहीं किन्तु ऋषिवर तव ऋणी सकल संसार ॥ ध्रुव ॥

सघन अविद्या घनपटली में, लुप्त हुवा श्रुतिसार।

सदय हृदय से किया आपने, फिर उस का निस्तार ॥१॥

* * *

जीवन ज्योति जगी जनता में, विनसे त्रिविध विकार।

ज्ञानसूर्य की दिव्य छटा में, छिटके शास्त्र विचार ॥२॥

* * *

राग-रोष, दुख दोष कोष का, हुवा आशु संहार।

परम पुण्य तव प्रेममन्त्र का, सब में हुवा प्रचार ॥३॥

* * *

विश्ववन्द्य श्री दयानन्द ने, किया परम उपकार।

"श्री हरि" ऋषिवर के चरणों में बार बार जयकार ॥४॥

*

वैदिक विवाह मर्यादा।

(लेखक-श्रीस्वामी वेदानन्द तीर्थ)

वैदिक धर्म्म में विवाह एक पवित्र एवं उच्च संस्था है। ऋषि दयानन्द ने मनु महाराज का "असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने" ॥ मनु० ३।५ प्रमाण देकर असपिण्ड एवं असगोत्र विवाह का निषेध किया है। वादी लोग कहते हैं, तुम्हारा धर्म्म ग्रन्थ वेद है, इतर ब्राह्मण, स्मृति प्रभृति वेदानुकूल होने से प्रमाण, वेद प्रतिकूल होने से अप्रमाण होते हैं। मनु एवं तदनुसारी दयानन्द के वचन की प्रामाणिकता के लिए कोई साक्षात् वैदिक वाक्य दिखलाओ। बात भी युक्त है। समाज का आधार विवाह है, यदि वेद इस विषय में मौन अथवा अनुचित विधान बताए, तो एक अत्यन्त आवश्यक सामाजिक समस्या का हल न कर सकने के कारण, वह धर्म्म ग्रन्थ के पवित्रतम आसन से गिर जाएगा। अतः इस बात का विचार वैदिक दृष्टि से करना आवश्यक है। अस्तु। देखिए। वेद कहता है—

"ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अथर्व० ११।५।१८)

अर्थात् ब्रह्मचर्य्य संपन्ना कन्या, ब्रह्मचर्य्ययुक्त युवा पति को प्राप्त करती है।

यह विवाह का एक साधारण नियम बतलाया है। मन्त्र-गत 'ब्रह्मचर्य्येण' पद 'कन्या' तथा 'पतिम्" दोनों के साथ सम्बद्ध है। यह वेद की शैली है कि "ब्रह्मचारिणी" और "ब्रह्मचारिणम्" इन दोनों पदों का प्रयोग न करके "ब्रह्मचर्य्येण" उभयान्वयी पद का प्रयोग किया है। अस्तु। इस मन्त्र में निम्नलिखित बातें हैं---

(१) कन्या पति को प्राप्त करती है।

(२) कन्या ब्रह्मचारिणी हो।

(३) पति ब्रह्मचारी हो।

(४) पति युवा हो।

(१) में दो बातें हैं, प्रथम-विवाह कन्या का होना चाहिए, द्वितीय-कन्या पति को प्राप्त करती है, अर्थात स्वयं वरण का अधिकार कन्या को प्राप्त है। अब विचारना यह है कि कन्या किसे कहते हैं। निरुक्तकार कहते हैं--"कन्या कमनीया भवति।" कन्या के अर्थ "चाहने योग्य" हैं। जिसका विवाह होचुका है,अर्थात् जो किसी की कान्ता हो चुकी है,उस में कन्यात्व न रहने से वह विवाह की अधिकारिणी नहीं रही। जो ब्रह्मचारिणी रहती हुई भी वृद्धावस्थापन्न है, वह भी 'कमनीया' नहीं होसकती। (२) और (३) इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि अब्रह्मचारी=दुराचारी विवाह के अधिकारी नहीं। (४) से वृद्ध विवाह का निषेध होता है। यह तो स्पष्ट हो गया। अब विवाह कहां होना चाहिए, इसका थोड़ा सा विवेचन करते हैं। विवाह की अधिकारिणी कन्या है, इस से च्युत आदि विवाहित सम्बन्धिनियों का निषेध होगया, किन्तु भगिनी के साथ विवाह की प्रसक्ति है, वेद इसका "पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छतात्" (ऋ० १०।१०।१२) अर्थात् जो बहिन से समागम करता है, उसे पापी कहते हैं, कह कर निषेध करता है। भगिनी के अतिरिक्त कोई और अविवाहित सम्बन्धिनी हो उसके साथ विवाह के विषय में वेद के इस आदेश का विचार कीजिए "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" (ऋ० १०।१०।१०)। अर्थ, हे सुभगे मुझसे अन्य को पति चाहो॥ अब ज़रा 'अन्य' शब्द के अर्थों पर विचार कीजिए। 'अन्य' का अर्थ है 'स्व' से भिन्न। और स्व के अर्थ हैं, आत्मा (self), आत्मीय (own, near relatives) ज्ञातीय (नातेदार,) दूर के सम्बन्धी, धन। आत्मा=स्वयं और धन तो पत्नी बनाए नहीं जा सकते। आत्मीयों और ज्ञातियों (माता के सपिण्ड और पिता के संगोत्र इन्हीं में आजाते हैं) में विवाह की प्रसक्ति का "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" कह कर निरास कर दिया है।

पाठक! आप ने देखा, वेद के शब्द कितने गम्भीर हैं। थोड़े से शब्दों में कितने विस्तृत विषय का समावेश किया है। यह और ऐसी ही अन्य युक्तियें भी वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में प्रबल प्रमाण हैं। किन्तु गिनती गिनाने वाले बिचारे नानी, दादी, प्रभृति के साथ विवाह का निषेध न कर सके।

ज्वाला की भेंट।

[१]

रसिकचन्द्र साहित्य-रस के रसिये थे। विद्यार्थी-जीवन में जिन पुस्तकों का गुरु-जनों ने निषेध किया, उन्हें पहिले तो इन्होंने कौतूहल-वश पढ़ा। फिर धीरे धीरे उनकी रचना-माधुरी का रसास्वादन भी करने लगे। समय आया, जब रसिकचन्द्र नाटकों, उपन्यासों, काव्यों की वाक्य-लहरियों में शराबार होगये। रोको तो कहते—साहित्य के लिये पढ़ता हूं, विषय के लिये नहीं।

रसिकचन्द्र की शिक्षा समाप्त हुई। थोड़े दिनों में कमाने भी लगे। अब विवाह की चर्चा छिड़ी। तेईस वर्ष के होचुके थे। चौबीसवें में पांव रक्खा था। उठता यौवन था। जी उमङ्गों से भर २ गया। जब तक विवाह नहीं हुआ, स्वयं बालक समझे जाते थे। इनसे कम वय के इनके अपने मित्र थे। वह कभी के कुटुम्बों परिवारों वाले होचुके थे। अब उनकी गणना बड़ों में थी। कई मन्त्रणाओं में वह बुलाये जाते, रसिकचन्द्र नहीं। ब्रह्मचारी का गृहस्थों की गोष्ठि में प्रवेश निषिद्ध था।

रसिकचन्द्र विवाह के लिये उत्सुक था। इसलिये नहीं, कि इसे बड़ों की बिरादरी में बैठने का चाव था। इसलिये नहीं, कि हँसी-ठट्ठे के कई प्रकार के, जिनमें यह खुला हिस्सा न लेसकता था। कई बार कुमारोचित लज्जा से इसे चुप रहना होता। कई बार मित्र-मण्डल ही इसके होते होठों पर उङ्गली धर लेता।

रसिकचन्द्र से अकेला न रहा जाता था। कोई चीज़ थी, जो अङ्ग २ से उमड़ी पड़ती थी। कोई बात थी, जो हृदय में समाती न थी। कोई भाव था, जो रोके न रुकता था। किसी को उस चीज़ का, उस बात का, उस भाव का पात्र बनाना चाहते थे। भक्ति भाजन ढूंढ रही थी, विकलता कल पाने को व्याकुल थी। सोते से उठते और अनुभव करते, कि अकेला हूं। घर से बाहर जाते, बाहर से फिर घर लौटते। संसार बसता दिखाई न देता था। आख़िर दिल की बात किससे कहें? सङ्कट पड़े पर मां याद आती है। शारीरिक रोग में बहिन निस्स्वार्थ सेवा करती है। परन्तु एक व्यथा है, जिसे माता का वात्सल्य नहीं मिटाता। एक घाव है, जो भगिनी के हाथों नहीं भरता। जीवन आधो-आध बटना चाहता है। आदम की पसली फटे बिना रह नहीं सकती।

[२]

रसिकचन्द्र पर लड़कियों वालों की आंखें लग रही थीं। जब से २५ और १६ वर्ष का बन्धन लगा है, लड़की वालों के लिये अमानत सँभालना मुश्किल होगया है। वर की तलाश चिड़िया के दूध की तलाश है। पहिले लड़कियां बिकती थीं, अब वर बिकते हैं। आख़िर जो वस्तु कमयाब होगी, उसी का मूल्य मंडी में अधिक पड़ सकेगा।

पिछली पीढ़ी के विवाह माता पिता की इच्छा से होजाते थे। जो स्त्री जिस पुरुषके गले लिपटा दीगई,लिपटा दीगई। अबतो आजीवन उससे निबाह करना ही है। स्त्रियां भी चुनी जाती हैं—यह भाव उस युग के भलमानसों के हृदय में नहीं आसकता था। और अब तो गुण, कर्म, स्वभाव मिलना चाहिये। वह कौन मिलाए ? स्वयं वर बधू। पिता वाग्दान करते डरते हैं। माताओं को झिझक है, कि कहीं लड़की ही ना न कर बैठे।

रसिकचन्द्र के सम्मुख जब कभी यह चुनाव का प्रश्न आता, इनको पहिली इच्छा कन्या का चित्र देखने की होती। रूप को मन की प्रतिकृति कहा है। पर उसके पहिचानने के लिये आकृति-अवलोकन की विशेष कुशलता चाहिये। इन्होंने साहित्य में रूप का वर्णन पढ़ा था। एक २ चित्र में कवियों की उक्तियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग ढूंढते। कोई युवती इनकी परख पर पूरी न उतरती।

गुण, कर्म नहीं मिलते—अर्थात् रूप पसन्द नहीं। किसी में कोई कमी थी, किसी में कोई। वह लीला पूरी होने की सम्भावना न थी, जो और न सही, राम ने सीता से उत्तररामचरित में की है। रसिकचन्द्र का आदर्श वाल्मीकि का राम नहीं, उत्तररामचरित का राम था।

[३]

दो वर्षों के अन्दर २ रसिकचन्द्र का विवाह होगया। प्रेमला सुरूपता का मूर्त आदर्श है। विधाता ने सुन्दरता को सांचे में ढाल दिया है। रसिक को सौभाग्यवान् समझना चाहिये। उसे अपनी मनोवाञ्छा प्रेमला के रूप में सरूप होकर मिली है।

रसिक मलिन-मुख क्यों रहता है ? उसकी आंखें अन्दर घुस रही हैं। माथे पर चिन्ता ने डेरे जमा लिये हैं। बैठे २ ठंडी श्वास भर लेता है। आधी रात होजाती है, और घर जाने का नाम नहीं लेता। जाता है, जब साथी-सङ्गी सब उठ जाते हैं।

रसिक की इच्छा पूर्ण नहीं हुई। प्रेमला रूपवती तो है, लीलावती नहीं। आकृति तो वही पाई है, जिस पर कवि का हृदय रीझे, कविता दोष-पूर्ण प्रतीत हो। परन्तु प्रकृति उपन्यास-पात्राओं के ठीक प्रतिकूल है। एक दिन भी प्रेमला ने मान-लीला नहीं की। एक दिन भी उसने रसिक को कनखियों से नहीं झांका। एक दिन भी इसके बढ़ते हाथों का स्वागत नहीं किया।

प्रेमला अपनी सास के पास बैठने में प्रसन्न होती है। भ्रमण को रसिक के साथ जाती है, पर न ब्लाउस पहिनने की इच्छुक है, न ऊंची एड़ी के शू में पांव मटकाना पसन्द करती है। रसिक के हाथ में हाथ डाले उसे कभी किसी ने देखा ही नहीं। कभी गाड़ी में जाना हो, तो वह स्वयं चढ़ जाती है, रसिक के हाथ का सहारा नहीं लेती।

रसिक की मन की मन में रह गई है। साहस नही होता, कि प्रेमला से कुछ कहे सुने। वह अपराध ही नहीं करती। उसका सबसे बड़ा दोष यही है, कि वह साध्वी है। विधि की असह्य क्रूरता है, कि उसने उसे सहन-शील बनाया है, क्रूर नहीं।

सेवा को यह मेहरी रख सकते थे। "महाराज", "श्रीमन्" कहने को और लोग बहुत हैं। प्रेम प्यार के लिये इनके मित्र थोड़े नहीं। आख़िर प्रेमला ने कौनसी कमी पूरी की?

अब रसिकचन्द्र काव्य कम पढ़ते हैं। कहीं फड़कती कविता मिली, और यह कलेजा थाम कर रह गए। आख़िर यह फड़क किसके लिये? संसार में जो चीज़ दुर्लभ हैं, उसका काल्पनिक चित्र आंखों के आगे रखना मुफ़्त का दुर्भाग्य सहेड़ना है।

एक दिन एक उपन्यास पढ़ा था। उठे तो हँसते हुए उठे।

"प्रेमला को यह पढायंगे। उसे अपने जैसा रसिक बनायंगे। तब कहीं उसकी हमारी पटेगी।"

[४]

प्रेमला आज्ञा-पालन की पुतली है। जैसे उसने पतिदेव की और कोई बात नहीं टाली, इनके कहने से नाटक, काव्य, उपन्यास, शृङ्गार-श्लोक आदि पढ़ने से भी नकार नहीं किया। कोई अश्लील बात आगई, तो यह भी चुप रही, और रसिक को भी उसकी व्याख्या का साहस न हुआ।

होते २ रसिकचन्द्र ने देखा, कि प्रेमला अब साहित्य को समझती है। व्यंगोक्तियों को जानती है। तिर्या-चरित की सब गुह्य २ बातें पढ़ गई है। अब उसके आगे प्रसिद्ध २ नायिकाओं की बड़ाई करने लगे। प्रेमला कान लगाए सुनती रही।

रसिक—गृहस्थ का सुख यह है।

प्रेमला—(आंखें झुका कर) कुछ दिन ठहरिये। आप भी इस सुख से वञ्चित न रहेंगे।

आज रसिकचन्द्र की मन की मुराद पूरी हुई। विवाह का उद्देश्य सिद्ध होने को है। रसिकचन्द्र का पांव पृथ्वी से गज़ भर ऊंचा पड़ता है।

प्रेमला गर्भवती है। प्रसव की पीडा से छुट्टी पाते ही घर में जीते उपन्यास देखने को नहीं, खेलने को मिलेंगे। साहित्य का अध्ययन सफल होगा।

मित्र चकित थे, कि रसिकचन्द्र में यह परिवर्तन कैसे आया? रसिकचन्द्र पिता बनने वाले हैं। कोई कान में कह रहा है—पिताजी! कैसा प्रतिष्ठा-युक्त वाक्य है।

और यहां बांका बनड़ा बनने की ठनी है। विवाह की पहिली घड़ी पुत्रोत्पत्ति के पीछे होगी।

[५]

महीनों बीत गए। रसिक चन्द्र के घर नन्ही नवजात देवी ने दर्शन दिये। नाम रखा गया "ज्वाला"। पिताने प्रेमभरे हाथोंसे उठाया। एक विशेष पवित्रता का भान हुआ। कोमल

जाति पूज्या जाति है। लड़की का पिता होकर पुरुष वस्तुतः पिता होता है। उसका दुलहापन जाता रहता है। पुत्री पर दृष्टि पड़ी और पाप-ताप सब काफ़ूर हुए। आंखों में शुद्ध प्रेम छा गया। पुत्री के होते कुदृष्टि को स्थान कहां है? कुविचार की गति ही किस में हो?

रसिकचन्द्र के हां संस्कारों पर संस्कार हुए। प्रेमला की गोदी में ज्वाला को हँसते देखा। आंखें चमक उठीं। यज्ञ का साक्षात् चित्र नेत्रों में समा गया। यज्ञवेदि के सम्मुख देवी जाज्वल्यमान विराजती दिखाई दी।

ज्वाला दो वर्ष की होने को आई। उसका दूध छुड़ा दिया गया। रात को उसे खटिया पर सुलाकर प्रेमला रसिकचन्द्र के पास आई और कहाः-कहिये, पतिदेव! कौन से उपन्यास की नायिका बनाना है? किस काव्य के किस काण्ड की लीला करनी है? किस नाटक का कौनसा दृश्य खेलने की रुचि है?

इन शब्दों को कहने वाले होंट मुस्करा रहे थे। उस मुस्कराहट में गंभीरता थी, गौरव था।

रसिक ने आंखें नीची करलीं। प्रेमला की प्रश्नावली समाप्त हुई। उठा, उसे पास की खटिया पर बैठाया, ज्वाला के समीप गया, उसे हाथों लिया और प्रेमला की गोदी में लेटा दिया। कहाः-अब यह खेल खेला जाएगा। तुम्हारा पार्ट ज्वाला की मा का होगा, मेरा ज्वाला के पिता का।

अब तो रसिकचन्द्र प्रेमला को प्रेमला कहते ही नहीं। "ज्वाला की मां" कहते हैं हां! मां!

[६]

और वह साहित्य-संग्रह? नाटक, उपन्यास, काव्य? पति पत्नी ने मिलकर ज्वाला के हाथों उन्हें आग लगवादी। जले हुए पुस्तकों की भस्म एक संदूक में बन्द हुई रखी है। उस पर लिखा है:—ज्वाला की भेंट। विचार है, इसे दहेज में देंगे।

'दर्शक'

श्रीराम और वाल्मीकीय रामायण।

(ले०—श्रीयुत धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार, मंगलौर)

आज विजयदशमी के पुण्य दिवस, मैं यह लेख लिखने बैठा हूं। श्रीरामचन्द्रजी को तुलसी रामायण, अध्यात्म रामायणादि में साक्षाद् विष्णु का अवतार माना गया है। इस में सन्देह नहीं, पर क्या वाल्मीकि मुनि कृत रामायण में श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम माना गया है या साक्षात् विष्णु का अवतार? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। लगभग दो साल नियमपूर्वक लगाकर मैंने सम्पूर्ण वा० रामायण का निष्पक्ष वा विचारपूर्वक स्वाध्याय करने का यत्न किया है इस लिये अपने विचारों का यहां निर्देश कर देना उचित समझता हूं।

योग शास्त्र में 'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' यह ईश्वर का लक्षण किया है, जिस का अभिप्राय यह है कि सब प्रकार के दुःख, कुशलाकुशल अथवा भले बुरे कर्म, कर्मफल और वासना या संकल्प, इन से जो बिल्कुल मुक्त है वही विशेष आत्मा ईश्वर कहाता है। अब इस ईश्वर के लक्षण की, साक्षाद् विष्णु का अवतार माने जाने वाले श्रीरामचन्द्रजी की वा० रामायण में उद्धृत अपनी उक्तियों के साथ तुलना कीजिये, जिस में वे कहते हैं:—

"पूर्वं मयानूनमभीप्सितानि, दुष्टानि कर्माण्यसकृत् कृतानि।
तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥
न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी, मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम्।
शोकानुशोको हि परम्पराया मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च॥"

वा० रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ६३ श्लो० ३—४

इन दो श्लोकों का सीधा अर्थ यह है कि निश्चय से पहले मैंने बार २ कई दुष्ट कर्म किये थे जिन का फल आज मुझे यह मिल रहा है कि मैं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त कर रहा हूं। मैं समझता हूं कि मेरे जैसा पाप कर्म करने वाला इस भूमि पर शायद कोई नहीं क्योंकि मेरे हृदय और मन को मानो छेदती हुई शोक की परम्परा मुझे प्राप्त हो रही है। इस प्रकार की उक्तियों में थोड़ी बहुत अत्युक्ति स्वाभाविक है, पर इतनी बात तो बिल्कुल साफ़ है कि इन श्लोकों का कहने वाला अपने को साधारण मनुष्य ही समझता था, न कि साक्षाद् विष्णु का अवतार। यहां श्रीराम ने अपने दुःखी होने, बुरे कर्म करने, और उनके फल भोगने की बात को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—जो दुष्ट कर्म, कर्मफल, शोक, दुःख इत्यादि ईश्वर में होने सर्वथा असम्भव हैं।

यह बात भी इस प्रसङ्ग में विशेष द्रष्टव्य है कि वा० रामायण में जहां २ भी प्रातः वा सायं सन्ध्या समय का वर्णन है वहां २ श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता देवी के नियमपूर्वक सन्ध्या करने का वर्णन है। यथा अयो० ६। ६ में राम के विषय में—

पूर्वां सन्ध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥

और अयो० ८७ । १९ में श्रीराम, लक्ष्मण और सीता देवी के विषय में

वाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां, समुपासन्त संहिताः ॥

इत्यादि श्लोक आये हैं, जिनमें स्पष्ट लिखा है कि श्रीरामादि ने शान्तचित्त और चुप चाप होकर सन्ध्योपासन और जप किया। इतना ही नहीं, रामायण बा० काण्ड में विश्वामित्र की राम के प्रति यह उक्ति पाई जाती है:—

कौशल्यासुप्रजा राम, पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल, कर्तव्यं दैवमान्हिकम् ॥

अर्थात् हे कौशल्यानन्दन राम! प्रातः सन्ध्यादि नैत्यिक कार्य करो। इस से स्पष्ट है कि न तो श्रीराम स्वयं अपने आप को विष्णु का अवतारादि समझते थे और न विश्वामित्रादि उन को वैसा समझते थे, अन्यथा उन को सन्ध्या करने की आज्ञा देने और स्वयं जंगल में उन के नियमपूर्वक जप सन्ध्यादि करने का कुछ मतलब नहीं समझ आता।

इन श्लोकों के अतिरिक्त अन्यत्र भी वाल्मीकीय रामायण में सर्वत्र श्रीराम विषयक वर्णन प्रायः बड़े स्वाभाविक हैं। सीता देवी के हरण के पीछे श्रीराम की जो अत्यन्त दयनीय दशा हो गई उस का बाल्मीकि मुनि यों वर्णन करते हैं:—

शोक रक्तेक्षणः श्रीमानुन्मत्त इव लक्ष्यते ।
वृक्षाद् वृक्षं प्रधावन् स गिरींश्चापि नदीनदम् ॥
बभ्राम विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवप्लुतः ।
वकुलानथ पुंनागांश्चन्दनान् केतकांस्तथा ।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥

भाव यह है कि शोक सागर में मग्न हुए २ श्रीराम (साक्षाद् विष्णु के अवतार ?) पागल से होकर इधर से उधर दौड़ने लगे और विलाप करते हुए वृक्ष वनस्पतियों से सीता के विषय में प्रश्न करने लगे, इत्यादि। इस तरह के असंख्य वर्णन यह स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि वाल्मीकिमुनि राम को मनुष्य ही समझते थे, जिस के लिये शोक, दुःख, अज्ञानादि स्वाभाविक हैं। हम बा० रामायण में हम श्रीराम को अनेक वार अज्ञान और मिथ्या ज्ञान से ग्रस्त पाते हैं। उदाहरणार्थ चित्रकूट में भरत की सेना को आते देख कर श्री राम लक्ष्मण को कहते हैं:—

त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥

अयो० का० ९७ । २०

अर्थात् पिता दशरथ हमें देखने के लिये आरहे हैं, ऐसा मैं समझता हूं। पाठकों को स्मरण होगा कि वास्तव में, दशरथ का देहान्त हो चुका था।

इसी प्रकार जटायु को देख कर वा० रा० के अनुसार श्रीराम कहते हैं:—

अनेन नूनं वैदेही भक्षिता नात्र संशयः॥

अर्थात् निश्चय से इसी ने सीता को खा लिया है। वास्तव में जटायु ने सीता को बचाने के लिये भरसक यत्न किया था।

मूर्छित लक्ष्मण को मृत समझ कर श्रीराम विलाप करते हैं:—

त्वं नित्यं सुविषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण।
गतासुर्नाद्य शक्तोऽसि मामार्तमभिभाषितुम्॥

युद्ध का० ४९। १३

अर्थात् हे लक्ष्मण! मुझे दुःखी देख कर तुम ही नित्य आश्वासन दिया करते थे पर आज तो मर जाने के कारण मुझ दुःखी के साथ तुम बात भी नहीं कर सकते। दूसरी वार रावण के बाणों से लक्ष्मण के मूर्छित होने पर श्रीराम ने फिर उसे मरा हुआ समझ कर ऐसे विलाप कियाः—

किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि।
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः॥

युद्ध का० स० १०१। १२

अर्थात् मैंने पूर्वजन्म में वह कौनसा बुरा काम किया था जिस से मेरा धर्मात्मा भाई मेरे आगे ही मरा हुआ पड़ा है। यह श्लोक श्रीराम के भ्रम दिखाने के अतिरिक्त, वे अपने आप को पाप और कर्म फल से मुक्त न मानते थे, इस बात को भी स्पष्ट सिद्ध करता है।

ऐसे ही इन्द्रजित् के मायामयी सीता बनाकर उसके वध करने का समाचार सुनकर श्रीराम की जो अवस्था हुई उस को वाल्मीकि मुनि—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवः शोकमूर्छितः।
निपपात तदा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः॥

ऐसा वर्णन करते हैं जो बड़ा स्वाभाविक है।

मैं जानता हूं कि इन सब वर्णनों के विषय में अवतार वाद के समर्थक कहदेंगे कि यह सब भगवान् की मानवी लीला है। वास्तव में भगवान् के लिये अज्ञान शोक दुःखादि नहीं हो सकते। वे तो असुरों को मोहित करने और तमाशे के लिये उन्हें दिखाते हैं। इस उत्तर से किसी विचारशील पुरुष का कुछ भी समाधान नहीं हो सकता। परम आनन्दमय सर्वज्ञ भगवान् इस बात का पता न लगा सकें कि उन की प्रिय धर्मपत्नी को किस ने चुराया है! उस के वियोग में पागल हो कर वे वृक्ष वनस्पतियों और पशु पक्षियों से

उस का वृत्तान्त पूछते फिरें ! उन के दुःख और शोक का कहीं पारावार न रहे ! बड़ी कठिनता से वे मित्रों की सहायता से शत्रु पर विजय पावें ! और इस पर भी कहा जाए कि यह सब लीला है ! पूर्ण आनन्दमय भगवान् निरन्तर अपने को दुःखी बनाएं ! सर्वज्ञ भगवान् अज्ञानी बन कर शोक दुःख के सागर में चिर काल तक मग्न रहें ! यह कैसी लीला है ? कौन ऐसा मूर्ख होगा जो जान बूझ कर बिना किसी कारण के सिर्फ़ तमाशे के लिये अज्ञान में फंसा रह कर अपने को दुःखी रखे। यह व्याख्या अत्यन्त हास्यास्पद है। शङ्का का इस से कुछ भी सन्तोषजनक समाधान नहीं होता। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् श्रीराम ने सीता देवी को वा० रा० के अनुसार जो वाक्य कहे हैं उन से बिल्कुल स्पष्ट पता लगता है कि वे अपने को मनुष्य ही समझते थे, विष्णु का अवतार नहीं। उदाहरणार्थ युद्ध काण्ड सर्ग ११५ में वे कहते हैं:—

एषासि निर्जिता भद्रे, शत्रुं हत्वा रणाजिरे।
पौरुषाद् यदनुष्ठेयं, मयैतदुपपादितम् ॥
या त्वं विरहितां नीता, चलचित्तेन रक्षसा।
दैवसम्पादितो दोषो, मानुषेण मया जितः ॥
यत्कर्तव्यं मनुष्येण, धर्षणां प्रतिमार्जता।
तत्कृतं रावणं हत्वा, मयेदं मानकाङ्क्षिणा ॥

अर्थात् हे प्रिये ! रण में शत्रु को मार कर मैंने तुम्हें जीत लिया है। चञ्चल राक्षस ने जो तुम्हारा दुर्भाग्यवश मुझ से वियोग करा दिया था उस दैवकृत दोष को मुझ मनुष्य ने जीत लिया वा दूर कर दिया है। अपने अपमान का बदला लेने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना चाहिये वह सब मैंने अपने मान को बचाने के लिये किया है इत्यादि।

तो क्या वा० रामायण में कहीं भी श्रीराम को साक्षाद् विष्णु का अवतार नहीं माना गया ?

इस प्रश्न के उत्तर में मेरा कथन यह है कि वर्तमान वा० रामायण में भी केवल दो तीन स्थानों पर श्रीराम के विष्णु के अवतार होने का उल्लेख है। एक तो प्रारम्भ में देवों की प्रार्थना पर विष्णु के राक्षसों के ध्वंसार्थ मर्त्यलोक में दशरथ के घर उत्पन्न होने का वर्णन है जो साफ़ पीछे की मिलावट मालूम होती है क्योंकि प्रत्येक महापुरुष के जीवन के साथ भक्त लोग ऐसी बातें जोड़ ही देते हैं। इस प्रकरण का कुछ महत्त्व नहीं।

दूसरा स्थल मन्दोदरी का विलाप प्रकरण है जहां वह रावण की मृत्यु पर शोक करती हुई कहती है तू "तो इतना पराक्रमी था तुझे एक साधारण मनुष्य ने कैसे मार दिया, नहीं, यह मनुष्य नहीं हो सकता यह स्वयं इन्द्र होगा अथवा यह यम का ही रूप होगा, नहीं २ यह साक्षाद् विष्णु का अवतार होगा, नहीं तो तुझे मारने का सामर्थ्य और किसी में कैसे हो सकता है ?" यहां जिस शोक। जनित कल्पना के रूप में श्रीराम को विष्णु

का अवतार माना गया है, उस से कुछ भी निश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता । वह तो दुःखसन्तप्त हृदय को अपने आश्वासन के लिये एक कल्पना मात्र है ।

तीसरा स्थान प्रक्षेप करने वालों की विचित्र लीला अथवा मूर्खता दिखाने के लिये अत्यावश्यक और मनोरञ्जक है । युद्ध काण्ड सर्ग ११७ में वर्णन है कि रावण के मारे जाने के पश्चात् ब्रह्मा इत्यादि देवता आये और उन्हों ने 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य, श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।' इत्यादि श्लोकों के द्वारा श्रीराम की स्तुति प्रारम्भ की जिन में उसे ही सृष्टि का उत्पादक सर्व व्यापकादि बताया । इस पर श्रीराम को बड़ा आश्चर्य हुआ । उस ने चकित होकर ब्रह्मा से कहा—

आत्मानं मानुषं मन्ये, रामं दशरथात्मजम् ।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं, भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥

अर्थात् मैं तो अपने को दशरथ का पुत्र राम नामक मनुष्य ही मानता हूं । वास्तव में मैं जो हूं और जैसे उत्पन्न हुआ हूं वह आप बतावें । इस पर ब्रह्मा "भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः । त्वं त्रयाणांहि लोकानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ।" इत्यादि शब्दों में स्तुति करते हुए श्रीराम को (जिसे उस समय अपने अवतार होने का ज्ञान तक न था) बताते हैं कि तुम्ही सारे संसार के उत्पादक सर्व व्यापक और स्वामी हो इत्यादि । पाठक स्वयं विचार करें कि इससे बढ़कर प्रक्षेप करने वालों की मूर्खता का निदर्शक और कौन सा प्रकरण हो सकता है ?

इस विवेचना से यह साफ़ मालूम होता है कि वा० रामायण के असली भाग में श्री राम को मर्यादा पुरुषोत्तम ही स्वीकार किया गया है । उसकी मानवीय निर्बलताओं को लीला इत्यादि का नाम देकर छिपाने का यत्न नहीं किया गया, बल्कि बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया गया है । श्रीराम के आदर्श चरित्र के विषय में भी कई शंकाएं उत्पन्न होती हैं, क्या श्रीराम का केवल स्त्रीवशंगत पिता के कथन से प्रजा के हित की बिल्कुल उपेक्षा करते हुए १४ वर्ष के लिये वन जाना उचित था ? क्या प्रत्येक दशा में प्रत्येक तरह की पिता की आज्ञा को आंख मूंद कर मानना पुत्र का धर्म है ? क्या कुछ थोड़े से नीच लोगों के कहने से पतिव्रता साध्वी सीता का परित्याग करना श्री राम के लिये उचित था ? इत्यादि, परन्तु इन पर विचार करने से यह लेख बहुत लम्बा हो जाएगा । अतः इन सब बातों का विचार किसी अन्य समय के लिये छोड़ते हुए लेख को यहीं समाप्त किया जाता है । आशा है निष्पक्षपात सज्जनों को इस से श्रीराम के सम्बन्ध में वा० रामायण की वास्तविक स्थिति समझने में सहायता मिलेगी ।

"आर्य्य" की ऋषि–शताब्दी संख्या—

दो अङ्क और निकल चुकने के पीछे 'आर्य्य' की ऋषि शताब्दी–संख्या निकालने का समय होगा। 'आर्य्य' का ऋष्यङ्क प्रति वर्ष ऋषि-बोध के ही अवसर पर निकला करता है। इस बार के ऋषि-बोध में विशेषता यह है, कि उसी दिन ऋषि की जन्म-शताब्दी भी मनाई जाएगी। इस से इस अवसर का महत्व कई गुणा बढ़ जाएगा। भक्ति की बाढ़ होगी। श्रद्धा का दरिया उमड़ेगा।

क्या 'आर्य्य' भी इस बाढ़ के परिमाण से बह सकता है? यह भी अपना कलेवर, अपना ठाठ-बाठ, अपना हृदय ही, अवसर के अनुसार बढ़ा सकता है?

ऋषि की जन्म-शताब्दी का 'आर्य्य' का ऋष्यङ्क! कोई बहुत बड़ी चीज़ होना चाहिये। केवल सम्पादक का हृदय विशाल हुआ, तो क्या हुआ? वह तो लेखकों ही के सिर होसकता है। उत्तम से उत्तम निबन्ध ला सकता है। चित्र सुन्दर छपवा सकता है। काग़ज़ अच्छा लगा सकता है। और यह तो वह करेगा ही। क्या पाठक भी अपना दिल बढ़ाएंगे? या नहीं? हमारा दिल दूना होजाए, यदि आज हमें विश्वास दिलाया जाए, कि यह ऋष्यङ्क २० सहस्र लग जाएगा। हम रुपया पानी की तरह बहा दें। दिन रात एक कर दें। ऋषि-शताब्दी का परिचय हमारे सब सहकारियों को होजाए। प्रेसों की मशीनें जान जाएं, कि 'आर्य्य' ऋषि-तर्पण कर रहा है।

आज तो हम याचना करने को ही आए हैं; लेखकों से लेखों के लिये, कवियों से कविताओं के लिये। ऋषि आर्य्य-संस्कृति का प्रतिनिधि था। ऋषि के गुणस्तवन मात्र में ही ऋषि-तर्पण नहीं होता। पुरातन सभ्यता के किसी अङ्ग के विषय में कोई नई गवेषणा लाओ। किसी सिद्धान्त की पुष्टि करो। कोई दार्शनिक गुत्थी सुलझाओ। आर्य्य-समाज की कार्य-प्रणाली को कोई नया मार्ग दिखाओ। मस्तिष्क पर दबाव डालो, हृदय पर दबाव डालो, तब लेखनी पर भार डालो।

वह लोग जो इस अङ्क की उपयोगिता के लिये किसी साधन का प्रस्ताव कर सकते हैं, वह कृपया शीघ्र अपने विचार प्रकट करें। कैसे लेख लिए जाएं? कैसे चित्र छपें? प्रकाशन कैसा हो? मुद्रण कैसा हो? इस अङ्क को सर्व-प्रिय कैसे बनाया जाए?

सबसे अन्त में हम अपने पाठकों, ग्राहकों और समाजों के अधिकारियों से याचना करते हैं। कि 'आर्य्य' हमारी निज की चीज़ नहीं, सामाजिक जगत् की सम्पत्ति है।

इसे चमकाना, बढ़ाना, लोक-प्रिय बनाना उनका अपना कर्तव्य है। शताब्दी के अवसर पर जहां 'आर्य्य' का यह विशेषाङ्क पहुंच गया, वहीं दयानन्द की अलख जगा गई। इसे पहुंचाओ। सब जगह पहुंचाओ। उपहारों में, पुरस्कारों में इसे वितरण करो। यही शताब्दी की सर्वोत्तम भेंट है।

पृष्ठ संख्या क्या होगी? मूल्य क्या होगा? यह हम किसी अगली संख्या में बता सकेंगे।

कलकत्ते का छपा सत्यार्थ-प्रकाश—

'आर्य्य' के पिछले अङ्क में इस शीर्षक के नीचे एक टिप्पणी छपी थी, सो अधूरी थी। इस बीच में श्रीजयदेवजी का पत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें उन्होंने 'आर्य्य'-सम्पादक के "अनार्य्य प्रयत्न" पर उसे जी भरकर भर्त्सना की है। उक्त टिप्पणी में सचमुच अन्याय हुआ है। यदि पाठ भेदों की सूची पूरी छप जाती तो सम्भवतः श्रीजयदेवजी को इतना खेद न होता, जितना अब हुआ है। पाठ-भेद लेखक के अर्थों में क्या परिवर्तन लाते हैं, इसका ज्ञान दोनों पाठों को प्रकरण सहित पढ़ने से हो होसकता है। सूची में यह भेद साधारण प्रतीत होंगे।

पं० जयदेवजी ने पुस्तक के पहिले ३३ पृष्ठों पर 'चक्षुःपात' भी नहीं किया। इसी कारण हमने भी पाठ-भेद दो स्थलों के दिये हैं—एक तो प्रथम समुल्लास के जिसका सम्पादन पण्डितजी ने नहीं किया, दूसरे चतुर्थ समुल्लास के जिसका सम्पादन-भार पण्डितजी पर पड़ा। प्रथम समुल्लास के पाठ-भेद गत अङ्क में दिये जाचुके हैं। कुछ चतुर्थ समुल्लास के भी। चतुर्थ समुल्लास के सारे पाठ-भेद अब नीचे दिये जाते हैं:—

पृष्ठ	कौलम	पंक्ति	नया संस्करण	पुराना संस्करण
४६	१	४	जब यथावत्	यथावत्
४९	१	८	धर्मेण	धर्मेण
४६	१	१३	ग्रहण, माला	ग्रहण और माला
४६	२	२०	(१) पहला—	(१) एक—
५०	१	२	बाल्यावस्था	या बाल्यावस्था
५०	१	२३	दूरे हिता भवतीति	दूरे हिता दोग्धेर्वा
५१	२	६	वर्ष विवाह में गौरी	वर्ष गौरी
५१	२	८	जो दशवें	दशवें
५१	२	९	को माता पिता	को देखके उसके माता पिता
५१	२	१०	तीनों देखके नरक	तीनों नरक
५२	१	३७	॥ स० दा० ॥	× × ×
५२	१	१४	गोरी	गौरी
५२	२	११	दीक्षेते	दीक्षेत

पृष्ठ	कौलम	पंक्ति	नया संस्करण	पुराणा संस्करण
५२	२	२४	कि न पूर्वोक्त	कि पूर्वोक्त
५२	२	२५	होना योग्य है	होना योग्य नहीं है
५२	२	२८	अधीन	आधीन
५३	१	१९	होता है।	होता।
५३	१	२१	धारासः	धीरासः
५३	२	५	किये	किया
५३	२	१०	होता	होता है
५३	२	१८	नहीं प्राप्त	प्राप्त नहीं
५३	२	३०	भूल कर	भूल के
५३	१	१३	कर	के
५४	१	२६	जिसके माता पिता ब्राह्मण	जिसकी माता ब्राह्मणी पिता ब्राह्मण
५४	१	२७	वह ब्राह्मणी ब्राह्मण	वह ब्राह्मण
५४	२	१५-१६	और ब्राह्मण का	ब्राह्मण का
५४	२	३१	महाराज ने कहा है	महाराज ने क्या कहा है
५४	२	३२	येन याता:	येन याता
५५	१	२	उसी मार्ग में	उस मार्ग से
५५	१	१७	कुकर्म ही	कुकर्म को ही
५५	१	२१	कर्म के	कर्मों के
५५	१	२७	यह सिद्ध	यह भी सिद्ध
५६	१	१९	जो शूद्र कुल	शूद्र कुल
५६	१	२१	ब्राह्मण ब्राह्मणी वा शूद्र	ब्राह्मण वा शूद्र
५६	१	३४	वर्णों को	वर्ण को
५६	२	७-८	क्या हुआ	क्या सिद्ध हुआ
५६	२	२५	वर्ण की	वर्ण का
५६	२	२८	अबइन चारों	इन चारों
५७	१	१७	अर्थात् निन्दा	निन्दा
५७	२	१०	करना वा कराना	करना
५७	२	११	पढ़ना तथा पढ़वाना	पढ़ना
५७	२	१४	अकेला	अकेले को
५८	१	३२	आदि का काम है	आदि सभ्यजनों का काम है
५८	२	६	इनमें से विवाहों	इन विवाहों
५८	२	१४	दोनों की	वर कन्या का

पृष्ठ	कौलम	पंक्ति	नया संस्करण	पुरातन संस्करण
५८	२	३३	अर्थात् जो जन्म से	अर्थात् जन्म से
५८	२	३४	उनको	उसको
५९	२	५	सफेद इलायची	छोटी इलायची
५९	२	१९	व्यवहार अवश्य	व्यवहार दोनों को अवश्य
६०	१	१४	शुद्ध कोठरी वा कमरे में कि जहां का	शुद्ध कोठरी का जहां का
६०	१	३२-३४	ऋतु कालाभिगामीस्यात्स्वदारनिरतः सदा। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु० ३।५०	ऋतु कालाभिगामीस्यात्स्व-दार निरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद् व्रतो रति काम्यया॥ मनु० ३।४५। निन्द्यास्वष्टासु चान्यासुस्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ मनु० ३।५०॥
६०	१	३५	प्रसन्न और ऋतुगामी	प्रसन्न निषिद्ध रात्रियों में स्त्री से पृथक् रहता और ऋतुगामी०
६१	१	१	देवर इनको	देवर को योग्य है कि इनको
६१	१	१०	प्रसन्नता से	प्रसन्नता में
६१	१	१३	समयों में	समय में
६१	२	१६	हितकारक	हितकारी
६२	१	२४	हापयेत	हापयेत्
६२	२	७	करने	करना
६२	२	२८	और जो ये	और ये
६३	१	१७	पितर जो माता	पितर माता
६३	२	१	उ सदृश	उनके सदृश
६३	२	२३	(सुका—न्ताम्)	सुका—न्ताम्
६३	२	२७-२८	(प्रपिता—यामि)	प्रपि—यामि
६४	१	२-३	(प्रपिता—यामि)	प्रपिता—यामि
६४	१	१०	सोमसदः	सोमसद
६४	१	१८	देकर	देके
६४	२	२२	होम करने के मन्त्र	× × × ×
६५	१	२०	देवे	दे देवे
६५	२	२	बैठाकर	बैठालकर
६५	२	४	उसको	उनको
६५	२	४	करके	कर

पृष्ठ	कौलम	पंक्ति	नया संस्करण	पुरातन संस्करण
६५	२	६	ऐसे	ऐसे ऐसे
६५	२	१४	अर्थात् वेदनिन्दक	वेदनिन्दक
६५	२	१६	विडाल	विडाला
६५	२	२४	गपोड़ा	गपोड़े
६५	२	३३	डुबो	डुबा
६६	१	३	काम मोक्ष	काम और मोक्ष
६६	१	११	आये हैं	आये
६६	२	४	जब अधर्मात्मा	अधर्मात्मा
६६	२	१३	नष्टभ्रष्ट	नष्ट
६६	२	१७	जो विद्वान्	विद्वान्
६८	२	१	सहाय से जीव बड़े २	सहाय से बड़े २
६८	२	२	को तर सकता है	को जीव तर सकता है
६८	२	३	समझता है	समझता
६८	२	१८	जीत	जीतने
६८	२	२२	चुराता	चोरता
७०	२	२५	कभी नहीं	भी नहीं
७१	१	२१	व्यवहार	व्यापार
७१	१	३०	रहना चाहिये	रहना
७२	१	२०	आवश्यक	अवश्य
७२	२	९	अन्य २ चार	अन्य चार
७२	२	१६	विवाहित	इस विवाहित
७३	१	२५	वे विवाह	किन्तु विवाह
७३	२	३	तब वे अपने	तब अपने
७३	२	२९	विवाह और स्त्री	विवाहित अर्थात् स्त्री
७३	२	३५	विवाह होना	सम्बन्ध होना
७३	१	२७	वरः उच्यते	वर उच्यते
७६	१	१२	परदेश गया	परदेश में गया
७६	१	१७	कि यदि स्त्री बन्ध्या हो	कि वन्ध्या हो
७७	२	३५	और इसलिये	इसलिये
७८	२	२	जिससे गृहस्थही ब्रह्मचारी	जिससे ब्रह्मचारी
७८	२	४	प्रतिदिन धारण करता है	प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण
७८	२	६	जो मोक्ष	मोक्ष

इनमें से कुछ पाठ-भेद मुद्रकों की असावधानी से हुए हैं। इन असावधानियों के अपराधी कम्पोज़ीटर और प्रूफ़रीडर हैं। यथा धर्मेण का धर्भेण होगया है, दीक्षेत का दीक्षेते, धीरासः का धारासः, इत्यादि। कहीं २ इन महाशयों ने अशुद्ध को शुद्ध भी किया है, जैसे याता पितामहाः को याताः पितामहाः। इस संशोधन के लिये उन्हें धन्यवाद। हमें तो सत्यार्थ-प्रकाश जैसे गौरव के पुस्तक में ऐसी अशुद्धियां भी उपेक्षा करने योग्य प्रतीत नहीं होतीं। क्या अन्तिम प्रूफ़ सम्पादक महोदय को दिखाया नहीं गया? दोष किसी का हो, हमें तो दुःख है कि एक समाज का धर्म-ग्रन्थ मुफ्त में भ्रष्ट हो गया है।

अधिक भेदों का उत्तरदातृत्व सम्पादक महोदय पर है। उन्होंने अपने पत्र में लिखा है, कि भाषा के संशोधन का अधिकार ऋषि ने अपने उत्तरा धिकारियों को दे छोड़ा है। केवल भाषा का क्यों? भाव का भी। परन्तु यह अधिकार पं० जयदेवजी को नहीं मिला, यह हमें निश्चय है। यदि यह अधिकार श्रीजयदेवजी सरीखे सम्पादक व्यक्तिशः वर्तने लगें, तो सत्यार्थ-प्रकाश का ढांचा ही एक न रहे।

हमने ऊपर लिखा है, कि पाठ-भेदों को दोनों पुस्तकों में प्रकरण सहित पढ़ने से ही उनके हानिकर या अहानिकर प्रभाव का पता लग सकता है। उदाहरणतया पहिला पाठ-भेद है, यथावत् की जगह जब यथावत्। प्रकरण सहित यह पाठ यों है:—

"जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य में आचार्यानुकूल वर्त्तकर धर्म से चारों, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़ के जिस का ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे॥"

यहां जब बढ़ाया गया है। इससे भाषा सुधरी है, या बिगड़ी? भला जब का यहां क्या काम?

तीसरा पाठ-भेद निम्न-लिखित वाक्य में है:—

"जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उस से युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करने वाला अपने पलङ्ग में बैठे हुए को आचार्य्य प्रथम गोदान से सत्कार करे वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी का कन्या का पिता भी गोदान से सत्कृत करे॥"

नये संस्करण में और उड़ा दिया गया है? इससे भी भला भाषा बनी या बिगड़ी?

दुहिता की निरुक्ति श्रीस्वामीजी ने निरुक्तकार के शब्दों में यों की है:—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा। निरु० ३.४।

यही शब्द निरुक्त के हैं। सम्पादक महोदय इनका संशोधन यों करते हैं:—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता भवतीति।

भवतीति यह पाठ कहां से लाया गया है? उद्धरण सदैव मूल पुस्तक के मूल शब्दों में होता है। परिवर्तन का अधिकार उद्धरण-कर्ता को नहीं होता। संपादकजी सोचें, उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश के साथ २ निरुक्त का सम्पादन भी कर डाला है। यह किस अधिकार से?

अष्टवर्षा भवेद्गौरी इत्यादि श्लोक का अर्थ ऋषि दयानन्द ने यों किया है:—

कन्या की आठवें वर्ष गौरी..........संज्ञा होती है।

सम्पादक महाशय ने 'विवाह में' यह दो शब्द बढ़ा कर यों अर्थ किया है:—

कन्या की आठवें वर्ष विवाह में गौरी..........संज्ञा होती है।

इनसे कोई पूछे, विवाह में इस अर्थ का मूल कौनसे शब्द हैं। मूल अर्थ में कौनसी भ्रान्ति थी, जो अब दूर होगई?

क्षत्रिय के कर्तव्य बताते हुए ऋषि ने मनु के इज्या शब्द का अर्थ किया है, 'यज्ञ करना'। सम्पादक महोदय करते हैं, करना वा कराना। इसी प्रकार अध्ययनम् का अर्थ ऋषि करते हैं, पढ़ना। सम्पादक महोदय करते हैं, पढ़ना तथा पढ़वाना। यह अर्थ जितना विचित्र है, उतना ही वर्ण-मर्यादा का संहारक भी है। क्षत्रिय का काम यज्ञ कराना और पढ़ाना ब्राह्मण की अनुपस्थिति में भले ही हो, यह इस वर्ण का साधारण धर्म नहीं।

इसी प्रकार शेष पाठ-भेदों का विचार प्रकरण सहित किया जायगा, तो पाठक को पता लगेगा, कि कलकत्ता संस्करण द्वारा आर्य्य-समाज के एक पवित्र धर्म-पुस्तकों का कैसा कुसंस्करण हुआ है। पहिली बार एक स्वतन्त्र प्रकाशक ने इस पुस्तक का प्रकाशन अपने हाथ में लिया था। चाहिये तो यह था, कि इसमें अत्यन्त सावधानी बर्ती जाती, जिससे दूसरों के लिये मार्ग साफ़ होता। उलटा एक नई अड़चन खड़ी करदी गई है।

परन्तु हमें केवल दोष-दर्शी नहीं होना चाहिये। पुस्तक के साथ कई उपयोगी अनुक्रमणियां लगाई गई हैं। कुछ पादटिप्पणियां दीगई हैं। इनमें से कुछ ऐसी भी हैं, जिन्होंने मूल सत्यार्थ-प्रकाश में प्रमाद-वश आई कुछ भूलों का सुधार किया है। लेख लम्बा होजाने से इन पर यहां अधिक विचार नहीं किया जासकता।

परिशिष्ट भी काम की चीज़ है, यद्यपि उसीमें ही कहीं यह प्रकट कर दिया जाता, कि यह परिशिष्ट सम्पादक का है, पुस्तक-लेखक का नहीं, तो उत्तम होता।

सम्पादक महाशय हमारे मित्र हैं। 'आर्य्य' पर उनकी कृपा-दृष्टि है। वह चाहें, तो हमारी टिप्पणि का उत्तर भी 'आर्य' में प्रकाशित करा सकते हैं। अपने धर्म-ग्रन्थ के साथ इतना अत्याचार होता हमसे देखा नहीं गया। कोई और पुस्तक होता, तो हमें इतनी आपत्ति न थी।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर।

ब्योरा आय व्यय बाबत मास आश्विन १९८१

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
वेद प्रचार	२७२२५)	१५०७॥।=)	६६६६)५			
दशान्श	२०००)	१०)	८६२॥=)॥			
आर्य्य	६८००)	१४१=)	८०४।-)	६८००)	५५५॥।=)।	११७४॥।=)
चारानानिधि	२०००)		१३१)७			
कार्यालय				६५००)	३९१।=)।	२८८१॥≡)
वैदिक पुस्तकालय	१००)	५५॥=)	१२५।=)	२५००)	१६०॥।)॥	१३५९॥।≡)
पुस्तक तैयार कराई				१००)		१२०)
स्वाध्य				७००)		३००=)॥।
वेतन उपदेशक				१५१४१)	११२९॥=)५	७४३१।-)।
मार्ग व्यय				६१००)	५८५-)॥	३४०१॥।)॥
बीमा जीवन				५०)		४०॥≡)
पुस्तक विभाग	२००)	५०)	१३२-)॥			
वैदिक कोष				१४००)	१३३॥।=)॥।	६३६=)।
योग		१७६४॥=)	१२०८३॥।)		२९८६॥।≡)८	१७३४६॥≡)
लेखराम स्मारक निधि	३००)		४७।=)			
वेतन उपदेशक				१४००)	८५)	४४०)
मार्ग व्यय				५००)	७६=)	२७२॥।-)
गुज़ारा विधवा पं० तुलसी राम				१२०)	१०)	६०)
,, ,, पं० वज़ीरचंद				६६)	८)	४८)
योग			४७।=)		१८२=)	८२०॥।-)
अमानत आर्य विद्यार्थी आश्रम					२८)	४००)
,, अन्य संस्थायें		४४०=)	७६७६।=)॥			६७६६॥।-
,, आर्य समाजें		८००)	३२५५=)।			
,, वैदिक पुस्तकालय			५२)		७०)	१५०)
,, भोलेशाह		४६-)	४६-)			
योग		१२८९≡)	११०३५॥-)॥।		९८)	७३१६॥।-
सूद बैंक		१८०३)	१५६००।=)११		४९=)	५९।=)५
,, क़र्ज़ा		१८२३॥।-)॥	२००६।≡)			
किराया मकानात			२०)			
भूमि आय व्यय		२५५)	३६२)			१४६-)।
योग		३८८१॥।-)॥	१७९८८॥।-)॥		४९=)	२०८≡)८

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर।

ब्यौरा आय व्यय बाबत मास आश्विन सं० १९८१

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
निहालदेवी जींदाराम		७००)	७००)			
गुरुकुल मुलतान			५)		५०)	८१२॥≡)
अज्ञात निधि		७०)	१२५३-)।			
दयानन्द-जन्म शताब्दि	१००००)	१६७१॥≡)	४४२०॥-)	१५०००)	३३।-)	४८५७॥=)।
दलितोद्धार	१२०००)	२२=)	१८८१)॥।	१२०००)	२२८॥।≡ ७	२०१३॥≡)७
राजपूतोद्धार		८॥।-)	१६४॥=)		१८४। १०	८३८॥।=)१०
प्रोवीडेण्ट		८८॥=)८	५३६॥।=)११		२६४॥।-)८	१०९२॥।-)२
बोनस				१०००)	४७।≡)१०	२५४॥।≡)२
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	२८७०)	७२३॥)	१२५२॥=)	२८७०)	२०८।≡)॥	११२८॥≡)
,, ,, ,, शाला		—८१६॥-)॥।	५८४४।)५			
वसीयत पं० पूर्णानन्द			२६२५)		४०)	२४३॥-)॥
विदेश प्रचार	८०००)		५५)	८७००		
कन्या गुरुकुल		।=)	३२॥-)			५१३)।
सभा के सेवकों की सहायता					८)	२४)
दयानन्द उपदेशक विद्यालय		४०)	४२)			
आसाम प्रचार			१०७॥-)			
दयानन्द सेवा सदन			२)			
रामचन्द्र स्मारक निधि			३८०॥-)			२२५।=)।
ईश्वरदास निधि						१५०)
...डमन प्रचार		१०)	५०)			
योग		२५१५॥)११	१६३८२॥।-)४		१०६५।=)५	१२२२५[illegible]
गुरुकुल महानिधि			६४३९३)१०			५८७८७-)११
,, अस्थिर क्षात्रवृति			८६०२)			
,, स्थिर कोष			२१०)			
,, उपाध्याय वृति			—८०३५॥)			
,, स्थिर क्षात्रवृति			७०००)			
,, आयुर्वेद			१००३५॥)			
योग			८२२०५)१०			५८७८७-)११
सर्व योग		६४५१≡)५	१४२७४४॥≡)१०		४३८१॥=)१	६६६०८॥-)११
गत शेष		९९४६६८)११	९५३६०१॥।)४			
योग		१००४११६।)४	१०९६३४६।)२			
व्यय		४३८१॥=)१	९६६०८॥-)११			
वर्तमान शेष		९९९७३७॥=)।	९९९७३७॥=)।			

Registered No. L. 1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

* ओ३म् *

भाग ५ मार्गशीर्ष १९८१
अङ्क ७ दिसम्बर १९२४

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना।

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः

ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

शरत्चन्द्र लखनपाल प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से बाम्बे मैशीन प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में छप कर प्रकाशित हुवा।

विषय सूची ।

विषय. पृष्ठ.

'आर्य्य' के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मासकी १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाक ख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभाने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभाकी सूचनायें दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होनेके लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात मंगवाने पर प्रति अङ्क ।≈)

आर्य्य

भाग ५] लाहौर—मार्गशीर्ष १९८१, दिम्सबर १९२४ [अंक ७

वेदामृत।

वैश्य।

ओ३म् इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु । नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ।

अथर्व ३। १५। १॥

प्रभुः—मैं बनाता वैश्य हूं बलवान् को।
प्रजाः—आय औ' अगुआ हमारा आज हो॥
शत्रुओं चोरों मृगों को दे हटा।
प्रभुः—वित्तपति हो दान दे मुझ को खुला॥

स्वामी नारायण और उनका पन्थ।

(लेखक—श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज)

ऋषि दयानन्द ने जो मत मतान्तरों और सम्प्रदायों की समालोचना की है, उसे प्रायः कठोर कहा जाता है और उन पर असहिष्णुता का दोष लगाया जाता है। परन्तु आज तक किसी भी आलोचकने कोई विशेष प्रमाण इस विषय में नहीं दिया। एक सहिष्णु महाशय ने यह कहा कि स्वामी दयानन्द अपने खण्डन में कल्पना से बहुत काम लेते थे। मैंने प्रमाण के लिये दृष्टान्त पूछा। इस पर उन्हें चुप होना पड़ा। बम्बई में एक महाशय ने स्वामी नारायण मत के विषय में कहा कि उन के अनुयायी किसी को भी अवतार नहीं मानते, सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी नारायण के विषय में अशुद्ध कल्पना की गई है। एक मास बीता, अकस्मात् "बिशप हीबर" की डायरी में से कुछ उद्धरण मुझे मिल गए जिन में स्वामी नारायण के विषय में जो कुछ भी लिखा है नीचे देता हूं। इस से निष्पक्ष सज्जन समझ जायंगे कि मतों और सम्प्रदायों की आलोचना में भी ऋषि दयानन्द ने कभी अत्युक्ति से काम नहीं लिया।

यदि कोई सज्जन ऋषि दयानन्द के लेखों में किसी प्रकार की अशुद्ध कल्पना समझें तो उस विषय के ग्रन्थों वा इतिहास का अनुशीलन करें, और उन के अशुद्ध होने का प्रमाण उन्हें मिले तो मेरे पास लिख भेजें। मैं स्वयं उस अशुद्धि को मान लूंगा क्योंकि भूल चूक को सुधारने के लिए दयानन्द का विशाल हृदय हर समय तय्यार रहता था।

बिशप हीबर (Bishop Heber) अपनी २५, २६, मार्च सन् १८२५ ई० की डायरी में स्वामी नारायण और उन के मत के विषय में इस प्रकार लिखते हैं:—

"कहा जाता था कि उस (स्वामी नारायण, उपनाम सहजानन्द) के धार्मिक सिद्धान्त उन से भी उच्च हैं कि जो शास्त्रों से सीखे जा सकते हैं। वह उच्च कोटि की पवित्रता का प्रचार करता है, यहां तक कि उस के शिष्यों को

किसी स्त्री के मुंह की ओर ताकना भी मना है। चोरी और एक बहाने को वह दूषित मानता है। जिन ग्रामों व ज़िलों ने उस की शिक्षा को स्वीकार किया है वे अपनी बुराई को छोड़ कर सब से अच्छे और नियमबद्ध हो गए हैं। केवल यही नहीं प्रत्युत कहा जाता है कि उसने जातिबन्धन के जुए का नाश कर दिया है, एक परमात्मा का प्रचार करता है। सारांश यह कि वह सचाई की ओर इतना झुक आया है कि मुझे आशा हो गई कि वह बाइबिल की शिक्षा के लिए मार्ग खोलने का एक साधन सिद्ध होगा......................उस (स्वामी नारायण) ने आरम्भ में कहा कि उस का विश्वास एक परमात्मा पर है जो पृथ्वी और आकाश की सब वस्तुओं का निर्माता, सर्व व्यापक, सब का धारण और शासन करने वाला है और उन पुरुषों के हृदय में विशेष रूप से बसता है जो उसे यत्न से ढूंढते हैं। परन्तु उस ने अपने पूज्य परमात्मा का नाम कृष्ण बतला कर मुझे चकित कर दिया और कहा कि प्राचीन काल में वह पृथ्वी पर आया था जिसे अधर्मी आदमियों ने जादू के ज़ोर से मार दिया और उसके बाद बहुत से इलहाम और बहुत से झूठे अवतार दुनिया में प्रसिद्ध किए गए। ....मैंने कहा कि मैं तो सदा यह समझता रहा हूं कि हिन्दू परमेश्वर को सब का पिता कहते हैं न कि 'कृष्ण' को, और कि उसका नाम 'ब्रह्म' है और मैंने यह जानने की इच्छा प्रकट की कि उनका परमेश्वर "ब्रह्म" है वा उस के अतिरिक्त कोई और? पण्डित (सहजानन्द) मुस्कराया और सिर झुका कर एक ऐसे आदमी की तरह जो किसी अधिकारी शिष्य को शिक्षा देता है कहा:—"यह सच है कि एक ही परमात्मा है जो सर्वोपरि और सर्वत्र व्यापक है। उसी से सारा संसार उत्पन्न होता है। वह जो अनादि एकरस है उस के बहुत नाम हो सकते हैं और रक्खे गए हैं। उसे हम भी और अन्य हिन्दू भी "ब्रह्म" बोलते हैं परन्तु एक विशेष आत्मा है जिस में परमात्मा विशेष प्रकार से व्यापक है और वह आत्मा परमात्मा से आता है और परमात्मा के साथ है, और परमात्मा ही है। वही सब के पिता परमात्मा की इच्छा मनुष्यों को बतलाता है; उसी को हम "कृष्ण" बोलते, उसे परमात्मा की मूर्ति मान कर पूजते, और उसे "सूर्य्य देवता" समझते हैं।.......................मैंने पण्डित को फिर कहा "परन्तु हम विश्वास नहीं कर सकते कि वह सूर्य्य जिसे हम आकाश में देखते हैं वह परमात्मा हो सकता है वा "शब्द" हो सकता है जो परमात्मा के साथ ही रहता है, क्योंकि सूर्य्य तो उदय होता और अस्त होता है और कभी दुनियां के

इस ओर और कभी उस ओर होता है। परन्तु परमात्मा तो एक दम सब स्थानों में व्यापक है।"

"पण्डित (सहजानन्द) ने उत्तर दिया कि सूर्य्य परमेश्वर नहीं है परन्तु प्रकाश और ऐश्वर्य्य का द्योतक है। उसने कहा कि उनके विश्वास के अनुसार विविध देशों में परमात्मा के बहुत से अवतार हुए हैं, खिस्टियों के लिये, मुसलमानों के लिये, प्राचीन काल में हिन्दुओं के लिये। साथ ही उस ने इशारा दिया कि उस समय "कृष्ण" वा "सूर्य" का एक अवतार वह (स्वामी नारायण) स्वयं है।......................................उस ने एक चित्र दिया जिस में एक नग्न पुरुष के शरीर से सूर्य्य की किरणों की तरह प्रकाश निकल रहा था और दो स्त्रियें उसे पङ्खा कर रही थीं.........। मैंने पूछा कि यह (चित्र वाला) क्योंकर परमात्मा हो सकता है, जो सब वस्तुओं और सब स्थानों में भरपूर है। उस ने उत्तर दिया कि यह परमात्मा स्वयं नहीं है प्रत्युत उस का वह रूप है जो कि मेरे हृदय में बसता है..............। मैंने उस से जाति-बन्धन के विषय में पूछा। उस के उत्तर में उस ने कहा कि वह उसे कुछ भी नहीं समझता, परन्तु वह किसी को दुःख देना नहीं चाहता। उस ने कहा इस संसार में सारे लोग इकट्ठे भोजन करें चाहे अलग २, परन्तु ऊपर जाकर यह सब भेद भाव दूर होजायंगे।.............. मि० आइरन-साइड ने मुझे बतलाया कि जब पण्डित सहजानन्द से मूर्ति पूजा के विषय में हुज्जत की गई तो उस ने माना कि यह सब व्यर्थ की कल्पना है परन्तु अपनी सफाई में कहा कि लोगों के पक्षपात को एक दम से धक्का नहीं देना चाहिये, और कि मूर्खों और कामी पुरुषों के लिये उपासना में इन से बाह्य सहायता मिलती है।"

दार्शनिक सिद्धान्त पुष्पमाला।

(श्रीयुत पं० मुक्तिराम उपाध्याय)

ज्ञानी—रसिक महोदय! कल हमने आपके फूल की अपूर्णता के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया था, आज उसकी उस सुगन्धि की भी परीक्षा करेंगे, जिसका आपने विशेष रूप से अपने भाषण में निदर्शन किया था। हम बड़े हर्ष से आपके फूल का स्वागत करते यदि उसमें यह अपूर्णता न होती, और जहां उसमें आत्म-तत्त्व का विकाश हुआ है, उसके स्वरूप का भी विशुद्ध

प्रकाश होता। परन्तु हमें इसके लिये चिन्ता कुछ भी नहीं है। फूल जिस समय कली के रूप में होता है, उसमें कोई सुगन्धि नहीं होती। जब वह प्रथम ही खिलता है, कुछ गन्ध होता है, परन्तु ज्यों २ सूर्यदेव के संसर्ग से उसका विशेष विकाश होता जाता है, गुण-ग्राही फूल की सुगन्धि उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है, और वह उसके प्रचार से वायु-मण्डल को सुगन्धित कर जगत् को प्रसन्न कर देता है। आपके सिद्धान्तफूल में भी आत्म-तत्त्व का अभी नया ही विकाश हुआ है, उसका स्वरूप पूर्णरूप से प्रकाशित होगा, इसमें हमें कुछ भी सन्देह नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में आपने दो बातें विशेष कही हैं, जो मुझे ही नहीं, प्रत्येक विचारशील तार्किक को खटकती होंगी। एक यह कि आत्मा ज्ञान-गुण का आधार नहीं है, ज्ञान-स्वरूप है दूसरे शब्दों में ज्ञान ही आत्मा है। और दूसरी यह कि आत्मा परिवर्त्तनशील और क्षणिक है। आपके पहिले सिद्धान्तके सम्बन्धमें हम आपसे एक प्रश्न करते हैं। यदि आत्मा ज्ञान-रूप ही है, तो बतलाइये, ज्ञान गुण है या द्रव्य ?

रसिक—गुण भी और द्रव्य भी।

ज्ञानी—यह कैसे ?

रसिक—जैसे आपकी प्रकृति देवी गुण भी है और द्रव्य भी है। जब वह मूल-रूप में होती है, तो उसमें गुण और द्रव्य दोनों का एक ही रूप में समावेश रहता है, परन्तु जब उसका विकाश होता है, तो पृथिवी आदि द्रव्य और रूप, रस आदि गुण उसीमें से प्रकट होजाते हैं। इसी प्रकार हमारे यहां भी विज्ञान मूल रूप से एक ही तत्त्व है, परन्तु जब अनादि काल की वासनाओं के कारण मिथ्या-अभिमान के वश हो बहिर्मुख होता हुआ वह अपने एक ही स्वरूप को अनेक रूप में देखने लगता है, तो द्रव्य गुण और उनसे बनी हुई अन्य सांसारिक वस्तुओं का उसीमें से विकास होता है।

ज्ञानी—श्रीमन्! प्रकृति देवी में जो द्रव्य और गुण सूक्ष्मरूप में पहिले से विद्यमान रहते हैं, सृष्टिरचना के समय वे ही स्थूलरूप में प्रकट होजाते हैं। क्या आपके विज्ञान में भी ये दोनों पहिले से विद्यमान थे ?

रसिक—पहिले और पीछे क्या ? यह सृष्टि तो अनादि काल से ऐसी ही चली आरही है। न इसका कभी समूहरूप से नाश हुआ और न उत्पत्ति। हां व्यक्तियें नष्ट और उत्पन्न होती रहती हैं।

ज्ञानी—सृष्टि और प्रलय का विचार छेड़ कर वर्त्तमान विषय को आप गड़बड़ में डालना चाहते हैं, हम अभी इसके सम्बन्धमें कुछ न कहेंगे। व्यक्तियों की उत्पत्ति और विनाश तो आप भी मानते ही हैं, कहिये वे व्यक्तियें पहिले से विज्ञान में विद्यमान थीं या नहीं ?

रसिक—व्यक्तियें वर्त्तमान रूप में विज्ञान में विद्यमान नहीं रहतीं। उनकी वासनाएं या संस्कार विज्ञान में रहते हैं। जीवों के भोगानुसार उन वासनाओं के बल से न होती हुई भी वे व्यक्तियें समय २ पर प्रतीत होने लगती हैं।

ज्ञानी—वासना के अर्थ हम संस्कार ही करें न ? हां तो वे वासनाएं सदा एक जैसी ही रहती हैं, या उनमें कभी परिवर्त्तन भी होता है ? यदि एक जैसी ही रहती हैं, तो जो वस्तु हमने कल, परसों या इससे भी पहिले देखी थी, आज भी उसीका भान होना चाहिये, किसी नई वस्तु की प्रतीति न होनी चाहिये, क्योंकि कारण जैसा हो कार्य भी वैसा ही हुआ करता है। और यदि वासनाओं में परिवर्त्तन होता है, तो परिवर्त्तन का कारण बतलाइये।

रसिक—वासनाओं के परिवर्त्तन में हेतु हैं प्राणियों के कर्म। जैसे कर्म होते हैं, वैसी ही वासनाएं और उपभोग के लिये वैसे ही पदार्थों की प्रतीति होने लग जाती है।

ज्ञानी—अनेक प्रकार की वासनाओं के उत्पन्न करने के लिये कर्म भी अनेक प्रकार के ही होने चाहियें। समय २ पर विलक्षण २ कर्मों को जो उत्पन्न करता है, वह कारण कौन है ? विज्ञान एक रूप ही है, वह कर्मों में भेद नहीं कर सकता, इसलिये कर्म एक ही प्रकार के होंगे और वासनाएं भी, और इसके अनुसार संसार भी सदा एक रूप ही रहना चाहिये।

रसिक—यह प्रश्न कोई अच्छा प्रश्न नहीं है। कर्म का होना प्राणी के आधार पर है, वह जैसा चाहता है, वैसा कर्म करता है। इच्छाओं के भिन्न २ होनेसे कर्म भी भिन्न २ प्रकार के होजाते हैं।

ज्ञानी—प्राणियों की इच्छा भिन्न २ कर्मों के अनुकूल क्यों होजाती है, एक ही जैसी क्यों नहीं रहती ?

रसिक—आप आज विचित्र ही प्रश्न कर रहे हैं, अच्छा इस प्रश्न का उत्तर आप ही दीजिये। आपके सिद्धान्त में जीव भिन्न २ कर्म करने की इच्छा क्यों करते हैं ? इच्छा एक ही जैसी क्यों नहीं रहती ?

ज्ञानी—परमात्मा ने जीवों के उपभोग के लिये इस सृष्टि में भिन्न २ प्रकार के अनन्त पदार्थों की रचना की है। ये हैं तो सब उपभोग के लिये, परन्तु उनके संसर्ग से ही राग, द्वेष और मोह का उदय होजाता है, इच्छा भी रागविशेष ही है, पदार्थों के अनन्त स्वभाव होने के कारण इच्छाएं भी अनेक प्रकार की ही होती हैं। जो कि विभिन्न कर्मों को जन्म देनेमें साधन बनती हैं। यह जीव का अपना अधिकार है, कि वह उन पदार्थों से अपना घनिष्ट सम्बन्ध होने दे या न होने दे। सम्बन्ध टूट जाने पर राग, द्वेष, मोह की और इनके द्वारा कर्मों की उत्पत्ति न होसकेगी, और ऐसी अवस्था में जीव भोग बन्धन से मुक्त भी होसकेगा। आपके यहां तो सांसारिक पदार्थ, विज्ञानसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिये आपसे प्रश्न किया गया था, प्रश्न विचित्र कहां है?

रसिक—बाह्य पदार्थ हमारे सिद्धान्त में विज्ञान से भिन्न नहीं हैं, तो न सही, हम कहेंगे, वासनाएं ही विभिन्न इच्छाओं और कर्मों को उत्पन्न कर देती हैं।

ज्ञानी—देखिये अब आप गड़बड़ करने लगे हैं। अभी आप कह आये हैं कि कर्मों का भेद वासनाओं के भेद में कारण हैं, और अब कह रहे हैं, कि वासनाओं का भेद कर्मों के भेद में कारण है। कहिये आपका पहिला कथन ठीक था, या यह ठीक है। और यदि दोनों ठीक हैं, तो हुआ या नहीं अन्योन्याश्रय दोष? अब बतलाइये, यदि वासनाओं की विलक्षणता में कर्म हेतु हैं, तो कर्मों की विलक्षणता में कौन? और यदि कर्मों की विलक्षणता में वासनाएं हेतु हैं, तो वासनाओं की विलक्षणता में कौन?

रसिक—वाह श्रीमान्‌जी! हमें झमेले में डालकर अपना कार्य सिद्ध करने लगे हैं ना। भला जहां कार्य कारण की अनादि परम्परा होती है, वहां भी किसी ने अन्योन्याश्रय दोष माना है। देखिये जैसे बीज वृक्ष से उत्पन्न होता है और वृक्ष बीज से। क्या यहां पर भी अन्योन्याश्रय दोष है? यदि है तो कार्य उत्पन्न ही न होना चाहिये, और यदि नहीं तो यहां की भान्ति कर्म और वासना की व्यवस्था भी समझ लीजिये।

ज्ञान—आप भूलते हैं। जहां कारण और कार्य की अनादि परम्परा होती है, वहां स्वरूप-भेद नहीं होता। आम के वृक्ष से सदा आम का बीज और आम के बीज से आम का वृक्ष ही उत्पन्न होता चला आया है और होता

रहेगा । इस व्यवस्था में एक तृण भर भी भेद आना असम्भव है । इसी प्रकार यदि वासनाएं कर्मों की कारण हों, और कर्म भी वासनाओं के कारण हों तो नये ढंग का कोई भी कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, और कर्म की विलक्षणता के बिना वासना में विलक्षणता नहीं आसकती, और ऐसी दशा में नित्य नये पदार्थों की प्रतीति का आपके पास कोई साधन नहीं । एक और बात आपसे पूछनी है, कर्म और वासनाएं भिन्न २ वस्तुएं हैं, या अभिन्न (दोनों एक ही) ? और ये दोनों विज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न (विज्ञान रूप ही) ?

रसिक—कर्म और वासनाएं परस्पर भिन्न हैं, परन्तु विज्ञान से दोनों ही अभिन्न हैं, क्योंकि विज्ञान से भिन्न यथार्थ वस्तु जगत् में हम कोई भी नहीं मानते, ये जितने पदार्थ देखने में आते हैं, सब मिथ्या हैं और वासना के बल से इनकी प्रतीति हो रही है ।

ज्ञानी—हां उस वासना की ही परीक्षा होरही है, जिसके ऊपर आपके सिद्धान्त-सर्वस्व की नींव है । आपने कर्म और वासना को परस्पर भिन्न बतलाया, और उन दोनों को ही विज्ञान से अभिन्न कहा, परन्तु यह आपका निरा गपोड़ा है । इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार न करेगा । आपके इस सिद्धान्त की परीक्षा हम दूसरे ढंग से करते हैं । देखिये यह एक समत्रिबाहु त्रिभुज है ।

अ△च
क

इसकी अ, क, च नामक तीनों भुजायें समान हैं । इनमें से 'अ' भुजा जब कि 'क' के समान है, और 'च' भी 'क' के समान है, तो अ, च, दोनों भी परस्पर में समान ही होंगी । अब कोई भी रेखागणित का विद्वान् अ, च, को परस्पर छोटी बड़ी नहीं सिद्ध कर सकता । इससे यह नियम निकल आता है कि जो दो किसी एक के समान होंगी, वे परस्पर भी समान ही होंगी । और इसी नियम के अनुसार यह दूसरा नियम भी अवश्य मानना पड़ेगा, कि जो दो किसी एक से अभिन्न होंगे, वे परस्पर भी अभिन्न ही होंगे । वासना और कर्म दोनों ज्ञान से अभिन्न हैं, यह तो आप मानते ही हैं, फलतः अब वासना और कर्म पमस्पर भी अभिन्न ही सिद्ध हुए । ऐसी दशा में जब कि वासना कर्म से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं तो कहिये कौन किसका कारण और कौन किसका कार्य । इसी प्रकार वासना जब विज्ञान से भिन्न कोई वस्तु न ठहरी, तो विज्ञाग

को इस मिथ्या संसार के रूप में प्रतीत कराने वाला कौन रहा । यदि कहें कि वासना है तो विज्ञान से अभिन्न ही, परन्तु भिन्न जैसी प्रतीत होती है । अच्छा श्रीमान्‌जी ! इस वासना की मिथ्या प्रतीति में साधन बतलाइये । बस अब चुप हैं ? यह आपके साथ अच्छी बनी ।

जो कहती थी वासना, झूठा है संसार ।
कर विज्ञान-उपासना, वह भी उतरी पार ॥

सखे मुक्ति पा वासनाएं सिधारी । जने कर्म को आज कैसे विचारी ॥
बिना कर्म संसार का भान कैसे । रहे ज्ञान के साथ अज्ञान कैसे ॥
जगन्मिथ्यता का हुआ ढोंग ढ़ीला । चलो छोड़दो व्यर्थकी छद्म लीला ॥

मिथ्यावाद का मिथ्या बखेड़ा मिट चुका । अब आपके क्षणिक-वाद की क्षणिक सत्ता देखनी है । आत्मा के सम्बन्ध में विचार चला हुआ है, अतः प्रथम आध्यात्मिक क्षणिकता की ही परीक्षा करनी उचित प्रतीत होती है । आप विज्ञान को आत्मा मानते हैं और उसका क्षण २ में नष्ट होना भी स्वीकार करते हैं । संसार की उत्पन्न और नष्ट होने वाली सब वस्तुओं में यह नियम देखा जाता है, कि उनका परिणाम होते समय कोई न कोई शक्ति सहायक अवश्य होती है । बीज के वृक्ष एवं वृक्ष के बीजरूप परिणाम में जहां उसके अन्दर विराजमान कोई अदृश्य-शक्ति परम सहायक है, इसके साथ ही जल, वायु, सूर्य और भूमि भी सहायक हैं । लकड़ी के अग्नि, धूम और भस्मीरूप परिणाम में एक दूसरी प्रज्वलित अग्नि एवं अनुकूल वायु आदि सहायक होते हैं । मिट्टी घड़े के रूप में और घड़ा मिट्टी के रूप में किसी अन्य की सहायता से ही आते हैं । क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि विज्ञान का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणाम किसकी सहायता से होता है ? ।

रसिक—हां हां क्यों नहीं ? यह प्रश्न ही क्या है जिसका उत्तर देना कठिन हो ? दुनियां की अनेक बाह्य वस्तुएं और विज्ञान के अपने पूर्व संस्कार ही उसके क्षणिक परिणाम में सहायक होते हैं ।

ज्ञानी—बाह्य वस्तुओं के रूप में विज्ञान ही भास रहा है, विज्ञान से भिन्न होकर बाह्य वस्तुओं की कोई सत्ता नहीं, यह आपका अभिमत सिद्धान्त है । संस्कारों के सम्बन्ध में भी आपके ऐसे ही विचार हैं, क्योंकि आप गुण को गुणी से भिन्न नहीं मानते । ऐसी अवस्था में इस वाक्य का कि "विज्ञान

एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है" यह हो अर्थ होगा कि विज्ञान, संस्कार, बाह्य वस्तुएं और और भी विज्ञान रूप जो प्रपञ्च है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान के परिणाम के लिये संस्कार और बाह्य वस्तुओं को सहायक कह देना आपकी एक पहेली मात्र है। भला जब यह सब हुए ही विज्ञान-स्वरूप तो कौन किसका सहायक! अतः इस ओर से निराश हो कोई और सहायक खोजिये और बतलाइये।

रसिक—अच्छा न सही। हम कहेंगे, पूर्व विज्ञान आने वाले विज्ञान को उत्पन्न करता है और आने वाला विज्ञान पूर्व विज्ञान को नष्ट कर देता है। इस प्रकार क्षण २ में विनाश होता रहता है। इसका आप क्या उत्तर देंगे?

ज्ञानी—उत्तर देंगे ख़ाक। आपने कुछ सोच समझ कर भी कहा है जिसका उत्तर दिया जावे? विज्ञान एक क्षण रहता है और दूसरे क्षण में नष्ट होजाता है। दूसरा विज्ञान जिस क्षण में उत्पन्न होता है उस क्षण में पूर्व विज्ञान की सत्ता ही नहीं है, नष्ट होचुका है। फिर वह उसका कारण कैसे हुआ? इसी प्रकार पूर्व-विज्ञान के नाश होने पर दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है। जब पूर्व का नाश होरहा था तब इस दूसरे की सत्ता ही न थी, फिर वह उसका नाशक कैसे हुआ? श्रीमान्‌जी! अब तो आपको विज्ञान की उत्पत्ति और नाश में कोई कारण न मिलने से विज्ञान को स्थायी ही मानना पड़ेगा।

विज्ञान को स्थायी मानने में एक हेतु और लीजिये—मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी इन्द्रियें, मेरा धन, यहां मैं और मेरा शब्द शरीर आदि से भिन्न विज्ञान को ही प्रतीत करा रहे हैं। अतः जगत् में सब जगह 'मैं" शब्द से विज्ञान का ही ग्रहण करना पड़ेगा। अब देखिये, "मैंने जिसे कल देखा था, उसीको आज देख रहा हूं।" इस प्रतीति से कल और आज का विज्ञान स्पष्ट एक प्रतीत हो रहा है। यदि कल देखने वाला नष्ट होगया होता, तो इस प्रतीति का आधार-स्तम्भ ही टूट जाता और यह कभी भी न होसकती। इससे भी विवश मानना पड़ता है कि विज्ञान स्थिर है।

और हेतु लीजिये। आप मानते हैं कि सांसारिक विज्ञान मुक्ति का अभिलाषी है और विषयाकार विज्ञान-धारा का आलय विज्ञानधारा अथवा स्वरूपविज्ञान-धारा के रूप में परिणत होजाना मुक्ति है। यहां यह समझने का यत्न कीजिये कि मुक्ति की अभिलाषा किसे है और मुक्त होगा कौन? आपका

कोई भी विज्ञान एक क्षण से अधिक स्थिर रहने वाला नहीं है। जो इस क्षण में उत्पन्न हुआ है, और दूसरे क्षण में नष्ट होजावेगा वह मुक्ति की अभिलाषा एवं उसके लिये प्रयत्न क्यों और कैसे करेगा ? वह विचारा तो दूसरे ही क्षण में स्वभाव से ही इस असार संसार को छोड़ देगा और फिर न आवेगा। दूसरे क्षण में उत्पन्न होने वाला विज्ञान होगा ही और, अतः उसको मुक्ति की इसे क्या चिन्ता पड़ी है।

परन्तु यह चिन्ता लोक से और आपके शास्त्र से भी सिद्ध है। फलतः विज्ञान क्षणिक नहीं स्थिर है।

और हेतु लीजिये। हमें पहिले देखी हुई वस्तुओं का स्मरण हुआ करता है। कलकत्ते के साथ गङ्गा बहती थी, दिल्ली यमुना के किनारे पर थी इत्यादि पूर्व दृष्ट वस्तुओं को हम कई बार याद किया करते हैं। यदि विज्ञान को क्षणिक मानें तो जिसने दश वर्ष पूर्व कलकत्ते के साथ गङ्गा को देखा था, उस विज्ञान का तो आज नाम-ठाम भी शेष नहीं है, फिर स्मरण हुआ तो किसको हुआ ? किसी दूसरे के देखे हुए का स्मरण किसी दूसरे को तो हुआ नहीं करता। इसका उत्तर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, कि विज्ञान क्षणिक नहीं, स्थिर है।

और हेतु लीजिये। सीपी में चांदी का भ्रम, खड़ी लकड़ी में पुरुष का सन्देह और स्वप्न, ये सबकी सब प्रतीतियें चांदी, पुरुष और स्वप्न के पदार्थ को यदि पहिले कहीं अन्यत्र देखा हो तो हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। और पहिले देखने वाले विज्ञान के एक क्षण बाद ही नष्ट होजाने पर ये सब निराधार ही रह जाती हैं। परन्तु इनकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है। इससे कहना होगा, कि विज्ञान क्षणिक नहीं, स्थिर है।

वस्तुओं के स्थायी होने में आपने एक दोष दिया था, कहा था कि यदि स्थायी पदार्थ में जितने कार्य्य वह अपनी सत्ता में करेगा, सब के करने की शक्ति है तो वे सब कार्य्य युगपत् (एक साथ) ही उत्पन्न हो जाने चाहियें। और यदि शक्ति नहीं है तो क्रम से भी न कर सकेगा। हमारा उत्तर स्पष्ट है, जिस कार्य्य के लिये सहकारी मिलते हैं उसे करता है और जिसके लिये नहीं मिलते उसे शक्ति होते हुए भी नहीं कर सकता। आपने पूछा था क्या

सहकारी, कारण में कुछ शक्ति उत्पन्न कर देता है ? हम कहते हैं कुछ भी नहीं। कारण अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और सहकारी अपनी शक्ति का। इन दोनों की शक्ति से ही अब वह कार्य्य उत्पन्न हो जाता है, जो एक की शक्ति से साध्य न था। यह तो हुआ हमारा उत्तर। अब आप बतलाइये कि आप का पूर्व-विज्ञान जिस कार्य्य को उत्पन्न न कर सका था उसे इस उत्तर विज्ञान ने कैसे उत्पन्न कर दिया, जब कि शक्ति दोनों की समान है, और यदि उत्तर विज्ञान में विशेष शक्ति है तो यह बतलाइये वह आई कहां से ?

रसिक—जो विज्ञान कार्य्य को उत्पन्न करता है उस में कुर्वद्रूपत्व (कार्य्य के उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति) उत्पन्न हो जाता है और इसलिये वह विज्ञान ही उस कार्य्य को उत्पन्न कर सकता है अन्य नहीं।

ज्ञानी—श्रीमान् जी ! इन ढोली २ युक्तियों से कहीं एकान्त में बैठ कर अपने मन को सन्तुष्ट तो कर सकते हैं, यहां वाद विवाद में इन से काम न चलेगा। देखिये-प्रथम तो उस कुर्वद्रूपत्व की उत्पत्ति में आप कोई साधन ही नहीं बतला सकते। क्योंकि जिस विज्ञान में यह है उस से पूर्व विज्ञान में इसकी सत्ता ही न थी, और यह विज्ञान उस पूर्व विज्ञान का ही परिणाम है। दूसरे, यदि "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से इसकी उत्पत्ति मान भी लें तो यह शक्ति इससे आगे वाले विज्ञान में भी जावेगी, क्योंकि वह विज्ञान इस विज्ञान का ही परिणाम होगा। और इसी प्रकार उससे आगे वाले विज्ञानों में भी इस का जाना निश्चित होगा, और ऐसी दशा में आगे आने वाले सारे ही विज्ञान अब इसी कार्य्य को उत्पन्न किया करेंगे, क्योंकि यह कुर्वद्रूपत्व उन सब में विद्यमान ही है। कहिये, जो दोष हमारे शिर मढ़ने लगे थे वह हमें स्पर्श न कर आप के ही पीछे लगा न ? अब इस श्लोक का पाठ कीजिये।

स्याही फेंकी पवन मुख, करिखा पोंचन हेत।

वह उड़ि मुड़ि मम भाल कहँ, श्याम बनाये देत ॥

विज्ञान क्षणिक नहीं है, स्थिर है, यह सिद्ध हो चुका। सब जगत् मिथ्या है, यह प्रतिज्ञा धूल में मिल गई। मेघ के दृष्टान्त से जगत् की क्षणिकता का अनुमान भी विज्ञान के स्थिर सिद्ध होजाने से व्यभिचारी होगया, इस प्रकार आप के सब सहायक आप का साथ छोड़ बैठे। अब तो आप को लम्बी श्वास

लेकर यह मान ही लेना चाहिये कि जगत् की जिन वस्तुओं में स्थिरता दृष्टि-गोचर होती है वे स्थिर और जो क्षण २ में नष्ट होती प्रतीत होती हैं वे क्षणिक हैं। अब विज्ञान के स्थिर सिद्ध हो जाने पर यह विचार उपस्थित होता है कि जो यह कभी घट का ज्ञान होता है और कभी दीपक का, कभी पुस्तक को देखते हैं और कभी वृक्ष को, विज्ञान के स्थिर होते हुए भी इन भिन्न अवस्थाओं की प्रतीति कैसे होती है ? कौन ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व है जो इन बाह्य पदार्थों के संसर्ग से अनेक रूपों में परिणत होता हुआ विज्ञान को विशेष प्रतीति कराता है। इसका उत्तर हमें यह ही देना पड़ेगा कि इस विज्ञान तत्त्व में एक ऐसी शक्ति है जो जैसी वस्तु सामने आती है उसी के रूप में परिणत होकर विज्ञान को उसका अनुभव कराती है। इस अनुभव करने की शक्ति को ही हम जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान कहा करते हैं। और जिसका नाम आपने विज्ञान रख छोड़ा है वह ही स्थिर नित्य पदार्थ जीवात्मा है। जगत् की वस्तुएं सत्य सिद्ध होचुकीं, इन सब के मूल कारण का नाम ही प्रकृति है। आप के सिद्धान्त-फूल की पूर्णता के लिये जो तत्त्व हम ने बतलाया था उसका नाम परमेश्वर है। बस, यह ही सर्वाङ्ग पूर्ण वैदिक दर्शन सिद्धान्त फूल है। निःसङ्कोच होकर इसे अपनाइये और लाभ उठाइये।

रसिक :—अच्छा मैं विचारूंगा।

ज्ञानी।—हां भली भांति विचारिये, विना विचारे मान लेना पाप है।

क्रमशः

———

वेद में अग्नि आदि चार ऋषियों के नाम।

समाधानाभास।

(श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ)

'वेद में...... ...' इस शीर्षक का एक लेख आर्य्य में प्रकाशित हुआ था। उस के सम्बन्ध में उसी पत्र के भाद्र मास वाले अङ्क में मैंने कुछ विचार प्रकट किए थे। उन को शङ्का और प्रश्न समझ कर उपदेशक जी ने "शङ्का समाधान" या "प्रश्नों का उत्तर" (?) देने की कृपा की है (पता नहीं मेरे लेख पर शङ्कात्व या प्रश्नत्व कैसे घटित होगा, कदाचित् उपदेशकजी को प्रश्न, शङ्का और इस से अतिरिक्त आक्षेप नामक पदार्थों का भेद परिज्ञात नहीं, अस्तु)। इस के लिए उन का धन्यवाद करता हुआ यह निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूं कि आप के "शङ्का समाधान" या "प्रश्नों का उत्तर" (?) को पढ़ कर भी आप के किए वेदार्थ के सम्बन्ध मे मेरी सम्मति वही की वही है, अर्थात् वह सर्वथा असङ्गत, असमञ्जस, असम्बद्ध एवं वेदाशय-विरुद्ध है।

पण्डित जी ने मेरे लेख में आठ शङ्काएं देखी हैं, और अपने विचार में उनका सन्तोष-जनक उत्तर दिया है, क्योंकि लेखावसान में आप फ़रमाते हैं— "यदि अब भी आप लिखने की आवश्यकता समझें..."। अस्तु। मैं उन के समाधान या उत्तर (?) को उन्हीं के क्रमानुसार आलोचना करता हूं—

(१ आप की इस स्थापना को प्रमाणशून्य होने के कारण कोई भी वैदिक मानने को उद्यत नहीं हो सकता।

(२) पण्डित जी ! मेरे लेख को फिर से पढ़िए, मैंने आप से जाति का लक्षण नहीं पूछा, अपितु आप को जाति बाधकों के स्मरण करने का संकेत किया था। भगवन् ! "देवदत्तत्व" जाति के स्वीकार करने से सङ्कर बाधक उपस्थित होता है। केवल "अनेकाश्रितत्व" किसी ने भी जाति लक्षण नहीं माना। 'नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्' तो सर्वाचार्य्य मानते हैं, क्या मैं भी आप को दर्शनों की किसी प्रारम्भिक पोथी देखने का संकेत करूं ? फिर देवदत्तत्व जाति मानने में नियामक क्या है ? मीमांसादर्शन १। १। ३१ का पाठ "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" ऐसा है, न कि "श्रुतिसामान्यमात्रम्" जैसा कि आप ने लिखा है। आप के लेख से प्रतीत होता है, कि आप को तो सूत्रार्थ

ही का पता नहीं। पण्डित जी! जिस विषय का मनुष्य को ज्ञान ही न हो, उस में हस्तक्षेप करना उचित नहीं।

(३) भगवन्! "तस्माद्यज्ञात्" मन्त्र भी मेरे ही पक्ष का पोषण करता है। देखिए "तस्मात्" और "सर्वहुतः" यह दोनों पञ्चम्यन्त पद 'यज्ञात्' पञ्चम्यन्त पद के विशेषण हैं, न कि स्वतन्त्र। ठीक इसी प्रकार "यस्मिन्नश्वासः" इस मन्त्र में भी "कीलालपे, सोमपृष्ठाय" और "वेधसे" यह चतुर्थ्यन्त पद "अग्नये" इस चतुर्थ्यन्त पद के विशेषण होने चाहियें, न कि स्वतन्त्र। ऋषि दयानन्द जी ने भी यजुर्वेद में इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए इन पदों को "अग्नये" पद का विशेषण माना हैं। पण्डितजी महाराज! "तस्माद्यज्ञात्" मन्त्र का देवता "स्रष्टेश्वर" होने से "वेदोत्पत्ति" में कोई आपत्ति नहीं। अपितु सृष्टि प्रकरणोपात्त वेदोत्पत्ति का वर्णन अत्यन्त सुसङ्गत है। क्योंकि इस मन्त्र में यज्ञ=स्रष्टा ईश्वर का वर्णन है। परन्तु आप ने तो "यस्मिन्नश्वासः" मन्त्र का अग्नि देवता (ज्ञान स्वरूप परमात्मा) मान कर भी मन्त्रगत "अग्नये" पद का अर्थ "अग्निनामकर्षये" कर के ज्ञान स्वरूप परमात्मा की तो चर्चा ही नहीं आने दी है।

(४) ब्राह्मण ग्रन्थ ही इस में प्रमाण हैं, न कि वेद भी। "तस्माद्-यज्ञात्" मन्त्र में भी केवल स्रष्टेश्वर से वेद-चतुष्टय की उत्पत्ति का वर्णन है, न कि अग्नि आदि द्वारा। और न ही प्रकृत मन्त्र में। परन्तु आक्षेप तो यह था कि "कीलालपा" आदि शब्द ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वायु-आदि ऋषियों के लिए कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए। इस पर आप चुप हैं। और इधर उधर की चर्चा छेड़ दी।

(५) भूल स्वीकार कर आप ने उदारता का परिचय दिया है, अतः आप साधुवादार्ह हैं। महाराज! हम कैसे समझें, कि "कीलालपाः" आदि शब्द वायु आदि के लिये प्रयुक्त हुए, क्योंकि ब्राह्मण, तथा अन्य इतिहास ग्रन्थों में "वायु" आदि ऋषियों के लिए "कीलालपाः" प्रभृति शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। यदि आप को कहीं मिला हो तो लिखिएगा, बड़ा उपकार होगा।

(६) वेदार्थ करने में आप ऐसे धुरन्धर अनुसन्धान-प्रिय वेदनिष्णात उपदेशक ही अमर कोष के आधार पर बने "पद्मचन्द्र कोष" (जो एक वेद ज्ञान शून्य पौराणिक मतावलम्बी प्रोफेसर का रचित ग्रन्थ है) को प्रमाण मान सकते हैं, हमारे ऐसे वेदार्थ जिज्ञासुओं के लिए तो ब्राह्मणादि ग्रन्थ, एवं अङ्गोपाङ्ग

ही पर्य्याप्त हैं। किन्तु साथ ही एक बात पूछ लूं, क्या श्रीमान् जी पद्मचन्द्र कोष में वर्णित अश्वमेधादि शब्दों के अर्थों को भी स्वीकार करते हैं? और भी-यदि आप के आदेशानुसार "पद्मचन्द्र कोषगत "सोम" शब्द का अर्थ किरण मान लें तो वह चन्द्र किरण हो सकता है, न कि सूर्य्य रश्मि। अन्यथा "सूर्य्य रश्मि" अर्थ में "सोम" शब्द का कोई आप्त प्रयोग दिखाइए।

(७) "चन्द्र एव अंगिराः" ऐसा पाठ गोपथ ब्राह्मण में है ही नहीं। यदि हो भी तो जैसा मैं पहले लिख चुका हूं इस वाक्य का अर्थ होगा, "चन्द्र ही अंगिराः है" अर्थात् चन्द्रातिरिक्त अन्य कोई अङ्गिरा नहीं। आप के लेख से टपकता है कि आप "अङ्गिरा एव चन्द्रः" तथा "चन्द्र एव अंगिराः" "चन्द्रो-अंगिराः" इन तीनों वाक्यों का अर्थ एक ही समझते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट कर दूं। 'मनुष्य एव देवदत्तः' 'देवदत्त एव मनुष्यः' "मनुष्यो देवदत्तः" यह तीन वाक्य हैं—पहले का अर्थ है, मनुष्य से अतिरिक्त और कोई देवदत्त नहीं होता, दूसरे का अर्थ है, देवदत्त के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्य नहीं होता, तीसरे का अर्थ है, देवदत्त मनुष्य है। अब आप देखें, पहले और दूसरे में "एव" की महिमा से कितना अर्थ भेद हुआ है। तीसरा सामान्य है। इसी भांति "चन्द्र एव अंगिराः" आदि वाक्यों के अर्थ को समझिए॥

अब "तदेवाग्निः" मन्त्र को लीजिए, यह यजुर्वेद के ३२वें अध्याय का प्रथम मन्त्र है। इस से पूर्वाध्याय में "पुरुष" है। अर्थात् वह सर्वत्र परिपूर्ण पुरुष परमात्मा ही अग्न्यादि पद वाच्य है। अन्य कोई नहीं। प्रायः सभी वेदाभ्यासी जानते तथा मानते हैं, कि वेद में प्रयुक्त "अग्नि" प्रभृति पद मुख्य वृत्ति से परमात्मा के वाचक हैं। इस से तो आप का किसी भी प्रकार अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। महामान्यवर! मैंने "एव" के "सादृश्य" अर्थ का खण्डन कहीं नहीं किया। "एव" का "सादृश्य" अर्थ भी होता है। पद्मचन्द्र कोष का वेदार्थ में क्यों उपस्थित करते हैं? "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इस औपनिषद वाक्य को उद्धृत कर देते। अस्तु। किन्तु "चन्द्र एव अंगिराः" का अर्थ आप के कथनानुसार चन्द्र के समान अर्थात् चन्द्र जैसा अंगिरा है। भगवन्! इस से भी तो यह सिद्ध न हो सका कि चन्द्र अंगिरा का दूसरा नाम है। उल्टा आप ने अपने पक्ष का बुरी तरह स्वयं खण्डन कर दिया। इसी भांति "तदेवाग्निः" का अर्थ आप के निर्देशानुसार "उस की भांति अग्नि"। किस की भांति?

इस से क्या सिद्ध हुआ ? क्यों, क्या "गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार" वाली बात तो यहां नहीं होगई। "तदेवाग्निः" मन्त्र में तो "एव" का अर्थ अवधारण ही है, चाहे किसी भाष्य को देख लीजिए॥

(८) भगवन् ! यह आपको किसने बता दिया, कि एक विषय के सब वेदमन्त्र एक स्थान पर नहीं हैं। महाशयजी ! हमें तो एक विषय के मन्त्र सब एक स्थान पर मिलते हैं। इस छोटेसे लेख में स्थान नहीं; किसी अन्यावसर पर "वेद का क्रम एवं विषय-विवेचन" सम्बन्धी बृहत् लेख लिखने का सङ्कल्प है, उसमें इसका सप्रमाण निरूपण करेंगे। आप लिखते लिखते यह क्या फ़रमा गए, कि "आपके इस कथन के विरुद्ध वेदोत्पत्ति-विषयक 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्र ऋ० १० । ९० और यजुः० ३१ । ७ में है।" पण्डितजी ! ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ९० वें सूक्त के मन्त्र प्रयोजनवशात् यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में उपदिष्ट हुए हैं। इससे विरोध कहां सिद्ध हुआ, विरोध तो तब होता, यदि सृष्टिप्रकरण में कोई अप्राकरणिक बात आजाती, अथवा सृष्टिप्रकरण न होनेपर सृष्टिविषयक वर्णन मिलता। आपने तो इन पंक्तियों को लिखकर महर्षिप्रवर कणाद के "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इस सूत्र पर हड़ताल फेरदी। आपने तो वेद को उन्मत्त पागल की कृति सिद्ध करने की चेष्टा की है।

अन्त में इतना और निवेदन करना अनुचित न होगा, कि आपने मुझे 'अघृणा एवं अनुत्तेजना' विषय स्वसहज स्वभाव से उपदेश किया है, तदर्थ धन्यवाद। किन्तु एक प्रार्थना है, कि वेदार्थ में पद्मचन्द्रकोष जैसे ग्रन्थों का प्रमाण न दिया कीजिए। मैंने लोगों की भान्ति कोई बात कल्पना करके उसे वेदके गले मढ़ना नहीं सीखा, अपितु जो कुछ वेदमें मिले, उसे अपनाना सीखा है। ऐसा ही करने के लिए मेरी अन्यों से सानुरोध अभ्यर्थना है।

---

* मासावतरण *

मार्ग।

(ले०—आयुर्वेदाचार्य पं० सन्तलाल दाधिमथ)

एक टक हम देखते जिसको रहे,
हृय हिम-ऋतु मार्ग[१] में वह आगई!
धुल चुके धारा-धरों से पूर्व तरु,
अब उन्हीं पर मञ्जुता छाई नई!

* * *

वह श्वसन की शीतता, शुचि-स्निग्धता,
औ' उषा की कान्तता, कमनीयता,
म्लान-मन को भी मुदित करती, अहो!
बाल-रवि की वह रुचिर-रमणीयता!

* * *

शर्वरी के, शस्य पर हिम-पात ने—
वे बना मोती अनोखे से दिए!
बाल-मन कहता जिन्हें लख,—'ये बनें-
सत्य मोती, तो हमें क्या चाहिए?

* * *

चाहते बल के लिए बल-हीन थे—
जो समय, वह शीत का अब है यही!
जो प्रवासी हैं, उन्हीं के चित्त में—
देश-दर्शन की विकलता छा रही!

* * *

१—मार्ग—मार्गशीर्ष।

राम-लीला के राम ।

श्रीयुत सन्तराम दाधिमथ ।

"पण्डित जी, मुझे क्षमा करें, कहूंगा सच कि—आर्य्य-समाजियों को यह सिड़ उनके आर्य्यत्व के जन्म-काल ही में हो जाती है, कि वे हिन्दुओं की बात बात पर व्यङ्ग-वर्षा करें! उनके किसी भी कृत्य को गौरव न दें! वरना कई बातें हिन्दुओं की गूढ़ आशय वाली होती हैं।"

मैं—"जो ऐसी हैं, उनको सभी आर्य्य अच्छी समझते हैं। किन्तु बुराई की बातों को बुरी कहना ही उनका आर्य्यत्व है।"

विश्वनाथ—"नहीं, किसी किसी को बिना समझे भी 'दूषित' कह डालते हैं। देखिए, यही राम-लीला ही है; आर्य्य-जन कोई भी अच्छाई इसमें नहीं देखते। किन्तु देखा जाए तो पूर्वजों के गौरव-गुम्फित पवित्र-चरित्र, सरल-हृदय बालकों के मृदु-मानस-पटों पर इस से उत्तमतया अंकित होते हैं। 'श्रव्य' के साथ यदि 'दृश्य' भी हो तो पूरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ किसी विज्ञापन को ही देखलें। उस में "शिरके लिए" किसी 'तैल' का सुन्दर-सा नाम, और उसका प्रगुण-गुण-गान-गुञ्जार सत्य और कितना भी सुन्दर क्यों न हो, वह लोगों को उतना विश्वास नहीं दिलाता—उसके लिए वैसी श्रद्धा नहीं जमाता—जैसे कि उसके गुणों का अभिव्यञ्जक हाफ़टोन कोई चारु-चित्र श्रद्धा-समुत्पादक होता है। लम्बे और काले बाल करने वाले तैल के विज्ञापन में, लम्बे गहरे कोमल केशों वाली ललित-ललना का एक चारु-चित्र दर्शकों के हृदयों पर बड़ा असर डालता है। उस तैल के गुणों में विश्वास स्थिर कर देता है। ऐसे ही तो प्राचीन गाथा के किसी भी श्रव्य के साथ उसके भावों का दृश्य हो तो वह पूर्ण-प्रभाव डालता है।"

मैं—"आर्य्य-जन इस सिद्धान्त के विरोधी तो नहीं। वे यह नहीं चाहते कि—'श्रव्य के साथ दृश्य हो ही नहीं!' हो परन्तु उस श्रव्य की यथार्थता का बाधक न हो! क्यों—?"

विश्व०—"मेरा भी तो यह अभिप्राय नहीं कि बाधक रहे।"

मैं—"तो बस ! आपका आशय इन राम लीलाओं से सिद्ध नहीं हो सकता ! आधुनिक लीलाओं के पात्रों में पात्रत्व नहीं । उनसे रामायणी-गाथा का लाघव ही फैलता है । वे राम आदि महापुरुषों के पवित्र-चरित्र को दृढ़-मूल नहीं करते !"

विश्व०—"कैसे—?"

मैं—"स्पष्ट है । लीला के दर्शकों में से बालकों को तो क्या—किसी वयो वृद्ध से ही पूछ देखिए कि भरत-मिलाप के दिन राम की कितनी आयु थी ? एक सही नहीं बता सकता ! हर वर्ष (निमूछिए) पाउडर से धवल-मुख किए बालकों को राम बनाया देखते हैं ! फिर सही कैसे बता सकें ? बताए तब, जब भरत-मिलाप के दिन कम से कम बावन (५२) वर्ष की आयु का पुरुष 'राम' बनाया जाता हो ! और ऐसे ही भरत-लक्ष्मण आदि । श्मश्रु-हीन छोटे-छोटे बालकों के ही मुख पर मुरदा संख आदि का पाउडर लगाकर, रामलीला क्या करते हैं—केवल ग़लत फ़हमी और दुर्वृत्तियां बढ़ा रहो हैं ।"

विश्व०—"हैं, बावन वर्ष का राम ?"

मैं—"हाँ, बावन वर्ष का ! देखिए, मैं समझाता हूं—राम विवाह-काल में कम से कम पचीस वर्ष के थे ।"

विश्व०—"वाह साहिब ! यहां तो आपने बाल्मीकि की बात भी ठुकरा दी । वे 'राम-लक्ष्मण को मांगने पर महर्षि विश्वामित्र को महाराज श्री दशरथ के 'उत्तर द्वारा' स्पष्ट लिखते हैं:—

ऊनषोड़ष-वर्षो मे रामो राजीव-लोचनः ।
न युद्ध-योग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥

(वा० रा० वा० कां० सं० २०)

अर्थात् "मेरा कमल-लोचन राम पन्द्रह (१५) ही वर्ष का है । राक्षसों के साथ लड़ने की इसमें योग्यता नहीं ।" तो सिद्ध हो गया कि पन्द्रहवें वर्ष में राम ताटकादि से लड़ने आए । ६ रात का महर्षि का व्रत था । जाने-आने के दिन लगा कर, जनक के यहां पहुंचने में एक मास-डेढ़ मास समझ लीजिए, बस ! तभी विवाह हुआ !"

में—"इस समय रामायण की आलोचना तो करता नहीं हूं, किन्तु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि 'रामायण को अक्षरशः सत्य (वेदवत्) मानना बड़ी भूल है, इसके हर प्रसंग में थोड़ी सी असंगत असम्भव तथा सामञ्जस्यशून्य बातें पड़ी हुई हैं। उन्हें धूर्तों द्वारा 'प्रक्षिप्त' समझें तो ठीक होगा। और इस का पारायण करने से यह भी पता सहज ही में लग जाता है कि इसके आद्यन्त के 'बाल' और 'उत्तर' दोनों काण्ड अनार्ष हैं, ऋषि बाल्मीकि कृत नहीं। इस से यह "ऊनषोड़वर्षो मे........"० उनके विवाह-काल के निश्चय में प्रमाण नहीं।

दूसरे श्री दशरथ महाराज की अन्त्येष्टि होने के पश्चात्, पुरोहित श्री वसिष्ठजी ने जब 'राज्य सम्हालने के लिए' भरत को कहा, तब श्री भरतजी ने उत्तर में सबसे प्रथम कहा है:—

चरित-ब्रह्मचर्य्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत्॥
अयो० कां० स ०८२।

अर्थात् "विद्या-व्रत-स्नातक, बुद्धिमान, धर्मात्मा, राम के राज्य को मुझ जैसा कौन हर सकता है?" (अर्थात् किसी की शक्ति नहीं।) तो सोचिए, विद्या-व्रत-स्नातक कहीं पन्द्रह वर्ष का बालक हो सकता है? सूत्र-ग्रन्थ राम के काल में भी अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचारी ही को "विद्याव्रतस्नातक" कहते थे, और अब भी कहते हैं। भरत जैसे धर्मातमा पुरुष पुङ्गव पन्द्रह वर्ष के गृही को क्योंकर 'विद्याव्रत स्नातक' पुकार सकते हैं? जो पन्द्रह वर्ष का बालक ही विद्या-व्रत-स्नातक होसकता है, तो देश के स्कूलों, पाठशालाओं के पिलंजू, पिलपिले से पन्द्रह वर्ष के सभी बालक (आजकल के) विद्या-व्रत-स्नातक हुए और सत्रह-अट्ठारह वर्ष की अवस्था के कुमार तो उनसे भी अच्छे हुए! इतना अन्धेर!! फिर तो जनता गुरुकुलों-ऋषिकुलों की आवश्यकता भूल से समझती है! अनेक प्रसङ्गों में रामयण ही में राम को "चारों वेदों के ज्ञाता" कहा गया है, फिर चारों वेदों के धनुर्वेदादि वेदाङ्गों के पूर्ण ज्ञान के लिए "पन्द्रह वर्ष की अवस्था" कैसे फब सकती है, हृदय से तो पूछिए!

राम विद्या-व्रत-स्नातक थे। मानना तो चाहिए उनका विवाह ४८ वर्ष की अवस्था में हुआ। परन्तु न सही, तब भी कम से कम पचीस वर्ष की

अवस्था में उनका विवाह हुआ मानना होगा । क्योंकि पच्चीस वर्ष की आयु "ब्रह्मचर्य्य" के लिए न्यून से न्यून नियत है । क्यों—?"

विश्व—"बात तो ठीक है !"

मैं—"तो विवाह में राम २५ वर्ष के थे । तत्पश्चात् बारह वर्ष तक श्री राम सीता सहित राजाधिराज रघुराज श्रीदशरथ की छत्र-छाया में—उनकी कृपा-क्रोड़ में—आनन्द करते रहे । विविध गार्हस्थ्योचित भोग भोगते रहे । श्रीदशरथ महाराज ने विवाह से १३ वें वर्ष में "राम के युवराज बनाने की चर्चा" चलाई, यह बात परिव्राजक-वेष-धारी रावण को उसके प्रश्न के उत्तर में पञ्चवटी देश में, सीता अपनी अतीत जीवनी सुनाती हुई कह रही हैं:—

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
भुञ्जाना मानुषान्भोगान्, सर्व-काम-समृद्धिनी ॥
ततस्त्रयोदशे वर्षे राजा मन्त्रयत प्रभुः ।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राज-मन्त्रिभिः ॥

अरण्य का० सं० ४७ ॥

अर्थात्—"ऐक्ष्वाकु महात्मा दशरथ के भवनों में १२ वर्ष रह कर मानुषी भोग भोगे । फिर तेरहवें वर्ष में रामाभिषेकार्थ मन्त्रियों सहित राजाने मन्त्रणा की ।" तो विवाह के बारह वर्ष पश्चात्, अयोध्या में सुख से राम रहे । अब गिनिए । पच्चीस और बारह, सैंतीस हुए ।

दिन चौदह वर्षों की वन-निवास की समाप्ति । तो हिसाब करलें ३७ + १४=५१ । यों इक्यावन वर्ष अयोध्या लौट आने से और भरत के मिलने से पूर्व होचुके । अब अयोध्या-राज्य-सिंहासन पर कम से कम ५२ वर्ष की अवस्था में आसीन हुए । सो न्यून से न्यून ५२ वर्ष का पुरुष 'राम' बना कर, यदि लीला में दिखाया जाए तो लोगों को राम की जीवनी का कुछ पता लगे । नहीं तो दुर्भाव भरे मूर्ख-गुण्डे-दुश्चरित्र यवनों और 'हिन्दू' कहलाने वाले दुर्वृत्त राक्षसों के राम-सीता के डोले के इर्द-गिर्द घूमते रहने के अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है ?"

विश्व—"ओः ! बावन वर्ष का बुड्ढा राम बने ? सब आनन्द मिट्टी में मिले, और सारा खेल बिगड़ जाए !!

प्रार्थना क्या केवल वेद मन्त्रों से ही करनी चाहिए

(श्रीयुत श्रुतबन्धु विद्यार्थी उपदेशक विद्यालय रावलपिण्डी)

प्रार्थना का आर्य्य-साहित्य में अत्यन्त आदर है। वेदों में भी प्रार्थना परक मन्त्रों की बहुत अधिक संख्या है। मनुष्य अपनी मनःकामनाओं की पूर्त्ति के लिए, अपने से उत्कृष्ट शक्ति के समक्ष श्रद्धा, भक्ति और विनय से सम्पन्न होकर प्रार्थना किया करता है। धार्मिक जगत् के जितने मान्य महापुरुष हुए हैं, सब ही प्रार्थना किया करते थे। लेख का आलोच्य विषय ऊपर के शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है। आर्य्य-समाज के प्रभावशाली संस्थापक ऋषिवर्य्य योगी दयानन्द भी प्रतिदिन प्रार्थना किया करते थे। आर्य्य-समाज के साप्ताहिक अधिवेशन के विशेष नियमों में प्रार्थना को भी आप ने एक आवश्यक अङ्ग ठहराया है। महाराज की अध्यक्षता में जो नियम बम्बई नगर में बनाये गये के, उन में से चतुर्दश नियम में हम यह लिखा पाते हैं, कि, "इस समाज में वेदोक्त प्रकार से अद्वैत परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जायगी। प्रार्थना का अर्थ यही लिया जा सकता है, कि जितने भी श्रेष्ठ कार्य्य हम प्रारम्भ करते हैं, उसकी पूर्णता के लिए प्रभु का साहाय्य चाहना। अस्तु। इन दिनों आर्य्य समाजों में कहीं २ विचित्र ढङ्ग की प्रार्थना सुनाई देती है। आर्य्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में प्रायः किसी साधारण व्यक्ति को तत्क्षण ही प्रार्थना करने के लिये कह दिया जाता है, जो प्रार्थना-आसन पर बैठते ही घबराने लग जाता है, और ज्यों त्यों कर के दो चार शब्द बोल देता है। क्या हम इस को हार्दिक प्रार्थना कह सकते हैं। कई तो वेद मन्त्रों को शुद्ध उच्चारण हो नहीं कर सकते, और कई वेद मन्त्र और श्लोक दोनों से प्रार्थना करते हैं। बन्नू में तो श्लोक की कथा ही क्या, एक अश्रुत पूर्व प्रार्थना सुनी। एक सज्जन आर्य्य समाज में बहुत दिनों से दीक्षित हैं, आपने जब प्रार्थना प्रारम्भ की, तो सब से प्रथम छन्दो भङ्ग आदि दोषों से युक्त, नीरस, उर्दू भाषा मिश्रित, एक कविता बोलने के पश्चात् यावनी भाषा में प्रार्थना समाप्त कर दी। मैंने उन से पूछा, कि क्या आप को कोई वेद मन्त्र कण्ठस्थ नहीं है। अभी सारा भाव व्यक्त भी न करने पाया था कि, उत्तर तत्काल मिल गया, कि हृदय का भाव ही तो परमेश्वर के समक्ष व्यक्त करना है, वेद मन्त्रों

से ही करना कोई आवश्यक थोड़ा ही है। मैं चुप रहा, क्योंकि मेरा प्रमाण देना उन के आगे कोरा बकवास ही होता। आकृति से ऐसा ही ज्ञात होता था। जब हम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रार्थना से सम्बन्ध रखने वाले पृष्ठों को उलटते हैं, तो इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि प्रार्थना केवल वेद मन्त्रों से ही करनी चाहिए ॥

आर्य्याभिविनय को महर्षि ने केवल प्रार्थना के लिए ही रचा था, उसमें कहीं भी महर्षि का स्वनिर्मित एवं परनिर्मित श्लोक दृष्टि गोचर नहीं होता। सत्यार्थ प्रकाश में भी, जहां महर्षि ने प्रार्थना शैली का वर्णन किया है, वहां भी सारे वेदमन्त्र ही लिखे मिलते हैं। संस्कारविधि के तत्तत्स्थलों के अवलोकन से भी ऊपर का ही भाव दृढ़ होजाता है। लुधियाना निवासी वयोवृद्ध म० लक्ष्मी सहाय जी ने समाज के अधिवेशनों में एक से अधिक वार महाराज को प्रार्थना करते देखा था, उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि भगवान् मनुष्य रचित श्लोकादि कभी भी प्रार्थना में प्रयोग नहीं किया करते थे। स्वर्गवासी सोहनलाल जी वेदान्ती से भी यही ज्ञात हुआ था। आपका ऋषि के साथ बम्बई में चिरकाल तक सहवास रहा था। महर्षि दयानन्द का यह भाव शास्त्रानुमोदित ही था। परमेश्वर आप्त वक्ता है। मनुष्यों की वाणी में अवश्य ही त्रुटि रहा करती है। परमपिता परमेश्वर के समक्ष हमें अत्यन्त शुद्ध एवं सुसंयत भाषा में अपने भाव व्यक्त करने चाहिएं। और सब दोषों से मुक्त आस्तिक आर्य्यों के लिए वेद मन्त्र ही हैं। हमें अपनी माता से अपनी मातृभाषा के द्वारा ही याचना करनी चाहिए। निरुक्त में इस प्रश्न का बहुत ही अच्छा उत्तर दिया है, कि, यदि नाम, आख्यात, उपसर्ग निपात इनकी अपरिहीन शक्ति है, तो मन्त्रों की क्या आवश्यकता है क्योंकि मन्त्र भी नाम, आख्यात उपसर्ग इन चारों के प्रचयमात्र ही हैं। निरुक्तकार कहते हैं कि—

पुरुष विद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्ति र्मन्त्रो वेदे। (निरुक्त उपोद्घात)। अर्थात् पुरुषों में विद्या की अनित्यता होने के कारण, फल सम्पन्न ही कर्म हो इस वास्ते वेदमन्त्रों की आवश्यकता है। इस वाक्य को अधिक विस्तार से यों समझ सकते हैं। परमेश्वर त्रिकालाबाधित है अतः उसका गुण कर्म स्वभाव भी त्रिकालाबाधित ही होगा। वेद चूंकि उसका ज्ञान है अतः नित्य है वेद मन्त्रों के द्वारा जो प्रार्थथा या अन्य कर्म हम आज करते हैं, वही सालों के पश्चात् कर

सकते हैं। परन्तु मनुष्य जिन वाक्यों के द्वारा एक घटिका पूर्व एक मनुष्य को संदेश आदि दे रहा था, वही दूसरी घटिका में सर्वथा बदल जायेगा, चाहे भाव उसका नाहीं बदले। परन्तु शब्दों में आधिक्यता एवं कमी अवश्य होगी। यह मनुष्यों के लिए चाहे अदोष ही हो, ईश्वरीय न्यायालय में तो यह बहुत बड़ा दोष है। सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास के अग्निहोत्राधिकरण में पूर्वपक्षी ने यह प्रश्न किया है कि मन्त्र पढ़ के अग्नि होत्र करने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर ऋषि ने निम्न प्रकार से दिया है। "मन्त्रों में वह व्याख्यान है, कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाँय और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें, वेद पुस्तकों का पठन पाठन और रक्षा भी होवे।" अब महर्षि के इसी सूत्र को प्रार्थना विषय में भी लगा दिया जाये तो भाव स्पष्ट हो जाता है कि जिन मन्त्रों में प्रार्थना का वर्णन हो—जैसे मेधां मे वरुणो दधातु मेधामग्निः प्रजापतिः मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधांधाता दधातु नः, इत्यादि मन्त्र हैं, ऐसे ही मन्त्रों को प्रार्थना में बोलना चाहिए। वेद मन्त्रों के द्वारा प्रार्थना करने से हवन की तरह वेदमन्त्र कण्ठस्थ हो जावेंगे। प्रार्थना परक मन्त्रों के ढूंडने के ब्याज से कुछ न कुछ स्वाध्याय करने की भी प्रवृत्ति होगी। वैदिक पुस्तकों की रक्षा तो सुतराम हो ही जायगी। अभिप्राय यह कि स्वामी कथित सारे लाभ वेद मन्त्रों के द्वारा प्रार्थना करने से प्राप्त हो जाते हैं। इतने उदाहरणों से यह निश्चय हो गया कि प्रार्थना केवल मन्त्रों से ही करनी चाहिए। प्रार्थना करने वालों में एक दोष और भी है, जो क्षम्य नहीं, प्रायः देखा गया है कि मन्त्र किसी अन्य ही अभिप्राय के प्रतिपादक होते हैं, और प्रार्थना करने वाले महाशय कुछ और ही बोल रहे होते हैं जो मन्त्र के अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध होता है। यह स्वाध्याय हीनता का परिचय देता है। समाज के मन्त्री महाशयों को इस दोष को दूर करवाना चाहिए साप्ताहिक अधिवेशन में मन्त्रार्थके भाव के अनुकूल प्रार्थना हो—इस बात को कार्य्य रूप में परिणत करने के लिये श्रीमती सभा की ओर से एक सूचना पत्र निकाल दिया जाय, जिस में न केवल प्रार्थना के ही सुधार का विचार हो, अपितु साप्ताहिक अधिवेशनों में जो भिन्नता दृष्टि गोचर होती है, उसे भी दूर करने के लिए सब समाजों को आज्ञा दीजाय कि बम्बई के नियमों के अनुकूल सब समाजों में साप्ताहिक अधिवेशन का समय विभाग हो। इस तरह से सब समाजों में प्रार्थना आदि सारी कार्य्यवाही समरीत्यानुसार होने से अनेक लाभ होंगे।
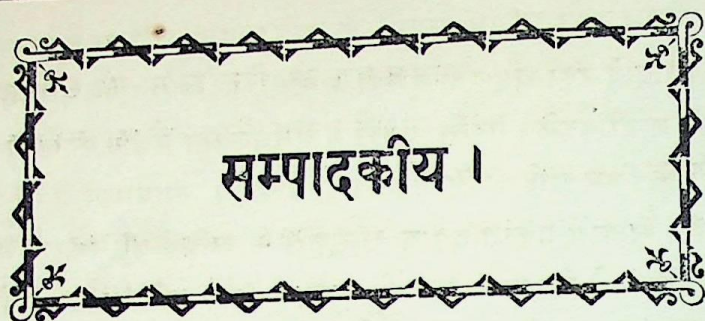
श्री० लाला लाजपतराय जी की सेवा में।

(१)

लालाजी! आप आर्य समाज के पुराने सेवक हैं। आप सदैव स्वामी दयानन्द को अपना गुरु और आर्यसमाज को अपनी धर्ममाता कहा करते हैं। कोई समय था जब आपके व्याख्यान आर्यसमाज के उत्सवों की शोभा समझे जाते थे। कुछ वर्षों से आपका आर्यसमाज की वेदी पर आना बन्द है। गत वर्ष लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के समय (जो पंजाब के आर्य समाजों का केन्द्रिक उत्सव होता है) आप ने उर्दू के दैनिक 'वन्दे मातरम' में एक लेख माला प्रकाशित की थी, वह लेख क्या थे, आर्य समाज के संबन्ध में आपकी शुभ कामनाओं के उद्गार थे। इस वर्ष फिर वही समय आया है और आप फिर आर्य समाज की हितेच्छुता से प्रेरित हुए हैं। उसी 'वन्दे मातरम्' में आपने दो लेख प्रकाशित कराए हैं। आप इस वार हमारे दोष हमारे सन्मुख रखना चाहते हैं। हम भी उत्सुक हैं कि अपने दोषों को जानें और उनका निराकरण करें। आप लिखते हैं कि आप ३० वर्ष आर्यसमाज के साथ रहे हैं। आज आप आय समाज से पृथक् हैं। यदि बीच में होते तो यों तटस्थ होकर भर्त्सना न करते। तब तो निराकरण का भार आप पर भी होता और आप इस विचार से जो लिखते गंभीरता से लिखते। आपके लेखमें वेदना होती। ओपरा क्रोध और ओपरी घृणा न होती। आप आर्यसमाज से ऊपर खड़े होकर आर्यसमाज को न कोसते। निर्बल मनुष्यों के बीच में स्वयं निर्बल मनुष्य होते॥

कुछ हो, हम आपकी आलोचना से लाभ उठाना ही चाहते हैं॥

आप के शब्दों में 'आर्यसमाज के जन्म की एक बड़ी ग़रज़ यह थी कि वह हिन्दु धर्म व हिन्दु समाज के बिखरे हुए शीराज़े को जोड़दे। लेकिन आर्य समाज इस काम में बिल्कुल नाकामयाब रही'॥

आपने फिर कहा है—'आर्यसमाज जो हिन्दुइज़्म को संगठित करने के लिये पैदा हुआ था उसने अपने आपको चन्द सिद्धान्तों का प्रचारक बना कर अपनी हैसियत एक मत की करली' ॥

एक और जगह लिखा है—'आर्यसमाज हिन्दुइज्म को रिफार्म करने के लिये और वैदिक धर्म के प्रचार करने के लिये पैदा हुई थी। आर्यसमाज ने अव्वलुज़िक्र काम में बहुत कुछ कामयाबी हासिल की। इस पर मैं आर्यसमाज को मुबारिकबाद देता हूं। लेकिन आर्यसमाज ने सच्चे वैदिक धर्म प्रचार में अभी तक किसी क़िस्म की नुमायां कामयाबी हासिल नहीं की' ॥

तो आप के कथनानुसार आर्यसमाज का उद्देश्य

(१) हिन्दू धर्म व हिन्दु समाज के बिखरे शीराज़े को जोड़ना,

(२) हिन्दूइज़्म को संगठित करना,

(३) हिन्दुइज़्म को रिफ़ार्म करना और वैदिक धर्म का प्रचार करना है। शीराज़ा जोड़ना और संगठित करना तो स्यात् पर्याय ही हैं। उपरिलिखित तीन वाक्यों की संगति करने से आखिर यही निर्धारित होगा कि आर्य समाज का उद्देश्य,

(१) हिन्दु धर्म (स्यात् हिन्दुइज़्म से आप का अभिप्राय यही है) को संगठित करना,

(२) हिन्दु समाज को संगठित करना ॥

(३) हिन्दुइज़्म को रिफ़ार्म करना, और

(४) वैदिक धर्म का प्रचार करना है।

अब धर्म या इज़्म के संगठन से आप का अभिप्राय क्या है ? संभवतः यही कि यह धर्म कुछ बेजोड़ सा है, इसे कोई जोड़ की सूरत देना ॥

आर्यसमाज ने इस संबन्ध में क्या किया है ? आप के शब्दों में 'चन्द सिद्धान्तों का प्रचारक बन कर अपनी हैसियत एक मत की करली।' आख़िर, लाला जी ! जोड़ होना तो सिद्धान्तों से ही था। जिस हिन्दू धर्मको आप 'अथाह समुद्र' कहते हैं जिसकी 'कोई सीमा नहीं' वही तो दूसरे शब्दों में बेजोड़ धर्म है। शब्दों के बाह्य आडंबर पर न जाइये। 'अथाह समुद्र' और 'बेजोड़

इज़्म' का एक ही अर्थ है। कहीं आपका 'चन्द सिद्धान्त' लिखने से यह तात्पर्य तो नहीं कि सिद्धान्त और भो होते ? कोई सिद्धान्त बताइये जिस की वृद्धि आर्य समाज के वर्तमान सिद्धान्तों में करना आवश्यक हो। उस पर फिर विचार कर लेंगे। आपने स्वयं स्वीकार किया है कि 'अगर एक मज़हब के मानने वालों में किसी सोशल संगठन की ज़रूरत है तो मख़सूस सिद्धान्तों का होना उसके लिये ज़रूरी ख़याल किया जाता है।' परन्तु स्यात् आपको इससे सहमति नहीं। आपने वहीं लिखा है—'मगर तजरबा बताता है कि सिद्धान्तों वाले मज़हब भी तफ़रीक़ व तकसीम के ज़हरीले असरात से महफ़ूज़ नहीं रहे और सिद्धान्त उनके लिये ऐसे मुहलिक साबित हुए कि उन्हों ने उनकी मजमूई ताकत को नेस्त व नाबूद कर दिया॥'

"भी"से आपका क्या अभिप्राय है ? हम थोड़े पढ़े तो इस का यह मतलब समझे हैं कि सिद्धान्त-हीन मज़हब (यदि कोई हो) तो 'तफ़रीक़ व तक़सीम' का शिकार होते ही हैं, 'सिद्धान्तों वाले मज़हब भी' इस ज़हर से 'महफ़ूज़ नहीं। इससे आपने सिद्धान्त होने न होने की समानता तो प्रतिपादित की, सिद्धान्तों की हानि क्या बताई ? इससे अगला वाक्य इस वाक्य के साथ संगति नहीं रखता। वस्तुतः सिद्धान्त 'मजमूई ताक़त को नेस्त व नाबूद' नहीं करते, उनकी भिन्नता करती है। सिद्धान्तों की भिन्नता और अभाव में कुछ भेद नहीं। क्योंकि सिद्धान्त एक न होने से अनेकता आती है और यही आपके शब्दों में 'हिन्दुधर्म का जौहर है'॥

मज़हबों के इतिहास पर आप एक वार फिर दृष्टिपात कीजिये। बौद्धधर्म का आश्रय सिद्धान्त थे।'अहिंसा परमो धर्मः'सिद्धान्त था। और यदि सिद्धान्तों से आपका अभिप्राय सामाजिक नियम हों तो भिक्षुओं का विनय इन नियमों के अतिरिक्त और कुछ न था। आत्मा परमात्मा के विषय में महात्मा बुद्ध अनिश्चित रहे, अर्थात् उन्हों ने कोई सिद्धान्त स्थिर न किया। सिद्धान्ताभाव ने सिद्धान्तों की अनेकता को जन्म दिया। यदि स्वयं भगवान् ने एक सिद्धान्त निश्चित कर दिया होता तो उनके पीछे भेद भाव की कम संभावना थी॥

यही मुहम्मद महोदय के मत की गति हुई। उनके अनुयायियों में तार्किक भेद उन्हीं बातों में हुए जिन पर मुहम्मद महोदय ने तर्क करने की छुट्टी न दी।

प्रथम रक्तपात का कारण राज्य के झगड़े थे। सिद्धान्तों पर पीछे लड़ाई छिड़ी और वह इस लिये कि आरंभ में एकता स्थिर न हुई ॥

इस में सन्देह नहीं कि किसी मत व संप्रदाय का प्रवर्तक सारी समस्याओं को एकदम सुलझा नहीं सका। कुछ अवान्तर बातें ऐसी रह जाती हैं जिन पर अनुयायिओं में मत भेद हो जाता है। ऐसी अवान्तर बातों को सिद्धान्त का रूप नहीं देना चाहिये।

आगे चल कर आपने कहा है 'हिन्दुइज़्म के विशाल और महान् उसूलों ने आख़िरकार उन (फ़िर्कों) को हज़्म कर लिया'। लालाजी! उसूल और सिद्धान्त एक चीज़ हैं। अरबी में जिन्हें उसूल कहते हैं, संस्कृत में वही सिद्धान्त कहलाते हैं। सिद्धान्त विशाल और महान् होसक्ते हैं। यह कुछ उसूलों की विशेषता नहीं। न जाने आप कहना क्या चाहते हैं और कह क्या रहे हैं? सिद्धान्तों के आप विरुद्ध हैं और उसूलों के पक्षपाती, अर्थात् गेहूं खालेंगे, गोधूम नहीं ॥

आप तो कह रहे थे, सिद्धान्त 'मजमूई ताक़त को नेस्त व नाबूद' करते हैं। इसलाम में झगड़े होने का कारण आपने उस में सिद्धान्तों की वर्तमानता को ठहराया। फिर उसी प्रकरण में आप कहने लगे:—

"जब कोई नयामज़हबी ख़याल ज़हूर पाता है तो कुछ अर्सा उसकी पवित्रता वा पाकीज़गी का पलड़ा भारी रहता है..........कुछ अर्सा बाद....... दुनियावी ताक़त......... तफरीक़ व तकसीम पैदा कर देती है"।

मज़हबों में (विशेषतया इस्लाम के आरंभिक समय में) झगड़े उठ खड़े होने के वास्तविक कारण का आप को ज्ञान है। सो यह कारण प्रसंग अप्रसंग में लेखनी के मुखसे फूट अवश्य पड़ता है। भला कहां सिद्धान्तों की वर्तमानता मात्र के कारण सामूहिक शक्ति का नाश और कहां दुनियावी ताक़त के कारण तफ़रीक़ व तक़सीम? सिद्धान्तों की गुत्थी में एक और गुत्थी घुसेड़ कर आपने अपने लेख को 'असंगठित' कर दिया है। यह लेख हिन्दुइज़्म की तरह अथाह समुद्र होगया है जिस की कोई सीमा नहीं।

आप ने हिन्दुइज़्म के रिफ़ार्म पर आर्य्यसमाज को वधाई दी है। वह रिफ़ार्म आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों ही ने तो किया। उसी हिन्दुइज़्म के संगठन में आप आर्य्यसमाज को नाकामयाब बताते हैं। हिन्दुइज़्म के रिफार्म और

संगठन में क्या सूक्ष्म भेद है, वह कृपया दर्शाइये। आर्य्यसमाज ने हिन्दु धर्म को सुधारा, उसे संगठित नहीं किया। क्या अर्थ ?

हिन्दु-समाज के संगठन में भी आपने अर्य्यसमाज को नाकामयाब बताया है। हिन्दुसमाज असंगठित है-यह आप मानते हैं। उसका असंगठन क्या है ? जात पात, छूतछात या कुछ और ? इन बुराइयों के हटाने में आर्य्य-समाज ने प्रयत्न भी किया है या नहीं ? इस से अधिक सफलता किसी और संस्था को हुई है ? किसो और ने इस काम में शक्ति लगाई भी है ? परन्तु नहीं। आप स्वयं लिखते हैं:—'सामाजिक संगठन में, सामाजिक भाव को मज़बूत करने में··· ·····आर्य्यसमाज ने ख़ूब कामयाबी हासिल की।'

आपने पहिले लिखा:—

"हिन्दुसमाज के बिखरे हुए शीराज़े को जोड़दे। लेकिन आर्य्यसमाज इस काम में बिलकुल नाकामयाब रही।"

फिर लिखा है:—

'सामाजिक संगठन में·······आर्य्यसमाज ने ख़ूब कामयाबी हासिल की।'

बिखरे हुए शीराज़े को जोड़ने और संगठन में क्या सूक्ष्म भेद है—यह हमारी समझ में नहीं आया। हमें संगठन की कामयाबी मुबारिक। शीराज़ा न जोड़ने का उलहना सिर आंखों पर।

अन्त में आप फिर आज्ञा करते हैं :—

वही लोग संगठन पर बहुत जोर देते हैं लेकिन असल में वही संगठन के बड़े दुशमन हैं।············अगर आर्य समाजी लीडर वाकिई हिन्दु संगठन की कामयाबी चाहते हैं तो उनका फ़र्ज़ है कि हिन्दु सोशल सर्विस के बाज़ कामों से दस्तबर्दार हो जाएं और वह काम हिन्दु सभा को करने दें'॥

हमें कामयाबी का सेहरा मिल गया। जिस काम में हम सफल हैं जिसके कारण "सोशल सर्विस की यानी सामाजिक खिदमत की (हमने) जो आला मसालें क़ाइम कीं वह हिन्दुइज़्म के लिये गनीमत और निहायत नतीजा खेज़ हैं" उसी काम का हमें दुशमन ठहराया जाता है और उसी से, दस्तबर्दार' होने की हमें सम्मति दी जाती है। हम दस्त बरदार किस से हों ? दलितोद्धार से ? आर्यभाषा के प्रचार से ? विवाह संबन्धी कुरीतियों के सुधार से ? जात पात के संहार से ? हिन्दु सभा यह सारे कार्य संभाल ले। अर्थात् इन में अपनी शक्ति

लगाए। हमारा छोड़ना अभीष्ट है या हिन्दु सभा का कार्य परायण होना ? काम का क्षेत्र इतना विशाल है कि आर्य समाज भी काम करे, हिन्दु सभा भी। केन्द्र अलग हो सक्ते हैं। सहयोग से दोहरा कार्य होसका है। यह कुबड़ी वाली प्रार्थना क्या, कि संसार कुबड़ा होजाए। कुबड़ी का कुबड़ापन दूर करो, औरों को कुबड़ा क्यों बनाते हो ?

लालाजी ! दलितोद्धार आर्य समाज का सिद्धान्त है। समाज सुधार आर्यसमाज का सिद्धान्त है। ब्रह्मचर्य का प्रचार आर्य समाज का सिद्धान्त है। विद्या का प्रचार आर्य समाज का सिद्धान्त है। इन्हीं और इसी प्रकार के और सिद्धान्तों से आर्य समाज ने अब तक सफलता पाई है। इन्हीं में उसका भावि जीवन निहित है॥

आप स्यात् छोटे २ तार्किक भेदों के कारण समाज को विभक्त नहीं देखना चाहते। आपका यह कहना ठीक है। परन्तु गौण तर्क क्या है और प्रधान तर्क क्या, इसका निश्चय वही करेंगे जिन्हों ने तर्क को अपना जीवन दिया है, धर्म और धर्म संस्था जिनका प्राण है। वह संसार से प्यार करें, मनुष्य मात्र का उद्धार चाहें। परन्तु कैसे चाहें ? इसका निधारण धर्म के नेता करेंगे। आपको जो कहना है, स्पष्ट कहिये, निश्चित शब्दों में कहिये, उस भाषा में कहिये जिससे भ्रान्ति न हो, विचारों को सुसंगठित करके कहिये, ऐसे ढंग से कहिये जो आपकी प्रतिष्ठित सर्वमान्य स्थिति के अनुकूल हो॥

(२)

लाला जी ! सिद्धान्त होने न होने के विषय में मेरा आपका मौलिक भेद है। संभव है मैं आपका अभिप्राय न समझा हूं। परन्तु इसके लिये उत्तरदात्री मेरी बुद्धि नहीं, आपकी भाषा है। मेरे विचार में धर्म नाम ही सिद्धान्तों का है। आचार के क्षेत्र में भी मन्तव्य पहले आता है, कर्तव्य पीछे। कितना मन्तव्य आवश्यक है, कितना व्यक्तियों की अपनी २ बुद्धिपर छोड़ा जासक्ता है—यह विषय विचारास्पद रहेगा। परन्तु मन्तव्य न हों और धर्म हो, यह तो ऐसी बात है कि देखने वाला हो पर देख न सके। अस्तु॥

आपकी दूसरी आपत्ति आर्यसमाज की प्रचार-प्रणाली पर है। आपको आर्यसमाज के उपदेशक पसन्द नहीं, आर्यसमाज के लेखक पसन्द नहीं, आय समाज की प्रचार की नीति पसन्द नहीं॥

एक स्थान पर आपने प्रचारकों और सुधारकों में भेद किया है। आपने लिखा है:—

'इसलाह के मैदान में ऐसे आदमी आर्यसमाज को मिलगए.............. जिन्हों ने निहायत ईसारनफ़सी से हिन्दू समाज की ख़िदमत की.............. मगर प्रचार के मैदान में उनको ऐसे आदमी नहीं मिले जिनसे सच्चा धर्मभाव बढ़ता॥'

स्यात् आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं के इस प्रकार दो दल बना देने और उनके कार्य के विषय में यह विषम सम्मति रखने का एक कारण यह हो कि आपने अपनी नैसर्गिक योग्यता के कारण, जो प्रत्येक मनुष्य में सीमित होती है, समाज सुधार के कार्य में अधिक भाग लिया और इस क्षेत्र के अपने साथियों के गुण आपकी दृष्टि में विशेषतया आए। आक्रमणात्मक प्रचार आपको करना नहीं पड़ा अतः उस क्षेत्र के वीर आप की दृष्टि से ओझल रहे। शेषोक्त क्षेत्र कुछ है भी कण्टकाकीर्ण। इसमें यश कम मिलता है। परन्तु समाज सुधार का काम क्या प्रचारकों की सहायता के बिना सफल हुआ। आप जैसे इकले दुकले व्यक्तियों को छोड़कर शेष प्रचारक और सुधारक एक ही थे। श्री० स्वामी श्रद्धानन्द प्रचारक और सुधारक दोनों रहे। श्री० पं० गुरुदत्त और श्री० पं० लेखराम अधिकतया प्रचारक थे। उनका प्रचार सुधार की सहायता करता था। श्री० स्वामी दर्शनानन्द श्री० पं० गणपति शर्मा प्रचारक थे। यह सब व्यक्ति ऐसे हैं जिन पर किसी भी धर्म संस्था को अभिमान हो सक्ता है। आपका प्रचारकों के लिये प्रमाण पत्र यह हैं:—

'आर्यसमाज की वेदी और प्लैटफ़ार्म उन आदमियों के क़बज़े और तसर्रुफ में रहे और हैं जिन में बोलने की शक्ति है, जिनमें किसी कदर इलमिय्यत है। मगर जिन्होंने हिन्दुइज़्म के बतलाए हुए साधनों से अपनी जिन्दगी को पाकीज़ा नहीं बनाया॥'

... .

'उस (आर्यसमाज) ने अपना फ़र्ज़ समझा कि जैसे आदमी मिलें उनसे काम लें..........आग बुझाने के लिये ऐसे आदमियों की इमदाद कुबूल नहीं हो सकी जिनसे आगको ज़ियादा फैला देने का अन्देशा हो॥'

... .

'ज़ुबांदराज़ी करने वाले नौजवानों का तो कुछ नहीं बिगड़ता। उनको तो वाह वाह के सिवाय कुछ टके भी मिल जाते हैं। मगर उनकी ज़ुबांदराज़ी से सैंकड़ों ख़ानदान तबाह होजाते हैं॥'

हिन्दुइज़्म के बतलाए हुए साधनों से आपका अभिप्राय क्या है? विद्या और वक्तृत्वशक्ति को तो आप साधनों से बाहर रखते हैं। शेष रह जाते हैं आचार और योगाभ्यास के साधन। इनकी खोज आर्यसमाज के बाहर के हिन्दुइज़्म में कीजिये और फिर आर्यसमाज के प्रचारकों पर दृष्टि डालिये। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यसमाज का प्रचारक का आदर्श बहुत ऊंचा है। आप इन प्रचारकों की विद्या से कुछ सन्तुष्ट हैं, आर्यसमाज इससे भी सन्तुष्ट नहीं। आर्यसमाज के प्रचारकों ने प्रचार कार्य अपने ऊपर इस लिये लिया है कि उनसे अधिक योग्य आदमी इस कार्य को नहीं संभालते। लाला जी! आपने भी तो इस कार्यको अपनी योग्यता के योग्य न समझा। यदि राजनैतिक क्षेत्र के कार्यकर्ता आपकी सम्मति में साधन-सम्पन्न हों तो हम आज ही उनके लिये स्थान ख़ाली कर देंगे। स्वयं उसी क्षेत्र से आए हुए लोग वहां की कथा अधिक शोचनीय बताते हैं। आर्यसमाज अपने प्रचारकों के संबन्ध में किसी भी दूसरी धर्म संस्था की अपेक्षा अधिक सावधान है। जहां नहीं, उसे होना चाहिये। इस विषय में दिन प्रतिदिन उन्नति है। लाला जी! यदि आप समाज से पृथक् न होगए होते तो संभवतः आप को भी यह उन्नति देख कर सन्तोष होता॥

साधनाभाव की ओर संकेत करते हुए संभवतः आपकी दृष्टि 'आग जियादा फैला देने' की ओर ही रही है। आपने अयोग्य प्रचारक रखने का कारण यह बताया है कि 'जिस वक्त घर में आग लगी हो तो उस आगको बुझाने के लिये जो मदद भी मिल सकी हो, वह क़बूल करनी पड़ती है।' परन्तु इस नीति को आपने पसन्द नहीं किया, क्योंकि फिर वहीं आपने लिखा है 'आग बुझाने के लिये ऐसे आदमियों की इमदाद क़बूल नहीं होसक्ती जिनसे आग को ज़ियादा फैला देने का अन्देशा हो॥'

आग से आपका अभिप्राय क्या है? भ्रमात्मक विश्वासों की आग, सामाजिक असगठन की आग, या मत मतान्तरों के वैमनस्य की आग? हिंदुइज़्म का रिफार्म और हिन्दु समाज का संगठन तो आपके लेखानुसार इन 'आग फैलाने

वाले' प्रचारकों ने भी किया है। रहा अन्तःसाम्प्रदायिक वैमनस्य। उसके आर्य समाज के पूर्व विद्यमान होने और उसे बुझाने के लिये आर्य समाज के जन्म लेने की ओर तो आपने कहीं निर्देश किया ही नहीं। जो आग घर में लगी थी वह इन प्रचारकों ने बुझाई है। जो आप के विचार में लगी ही न थी उसे बुझाने के लिये उन्हें नियुक्त ही नहीं किया गया॥

टके मिलने की ओर आपका संकेत अत्यन्त अश्लील है। कौन है जो सोसाइटी के टकों से निर्वाह नहीं करता? आर्य्यसमाज में आप जैसे त्यागी प्रचारकों की आप के पीछे भी परम्परा स्थिर रही है। आर्य प्रचारकों में और दोष हों, धर्म को टकों के मोल बेचने का भाव अभी इनमें नहीं आया। यदि कोई इक्ला दुक्ला ऐसा करता हो तो वह पापी है। आर्य्यसमाज ने इस विषय में सर्वजनीन आचार का स्टैंडड ऊंचा किया है, जिसका श्रेय उन सर्वस्व-त्यागी सच्चे निर्लोभ निस्सपृह संन्यासियों और नेताओं को है जो इस गए गुज़रे जमाने में भी मानव जाति के भूषण हैं।

"सैंकड़ों ख़ानदान तबाह होजाते हैं।" यह कैसे? लालाजी! आपका संकेत संभवतः किसी हिन्दु मुसलिम लड़ाई की ओर है। एक झगड़ा ऐसा बताइये जिस का कारण आर्य्य समाज का प्रचार हुआ हो। इन झगड़ों का सम्पूर्ण उत्तर-दातृत्व कांग्रेस की राजनैतिक नीति पर है। जहां आर्य्यसमाज ने मुसलमानों की फ़सादी प्रवृत्ति को मिटाकर उनमें सहनशीलता पैदा की है, वहां कांग्रेस ने उन्हें अशुद्ध राजनैतिक महत्व देकर हिन्दुओं के मुंह आने को उभारा है। आर्यसमाज ने शुद्धि की, और एक भी लड़ाई न हुई। कांग्रेस ने कौंसलों के स्थान बांटे और स्थान २ पर झगड़ा हो गया। आर्यसमाज ने जन्म के मुसलमान आर्य्य बनाए और इस पर भी मुसलमान न भड़के। परन्तु (हिन्दु) मल-कानों की शुद्धि का समय आया और कांग्रेस के बिफराए हुए मुसलमान रोकने से न रुके। शुद्धि पीछे आरंभ हुई, मालाबार और मुलतान के हत्याकांड पहिले हो चुके थे। इन हत्याकाण्डों के कारण राजनैतिक हैं, उसी क्षेत्र में उन्हें ढूंढिये। आर्य्य समाज लंबा इतिहास रखता है और उसमें इन हत्याकाण्डों का कोई चिन्ह नहीं।

लाला जी! आपको राजनैतिक कठिनाइयों का सामना है। वह कठिनाइयां आपके राजनैतिक सहकारियों की लाई हुई हैं। यदि उनका

उपाय आप के पास नहीं तो हमें आप से सहानुभूति है। आप इन से सहमिये नहीं। आप की नीतिमत्ता से यह कठिनाइयां अपने आप हट जाएंगी। आप धैर्य्य ही रखलें, समय स्वयं इनका निराकरण करेगा। जिस मार्ग से आप चले हैं वह अभीष्ट स्थान को नहीं जाता। उस से विपरीत दिशा को जाता है।

आप को आर्य्य समाज के प्रचार से चिढ़ है। आपकी सम्मति में उसमें 'ज़बां दराज़ी, लनतरानी, कुटिल युक्ति, ग़लत मन्तिक़ और ग़ुरूर का ग़लबा रहा।' इसी सम्मति पर स्थिर रहते तो दोष न था। उसी प्रकरण में आप कहते हैं, 'आर्य्यसमाज के प्रचारकों में कसीर तादाद ऐसे अशख़ास की रही जिन में बहस करने की तो लियाक़त थी'। तो क्या 'बहस करने की लियाक़त' 'कुटिल युक्ति, ग़लत मन्तिक़, और ग़ुरूर' का दूसरा नाम है ? यथार्थ 'बहस की लियाक़त' मज़हबों को दी ही आर्य्यसमाज ने है। इसलाम की मन्तिक़ पहले तो तलवार मात्र थी, आज युक्तियों की मन्तिक़ भी है। इसलाम का अन्तर्हृदय बदल गया है। इंजील का अभिप्राय अब पहिले की अपेक्षा और है। किनके कारण ? इन्हीं 'ग़लत मन्तक़ियों' के कारण।

एक छोटी सी सूची आर्य्य प्रचारकों की मैंने ऊपर दी है। इन का आर्य्य-समाज की वेदी पर भी क़बज़ा रहा और साहित्य पर भी मुहर रहा। नाम बढाए जासक्ते हैं परन्तु आवश्यकता नहीं। हमें राजनैतिक, और अन्य मतों के, क्षेत्र में अभी इससे अच्छा साहित्य देखना है।

इस में सन्देह नहीं कि लिटरेचर बुरा भी है, प्रचारक (यदि प्रत्येक आर्य्य समाजी प्रचारक है) बुरे भी हैं। परन्तु अनौचित्य की इतनी मात्रा और कहां नहीं ? यदि लालाजी ! आप का तात्पर्य यह है कि आर्य्यसमाज को इससे भी ऊंचा उठना चाहिये तो मैं आपके साथ सहमत हूं। तब आप के लेख का लहजा कुछ और होना चाहिये था।

(३)

लाला जी ! आपको प्रत्युत्तर की युक्ति सन्तुष्ट नहीं करती। आपने लिखा है:—

"अगर कोई नादान कम समझ या बदमाश आदमी किसी धर्म को गालियां देता है या उसके बुज़ुर्गों के ख़िलाफ़ ज़ुबां दराज़ियां करता है, तो उसका

जवाब यह नहीं कि हम उसके धर्म को गालियां दें या उसके बुज़ुर्गान दीन के बर खिलाफ़ ज़बां दराज़ियां करें।"

आगे चलकर आप कहते हैं:—"मैं नहीं मानता कि ईंट का जवाब पत्थर है, न मैं मुसलमानी मसेला क़िसास का क़ाइल हूं।"

"ईंट का जवाब पत्थर" या 'एक थप्पड़ के जवाब में दो थप्पड़" से आप का अभिप्राय क़िसास अर्थात् बदला प्रतीत होता है, क्योंकि "अगर हिफ़ाज़त खुद इख्तियारी के लिये किसी क़िस्म के तशद्दुद की ज़रूरत हो तो वह (आप की सम्मति में) न सिर्फ जाइज़ है बल्कि फ़र्ज़ है।"

पहिले आप एक थप्पड़ के बदले दो थप्पड़ मारने के पक्ष में थे अर्थात् बदला लेना (मुसलमानी मसला किसास) आपको प्रिय था, अब नहीं। भगवन्! आपके बदले की नीति के सहायक आपके पक्ष के और लोग भी होंगे। आपने अपनी मनोनीति से सारे आर्य्यसमाज को जांचा। आपकी नीति का दोष आर्य्यसमाज पर है। वस्तुतः धर्म का भाव बदला नहीं, सुधार है। परन्तु इसी वेदी से वह प्रचारक खड़े होते रहे जिनके वाक्य कटु, भाषा पैनी थी, किन्तु हृदय क्षमा के भावों से भरपूर था। प्रातःस्मरणीय पं० लेखराम अपने कटारी मारने वाले से बदला लेना तो क्या, उसे किसी अपशब्द से स्मरण करना भी अपने ब्राह्मण-भाव के विरुद्ध समझते हैं। अच्छा हुआ आज आपने भी उसी भाव को ग्रहण किया।

किसी मज़हब का खण्डन उस पर तशद्दुद नहीं। सत्य के प्रचार में, कुरीति के संहार में, पहल करना दया है, करुणा है, क्षमा है। आप इसलाम के इतिहास को पढ़ते हैं, बाह्य आचार को देखते हैं, और उसकी खुली समीक्षा करते हैं। दूसरे मन्तव्य पढ़े हैं, वह उनकी समीक्षा करते हैं। अभिप्राय दोनों का धर्म प्रचार है। बदले के भाव से न आप किसी के इतिहास को बुरा कहिये, न कोई और किसी के मन्तव्य की निन्दा करे।

आपने 'सच्चे वेदप्रचार' को भी तो आर्य्यसमाज का एक उद्देश्य ठहराया था। आपने कहीं २ प्रचार कार्य के संशोधन पर भी बल दिया है। प्रचार किसका? और संशोधन काहे को? आप तो सिरे से सिद्धान्तों के ही विरुद्ध हैं। सामाजिक सुधार का काम आप हिन्दूसभा को देना चाहते हैं। सिद्धान्तों का आर्य

समाज काम में अभाव देखना चाहते हैं। तो यह क्यों नहीं कहते, आर्य्यसमाज राजनैतिक नेताओं का साथ नहीं देता। राजनैतिक प्रचार की छाया मात्र नहीं बनता। अपना अस्तित्व रखता है। इसलिये बन्द होना चाहिये।

भगवन् आपने यह क्या लिखदिया :—

"आर्य्यसमाज ने अपने मेराज (बहुत से-सारे नहीं) इसलाम व ईसाइयत से लिये।"

महात्मा गान्धी ने शुद्धि के सम्बन्ध में लिखा था कि उसका वर्तमान ढंग ईसाइयत से नक़ल किया गया है। आप ने 'बहुत से आदर्श हो' ईसाइयत और इसलाम से लिये गए ठहरा दिये। और फिर उन 'बहुत सो' में से एक भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत न किया। लाला जी! है तो धृष्टता पर आप से पूछना ही पड़ता है कि कहीं आप मेराज (आदर्श) और साधनों (ज़राए) को एक तो नहीं मानते?

आपका संकेत शुद्धि की और होगा, इस विषय में आर्य्य-समाज का आदर्श है सारे संसार को आर्य्य बनाना। यह आदर्श वेद का है। वेद की आज्ञा इस विषय में स्पष्ट है:—कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। वेद न ईसाइयत से उधार लिया गया है न इसलाम से।

यदि आप आर्यसमाज की प्रचार की विधि को ईसायमत या इसलाम की विधि कहते हों, तो उस पर निवेदन यह है कि कोई अच्छी बात तो दूसरों से ग्रहण करने में पाप है नहीं। हां! यदि उसमें दोष हों तो वह कृपा करके बताइये। इसलाम अपने धर्म के प्रचार में अत्याचार का हथियार काम में लाता है, विवाह आदि का प्रलोभन देता है। ईसाइयत के पास प्रभुत्व की शक्ति है, राज्य उसकी पीठ पर है। आर्यसमाज के पास न यह कुत्सित साधन हैं और न यह उनका प्रयोग ही करना चाहता है।

आर्य-समाज का हथियार है उपदेश और शास्त्रार्थ। इस हथियार का प्रयोग आर्यजाति में सदैव होता आया है। श्री शंकराचार्य ने इसी हथियार से बौद्धों को परास्त कर उन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया। यह वही शुद्धि थी जो आर्य

समाज आज कल कर रहा है । अपने धर्म का प्रचार हिन्दुओं ने सदैव किया है । बौद्धों ने किया, शांकरों ने किया, वैष्णवों ने किया । इसलाम और ईसाइयत की अपनी उपज उनका प्रलोभन और बलात्कार हैं । वह आर्य्यसमाज ने उनसे लिये नहीं ॥

आप आर्य्यसमाज को रऊनत (अभिमान) का दोष देते हैं और इस का कारण उसकी सामाजिक सेवा की सफलता को ठहराते हैं । सामाजिक सेवा नम्रता से तो सफल हो सक्ती है, अभिमान से नहीं । सेवा और अभिमान ? इनका तो पूर्वपश्चिम का विरोध है ॥

आपने इस रऊनत को "Un-Hindu (अहिन्दु) स्पिरिट" ठैराया है । यदि इस रऊनत का सम्बन्ध आप ने सामाजिक सेवा से न जोड़ा होता तो मैं इसका अर्थ अपने मन्तव्यों की श्रेष्ठता का गर्व समझता । यह गर्व आर्य्यसमाज को है । अपनी वैयक्तिक महत्ता का गर्व अनुचित है, सिद्धान्तों की महत्ता का गर्व तो उनकी सत्यता के विश्वास का दूसरा नाम है । परन्तु यह इस समय प्रकृत नहीं । सामाजिक सेवा के सम्बन्ध में हिन्दुओं की नम्रता (?) ने छूत छात को जन्म दिया है, आर्यसमाज के वृथाभिमान (?) ने छूत छात हटा कर पञ्चम वर्ण ही नहीं रहने दीया । जिन्हें नम्र (?) हिन्दु नीच कहते थे, उन्हें गर्वी आर्य-समाज ने न केवल अपने फ़र्शों पर बिठाया, अपने कुओं पर चढ़ाया, किन्तु अपने पुरोहित की पदवी तक का द्वार भी उनके आगे खोल दिया । इस संबन्ध में अभी बहुत कुछ करना शेष है । मैं भी आर्य समाजियों को वृथा गर्व का दोषी ठहराता हूं । जब तक खुले रक्त के संबन्ध नहीं होते तब तक धर्मोचित नम्रता का उदय हुआ है, ऐसा नहीं कहा जासक्ता । मेरे विचार में अभीष्ट नम्रता होगी ही अहिन्दु । यदि मैं आपका तात्पर्य अशुद्ध नहीं समझा तो आपका रऊनत को Un-Hindu (अहिन्दु) कहना मुझे तो भाषा का तथ्य पर अत्याचार प्रतीत होता है । रऊनत हिन्दु है—सोला आने हिन्दु । इसे अहिन्दु कहकर आप उसी संकुचित हिन्दु भाव के अपराधी हुए हैं जिसका संतोष सदा किसी हिन्दु को अहिन्दु बनाने में रहता है । क्षमा कीजिये, रऊनत हिन्दु भाव है ॥

लाला जी ! आर्य्यसमाज में त्रुटियां हैं । आर्य्य प्रचारकों में, आर्य्य लेखकों में । आर्य्य समाज की प्रचार-प्रणाली में त्रुटियां हैं । उन्हें सुधारना है ।

आप बुज़ुर्ग हैं। हमारे दोष बताइये, उन्हें दूर करने में हमारे सहायक हूजिये। परन्तु उस सहायता का लक्ष्य आर्य्यसमाज के अपने उद्देश्य की सफलता हो, उसे निरुद्देश्य कर किसी के पीछे लगाना न हो।

लाला जी ! मैंने बहुत यत्न किया है कि आपका अभिप्राय समझ जाऊं। संभव है, समयाभाव ने आप को अपने विचारों को क्रमबद्ध करने तथा सार्थ सरल भाषा का रूप देने में असमर्थ कर दिया हो, परन्तु आपके इस समयाभाव का बोझ पाठक की बुद्धि पर पड़ा है। आप कहना क्या चाहते हैं ? मेरे लिये तो यह लेख पहेली रहे हैं। क्या आप कृपया इस पहेली को बुझाएंगे ?

आपका

चमूपति।

कलकत्ते का छपा सत्यार्थ प्रकाश।

श्री जयदेव शर्म्मा कलकत्ते से लिखते हैं :—

प्रिय सम्पादक महोदय नमस्ते।

आपने जो मेरा पहला पत्र पाया उसका उत्तर आर्य्य में पढ़ा। आपका आर्य भी पाया तदर्थ धन्यवाद।

मैंने गत पत्र में 'अनार्य प्रयत्न' आपके लिये लिखा वह लिखकर पछताता हूं क्योंकि आप मेरे मित्र होने पर जनता की चक्षु से पीछे से भी इसी शब्द के भाजन होंगे। ऐसी सम्भावना है। आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के मुख पत्र के सम्पादक बनकर आप 'अनार्य कहावेंगे यह मुझसे देखा न जावेगा।

आपने अपने नये अङ्क में भी अपनी वही टोन रखी है। इस कारण मैं आपको फिर लिखता हूं कि आपने आर्य होकर मुझ पर घोर अन्याय किया है। जिस के मैं योग्य नहीं वह दण्ड मुझे आपने दिया है।

क्या आपने १५ वां १६ वां संस्करण सत्यार्थ प्रकाश (अजमेर का) देखा है ? नहीं। तो फिर ? आपने अजमेर के प्रकाशकों को न कोसा ? पर

मुझ पर ही निर्दय वाक्-छुरी का वार क्यों किया ? आपने मित्र समझ कर जो यह कार्य किया इस विश्वास हत्या के मुझे वार खाचुकने पर अब कोई आश्चर्य नहीं। इतना कहूंगा कि यह आपका कार्य आर्यत्व की शान से शून्य है।

आप धर्म ग्रन्थ पर अत्याचार होते नहीं देखसकते परन्तु १५, १६ वें संस्करण छपे १९६८ वि० में। तो आप तब से अब ३ साल तक कैसे देखते रहे ? पत्थर की आंखों से ?

अधिक क्या लिखूं। यही मेरा उत्तर है जो मैं अपनी सफाई के लिये आपके पास अक्षरशः आर्य के अगले अङ्क में छपाना चाहता हूं।

प्रूफ रीडिंग मैंने नहीं किया।

भवदीय—जयदेव शर्मा,

आर्य समाज का सत्कार्य।

आश्विन मास की 'माधुरी' में आर्य समाज के विषय में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। उसके कुछ उद्धरण हम पाठकों की भेंट करते हैं:—

"इसमें संदेह नहीं कि हिंदु-जाति के अंदर जितनी धार्मिक संस्थाएँ हैं, उनमें अगर कोई संस्था जीति-जागती संस्था है, तो आर्य-समाज ही। यही संस्था कुछ काम करने वाली, स्वाभिमान से भरपूर, शान के साथ जाति के सम्मान की रक्षा में जान देने के लिये हरदम तैयार, समय के रुख़ की पहचानकर तदनुकूल चलनेवाली, अर्थात् सामयिक समस्याओं के समुचित समाधान को प्रधान मानकर अवस्था के अनुसार व्यवस्था करनेवाली देख पड़ती है" ॥

"इधर आर्य-समाज के दूरदर्शी विद्वानों ने हिंदुओं के ह्रास की गति और उसकी अति भयानक परिणति की सूचना देनेवाले अंकों को सशंक दृष्टि से देखकर तत्काल उसका उपाय सोचना शुरू कर दिया। उन्होंने अपनी जातीय त्रुटियों को ग़ौर से देखा। इस क्षय-रोग के कीटाणु हिंदु-जाति ने जान-बूझकर आप ही पाल रक्खे थे। वह त्याग करती थी, ग्रहण नहीं। आर्य-समाज ने सनातनधर्मी समझदार सज्जनों को सुझाया कि यह ग़लती सुधारे विना विनाश से बचना असंभव है। हिंदुजाति के जो बच्चे नासमझी से, बहँकाने फुसलाने

से, क्षणभर की कमज़ोरी अथवा पदस्खलन से, समाज के अत्याचार-अविचार से किंवा किसी प्रलोभन में पड़कर हिंदूधर्म की विशुद्धता गँवा बैठे हैं—अपने झुंड से बिछड़कर शिकारी के जाल में गला फँसा चुके हैं, उनको जन्म-भर के लिये छोड़ देना इस समय हिंदू-जाति के लिये आत्महत्या से बढ़कर है। शुद्धि और प्रायश्चित्त का विधान धर्मशास्त्र ने क्यों दे रक्खा है? शुद्धि का प्रचार ही बुद्धिमानी मानी गई। धड़ाधड़ जाति-बहिष्कृत भाई शुद्ध किए जाने लगे—पतित-परावर्तन की धूम मच गई। शुद्धि के साथ ही हिंदू-संगठन की भी ज़रूरत आ पड़ी। कारण, लगातार हिंदुओं पर हमले होने लगे, और हिंदुओं को अपने भीतर एकता का अभाव अखरने लगा। इस शुद्धि और संगठन के आरंभ का अधिकांश श्रेय स्वामी श्रद्धानंद और उनके सहायक साथी सज्जनों को ही दिया जायगा। शुद्धि और संगठन को भय की दृष्टि से देखनेवाले धर्मांध मौलवी-मुल्ला, अपढ़ अथच धर्म के नाम पर खून तक करने को तैयार हो जानेवाले मुसलमानों और लूट-पाट करने का मौक़ा ढूंढने वाले नीच श्रेणी के मुसलमान गुंडों और बदमाशों को भड़काकर, जोश दिलाकर, जगह-जगह हिंदुओं पर हमले कराने लगे। कारण, न्यायसंगत उपायों से—बहस और युक्ति-तर्क के द्वारा—वे आर्य लोगों से पेश न पा सके। इस संकट के समय प्रत्येक शहर के आर्यों ने सब भेद-भाव भुलाकर जिस तरह सब हिंदुओं का साथ दिया, सहायता और रक्षा की, वह वास्तव में आदर्श है, आदर और अनुकरण के योग्य है। लखनऊ के दंगे में भी मूर्तिपूजा के विरोधी आर्यों ने मंदिर की आरती के लिये जो कुछ किया, जितनी सहायता पहुंचाई, उसकी प्रशंसा शब्दों के द्वारा नहीं व्यक्त की जा सकती। आर्य-समाज, लखनऊ के प्रधान पं० रासबिहारी तिवारीजी ने जिस बहादुरी के साथ, अपने प्राणों का मोह त्यागकर, आत्मरक्षा की है, अपने महल्ले और पास-परोस के हिंदुओं का धन, मान और प्राण बचाए हैं, उसका महत्त्व बहुत अधिक है। कान्यकुब्ज-कालेज के प्रिंसिपल श्रीनारायणजी चतुर्वेदी और उनके विद्यार्थियों ने भी आक्रमण व्यर्थ करने में प्रशंसनीय पौरुष का परिचय दिया है। मतलब यह कि लखनऊ के हिंदुओं की इज़्ज़त रखनेवालों में आर्य-समाज के लोग मुख्य थे। अगर आर्य-समाज साथ न देता, दुष्टों के दमन के लिये खड़ा न होता, तो इसमें संदेह नहीं कि हिंदुओं की बड़ी दुर्दशा की जाती। महल्ले-के-महल्ले लुट जाते, मंदिर खुद जाते, दूकानों के माल का पता न लगता। आर्य-समाज के प्राण

तिवारीजी के आदर्श और प्रोत्साहन ने कायरों में भी शक्ति उत्पन्न कर दी। अतः इस सत्कार्य के लिये आर्य-समाज और उनके प्रधान तिवारीजी को हम धन्यवाद देते और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं ॥"

माधुरी-सपादक की सम्मति में यदि आर्य-समाज ने अपने प्रारंभिक दिनों में ही खण्डन के कठोर कुठार का प्रयोग न कर इसी प्रकार हिन्दुओं की रक्षा में अपना बल लगाया होता तो इसके कार्य की सफलता में वह रुकावटें उपस्थित न होतीं जिनका इसे अतिक्रमण करना पड़ा। इसी बात को शब्द उलट कर हम यों कह सके हैं कि यदि हिन्दुओं को आरंभ में ही होश आ जाती और वह अपने हित अहित को पहले ही से अनुभव करने लग पड़ते तो इतना समय व्यर्थ न खोया जाता। आर्य समाज के खण्डनरूपी कुदाल ने आज की एकता का रास्ता साफ़ किया है। आज के हिन्दु पुराने हिन्दू नहीं। आर्य समाज तो आरंभ-काल से शुद्धि करता आता है, संगठन की दुहाई मचाता आता है, अछूतों को गले लगाता आता है।

एक बात और ऐसी है जो माधुरी-सम्पादक और उन जैसे विचार रखने वाले लोग भूल जाते हैं। आर्य समाजी अमूर्ति पूजक होते हुए भी मूर्ति भञ्जकों के विरोध में जी जान लड़ा देने को खड़े होजाते हैं। यह इसलिये नहीं कि उन्हें हिन्दुओ की मूर्तियों से प्रेम है किन्तु इसलिये कि सामाजिक दृष्टि से आर्य समाजी हिन्दु जनता का भाग हैं और हिन्दु नागरिकता का यह एक आवश्यक अङ्ग है कि विचार-भेद के लिए किसी पर अत्याचार नहीं करना। जो हिन्दुओं पर उनके विचारों के कारण अत्याचार करता है, उसके आर्य समाजी जी जानसे विरोधी हैं। आर्य समाजी मूर्ति भंजन चाहते हैं परन्तु मूर्तिपूजकों के अपने हाथों। वर्तमान स्थिति आर्य समाज के प्रारंभिक काल में भी होती तो आर्य समाजियों का व्यहार वही होता जो अब है।

कुछ हो हम प्रेम बुद्धि का स्वागत करते हैं-वह प्रेम बुद्धि चाहे आर्य-समाजियों की ओर से प्रकट हो या सनातन धर्मियों की ओर से।

'आर्य' की ऋषि-शताब्दी संख्या—

ऋषि शताब्दी संख्या की तयारियां आरंभ हो गई हैं। लेखकों से लेखों के लिये, कवियों से कविताओं के लिये प्रार्थना की गई है। स्वीकृतियां आरही हैं। आशा है हम एक उत्तम लेख-संग्रह प्रकाशित करने में सफल होंगे। एक

तीन रंगा चित्र बनचुका है,दूसरा तीन रंगा चित्र बन रहा है। सादा चित्र इनके अतिरिक्त होंगे। आर्य्य के वर्तमान आकार से बड़े १०० पृष्ठ का यह अङ्क होगा। इसमें विज्ञापन न होंगे। काग़ज़ चिकना उत्तम होगा। समय पर ग्राहकों के पास पहुंच जाए, इसके लिये आवश्यक है कि १ जनवरी से छपाई आरंभ हो। आर्डर इस समय तक आजाने चाहियें। अन्यथा संख्या अनिश्चित होने से थुड़ने बढ़ने का भय रहेगा। आर्य्यसमाजों में जवाबी कार्ड भेजेगए हैं, उनमें संख्या भर कर लौटा देना चाहिये।

शताब्दी का अवसर फिर हमारे जीवन में न आएगा। इस अवसर की विशेष संख्या विशेष महत्व की है। आर्यों को इसे पूर्ण उत्साह से अपनाना चाहिये। मित्रों अमित्रों में बांटना चाहिये। आर्यों अनार्यों के हाथों में पहुंचाना चाहिये। जिस संख्या में यह अंक पहिले मंगाया जाता है, उससे कम से कम दुगनी संख्या में अवश्य मंगाना चाहिये।

हम यह प्रयत्न कर रहे हैं कि मुखपत्र के लिये एक और तीन रंगा चित्र बनवालें। परन्तु यह सब कुछ उसी समय हो सक्ता है कि ग्राहक पर्याप्त हों।

इस संख्या का मूल्य इस प्रकार होगा:—

१०० सौ और उससे अधिक का प्रति सैंकड़ा	३०)
५० पचास का	१६)
२५ पच्चीस का	८॥)
१० दस का	३॥)
एक प्रति का	।=)

डाक व्यय इसके अतिरिक्त होगा। एक प्रति के लिए ।≡) के टिकट भेजें। एक प्रति का व० पी० न होगा।

प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र का विशेष अङ्क और वह भी ऋषि की जन्मशताब्दी के समय का,आप के विशेष ध्यान का पात्र है। स्थिर ग्राहकों को ३) रु० में इस अङ्क सहित सारा वर्ष 'आर्य्य' मिलता रहेगा।

वेदामृत—

श्रीमंत्री आर्य्य प्रतिनिधि सभा सूचना देते हैं:—

वेद मन्त्रों का संग्रह जो शताब्दी के उपलक्ष में श्री पं० सातवलेकरजी

द्वारा संगृहीत और सम्पादित कराया जारहा था अब प्रकाशित हो जाने वाला है। ५०० पृष्ठ का सत्यार्थ प्रकाश के आकार का उत्तम काग़ज़ पर छपा हुआ वेद मन्त्रों का सजिल्द संग्रह ३) ६० में महंगा नहीं। कृपया शीघ्र आर्डर भेजिये ! परिमित संख्या छपवाई गई हैं।

वेदासन—

वही महानुभाव लिखते हैं:--

वेदासन का चित्र परिमाणादि के विवरण सहित छपकर सभा के कार्यालय में विद्यमान है। ->)॥ डेढ आने के टिकट आने पर भेजा जा सका है।

कांगड़ी गुरुकुल में प्रवेश :—

श्री मुख्याधिष्ठाता लिखते हैं :—

"गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी में नवीन प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मचारियों के प्रवेशार्थ प्रार्थना पत्र दिसम्बर १९२४ के अन्त तक कार्य्यालय में पहुंच जाने चाहियें। प्रवेशार्थ प्रार्थना पत्र के फ़ार्म तथा नियमावली गुरुकुल कार्य्यालय, डाक घर गुरुकुल कांगड़ी, जिला बिजनौर को लिखने पर मिल सकेंगे॥

काव्य-पुरस्कार—

श्री वेनीमाधव खन्ना कानपुर से लिखते हैं :—

पूर्व सूचनानुसार "जीवन-संग्राम" पर आई हुई कविताओं में से निम्न लिखित सुकवियों की कविता पर इक्यावन इक्यावन रुपए का पुरस्कार सादर भेंट किया गया।

१—ला० भगवानदीन जी (दीन) बनारस।

२—प्रो० वागीश्वरजी विद्यालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी '

३—बा० अनन्दीप्रसाद जी श्रीवास्तव्य, नरसिंहपुर।

आगामी काव्य-पुरस्कार।

आगामी बसन्त पञ्चमी तक "वीर रस" के पांच छन्द भेजनेवाले कवियों में से तीन सर्वोत्तम सुकवियों को इक्यावन इक्यावन का पुरस्कार भेंट किया जायगा॥

* ओ३म् *

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

श्री दयानन्द शताब्दी महोत्सव।

दयानन्द मास तथा शताब्दी उत्सव का समय विभाग।

आर्य्य समाजों से निवेदन।

गत दो वर्ष क्रमशः दयानन्द सप्ताह और दयानन्द पक्ष मनाए जाचुके हैं। उन दोनों अवसरों पर ऋषिभक्तों ने ऋषि के प्रति अपनी भक्ति भावना का उत्तम परिचय दिया था। इस वर्ष ऋषि-जन्म-शताब्दी का महोत्सव मनाया जाना है। सभा के पूर्व निश्चयानुसार शताब्दी के दिन समाप्त होने वाला मास दयानन्द मास होगा। दयानन्द-मास तथा शताब्दी-उत्सव का कार्य क्रम नीचे दिया जाता है। यह पुण्यावसर हमारे सौभाग्य से हमारे जीवन में आया है। हमें पूर्ण आशा है कि आर्य गण उक्त मास तथा महोत्सव दोनों को पूर्ण उत्साह से मनाएंगे।

१—दयानन्द मास का आरम्भ लोढ़ी के यज्ञ से किया जाय।

२—दयानन्द मास का कार्य क्रम निम्न प्रकार होगाः—

(क) प्रति दिन प्रातः काल समाज मन्दिर में वेद पाठ और हवन किया जाय; और यज्ञ शेष बांटा जाय। तथा सायंकाल ऋषि जीवन की कथा हो।

(ख) वसन्तपञ्चमी तक प्रति रविवार प्रातः नगर कीर्त्तन करके सब आर्य स्त्री पुरुष आर्य समाज मन्दिर में जावें। वसन्त पञ्चमी को प्रीति भोजन हो।

(ग) वसन्तपञ्चमी के पश्चात् प्रतिदिन प्रातःकाल नगर कीर्त्तन किया जाया करे। और अन्तिम दो सप्ताह सायंकाल अथवा रात्रि को नगर प्रचार किया जाये।

(घ) दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय के निमित्त धन एकत्र करने क लिये भिक्षा झोली फिराई जावे।

३—शताब्दी उत्सव (शिवरात्रि) के दिन सब आर्य समाज विस्तृत यात्रायें (processions) निकालें। और मेला लगावें। प्रातः काल उत्सव हो। दिन के किसी समय दीन दुःखियों को समाज से भोजन मिले। रात्रि के समय दीपमाला की जावे।

निवेदक—

कृष्ण	चमूपति
मन्त्री आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब	मंत्री श्रीदयानन्द जन्म शताब्दी समिति

बांबे मैशीन प्रेस लाहौर में छपा।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर ।

ब्योरा आय व्यय बाबत मास कार्तिक संवत् १९८१

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
प्रचार	२७२२५)	२१४२॥।-)७	१२१४१॥।=)			
ानश	२०००)	४८।≡)।	६४१।-)॥।			
र्य	६८००)	७१॥।=)	८७६≡)	६८००)	१५०)॥।	१३२४॥।≡)
ानानिधि	२०००)	२०७॥=)	३३८॥=)७			
र्यालय				६५००)	३५२॥।-)	३२३४॥)५
क पुस्तकालय	१००)	२६)	१५४।=)	२५००)	२६३-)॥	१६२३-)
तक तैयार कराई				१००)		१२०)
				७००)	६८॥।=)	३६६)॥।
उपदेशकां				१५१४१)	११८९॥।)१०	८६२१=)१
व्यय				६५००)	४६०॥।)२	३८६२॥)११
जीवन				९०)	२३।)	६३॥।≡)
तक विभाग	२००)		१३२-)॥			
क कोष				१४००)	१२०)	७५६=)।
योग		२४६६॥।)१०	१४५८४॥)१०		२६५८॥=)।	२०००८।-)५
ाम स्मारक निधि	३००)	१६॥≡)	६७-)			
उपदेशकां				१४००)	८५)	५२५)
व्यय				५००)	६६॥।)॥	३३६॥-)॥
ा विधवा पं० तुलसी राम				१२०)	१०)	७०)
,, पं० वज़ीरचंद				६६)	८)	५६)
योग		१९॥≡)	६७-)		१६६॥।)॥	६६०॥-)॥
आर्य विद्यार्थी आश्रम		५६)	५६)		२८)	४२८)
अन्य संस्थायें		२८५॥।)	७६६५=)॥		१६४।≡)२	६९६१।)४
आर्य समाजें			३२५५=)।		६१२)	६१२)
पुस्तकालय		२०)	७२)		१०)	१६०)
ोलेशाह			४६-)		५४०-)	५४०-)
योग		३६१॥।)	११३६७।-)॥।		१३८४॥)२	८७०१।-)४
क		२५४१॥।-)५	१८१४२।)४			५९।=)।
र्ज़ा			२००६।≡)			
मकानात		३)	२२)			
ाय व्यय		१६२॥)	५५४॥)			१४६-)।
ा		[illegible]	२०७२५=)४			२०८।≡)८

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर।

ब्यौरा आय व्यय बाबत मास कार्तिक सं० १९८१

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
महालदेवी जींदाराम			७००)			
गुरुकुल मुलतान			५)			
अज्ञात निधि		१६१)	१४४४-)।		१२३≡)।	६६५॥=)।
दयानन्द-जन्म शताब्दि	१००००)	२५५०)	६६७०॥-)	१५०००)	८०=)॥	४९३८)॥।
दलितोद्धार	१२०००)	३५६-)।	२२३७=)	१२०००)	३१६)।	२३२९॥≡)१०
राजपूतोद्धार		७५)	२६६॥=)		१६४।-)	१०३३≡)१०
प्रोवीडेण्ट		९६)	६३२॥।=)११			१०९२॥।-)२
बोनस				१०००)		२२४॥।≡)२
आर्य्य विद्यार्थी आश्रम	२८७०)	३२८॥।)	१५८१।=)	२८७०)	१६८॥।≡)॥।	१३२७।=
,, ,, ,,शाला			५८४४।)५			
वसीयत पं० पूर्णानन्द			२६२५)		४०)	२८३।।-)॥
विदेश प्रचार	८०००)		५५)	८०००)		
कन्या गुरुकुल		२)	३४॥-)			५१३)।
सभा के सेवकों की सहायता					८)	३२)
दयानन्द उपदेशक महा विद्यालय		७६४)	८०६)			
आसाम प्रचार			१०७॥-)			
दयानन्द सेवा सदन			२)			
रामचन्द्र स्मारक निधि			३८०॥-)			२२५।=)।
ईश्वरदास निधि						१५०)
अण्डमन प्रचार		१०)	६५)			
योग		४३७७॥।-)।	२३७६०॥=,७		९६०॥=)॥।	१३०८६।-)॥।
गुरुकुल महानिधि		१६२३५॥≡)८	८०६२८॥।)॥		२०१२०≡)॥	७८६०७।-)८
,, अस्थिर क्षात्रवृति			८६०२)			
,, स्थिर कोष			२१०)			
,, उपाध्याय वृति			—८०३५॥)			
,, स्थिर क्षात्रवृति			७०००)			
,, आयुर्वेद			१००३५॥)			
योग		१६२३५॥≡)८	९८४४०॥।)॥		२०१२०≡)॥।	७८९०७।-)८
सर्व योग		२६२३१=)२	१६८६७५॥=)		२५२६३॥।-)५	१२१९०२।≡)४
गत शेष		६६६७३७॥=)।	९५३६०१॥।)४			
योग		१०२५६६८॥।)५	११२२५७७।=)४			
व्यय		२५२६३॥।-)५	१२१९०२।≡)४			
वर्तमान शेष		१०००६७४॥।≡)	१०००६७४॥।≡)			

Registered No. L. 1424. र जस्टर्ड नं० एल १५४२

ओ३म्

भाग ७ जनवरी १६२६
अङ्क १ माघ १६८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः
ऋग्वेद।

हे प्रभु! हम तुम से वर पावें।
विश्व जगत् को आर्य्य बनावें॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें।
प्रीति-नीति की रीति चलावें॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

जगत्नारायण प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से विरजानन्द प्रेस लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ।

विषय सूची

विषय पृष्ठ

"आर्य्य" के नियम ।

१—यह पत्र अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है । (डाकख़ाना में चूंकि अंग्रेज़ी तारीख़ देनी होती है, इसलिये अंग्रेज़ी तारीख़ का हिसाब रक्खा गया है) ।

२—इसका वार्षिक मूल्य ३) है । सभा ने वैदिक धर्म तथा नागरी प्रचार के लिये इसे जारी किया है ।

३—इस पत्र में धर्मोपदेश, धर्म-जिज्ञासा, प्रतिनिधि सभा की सूचनाएं दर्ज होती हैं ।

४—पत्र में प्रकाशित होने के लिये समाचार तथा लेख प्रत्येक अंग्रेज़ी मास की १ तारीख़ के पूर्व आजाने चाहियें ।

५—यदि डाक की ग़लती से कोई अङ्क न पहुंचे, तो १५ दिन के भीतर सूचना देने से वह अङ्क भेज दिया जायगा, लेकिन इस अवधि के पश्चात् मंगवाने पर प्रति अङ्क ।=) देने पड़ेंगे ।

* ओ३म् *
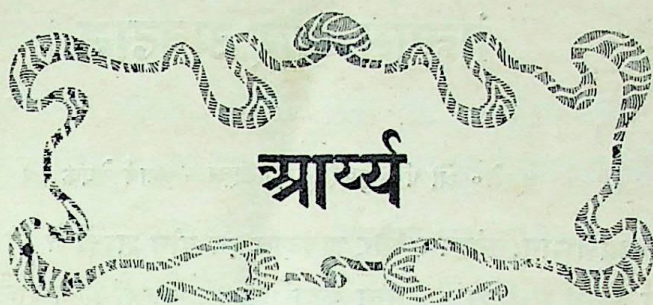
भाग ७] लाहौर—पौष १९८२ जनवरी १९२६ [अंक ९

[दयानन्दाब्द १०१]

विनय

(श्री० धर्मदत्त सिद्धान्तालङ्कार)

इतनी नाथ विनय है मोरी !

चरणों से मत दूर हटाओ विनय करूं कर जोरी ॥

राजसिंहासन से भी चाहे मुझ को नाथ गिराओ ।
पर अपने इन चरणों पर से अब मत दूर हटाओ ॥

राज-छत्र भी मेरे सिर से चाहे नाथ उठाओ ।
पर अपने हाथों की छाया मुझ पर से न हटाओ ॥

दीनानाथ ! अनाथ बना कर मुझ से भीख मंगाओ ।
पर नाथों के नाथ ! न मेरे सिर से हाथ उठाओ ॥

पढ़ा लिखा भी मेरा सारा मुझ से नाथ भुलाओ ।
ओ३म् नाम पर अपना प्यारा पल पल याद रखाओ ॥

दुःख के गहरे कूप में चाहे तुम मुझ को ठुकराओ ।
अपनी प्रेम की डोरी को पर मुझ से नहीं छुड़ाओ ॥

संज्ञपन और अवदान।

(ले० श्री पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार, ' आर्य सेवक ')

आलम्भन, संज्ञपन और अवदान इन तीन शब्दों ने मीमांसा के साहित्य में जितना अनर्थ मचाया है उतना कदाचित् ही किन्हीं अन्य शब्दों ने मचाया हो। इन्हीं शब्दों के कारण श्रौत यज्ञों की यज्ञशाला यज्ञशाला नहीं प्रतीत होती किन्तु एक अच्छा खासा सैनिकागार दीख पड़ती है। समय समय पर भवभूति कालिदासादि कवि " मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इति " " पशु मारण कर्म्म दारुणोऽप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः " आदि शब्दों में इस बात पर दबी चोट भी करते रहते हैं। चार्व्वाक तो बिलकुल स्पष्ट ही बोल उठाः—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्ग ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥

पर यदि गम्भीर दृष्टि से देखें तो बहुत अंशों तक इस नृशंस काण्ड का आधार इन्हीं तीन शब्दों पर है। आज हमारा विचार इन में से 'संज्ञपन' और 'अवदान' पर कुछ प्रकाश डालने का है।

पहिले संज्ञपन को लीजिये। यह शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बनता है। 'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते' आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि संपूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्भूयज्ञान आदि हैं, कहीं भी हिंसा नहीं। फिर पता नहीं चलता कि णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययों ने इस में क्या वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जो इस का अर्थ एक दम हिंसा हो गया? अस्तु। अब देखना चाहिए कि वेद तथा वैदिक साहित्य में णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययान्त प्रयोग भी किस अर्थ में आया है।

विचित्र बात है कि प्रयोग भी मांसलोलुप, मांसल प्रज्ञ मीमांसकापसदों के पक्ष को समर्थन नहीं करता। लीजिये, चारों वेदों में संज्ञपन शब्द णिजन्त तथा ल्युट् प्रत्ययान्त रूप में केवल एक स्थान पर अथर्व वेद में आया है। मन्त्र यों हैं:—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता
सं वोऽयम्ब्रह्मणस्पतिभर्गः संवो अजीगमत्

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान् संमनसस्कृधीह ॥

अथर्व ६ काण्ड ७४ सू० १-३ मन्त्र

इस प्रकरण में "संपृच्यन्तां" "समजीगमत्" "संबभूवुः" "संमनसस्कृधि" यह संगठन की मुहारनी प्रबल साहचर्य्य के बल से संज्ञपन के अर्थ पर क्या प्रकाश डाल रही है इसे सहृदय लोग अनुभव करें । संस्कृतानभिज्ञ पाठकों के लिये हम केवल तीन मंत्रों का अनुवाद और देते हैं ।

विद्वान् उपदेश करता है:—

" तुम्हारे शरीर सम्पृक्त (आपस में खूब मिले हुए) हों । मन सम्पृक्त हों व्रत सम्पृक्त हों । उस ब्रह्मणस्पति कल्याण स्वरूप प्रभु ने तुम्हें इकट्ठा किया है । तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो । हृदयों में प्रेम हो । उस प्रभु के नाम पर किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूं " फिर वही विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करता है: —

" जिस प्रकार आदित्य (ब्रह्मचारी) वसुओं से, जिस प्रकार क्षत्रिय वैश्यों से निस्संकोच मिलते हैं उसी प्रकार हे भूर्भुव स्वः अथवा अ उ म तीन नाम वाले प्रभो ! आप इन सब मनुष्यों को एक मन कर दीजिये । " यह हुआ एक संज्ञपन ।

अब शतपथ का भी उदाहरण लीजिये -

"अथातो मनसश्चैव वाचश्च । अहम्भद्र उदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्र ऊहाते । तद्ध मन उवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै त्वया त्वं किञ्चनान-भिगतं वदसि । सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मा स्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति । ९ अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाह तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयामीति ॥ "　　शतपथ कां० १ अ० ४ ।

अब मन वाणी के झगड़े का हाल सुनो । एक वार मन और वाणी में "मैं बड़ा" "मैं बड़ी" हो पड़ी । सो मन बोला—मैं बड़ा । भला तू कौनसी बात बोलती है जो मैं नहीं जानता । बस तू मेरा कहा करने वाली मेरी अनुचरी है,

मैं तुझ से बड़ा हूं। वाणी बोली बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है पर वह ज्ञान किस काम का। 'आप को कुछ ज्ञान है' यह ज्ञान लोगों को तो मेरे द्वारा ही होता है। जो आप को ज्ञान है वह मैंही प्रकाशित करती हूं और हृदयङ्गम कराती हूं।

क्या यहां भी संज्ञापयामि के अर्थ के विषय में किसी दिवान्ध को सन्देह हो सकता है?

अब ज़रा उन प्रकरणों को लीजिये जहाँ संज्ञपन का अर्थ काटना लिया जाता है। उदाहरणार्थ अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। प्रथम तो संज्ञपन का अर्थ हिंसा है ही नहीं; और यदि कथञ्चित् दुर्जन तोष न्याय से यह अर्थ स्वीकार भी कर लें तो भी कम से कम इतना तो हम ऊपर व्याकरण तथा प्रकरण के बल से निर्विवाद रूपेण सिद्ध कर ही चुके हैं कि संज्ञपन का अर्थ सम्यग्ज्ञान कराना भी है। ऐसी अवस्था में यदि यह भी मान लें कि इस शब्द के हिंसा तथा सम्यक् ज्ञान कराना दोनों अर्थ हैं तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरण सङ्गत होगा वही मानना पड़ेगा। अब अग्नीषोम में पशु संज्ञपन के पश्चात् 'वाचं ते शुन्धामि ... चरित्राँस्ते शुन्धामि यजु० ६ ..... वाक्त आप्यायताम्' आदि जितने शब्द पड़े हैं सब सम्यग्ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं और हिंसार्थ के सर्व्वथा प्रतिकूल हैं। चरित्राँस्ते शुन्धामि (तेरे चरित्र सुधारता हूं) की संगति पशु प्रकृति मूढ़, बालकादि को सम्यग्ज्ञान कराने में ही हो सकती है न कि छाग वध में।

इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में वाक्य आता है—'एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति'। इसका अर्थ पौराणिक लोग करते हैं कि अश्वमेध में जिस स्थान पर अश्व का वध करते हैं उस स्थान का नाम स्वर्ग लोक है। क्यों न हो? वहीं उसी स्वर्ग लोक में कपड़ा तान कर फिर घोड़े और राज महिषी का समागम कराया जाता है। इन निर्लज्जों को इस प्रकार वेद की हत्या करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता।

अब इस शब्द का दूसरा (हमारी सम्मति में एक मात्र) अर्थ लीजिये तो कितना सुसंगत है। 'वही स्थान स्वर्ग लोक है जहां मूढ़ पशु भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है। अश्वमेध के लिये स्पष्ट ही कहा है 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'।

यही वाक्य उद्धृत करके यही अर्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में ऋषि दयानन्द ने किया है। धन्य है उस वेदोद्धार ऋषि को जिसने इन पामरों के अविद्याजाल को इस प्रकार छिन्न भिन्न कर दिया।

अब कहा जा सकता है कि विधि वाक्य के बलवान् होने के कारण 'शुन्धामि' यह मंत्र लिंग कुछ काम नहीं दे सकता। सो यह बात भी उपहसनीय है। क्योंकि यहां विधिवाक्य तथा मंत्र लिंग का विरोध नहीं किन्तु विधिवाक्य के अर्थ निर्णय में विवाद है। ऐसे समय में मन्त्रलिंग के प्राबल्य को कोई पण्डित पुंगव दुर्बल कहने का अधिकार नहीं रखता। हां, यदि विधि वाक्य का अर्थ अन्यथा निर्णीत हो जाता तो मन्त्र लिंग अवश्य कुछ दुर्बल हो जाता। किन्तु इस समय तो वह वज्र की भांति प्रतिवादियों के दुर्ग को भूमिसात् कर रहा है। अब लीजिये अवदान को। यह शब्द 'डुदाञ् दाने' 'दो अवखण्डने' 'देञ् रक्षणे' आदि अनेक धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न २ देवता निमित्तक हवि के लिये प्रयुक्त होता है। अब इसको वर्तमान मीमांसक लोग 'दो अवखण्डने' से सिद्ध करते हैं। अर्थात् पशु के हृदय पाद नासिका जिह्वादि वह भाग जो भिन्न २ देवताओं के लिये खण्डित करके (काटकर) रखे जाते हैं'। हविः के लिये वार २ शब्द भी आता है "अवद्यति" और यह निस्सन्देह दो अवखण्डने का रूप है क्योंकि इस में श्यन् विकरण पड़ा है जो दैवादिक दो अवखण्डने का निर्धारक है। किन्तु यह मीमांसक भद्र पुरुष इस वाक्य को न मालूम क्यों भूल जाते हैं? शतपथ ब्राह्मण ने इस समान रूपता मूलक भ्रम के निवारणार्थ ही लिखा है:—

"ऋणꣳह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यो। स यदेव यजेत तेन देवेभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति॥२॥ अथ यदेवानुब्रुवीत तनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणान्निधि गोप इत्यनूचानमाहुः॥ ३॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेषाꣳ सन्नताव्यवच्छिन्ता प्रजा भवति। अथ यदेव वासयेत। तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्व्वाणि करोति स कृत कर्म्मा तस्य सर्व्वमाप्तꣳ सर्व्वं जितꣳ।

स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ”

(शतपथ कां १ अध्याय ७)

इस सन्दर्भ में ‘तदेनाँस्तदवदयते” यह भाग अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। यह प्रयोग देङ् रक्षणे धातु का है, जिस से स्पष्ट है कि अवदान शब्द में दो अवखण्डने का भ्रम न हो। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य स्पष्ट कह रहे हैं कि आहुतियों का नाम अवदान इस लिये है क्यों कि वह रक्षा करती हैं (ऋण के बन्धन से बचाती हैं)। फिर न मालूम मीमांसक लोग यहां दो अवखण्डने का प्रयोग क्यों बताते रहे ?

अब तो केवल इतना कर्त्तव्य शेष है कि इस सन्दर्भ का अनुवाद कर दिया जाय। सो यों है:—

“पुरुष जन्म लेते ही ऋणी पैदा होता है। वह जन्म लेते ही चार का ऋणी होता है देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का। सो मनुष्य जो यज्ञ करता है सो देवताओं से ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है जो आहुति देता है सो उन के निमित्त। जो दूसरों को पढ़ाता है सो ऋषियों का ऋणी होता है सो उन के निमित्त पढ़ाता है। इसी लिये अध्यापक को ऋषियों का निधि रक्षक कहते हैं। और जो सन्तान की इच्छा करे, सो पितरों का ऋणी होता है जो उन के निमित्त करता है जिस से उन की सन्तान-परम्परा टूटने नहीं पाती। जो घर में अतिथियों को बसाता है सो मनुष्य मात्र का ऋणी होता है सो यह उन के निमित्त करता है जो उन को घर में विश्राम देता है उन्हें भोजन कराता है। सो जो यह सब कर्म करता हो वही कृतकर्म्मा है। उसने सब कुछ पा लिया, सब कुछ जीत लिया सो क्योंकि देवों का ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है वह यज्ञ (सङ्गठन) और आहुति उस की रक्षा करते हैं। इस लिये इस रक्षा करने के कारण जो कुछ आहुतियें अग्नि में की जाती हैं उन सब का नाम अवदान है।”

नहीं मालूम कि इस से अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या उपस्थित किया जा सकता है ?

———

"भूत का उपदेश"

(श्री० पं० मुक्तिराम उपाध्याय)

भूतों के उपदेश में नहीं कर्तव्य अपार।
सुखसाधन गुरु एक है, कर दे बेड़ा पार ॥ १ ॥

बात सुनो अब भूत की, मेल सेल सब झूठ।
पराधीनता बेचती, मन भर खाओ फूट ॥ २ ॥

कैसा अच्छा फल है यार, लेलो पका पकाया खालो। (ध्रुव०)

जो कोई इस फल को खाय, उस की चिन्ता सब मिट जाय,
सुख की सोवे नींद अघाय, जाग न आवे कोई जगालो ॥ १ ॥

इस को खा रावण लङ्केश, दुर्योधन जयचन्द्र नरेश,
पहुंचे स्वर्ग छोड़ निज देश, तुम भी प्रण उन के को पालो ॥ २ ॥

अंग्रेज़ों ने इस को त्याग, भोगे दुःख देश से भाग,
तज घर अपने का अनुराग, करना पड़ा प्रबन्ध यहां लौ ॥ ३ ॥

था यह राजों का आहार, अब तो घर घर हुआ प्रचार,
लागत थोड़ी, लाभ अपार, दे सर्वस्व कोई मंगवा लो ॥ ४ ॥

इस में गुण है एक अनूप, खाने वाला हो तद्रूप,
लो दृष्टान्त सुनो अनुरूप, जो विश्वास नहीं द्विज लालो ॥ ५ ॥

फूटें हिन्दु मुस्लिम खाय, हिन्दु सिक्ख गये अलगाय,
अब दो कोई इन्हें मिलाय, चाहे बल भी सभी लगा लो ॥ ६ ॥

खाओ हिन्दू इसे सुजान, गाओ मथुरा जी का गान,
बनते शेष रहे मुलतान, जो अब वे भी भट बनवालो ॥ ७ ॥

खाओ वैदिक वीर विचार, पीछे करना जाति सुधार,
छोड़ो मांस न अध्वर भार, यह है छिद्र न मिटे संभालो ॥ ८ ॥

छुड़वाओ तुम मांसाहार, कर आक्षेपों की बौछार,
जिस से हो हठ का अवतार, अब मत प्रेम पूत को पालो ॥ ९ ॥

अङ्कुर देख दासता एक, देगी भरा टोकरा टेक,
जो मिल जावें छिद्र अनेक, फिर तो गड्डी भर मंगवालो ॥ १० ॥

बो दो अब सब बीज अमेल, घर २ उगे फूट की बेल,
अधिकारों का तीर उड़ेल, अच्छी खाद स्वार्थ की डालो ॥ ११ ॥

बस फिर सब ही इस को खांय, रोगी सहित रोग उड़ जांय,
हम ने ठीक कहा समझाय, मानो और सब को मनवालो ॥ १२ ॥

हम हैं दूर देश के भूत, शम को मारें सौ सौ जूत,
दम और भेद हमारे दूत, जब चाहो इन से बुलवालो ॥ १३ ॥

* प्रार्थना *

(श्री० गणेशदत्त शर्म्मा 'ध्रुव')

सुधि लो हरे ! हत भाग्य भाराक्रान्त भारत वर्ष की,
कीजे शमन सन्ताप स्वामिन् ! लाय सुघड़ी हर्ष की।
उबरे, अधोगति सिन्धु से, परतंत्रता बेड़ी कटे;
भाजन बने सुख शान्ति का विपदापदा रजनी मिटे। १ ॥
भोगे किसी भी भांति की मत यातना अब यह कभी,
विश्राम लें उन्नति विरोधी विघ्न बाधायें सभी।
बहु, बाल, वृद्ध विवाह पशु, कन्या, बधन की कुप्रथा,
नाना मतों की वृद्धि दुखदा घोर द्वेषानल तथा ॥ २ ॥
धारण करे प्राचीन मुनिजन वन्द्य वैदिक सभ्यता;
दुर्दिन भगाये दूर तजि आलस्य और असभ्यता।
अवकाश पावे वेगि दारुण दीनता के फन्द से;
भरदे हिमालय की गुफायें फिर तपोधन वृन्द से ॥ ३ ॥

वर्ण-सङ्कर किसे कहते हैं ?

(लेखक श्री पं० विश्वनाथ आर्योपदेशक)

आर्य जाति को वर्ण सङ्कर शब्द से ऐसी ही घृणा रही है, जैसे आजकल मुसलमानों को काफ़िर शब्द से है । अर्जुन ने श्री कृष्ण को युद्ध से अपने उपराम होने का एक हेतु यह भी बताया था कि इस युद्ध का परिणाम यह होगा कि:—

स्त्रीषुदुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्ण सङ्करः ।

दुष्ट स्त्रियों से वर्ण सङ्कर उत्पन्न होंगे । वास्तव में जिस जाति में वर्ण सङ्करों का बाहुल्य होजाता है । वह निर्बल निस्तेज तथा खण्ड २ होकर कुछ काल में ही नष्ट भ्रष्ट होजाती है । अत एव प्रत्येक स्वजाति तथा स्वधर्म के प्रेमी का यह एक कर्तव्य होजाता है कि वह प्रयत्न से इस रोग की रोक थाम करता रहे ।

वर्ण सङ्कर शब्द का अर्थ है "वर्णतः सङ्करः" वर्ण का मेल । किसी व्यक्ति में जब किसी वर्ण का निश्चय न होसके तो वह वर्ण सङ्कर कहलाता है । मनु जी ने वर्ण सङ्करता के तीन हेतु बताये हैं । यथा:—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्या वेदनेन च ।
स्वकर्मणाञ्च त्यागेन जायन्ते वर्ण सङ्करः ॥ १०१ ॥

अर्थ—वर्णों के व्यभिचार अर्थात् वर्णांतर सम्बन्ध अथवा स्त्री पुरुषों के व्यभिचार दोष और अवेद्यावेदन शास्त्र निषिद्ध विवाहों तथा वर्णों के अपने २ कर्म के त्याग देने से वर्ण सङ्कर उत्पन्न होते हैं । इन तीन प्रकार के पुरुषों के वर्ण का निश्चय नहीं होसकता । क्योंकि किसी एक वर्ण के गुण कर्म स्वभाव उन में दृष्टि-गोचर नहीं होते ॥

सदाचार का महत्व

उपर्युक्त तीन प्रकार के वर्ण सङ्करों में पहले दो प्रकार के अपने माता पिता के दोष से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार के अधर्म से उत्पन्न हुई सन्तान के वैदिक संस्कार क्या हो सकते हैं । दुराचार की सन्तान का झुकाव दुराचार की ओर ही होगा । ऐसी सन्तान देश, धर्म और जाति के लिये अत्यन्त हानिकारक होती है । उन के माता को राजा अथवा जाति की ओर से जितना भी दण्ड दिया जावे

थोड़ा है। परन्तु सन्तान का क्या दोष है ? यद्यपि अपने माता पिता के व्यभिचार दोष से उन में धार्मिक वृत्ति की अधिक संभावना नहीं की जा सकती, परन्तु यदि कोई उन में से धर्म की ओर प्रवृत्त हो तो उसकी सहायता न करना भी अन्याय होगा। अत एव यदि ऐसी सन्तान अपनी वर्ण सङ्करता को दूर करना चाहे तो अपने सदाचार के प्रताप से इस में सफलता प्राप्त कर सकती हैं। और इस विषय में उनकी सहायता करना धर्म है । प्राचीन समय में ऐसे वहुत से दृष्टान्त मिलते हैं । जिन में सत्यकाम का बहुत प्रसिद्ध है । जब वह विद्याध्ययनार्थ गुरु के पास गया तो उस ने इस का गोत्र पूछा । इस ने कहा मुझे ज्ञात नहीं मेरी माता जानती होगी । उस से पूछ कर कह सकूंगा। गुरु आज्ञा से सत्यकाम माता के पास आया और उस ने सारा वृत्तान्त सुना कर अपना गोत्र पूछा । तब माता ने जो बताया था। सत्य काम उसे गुरु के पास आकर इस तरह कहने लगाः—

सा मां प्रत्यब्रवीदह चरन्ती परि चारिणी यौवने त्वामालभे ।
साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि ।
जाबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि ॥ छांदोग्य०

अर्थ—मेरी माता ने यह उत्तर दिया है कि मैंने यौवन अवस्था में सेवा का काम करती हुई ने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तेरा क्या गोत्र है। केवल इतना जानती हूं कि मेरा नाम जावाला है और तेरा नाम सत्यकाम। इस से पाया जाता है कि सत्यकाम की माता का किसी पुरुष से नियम पूर्वक विवाह नहीं हुआ था। यदि ऐसा न होता तो उस को गोत्र बताने में क्या कठिनाई थी। इस अवस्था में सत्यकाम को वर्ण सङ्कर ही मानना पड़ेगा। परन्तु उस में धर्म के लिये सच्ची लग्न थी। सुसंगति से उसका मन इतना शुद्ध हो चुका था कि उस ने सत्य २ कह दिया। तब गुरु ने कहा—

त ँ होवा च नैतद ब्राह्मणो वक्तुमर्हति
समिध ँ सौम्य हरेति ॥

अर्थ—गुरु ने सत्यकाम से कहा। कि इस प्रकार सत्य वात ब्राह्मण ही कह सकता है। हे सौमा (उपदेश ग्रहणार्थ) समिधा लेआ।

इस कथा से यह सर्वथा स्पष्ट है। कि जन्म से वर्ण सङ्कर अपने सदाचार

तथा तप से अपने कलङ्क को दूर करके ब्राह्मण जैसे उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकते हैं।

अब अवेधा वेदन का भी एक दृष्टान्त रखना है। धर्म शास्त्र में अपने वर्ण में ही पिता के गोत्र तथा माता के पिण्ड को छोड़ कर विवाह करना लिखा है। मनु जी ने अनुलोम विवाह अर्थात् उच्च वर्ण के पुरुष के निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह को भी उचित ही समझा है। और इस के शतशः दृष्टान्त इतिहास में मिलते हैं। परन्तु प्रतिलोम विवाह अर्थात् निकृष्ट वर्ण के पुरुष के उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह की सब धर्मशास्त्रों ने निन्दा की है। और ऐसे विवाहों की सन्तान को वर्णसंकर माना है। यथा—

ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्या द्वैदेहिकस्तथा।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मवहिष्कृतः ॥ याज्ञ०

(अर्थ) ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न सूत वैश्य से वैदेहिक शूद्र से चाण्डाल नाम का सब धर्मों से बाहर किया गया वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है।

परन्तु इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी सन्तान भी सदाचार तथा तप के प्रभाव से उच्च वर्ण में गिनी गई। यादवों के क्षत्रिय वंश की कथा महाभारत तथा भागवतादि में इस प्रकार है।

नाहुषाय सुतां दत्वा सह शर्मिष्ठयो श्मना।
तमाह राजन् शर्मिष्ठा माधास्तल्पेन कर्हिंचित् ॥भागवत ९-१८-३०
यदुंतुर्वसुं चैव देव यानी व्यजायत।
दुह्युश्चानुश्च पुरुं शर्मिष्ठा वार्ष पर्वणी ॥
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्व पापैः प्रमुच्यते।
यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ॥ ९–२३–१९ ॥

अर्थ—शुक्राचार्य ब्राह्मण ने अपनी देवयानी नाम की कन्या को क्षत्रिय राजा ययाति से विवाह दिया। और वृषपर्वा राजा की कन्या को जिस ने देवयानी का अनादर किया था दण्डार्थ दासी के रूप में दिया। शुक्र ने राजा को बाधित किया कि शर्मिष्ठा से रतिकार्य न करे। ययाति के देवयानी ब्राह्मणी से यदु और तुर्वसु नाम के दो लड़के तथा शर्मिष्ठा से द्रुह्य अनु और पुरु नाम के तीन

लड़के उत्पन्न हुए। उन में से यदु यादववंश के क्षत्रियों का पूर्वज हुआ। इस वंश की कथा से पुरुष पापों से छूट जाता है। क्योंकि इस में कृष्ण अवतार हुए॥

देखिए! धर्म शास्त्र के अनुसार यादव वंश सूत नाम का वर्ण सङ्कर वंश होना चाहिये था। परन्तु वह उच्च क्षत्रिय वंश कहलाता है। और पौराणिक सिद्धान्त के अनुकूल इस में कृष्ण ने अवतार ले कर मानों उस के शुद्ध वंश होने की मुहर कर दी।

इन दो दृष्टान्तों से पाठकों को निश्चय हो गया होगा कि प्राचीन समय में वर्ण सङ्कर सन्तान को भी उन्नति करने में कोई बाधा नहीं थी। अतएव अब भी नहीं होनी चाहिये। परन्तु तृतीय प्रकार के वर्णसंकर जो मनु जी ने स्वकर्म त्याग के कारण बतलाये हैं वह वस्तुतः वर्ण सङ्कर हैं। वह जब तक स्वकर्म में दृढ़ न हों अन्य किसी उपाय से इस कलङ्क से छूट नहीं सकते। ऐसे स्वकर्म त्याग से उत्पन्न वर्णसंकरों का श्री कृष्ण जी ने भी गीता में उल्लेख किया है। यथा—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ गीता

अर्थ—हे अर्जुन! यदि मैं स्वकर्म को छोड़ दूं तो मेरे पीछे सब लोग स्वकर्म त्याग से वर्ण संकर बन नष्ट भ्रष्ट हो जावेंगे।

क्या नियोग से उत्पन्न सन्तान वर्ण संकर होती है?

आज कल हमारे पौराणिक भाई धर्म शास्त्र से विमुख हो कर मस्तिष्क को ताला लगा पक्षपात और हठ धर्मी से नियोग की सन्तान को वर्ण सङ्कर का नाम देते हैं। और इस में दो प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। प्रथम यह कि मनु में लिखा है कि राजा वेन ने नियोग की प्रथा चला कर वर्ण सङ्करता फैलाई। द्वितीय पराशर स्मृति का यह प्रमाण है—

तद्वत्परस्त्रिया पुत्रौ द्वौ सुतौ कुण्ड गोलकौ।
पत्यौ जीवति कुंडस्तु मृते भर्तरि गोलकः॥ पराशर स्मृति ४-२३

अर्थ—पर स्त्री में किसी पुरुष से उस के पति के जीते हुए कुण्ड और मृत्यु पर गोलक नाम के वर्ण सङ्कर पुत्र उत्पन्न होते हैं। नियोग चूंकि पर स्त्री से होता है, अतएव नियोगज सन्तान भी वर्ण सङ्कर होगी।

समीक्षाः—यदि नियोगज सन्तान को वर्णसंकर मानोगे तो प्राचीन कौरव-

पाण्डवादि सब उच्च कुल इसी गणना में आजायेंगे। पराशर का कथन नियोग के अतिरिक्त पर स्त्री से व्यभिचार सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति के लिये है। यथा धर्म शास्त्र संगृहकर्ता ने इस के अर्थ में लिखा है। वेन राजा वाले श्लोकों को आर्य्य के किसी गताङ्क में हम मिलावटी सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु आज हम इस विषय में मनु के कुछ और प्रमाण उपस्थित करते हैं जिन से स्पष्ट सिद्ध हो जावेगा कि नियोगज सन्तान वर्ण सङ्कर नहीं होती। साथ ही वेन वाले श्लोकों की प्रक्षिप्तता भी स्वयं सिद्ध हो जावेगी ॥

अनियुक्ता सुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जार जातक कामजौ ॥ मनु ९-१४३
नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिकृथं पतितोत्पादितोहि सः ॥ १४४
याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्।
तं कामज रिकृथीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७

अर्थ—जो स्त्री विना नियोग के पुत्र उत्पन्न करती है, अथवा सन्तान होने पर देवर से सन्तान उत्पन्न करती है वह दोनों पुत्र जारज तथा कामज कहलाते हैं। इन को भाग नहीं मिलना चाहिये। १४३। नियुक्त स्त्री में भी विधि का उल्लंघन कर के जो सन्तति उत्पन्न होती है वह पतितोत्पादित भी पितृ भाग की भागी नहीं होती। १४४। जो स्त्री विना नियोग के देवर अथवा अन्य से सन्तान उत्पन्न करती है वह कामज वृथोत्पन्न पिता के रिक्थ की भागी नहीं होती।

इन श्लोकों में मनु जी ने स्पष्ट रूप से बिना नियोग अथवा नियोग की विधि का उल्लंघन करके उत्पन्न की हुई सन्तति को ही जारज, कामज आदि वर्ण-संकर तथा अरिकृथीय सन्तान माना है और—

सोऽसौ क्षेत्रजौ पुत्रौ पितृ रिकृथस्य भागिनौ। मनु ९-१६५

औरस तथा क्षेत्रज (नियोगज) पुत्र पिता के धन के भागी हैं। यह कह कर यहां नियोग की सन्तान को वर्ण संकर कहने वालों का मुख पहले ही बन्द कर दिया हुआ है। इस से नियोग की सन्तति को वर्ण संकर कहने वालों को कुछ लज्जा आनी चाहिये।

हमने उपर्युक्त धर्मशास्त्र तथा इतिहास के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि वर्ण संकरता के कारण व्यभिचार दोष अवेद्यावेदन तथा स्वकर्म त्याग हैं। इस में प्रथम के दो सदाचार तथा तप से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु स्वकर्म त्यागी का कोई ठिकाना नहीं। यदि इस वर्ण संकरता के तीसरे नियम को चरितार्थ करने लगें तो आज कल के प्राय सभी वर्णाभिमानी वर्ण सङ्कर ही सिद्ध होंगे। हम शोक से देख रहे हैं कि पौराणिक प्लेट फार्म पर वर्ण संकरता की दुहाई दे कर वर्ण के झूठे अभिमान के विरुद्ध आर्य समाज में जो अन्दोलन हो रहा है, तथा जातिपाति के झूठे बन्धनों को तोड़ कर गुण कर्म स्वभावानुसार सच्ची वर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए जो यत्न किया जा रहा है इस का विरोध किया जाता है। परन्तु जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने पर जो स्वकर्म त्याग से वर्ण संकरता उत्पन्न हो गई है उस की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हमारे पौराणिक भाई आर्य समाज पर आक्षेप करनेकी बजाय अपने घर की वर्णसंकरता को दूर करें।स्मरण रखना चाहिये कि जब तक शास्त्रोक्त गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त को नहीं माना जावेगा यह वर्ण सङ्करता कभी दूर नहीं हो सकेगी ॥

क्रान्ति

(श्री० पण्डित जनमेजय विद्यालंकार, कानपुर)

बहुत विचार करने पर भी पहिले यह नहीं मालूम होता था कि इस्लाम, कुरान, मसजिद या मुहम्मद के नाम पर क्यों हज़ारों मुसल्मान एकत्रित होकर हिन्दुओं के विरुद्ध मरने मारने को तैयार हो जाते हैं तथा मन्दिरों शिवालयों को तोड़ा जाता देखते हुए भी क्यों हिन्दू लोग जमा होकर अपने देवस्थानों की रक्षा नहीं करते। ज़हां मुसल्मानों को यह पढ़ाया जाता है कि इस्लाम की बेइज्जती देखने से मर जाना अच्छा है वहां हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में भी ऐसी बातें भरी पड़ी हैं कि धर्म की तबाही और अधर्म की उन्नति को जो खड़ा २ देखा करता है वह मुर्दे के समान है। परन्तु अनुभव इससे उलटा क्यों सिद्ध होता है? क्या कारण है कि गत दो तीन वर्षों में इस्लाम का प्रश्न आने पर मुसल्मानों ने मरना मारना स्वीकार कर लिया परन्तु हिन्दूधर्म के वास्ते गत दो तीन वर्षों के झगड़ों

में किसी भी हिन्दू को मरने के लिये तैयार न पाया। आख़िर क्या वजह है कि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की आज्ञा से गुरु के बाग में सैकड़ों बहादुर सिक्ख शहीद हो गये परन्तु वर्तमान हिन्दूधर्म के लिए मरने को तैयार लोगों की संख्या प्राय नहीं के ही बराबर है। महाशय मुहम्मदअली तो कांग्रेस के सभापति की हैसियत से आधे अछूतों (भूल से अछूत समझने वालों) को हड़प कर जाने की सलाह मुसलमानों को देते हैं परन्तु अनेक राजनैतिक हिन्दू नेता क्यों शुद्धि और संगठन के कट्टर विरोधी बन गये हैं। यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर सोचना ही पड़ेगा, क्योंकि इन प्रश्नों को हल किए बिना हिन्दू जाति इस भीषण कशमकश वाले जीवन संग्राम में चिरकाल तक नहीं ठहर सकती। "हिन्दुओं में धर्म प्रेम नहीं है" "हिन्दू लोग डरपोक और कमज़ोर हैं" "हिन्दू नेतागण धर्मद्रोही व जातिद्रोही हैं" इस प्रकार की तमाम बातें कह देने ही से हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। हमको असली कारण को जानना ही पड़ेगा कि क्यों हिन्दू जनता तथा हिन्दू नेतागण भी हिन्दू धर्म के लिये—मरना तो दूर रहा—किसी प्रकार का कष्ट तक उठाने को भी तैयार नहीं होते।

अभी थोड़े दिन हुए हमें संयुक्त प्रान्त के एक बहुत बड़े सुप्रतिष्ठित राजनैतिक नेता महाशय से, जोकि हिन्दू थे, मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। जब उनसे इसी विषय पर बातचीत छिड़ी तो कुछ देर के पश्चात् वे लम्बी सांस लेकर बड़े दुःख से यह बोले कि "भाई! तुम चाहे कुछ भी कहो परन्तु आज कल का जो हिन्दू धर्म है उसमें तो कोई भलामानस सुख से रह नहीं सकता। जब तक हिन्दूमहासभा अपने प्रस्ताव द्वारा, और हिन्दू जनता अपने आचरण द्वारा यह सिद्ध नहीं कर देती कि सब हिन्दू भाई—मेहतर से ब्राह्मण तक—बराबर हैं, कोई भी छोटा, या बड़ा नहीं है, तथा जब तक हिन्दु जाति से छूत छात दूर नहीं होती, और जब तक मेहतर से ब्राह्मण तक सबको एक साथ रहने,एक साथ पढ़ने,एक साथ खाने पीने आदि के सब अधिकार पूरी तरह से प्राप्त नहीं हो जाते, तब तक कोई भी समझदार आदमी हिन्दु धर्म के लिये कुछ भी कष्ट कभी नहीं उठा सकता। कम से कम मैं तो वर्तमान हिन्दू धर्म के लिये अपनी जान नहीं दे सकता"।

कितनी सच्ची स्पष्ट बेधड़क और निष्कपट उक्ति है! एक सच्चे हृदय की सच्ची आवाज़ है। एक पवित्रात्मा का हार्दिक उद्गार है। परन्तु जब वर्तमान हिन्दू धर्म के ठेकेदार बनने वाले धूर्त पण्डे पुरोहितों का ध्यान भी कभी ऐसी

उक्तियों पर जावे तब न ! परन्तु जब तक उनके खाने के लिये हलवा, पूड़ी, घी दूध पहुंचता रहेगा तब तक उनको इन बातों से क्या मतलब कि हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए कोई भी व्यक्ति कुछ करता है कि नहीं। सच तो यह है कि आज कल का हिन्दू धर्म न तो हिन्दू है और न धर्म ही। कई सौ साल हुए जब कि किसी नास्तिक विद्वान् ने कहा था कि हिन्दूधर्म "बुद्धि पौरुष हीनानां जीविका" अर्थात् बेवकूफ़ और कमज़ोर आदमियों की रोटी कमाने का एक तरीका मात्र है। हमें नहीं मालूम कि उस समय का हिन्दूधर्म कैसा था, परन्तु आज कल का हिन्दूधर्म तो वास्तव में ही पेटुओं निकम्मों ढोंगियों और मिथ्या-भिमानी धूर्तों के लिए रोटी कमाने का एक तरीका मात्र ही है और कुछ नहीं। लोगों को बहका रक्खा है कि हमें महाराज, पण्डित, गुरू जी कहा करो चाहे हम घर घर रोटी बनाते फिरते हों, और चाहे हम चपरासी हों। हमारे पैर छुआ करो चाहे हम निरक्षर मूर्ख डरपोक भी हों। परन्तु चमार भङ्गी को मत छूना चाहे वह हम से हरेक ही बात में बढ़ा चढ़ा क्यों न हो। हमें दान दो, हमें खिलाओ, हम ब्राह्मण हैं, हमारी छुई हुई हरेक वस्तु पवित्र है तथा अन्य लोग छोटी जात के हैं, फलाने के हाथ का मत खाओ, फलानी बिरादरी वालों को मत छुओ, फलानों को लिखने पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है, ऐसी ऐसी अनेक बेहूदा बातें बना बना कर कुछ थोड़े से स्वार्थी लोगों ने तमाम दुनियां में हिंदूधर्म की मट्टी खराब करदी है। सच मुच ही कोई समझदार आदमी आज कल के हिन्दूधर्म के लिए अपने प्राण नहीं दे सकता। आजकल के हिन्दूधर्म को सिर्फ वही लोग प्रतिष्ठा की नजर से देख सकते हैं जिन को इस की ओट में किसी प्रकार का लाभ कमाने का मौका है। जनता के दिल में ऐसे हिन्दूधर्म के लिए प्रतिष्ठा कभी नहीं हो सकती जिस के अनुयायी होने पर उन्हें एक खास छोटे से जनसमुदाय के प्रति जन्मभर के लिए गुलाम बन जाना पड़ता हो। इस बीसवीं सदी में जनता योग्यता और समानता को पूजने वाली होगई है। अतः जो धर्म जनता को किसी खास जनसमुदाय की गुलामी करना सिखायेगा उस धर्म को जनता कभी भी प्रतिष्ठा की नज़र से नहीं देख सकती। फिर उस धर्म के लिए जान देना तो बहुत ही दूर की बात है।

इसलिए हिन्दू नेता सचमुच हिन्दू धर्म को संसार में यदि प्रतिष्ठित धर्म बनाना चाहते हैं तो इस धर्म की मौजूदा हालत को उन्हें बिलकुल ही बदल

देना होगा। एक बहुत बड़ी क्रान्ति की आवश्यकता है जो इस धर्म में शीघ्र होनी चाहिए। एक बहुत ज़ोरदार हलचल और बेढब उथल पुथल की आवश्यकता है ताकि हिन्दूधर्म में जो बातें कूड़ा करकट और घास फूंस की तरह व्यर्थ की आगई हैं वे सब नष्ट भ्रष्ट होकर ख़ाक में मिल जाएं। ताकि यह धर्म अपने असली रूप "वैदिक धर्म" की शकल में ही जनता के सामने आवे। यह निश्चय है कि उस वैदिक धर्म के लिए समझदार लोग अवश्य ही सब प्रकार के कष्ट उठाने और अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार होंगे। उस वैदिक धर्म में ढोंगी, निकम्मे, पेटू और तिलकधारियों के चुंगल से निकलकर जनता अपना भला बुरा स्वयं सोचने की आज़ादी हासिल करेगी। उस समय जनता की बागडोर सच्चे ब्राह्मणों—जन्म के ब्राह्मण नहीं किन्तु गुणकर्मानुसार बने हुए महात्मा त्यागी महानुभावों—के हाथ में होगी। उस क्रान्ति के बाद कोई अछूत न होगा, सब बराबर हो जावेंगे। भोजन, निवास, विद्या, शिक्षा आदि में सब को समानता-बिलकुल समानता-होगी। कोई भी व्यक्ति बिना विशेष योग्यता प्राप्त किए ही, केवल जन्म के आधार पर, ब्राह्मण, पुरोहित, पण्डित या महन्त आदि कभी न बन सकेगा। परन्तु योग्यता प्राप्त करने पर हरेक मनुष्य उच्च से उच्च स्थान पा सकेगा। वह आर्य धर्म, वह वेदोक्त, मुक्तिप्रद, सच्चा, कल्याणकारी, समानतामय, उत्तम आर्यधर्म तभी दिखाई देगा जब वर्तमान हिन्दूधर्म में बड़ी भारी सामाजिक क्रान्ति हो जावे। हरेक बालक, नवयुवक, वृद्ध, स्त्री पुरुष सबका कर्तव्य होना चाहिए कि वह इस उथल पुथल और क्रान्ति के करने में यथाशक्ति अधिक से अधिक भाग लेकर पुण्य के भागी बनें॥

चितावनी।

(लेखक कविवर्य श्री पं० भगवानदीन जी मिश्र "दीन कवि")

ऐसो फेरि समय नहिं रहि है।

आकर राज-समाज-साज-सुख काज कछू नहिं ऐहै॥ ध्रुव॥
तजि दैहैं वनिता, सुत, बान्धव अङ्ग न सङ्ग लगै है।
कठिन कराल काल वश ह्वै खल! तू पल में छलि जै है॥ १॥
होत न कन्त१ वसन्त१ कन्त२ बिन कौन बसन्त२ बनै है।
जो करिहै सनेह प्रियतम-पद "दीन" क्यों तरि जै है॥ २॥

१ कन्त-सुन्दर। २ कन्त-प्रियतम। १ वसन्त-वसन्त महोत्सव। २ वसन्त-चिकनी चुपड़ी बातें।

"जातपात तोड़क मण्डल"

[ले० श्री वृहद्गुरु संयमी, साहित्याचार्य, आर्योपदेशक]

आर्य्यसमाजी तो उक्त मण्डल को वर्ण व्यवस्थान्तर्गत मान कर सन्तुष्ट हैं, परन्तु मनचले पौराणिक भाईयों के हृदयों में मण्डल का नाम कांटे के समान खटक रहा है। मैं नहीं समझता, कि इतनी बेसमझी क्यों है जब कि प्राचीन काल में भी मण्डल का काम बड़े वेग से हो रहा था। आप के समस्त पुराण साक्षीभूत हैं। ज़रा विचारिये, (१) शुक्राचार्य्य ब्राह्मण ने अपना विवाह राजा प्रियव्रत क्षत्रिय की उर्जस्वती नाम्नी कन्या से किया, (२) शृङ्गी ब्राह्मण ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी क्षत्री की बहिन शान्ता से विवाह किया (३) यमदग्नि ब्राह्मण ने सूर्य वंशी राजा रेणुका की कन्या से विवाह किया, ऋचीक ब्राह्मण ने राजा गाधी क्षत्रिय की कन्या सत्यवती से विवाह किया, ( ) पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से विवाह किया, ६) अगस्त ब्राह्मण ने क्षत्रिया मुद्रालोपा से विवाह किया, ७) रयिक ब्राह्मण ने जान श्रुति क्षत्रिया राजा की कन्या से विवाह किया, (८) सौभरि ब्राह्मण ने मान्धाता क्षत्रिय की कन्याओं से विवाह किया! इत्यादि। इन उदाहरणों में ब्राह्मणों ने क्षत्रिय कन्याओं से विवाह किया है। अब देखिये (१) राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया, (२) राजा नीप क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की कन्या कृत्वी से विवाह किया, (३) राजा ययाति क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की पुत्रि देवयानी से विवाह किया, इत्यादि। यहां क्षत्रियों ने ब्राह्मण कन्याओं के साथ विवाह किया है! यह सुतरां स्पष्ट हो गया। अब ज़रा आगे बढ़िये, ब्राह्मण दीर्घतमा और शूद्र कन्या के संबन्ध से कक्षीवान् पैदा हुए, और कक्षीवान् ने क्षत्रिय राजा की पुत्री से विवाह किया। अब आप ही विचारें कि कक्षीवान् को हम ब्राह्मण कहें या शूद्र? यदि ब्राह्मण कहें, तो वर्तमान शब्दों में जातपात तोड़ के इस ने क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। और अगर शूद्र कहें? तो सचमुच क्षत्रियों ने अपनी पुत्रियों का शूद्रों के साथ संबन्ध कर के हमारे मण्डल का चिरस्थायी प्रचार किया है! और प्रमत्ता ब्राह्मणी का संबन्ध चाण्डाल नाई के साथ हुआ, और मातङ्ग की उत्पत्ति हुई। अब आप

मातंग को ब्राह्मण कहें या नाई कहें, यह आप की इच्छा परन्तु सभ्य जगत् मातंग को ब्राह्मणों से भी उच्च ऋषि मानता है। कर्दम क्षत्रिय की कन्या अरुन्धती वशिष्ठ (वेश्या पुत्र) की शादी हुई, इस संबन्ध से शक्ति नामक पुत्र पैदा हुआ, जिस का विवाह अदृश्यन्ती से हुआ, इस संबन्ध से पराशर की उत्पत्ति हुई! अब भला बतलाओ हम शक्ति को क्षत्रिय कहें या वर्णसंकर? यदि क्षत्रिय कहें, तो साफ़ तौर से जात पात को तोड़ कर शक्ति ने चाण्डालिनी कन्या अदृश्यन्ती से विवाह किया, और अगर अदृश्यन्ती को चाण्डाल कन्या नहीं मानते तो फिर क्षत्रिय शक्ति और अदृश्यन्ती के सुपुत्र पराशर को चाण्डाल क्यों बताते हो?

और यदि शक्ति को वर्णसंकर मानते हो, तो तपस्या तथा विज्ञान से ब्राह्मण बने हुए वशिष्ठ और क्षत्रिया अरुन्धती के सुपुत्र को वर्ण संकर के नाम से पुकारना आप का ही अपमान है। अपमान परिहार पक्ष में आप शक्ति को ब्राह्मण या क्षत्रिय कहेंगे, अब तो और भी जात पात तोड़क मण्डल की सिद्धि हो गई, क्योंकि ब्राह्मण या क्षत्रिय शक्ति ने अदृश्यन्ती चाण्डाल कन्या से शादी की है।

मैंने अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया है, कि जात पात तोड़क मण्डल का कार्य प्राचीन काल में पूर्ण यौवन पर था, और गुण, कर्म, स्वभावानुसार तथा नीत्यनुसार होना चाहिये। हां इतना संशोधन अवश्य चाहता हूं, कि इस का नाम "जात पात तोड़क मण्डल" न रख कर "वर्ण विभेदक मण्डल अथवा वर्ण विद्रावक मण्डल" होना चाहिये।

पौराणिक भाइयो! जब तक उक्त उदाहरण संसार में उपस्थित हैं, तब तक आप इस के विरोध में आन्दोलन नहीं कर सकते। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि संसार परोक्ष में वर्ण विभेदक संबन्ध का प्रमाण बना हुआ है। और प्रत्यक्ष में इस का विरोधी है। मुझे पूर्णाशा है कि समय आप को ऐसे संबन्ध से सम्मत कर देगा, जैसे विधवोद्वाह, स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार, आदि से सहमत कर दिया। हिन्दू जाति (आर्य जाति) की अवस्था वर्तमान में डांवाडोल है। भला इसी में है कि आप इस मण्डल के प्रत्यक्ष में हामी बनें, अन्यथा समय ने आप के मुख से "हां" कहलवा दिया, तो इस में आप की वीरता नहीं। मुझे आशा है, कि आप हिन्दु जाति को सुन्दर, संगठित, और सर्व शिरोमणि बनाने के लिये ऐसे वर्ण विभेदक संबन्ध को अपनाने का प्रयत्न करेंगे॥

'स्वर्ग की घड़ी'
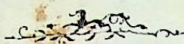
[ले० — दर्शक]

(१)

ऊर्मिला का विवाह करने को कर दिया गया। बलदेव आए, डोला ले गए परन्तु उन्हें तो दूसरे दिन विदेश जाना था और पत्नी को साथ रखने की संभावना न थी। उन के पिता का धन्धा भी विदेश ही में था। वह भी सपरिवार उन के साथ गए। श्वसुर ने भी घर विदेश ही में बनाया था। यह वहां नौकर थे परन्तु इन की छुट्टी लंबी थी। यह रह गए। ऊर्मिला इन की इकली सन्तान थी समधी को समझा बुझा कर उसे भी अपने पास रख लिया।

ऊर्मिला के पिता को इंडिया के कार्य रोकते गए। एक के पीछे दूसरी, दूसरी के पीछे तीसरी आवश्यकता आती गई यह अपना अवकाश बढ़ाते चले गए। यहां तक कि चार वर्ष इन्हें भारत में रहते हो गए। इस के पीछे यह आफ्रिका को चले और ऊर्मिला को साथ ले गए।

(२)

इस समय तक बलदेव एक कमाऊ व्यापारी बन चुका था। रूई के व्यापार में उस ने अच्छा नाम पैदा किया था। एक कार्यालय का व्यवस्थापक और वहां बड़े अमन चैन से रहता था। ऊर्मिला के आफ्रिका पहुंचने पर उस ने उस का और उस के परिवार का सज धज से स्वागत किया।

ऊर्मिला ने बहुत शीघ्र पति गृह को जा संभाला। सच पूछो तो विवाह अब हुआ था। वह भी कब तक? एक दिन एक रात पति पत्नी इकट्ठे रहे, दूसरे दिन बलदेव को मैलेरिया हुआ। ऊर्मिला ने रात दिन जाग २ कर सेवा की। मैलेरिया काला ज्वर बन गया यहां तक की ठीक चार मास ज्वरित रह कर बलदेव ने प्राण देदिये। ऊर्मिला का पतिलोक में प्रवेश वास्तव में वैधव्य-लोक में प्रवेश था।

अब वह ससुराल में रहने लगी। ससुर आते तो घूंघट कर लेती। देवर आवे तो घूंघट कर लेती। कोई भी पुरुष आता, घूंघट कर लेती। भला

आर्यों के घर में घूंघट क्या? ऊर्मिला का पुरुष-संसार अब समाप्त हो चुका था। वह उस पर दृष्टि न डालना चाहती थी।

पांच मास पश्चात् ऊर्मिला के लड़की हुई। वह उस के मन परचाव का अच्छा साधन थी। ऊर्मिला दिन रात उस के साथ खेलती रहती। उसकी सास उसे इस खिलौने में रत देख मन ही मन खुश होती।

(३)

पिता माता को ममता ने ज़ोर दिया। ऊर्मिला पुत्री सहित मायके में आ गई। लड़की को उस की मां ने संभाल लिया। यहां घूंघट का क्या काम? बड़े छोटे उसे अपनी पुत्री समझते थे। वह बिना संकोच सब से अपने कौमार-काल की तरह हिल मिल गई। उसे स्वयं यह भूल गया कि वह एक लड़की की मां है। वह और उस की लड़की अब मानो उसकी मां की सहोदर लड़कियां थीं। उसका भोला भाला बचपन कोई दिन में फिर लौट आया।

पिता ने सोचा था समय काटना कठिन होगा। उसे एक अलग कमरा दे दिया और उस में एक अच्छा पुस्तकालय लगा दिया। एक सितार लादी और एक गानाध्यापक नियत किया जो ऊर्मिला की माता का साथ बैठ कर ऊर्मिला को सितार सिखलाता।

पहिले कुछ रोज़ प्रभु-भक्ति के भजन चलते रहे। जब सूक्ष्म और संकीर्ण रागणियां चलीं तो प्रेम की गीतियों के बिना काम न चल सक्ता था। वही गीतियां ही तो गन्धर्वाचार्यों ने स्वर और ताल के यन्त्रों में से निकाल छोड़ी थीं। नवीन गीतियां न उस प्रकार की बनती ही हैं, न गान विद्या विशारद उन को लय आदि की सान चढ़ाने में उतना कष्ट उठाते हैं। आज कल के कवि गायक नहीं, और गायक कवि नहीं। वेदान्त के अन्ध और लूले का दृष्टान्त इन्हीं पर घटता है। लूला अन्धे की पीठ पर सवार होने में नहीं आता।

ऊर्मिला का परिवार ऐसे शुष्क आर्य समाजियों का न था जो प्रेम का नाम सुनते ही नाक भौं चढ़ा लेते। वह प्रेम को एक पवित्र वेदना मानते थे जो आत्मा के उत्कर्ष का कारण होती है। ऊर्मिला को यह गीत बहुत ही प्यारा हो गया:—

डाल न गल में माल, सखी साँवर को।
बाँह गले में डाल, सखी साँवर को॥

आँखे तरस रहीं दर्शन को ।
चेत रही निशि दिन चितवन को ।
भाल भाल दिशि भाल, सखी साँवर की ॥

(४)

ऊर्मिला के कमरे में एक बड़ा दर्पण लटकता था । साधारण बनाव सिंगार की भी मनाई न थी । यौवन दिन प्रतिदिन विकसित होरहा था । एक दिन बाल कन्धों पर डाले दर्पण के आगे खड़ी थी । दृष्टि अपने गोरे गुलाबी गालों पर गई, श्वेत गले पर गई, उभरी छाती पर गई, सारे शरीर की उठान पर गई । मुख से ठंडी सांस निकली । यह रूपराशि हवा में उड़ जाने के लिये है ? इस गले के लिये बाहु नहीं बने ? किसी भुज-पाश में इस कटि को लचकना नहीं तो इसे लचकीलापन दिया क्यों गया है ?

सितार उठाई और गाने बैठीः—

डाल न गल में माल, सखी साँवर की ।
बांह गले में डाल, सखी साँवर की ॥

उर्मिला की उस समय की चेष्टाएं, अंग-भंगियां अत्यन्त आतुर, अत्यन्त विह्वल, अत्यन्त वेदनाजनक, अत्यन्त मनोहारक थीं । और किसी का मन रीझा या न रीझा, ऊर्मिला ने उन भाव भंगियों की प्रतिकृति दर्पण में देखी और स्वयं उन पर आसक्त हो गई । उसे आज अपने गुप्त सौंदर्य का ज्ञान हुआ था, अपने अमोघ मोहन-मन्त्र का पता लगा था ।

पिता ने गीत के आध्यात्मिक अर्थ बताए "पुत्रि ! यहां सांवर परमात्मा हैं । उनका बाहु उनका व्यापक प्रेमपाश है । वेद ने ही उन्हें सहस्रबाहु कहा है । इन बाहुओं का आकार कविकल्पित है ।" इत्यादि । परन्तु ऊर्मिला तो आज अनङ्ग प्रभु की नहीं, साकार अङ्गवान् प्रेम भगवान् की की पुजारिन हो रही थी । उस की रोमाञ्चित कटिवल्ली साकार है तो उसे आश्रय देने को भी साकार रोमाञ्चित बाहुवेल चाहिये ।

उर्मिला अब से अधिक बन ठन के रहने लगी । माता पिता को इस से आश्चर्य होने के स्थान में आनन्द था । उन्होंने अंग्रेज़ी में पढ़ा था, सौन्दर्य स्थायि प्रसाद है ।

A thing of beauty is a joy for ever.

उन्होंने अपनी लड़की को विधवा कभी समझा ही न था। और फिर विधवा भी सदा रोती धोती रहे, यह कहां का न्याय, कहां का सामाजिक सदाचार है? यदि ऊर्मिला की इच्छा हो तो उन्हें पुनर्विवाह में भी कोई आनाकानी न थी। वह समाज-सुधार का केवल नाम ही न रटते थे, प्रत्येक नियम को क्रिया में लाने को तैयार थे।

(५)

कमलनयन एक नवयुवक था। उस की स्त्री का देहान्त हुए वर्षभर होगया था। वह गुरुकुल का स्नातक था, धर्म से पूरा अभिज्ञ। उस ने प्रण किया था कि फिर विवाह नहीं करना। वह अपना जीवन आर्यसमाज के अर्पण कर चुका था। व्याख्याता उत्तम श्रेणी का, वक्ता अद्वितीय, सदाचारी, सद्विचारी और फिर सुरूप। उस की बात २ पर लोगों को विश्वास था। पुत्री पाठशाला में पग न धरता मृतस्त्रीक पुरुष का यह काम नहीं। लोगों के घर में जाना पत्नी के देहान्त-दिवस से बन्द कर दिया था।

ऊर्मिला के पिता समाज के प्रधान थे और उन से इस का विशेष प्रेम था। कमल का उन के हां आव जाव था परन्तु ऊर्मिला से वह सदा बचता था। ऊर्मिला के पिता स्वयं भी इस विषय में पूरे सावधान थे।

एक दिन ऊर्मिला की मां बैठक ही में आ गई। वहीं दूध आदि मँगाया गया और वह लाई ऊर्मिला। दोपहर ढल रही थी, कमलनयन ने जाने की आज्ञा चाही।

ऊर्मिला के पिता ने ठहरने का आग्रह किया और कहाः—पण्डितजी! आप को ऊर्मिला का गाना सुनवाएं?

कमलनयन जाने को और उत्सुक होगया परन्तु हृदय में न जाने, क्या गुद्गुदी सी हुई, थोड़ी देर के लिये बैठ गया। कमलनयन को गान सुनने की चाह थी परन्तु विमला (उस की मृतपत्नी का नाम था) के देहान्त के अनन्तर उस ने राग का नाम नहीं लिया। आज गान की बात सुनी तो विमला आँखों के आगे आ गई। आँखें झुकाकर मौन धारे बैठ रहा।

ऊर्मिला सितार लाई और गाने लगीः—

डाल न गल में माल सखी सांवर की।

पिताः—बाहु तथा माल आदि यहां औपचारिक हैं। कवि का अभिप्राय प्रभु-भक्ति से है। शुद्ध निराकार की उपासना कही है।

इन वृद्ध महात्मा को क्या पता कि युवावस्था साकार की उपासक होती है, निराकार का ध्यान बुढ़ापे में आता है जब आँखें आकार-प्रत्यय से हार चुकती हैं।

कमलनयन ने यही गीत विमला से सुना था। समाप्त होते ही रो दिया। और फिर महीनों ऊर्मिला के घर में पाँव नहीं रखा।

(६)

ऊर्मिला के पिता के अनुरोध पर भी जब कमलनयन ने इन के घर पधारना स्वीकार न किया तो यह उसके पास कुछ समय स्वयं बैठ रहे।

पिता—भला इतना तो बताइये कि आप उस दिन रो क्यों पड़े थे?

कमल - बस यों ही।

पिता—तो भी। क्या वह गाना अच्छा नहीं लगा? या आप का विचार है कि इस प्रकार के प्रेम के गीत लड़कियों को गाने न देने चाहियें? यदि ऐसा हो तो हम ऊर्मिला का गाना आज ही से बन्द करा देंगे।

कमल—(बहुत समय चुप रहकर) प्रधान जी! आप मुझे पितृवत् हैं। आप से परदा क्या? न केवल वह गीति ही विमला की थी, किन्तु वही लय, वही राग, वही स्वर-भंगी, वही तान, वही लपेट सुनते ही मुझे विमला की उपस्थिति का भ्रम हुआ। आँख उठाकर देखा तो बहिन ऊर्मिला थी। विवश रो दिया। तब से विकल रहता हूं। विमला की स्मृति अब पीछा नहीं छोड़ती! आप के घर अब क्या आऊं? स्वयं बुद्धिमान् हो, समझ सकते हो।

'कुछ ऐसी बात तो नहीं' कहते २ वृद्ध प्रधान महोदय वहां से चल दिये। उन के हृदय में विचारों का एक नया प्रवाह उठाः—यदि इनका विवाह हो जाए? यह मृतपत्नीक है, वह विधवा है। यह एक वर्ष विवाहित रहा है, वह एक रात। इस के सन्तान नहीं, उस की एक लड़की है जिसे वह स्वयं भूल चुकी है। लड़की तो अब हमारी है। मैं ऊर्मिला को अक्षतयोनि ही कहूंगा, यह भी अक्षत वीर्य सा है इस का प्रण है अविवाहित रहने का सो यौवन का आवेशमात्र समझो। रही समाज की सेवा सो यह चाहे अवैतनिक करे, परमात्मा ने सब कुछ दे रखा है।

इन विचारों में घर आ गया। सीधे बैठक में गये और झट ऊर्मिला और उसकी माता को बुलाया। थोड़ी देर चुप रहे, फिर हंसकर कहने लगे ' पता है कमलनयन उस दिन क्यों रोया था ? उसे विमला का स्मरण आ गया। ऊर्मिला का स्वर, ताल, लय, सब विमला का सा था। कहता है, मैंने विमला को देखा और फिर खो दिया।

ऊर्मिला की माता मुस्करा दी।

पिताः—यदि ऊर्मिला दूसरी विमला ही हो जाय तो ?

ऊर्मिला एकाएक उठ कर बाहर चली गई।

(७)

ऊर्मिला को अब कमल नयन से ईर्षा हो गई कि इनके तो ध्यान मात्र से ही किसी का हृदय खिंच आता है। कोई इनकी आंखों के आगे खड़ा तो होता है, फिर चाहे रुला जाता ही सही। यहां महीनों यह गीत गाते हो गए, किसी ने ध्यान धर कर सुना ही नहीं। कोई रुलाने वाली स्मृति ही सही, आए, अपना पाद्य ले, अर्घ ले, मधुपर्क ले, ले भी। यह यौवन, यह सौंदर्य, यह आलाप ... किसी के अर्पण हों !

ऊर्मिला आज इन्हीं विचारों में सोई। आहा ! हा ! उस का मनभावना स्वप्न हुआ। बलदेव और वह उसकी बैठक में इकट्ठे गए हैं। ऊर्मिला सितार लेकर सोफ़े पर बैठ गई है। बलदेव उसके गले में हाथ डाले खड़े हैं ! वही राग था पर शब्द बदल गए थे।

गीति थीः—

माल न गल में डाल, सखी सांवर की।
बाँह बनी गल-माल सखी साँवर की॥
आंखें रोक न लें दर्शन को।
चेत चेत चित लख चितवन को।
भाल भाल दिशि माल सखी साँवर की॥

प्रातः काल ऊर्मिला की आंखों में माधुरी थी, भाव भंगि में माधुरी रस था, हाव भाव में आह्लाद था। मां ज्यों देखती दंग रह जाती।

ऊर्मिला आंखें धोते झिझकती थी कि कहीं वह सुवर्ण-छवि पानी के छींटों

से मैली न हो। नहाते हुए हिचकती थी कि कहीं कपड़ों के साथ वह बाहुपाश ही गले से खिसक न जाय।

अब तो जब भी आंखें मींची हैं और सितार पर उंगलियां चली हैं, वही यौवन मदमाती ऊर्मिला है और उसके गोरे गले को बाहुलता में लपेटे बलदेव।

ऊर्मिला ने ऐसे समयों का नाम स्वर्ग की घड़ी रखा है।

(८)

पिता ने अवसर पाकर विवाह की बात फिर चलाई। ऊर्मिला को अब एक नया अनुपम आनन्द प्राप्त हो चुका था। यह सुहाग अनोखा था। 'स्वर्ग की घड़ी' के आगे फिर नरक में जाने का प्रस्ताव? सहसा हृदय से नकार निकला परन्तु गले तक आकर रुक गया। मुख की आकृति ने अस्वीकृति का सन्देश स्पष्ट कह दिया परन्तु पिता भ्रान्त होने पर उधार खाए बैठे थे। समझे, लजाती है।

कमलनयन से बात की तो उसने भी प्रथम तो इनके शब्दों पर ध्यान ही नहीं दिया परन्तु अब समझाया कि 'देखो, तुम्हारा सेवा का व्रत इससे टूटता नहीं, बना रहता है। यही नहीं, सामाजिक कार्य में और सहायता मिलती है। वह उपदेश क्या जो घरों में प्रवेश न पाए? वह प्रचार क्या जो मन्दिर की चारदीवारी तक रहे? जैसे विमला के जीते कहीं आने जाने में संकोच न था, वही अवस्था अब ऊर्मिला के पाणिग्रहण मात्र से हो जायगी। अब तो आधे प्रचारक हो फिर पूरे होगे। यह उपदेश सुना तो वह भी चुप रहे।

मनुष्य का मन संकीर्णतम गुत्थी है। क्या जाने, प्रचार की उत्सुकता थी, धर्म की लगन थी, या यौवन की और उसके साथ रतिपति पंचसायक की स्वाभाविक, अदम्य उमड़ थी। एक बार फिर 'प्रेम के हेम हिंडूरन में' 'रस रंग अगाधा' 'बरसाने सरसाने' की इच्छा थी? कमलनयन और ऊर्मिला दोनों ने मौन-भाषा में विवाह की स्वीकृति दे दी।

कमलनयन के घर में एक कमरा पति पत्नी का साझा है, दो अलग २ हैं। साझे कमरे में दम्पती बैठे हैं। पुनः प्राप्त किये सुहाग का पहिला अवसर है। ऊर्मिला ने सितार गोद में रखी है। कमलनयन ने गले में हाथ डाला है। कहता है:—प्रिये! वही गीत गाओ।

ऊर्मिला—(आंखें झुकाकर) कौन सा?

कमल—' डाल न गल में माल सखी सांवर की। '

ऊर्मिला—सांवर ! अब उसके शब्द बदल गए।

गाना आरम्भ हुआः—

माल न गल में डाल सखी साँवर की।
बाँह बनी गलमाल सखी साँवर की॥

पति पत्नी की आंखे सहसा मिच गईं। वहां और दृश्य समा न सक्ता था। प्रेम के एकान्त में स्वयं एकान्त बाधक होता है, प्रेम की सामग्री बाधक होती है, स्वयं प्रेमी और प्रिय बाधक हैं। अपने आप से अलग होकर प्रेम-रूप हो दो से एक हो जाने की इच्छा है। नयन-निमेष उसकी पहिली भूमिका है।

ऐसा करना था कि इधर कमल, उधर ऊर्मिला दोनों एकाएक चौंक उठे। जो शरीर प्रेम-रस में सन रहा था वह तुरन्त भौंचक सा रह गया। दोनों शीघ्र एक दूसरे से अलग हुए और कमरे से बाहर चले गए।

(६)

कमलनयन के घर का वह कमरा अब मानो भूतों का कमरा है। सदा बन्द रहता है। उसका सामान तक नहीं उठाया गया। कमल और ऊर्मिला प्रचार-कार्य में एक दूसरे को सहयोग देते हैं। समाज इन्हें पति पत्नी ही जानता है। ऊर्मिला की लड़की भी अब ऊर्मिला के पास रहती है। एक बात आर्य समाजी नहीं समझ सकते कि वह कमलनयन को पण्डित जी कहती है, पिता जी नहीं। ऊर्मिला उन्हें कमलनयन जी बुलाती है और कमल उसे ऊर्मिला जी।

कभी २ ऊर्मिला बलदेव के चित्र के सम्मुख बुड़बुड़ाती दिखाई दी हैः— 'परकीया ? नहीं। ' यह कहते ही उसके मुख पर हवाइयां उड़ने लगती हैं परन्तु वह अपनी कान्ति संभाल लेती है। यही क्रिया कभी २ कमलनयन विमला के चित्र के सम्मुख करता दीखा है। वह 'परकीया' की जगह 'पारजायिक ? नहीं' कहता है, और सहम जाता है।

कमलनयन और ऊर्मिला वास्तव में संसार के लिये पति पत्नी हैं, पर घर में वही भाई बहिन। ऊर्मिला कभी २ अकेली बैठी ठंडी सांस खेंचती और कह उठती हैः—"हाय ! मेरी स्वर्ग की घड़ी फिर छिन गई"।

वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य

(समालोचना)
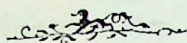
श्री पं० चमूपति 'आर्य-सेवक' (अफ्रीका)

(४)

वेद में इतिहास है वा नहीं? यह समस्या बहुत पुरानी है। वेद को नित्य मानने वाले उस में अस्थायि आगमापायि इतिहास नहीं मानते। हां! जो प्राकृतिक घटनाएं सृष्टि क्रम का भाग होने से फिर २ घटित होती हैं और जिन का नाम वेदपाठियों ने नित्य इतिहास रख लिया है, यथा आकाश से वायु, वायु से अग्नि आदि की उत्पत्ति, उन का वर्णन वेद में आया है।

यास्क ने किसी २ वेद मन्त्र का ऐतिहासिक अर्थ किया है। परन्तु वहां इतिहास का ढंग नित्य इतिहास का सा नहीं किन्तु अनित्य का सा है। किसी किसी स्थान पर ऐतिहासिक पक्ष से अपने पक्ष को भिन्न बताया है। यथा वृत्र का अर्थ करते हुए लिखा है:—

"मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। २. १६." ऐतिहासिक पक्ष यास्क को स्वीकार हो या न हो, यह स्पष्ट है कि एतिहासिक अर्थ नैरुक्त अर्थ से भिन्न है। और निरुक्त में प्रधान अर्थ नैरुक्त ही रहेगा। निरुक्त के भाष्य कार भी हमें इसी सम्मति के प्रतीत होते हैं, यथा निरुक्त २. ११ देवापि और शन्तनु आदि की कथा आई है। यास्क ने 'आर्ष्टिषेणः' तथा 'यद्देवापिः' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ केवल इतिहासपरक किया है दुर्गाचार्य अपनी वृत्ति में लिखता है:—

निरुक्त पक्ष-ऋष्टिषेणो मध्यमः, तदपत्यमयमग्निः पार्थिव आर्ष्टिषेणो देवापिः स शन्तनवे सर्वस्मै यजमानायेति योज्यम्। बृहस्पतिर्वाचस्पतिरिति मध्यमः। स्तनयित्नुलक्षणां वाचमित्यर्थः।

अर्थात् निरुक्त पक्ष में इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि ऋष्टिषेण मध्यम देव वायु का नाम है (राजा का नहीं जैसे ऐतिहासिक पक्ष में है) उस का पुत्र अर्थात् उस से उत्पन्न हुआ पार्थिव अग्नि आर्ष्टिषेण देवापि है। शन्तनु

प्रत्येक यजमान को कहते हैं (किसी भूपतिविशेष को नहीं)। वृहस्पति फिर मध्यम देवता वायु का नाम है। उस की वाणी गरज है।

इस से सिद्ध है कि दुर्गाचार्य यास्क के किये ऐतिहासिक अर्थ को नैरुक्त अर्थ नहीं मानता। शेषोक्त पक्ष में इसे स्वतन्त्र कल्पना करनी पड़ी है। यही अवस्था कई और स्थलों पर भी है। विस्तार भय से हम यही उदाहरण पर्याप्त समझते हैं।

श्री चन्द्रमणि जी ने इस स्थल पर निरुक्त के ऐतिहासिक अर्थों के विषय में अपना विचार विस्तार से प्रकट किया है। आप का पक्ष भी यही है कि अनित्य इतिहास वेद में नहीं। लिखा है:—

'अनित्य इतिहास का तो खण्डन यास्क स्वयं २. ५. १६ में करेंगे।' पृ० १२८। २ ५. १६ वही वृत्र का प्रकरण है जिस का उद्धरण हमने ऊपर किया है। उस का अर्थ करते हुए श्री चन्द्रमणि जी लिखते हैं:—

'परन्तु ऐतिहासकों का पक्ष ठीक नहीं'। पृ० १४२

इस अध्याहार से स्पष्ट हुआ कि श्री चन्द्रमणि जी की सम्मति में यास्क जहां ऐतिहासिक अर्थ का उल्लेख करेगा वह उस का अपना न होगा। हां! नित्य इतिहास की बात इस से भिन्न है।

हमारी समझ में नहीं आता कि यह सम्मति रखते हुए आप ने देवादि और शन्तनु की कथा को यास्क के स्वाभिमत सिद्धांत के अन्तर्गत कैसे मान लिया? आप का कहना है कि:—

"आख्यायिका रूप से जहां भूत काल में वर्णन किया जावे वह नित्य इतिहास है"। पृ० १२८

देवापि और शन्तनु को बड़ा और छोटा कौरव भाई कहा गया है। छोटे के राज्यभिषेक का वर्णन किया गया है, इत्यादि। भला यह इतिहास नित्य कैसे हुआ? आप स्वयं मानते हैं:-"यहां वेद के उपर्युक्त सूक्त में कुरुवंशीय होना, शन्तनु का राज्य ग्रहण करना, बारह वर्ष तक वृष्टि न होना .... इत्यादि विषयक कोई शब्द नहीं।" पृ० १२९

इस स्थिति में यास्क कथित कथा तो कल्पित ही माननी होगी। आपने भी उसे ऐसा ही स्वीकार किया है। यथा—

'जैसे व्याख्यानों में ...... कल्पित कथा द्वारा अपने अभिप्राय.........को स्पष्ट किया जाता है, वह ही नियम यहां वेद में कार्य करता है' पृ. १२८

यह वाक्य पाठकों के लिये भ्रान्तिजनक हो सक्ता है । कल्पित कथा स्वयं 'वेद' में होती है या उस के व्याख्यान मात्र में ? जिस ऐतिहासिक अर्थ को आपने निरुक्त. २. ५, १६ में अशुद्ध ठहराया, यहां उसी का फिर पक्ष क्यों लेते हैं ? वहां भी तो इतिहास को आख्यायिका का आलंकारिक रूप देने में कोई बाधा नहीं ।

प्रकृत आख्यायिका में १२ वर्ष की अनावृष्टि का वर्णन है, बड़े भाई के पुरोहित होने का वर्णन है । यह विशेष गणितज्ञों तथा घटनाओं से युक्त इतिहास नित्य नहीं होसकता । यास्काचार्य ने जहां २ इतिहास शब्द का प्रयोग किया है, वह अनित्य इतिहास है । श्री चन्द्रमणि जी का यह नया पक्ष हो सकता है कि वेद में कल्पित आख्यायिकाएं भी हैं परन्तु उन्हें नित्य इतिहास कहकर इस पक्ष को नित्य इतिहास परक पक्ष में समाविष्ट करना भ्रान्ति जनक है । इस सम्बन्ध में दुर्गाचार्य की शैली अधिक सरल तथा युक्तियुक्त है । वह निरुक्तकार के ऐतिहासिक अर्थ को नैरुक्त न मान नए अर्थ की कल्पना करता है ।

इसी स्थल पर 'वेदार्थदीपक भाष्य' में मूल का 'आर्ष्टिषेण ...... प्रतिषिद्धा' पाठ छपने से रह गया है, दूसरे संस्करण में उसे पूरा कर देना चाहिये ।

यास्क ने आर्ष्टिषेण का अर्थ किया है 'ऋष्टिषेणस्य पुत्रः' अर्थात् ऋष्टिषेण का पुत्र । श्री चन्द्रमणि जी लिखते हैं:—

यहां 'पुत्र' शब्द का अभिप्राय 'संबन्धी' से है । पृ. १३० । यह किस नियम से ? निरुक्त २. ७. २४ में फिर विश्वामित्र की कथा दी गई है उसे पैजवन का पुरोहित कहा गया है । 'पैजवन' का अर्थ किया है—'पिजवनस्य पुत्रः' श्री चन्द्रमणि जी का लेख है कि "ऐसे स्थलों में सर्वत्र 'पुत्र' शब्द 'अत्यन्त' का द्योतक होता है । क्योंकि पिता के शुभ या अशुभ गुण पुत्र में पिता से अधिक आ जाया करते हैं" पृ. १५४ । इस युक्ति में कितना सार है, पाठक स्वयं समझ सकते हैं—फिर अर्थ करने में तो साहित्य या व्याकरण का प्रमाण चाहिये । लो ! वह भी दिया है:—'वेद में अग्नि को बल का पुत्र कहा है (ऋ. २. ७६) यहां उस का अर्थ अत्यन्त बलवान् है, उदाहरण 'बल का पुत्र' का नहीं चाहिये,

'बलवान् का पुत्र' का चाहिये क्योंकि विचारास्पद यह 'पिजवन का पुत्र' है और 'पिजवन' श्रेष्ठ कर्म नहीं, किन्तु 'श्रेष्ठतम कर्म' है।

वास्तव में 'पैजवन' वेद मन्त्र में नहीं आया किन्तु यास्क कथित इतिहास ही में आया है । यदि वह इतिहास आख्यायिका है तो उस में किसी व्यक्ति विशेष का नाम आने में हानि क्या ? और यदि यह अर्थ ही (अनित्य) ऐतिहासिक पक्ष का है तो आप के अपने लेखानुसार वह पक्ष ही ठीक नहीं । यहां पुत्र का अर्थ 'अत्यन्त' करने की आवश्यकता ?

निरुक्त ३, ३, १७, में 'प्रस्कण्व' शब्द आया है । उस का अर्थ किया है 'कण्वस्य पुत्रः, कण्व प्रभवः' । इस पर भी श्री चन्द्रमणि जी का टिप्पण है:— यहां 'पुत्र' शब्द 'प्रकृष्ट' अर्थ का द्योतक है। पृ० २१६ । हमारी सम्मति में यास्क ने 'प्रस्कण्व' के दो भिन्न अर्थ किये हैं— (१) कण्वस्य पुत्रः । जो प्रसिद्ध अर्थ है परन्तु यहां लगता नहीं । प्रसिद्धि के कारण पहिले दिया है। (२ कण्व प्रभवः, जो श्री चन्द्रमणि जी के अभिप्राय का द्योतन करता है । ऋषि दयानन्द ने इसी मन्त्र (ऋ० १, ४५, ३) में 'प्रस्कण्व' का अर्थ किया है 'प्रकृष्टश्च कण्वश्च' । ऋषि का अर्थ यास्क कृत दूसरे अर्थ का पर्याय प्रतीत होता है।

निरुक्त २, ७, २५ में 'कुशिकस्य सूनुः' वेद का पाठ दिया है वेदार्थ दीपक भाष्य में इसका अर्थ किया है:— 'प्रजा के लिये हितकर बातों का प्रकाश करने वाला' पृष्ठ १५६ । फिर पृष्ठ १५७ पर 'कुशिक' का अर्थ करते हैं— (क) उत्तम वाणी वाला ... (ख) विद्या से प्रकाशित ..... (ग) हितकर बातों का करने हारा' तो क्या 'कुशिक' और 'कुशिकस्य सूनुः' का एक ही अर्थ है? 'सूनुः' का अर्थ 'अत्यन्त' भी तो नहीं किया । कुछ लिखने से रह गया है।

इन सारे उद्धरणों से प्रतीत यह होता है कि श्री चन्द्रमणि जी वेद में इतिहास नहीं मानते परन्तु यास्क ने ऐतिहासिक अर्थ किये हैं। इस का समाधान या तो इस प्रकार से हो सकता था कि ऐतिहासिक अर्थ नैरुक्त अर्थ नहीं जैसे नि० १, ५, १६, में स्वयं इन दो अर्थों का स्पष्ट भेद दिखा दिया गया है। जहां निरुक्तकार केवल ऐतिहासिक अर्थ लिखता है वहां नैरुक्त अर्थ की कल्पना यास्क द्वारा अन्यत्र प्रदर्शित शैली से स्वयं करनी चाहिये जैसे दुर्गाचार्य कतिपय स्थला पर करता ही है। प्रश्न हो सकता है कि यास्क ने इन स्थानों पर अपने से विरुद्ध पक्ष के ही अर्थ क्यों दिये ? हमारा उत्तर स्पष्ट है कि यह या तो उस का

भ्रम है या वह अपने समय के प्रसिद्ध अर्थ बतला कर उन में दी हुई निरुक्तियों द्वारा ठीक अर्थ लगाने का बोझ पाठक पर डालता है।

दूसरा समाधान यह हो सकता है कि यह इतिहास अर्थ को रोचक तथा सुगम बनाने के लिये केवल आख्यायिकाएं हैं। इन आख्यायिकाओं को नित्य इतिहास कहना तो भूल है। जहां आख्यायिका मात्र में-जो व्याख्या ही का भाग हो वेद का नहीं— किसी को किसी का पुत्र बना लिया गया हो, वहां पुत्र को पुत्र रहने देने में हानि नहीं, यथा पैजवन पिजवन का लड़का रहे, इस में किसी का कुछ नहीं बिगड़ता। हां! जहां वेद के किसी ताद्धित शब्द का अर्थ अपत्यवाची किया हो, वहां उस अर्थ को केवल आख्यायिका परक समझना चाहिये जो कल्पित होने से वेदार्थ करने में आदरणीय नहीं। नैरुक्त अर्थ में उस का वाच्य 'संबन्धी' भी हो सकता है, 'प्रकृष्ट' आदि भी। ताद्धित शब्दों का ऐसा अर्थ व्याकरणानुमोदित है। हां, यास्क के ही 'पुत्र' शब्द का अर्थ 'प्रकृष्ट' करना अर्थ का 'दीपक' नहीं, भ्रामक है। यास्क ने ताद्धित का मुख्य 'अपत्य' वाची अर्थ कर दूसरे अर्थों की ओर संकेत किया हो तो किया हो, स्पष्टतया वह दूसरा अर्थ प्रतिपादन नहीं किया।

श्री चन्द्रमणि जी को यास्क का पक्ष लेते हुए हुए व्याकरण तथा साहित्यपर भी बलात्कार न करना चाहिये। पण्डित लोग समदृष्टि होते हैं, यही उन का पाण्डित्य है॥

* निरुक्तकार यास्कादि का और ऐतिहासिकों का मतभेद *

(श्री० दलपति शास्त्री सिद्धान्त शिरोमणि)

पाठक वृन्द! कई भोले पौराणिक भाई यह कहते हैं कि "नैरुक्त पक्षानुयायी यास्क मुनि ने भी वेदों में इतिहास स्वीकृत किया है। तदनुसार निघण्टु कोष के शब्दों के निर्वचन समय में स्थल स्थल पर इतिहास दिये हैं जो कि लोक में प्रसिद्ध तथा वेदों में इतिहास मानने वाले सायणादि को अभीष्ट हैं। और अतएव कतिपय स्थलों पर मन्त्रों का अर्थ भी ऐतिहासिक मतानुसार किया है। अतः प्रतीत होता है कि ऐतिहासिकों और नैरुक्तों में कुछ भेद नहीं है"।

इस के उत्तर में हम अपना पक्ष जो कि वैदिक धर्मावलम्बियों का है स्थापन करते हैं कि मुनि यास्कादि वेद में इतिहास स्वीकार नहीं करते थे और उसी प्रसङ्ग में यह भी सिद्ध करेंगे कि यास्क मुनि ने जो यत्र तत्र इतिहास दिया है वह ऐतिहासिक पक्ष मन्त्रार्थ की अभिव्यक्ति के लिये है जिस को दुर्गाचार्य निरुक्त भाष्यकार अपने भाष्य में स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ ले लीजियेः—

"इन्द्राणी। इन्द्रस्य पत्नी॥ 'इन्द्रस्य विभूतिः, पृथक्त्वेन निर्ज्ञाता पौराणिकैः" ११। ३७। २।

अर्थात् दुर्गाचार्य कहते हैं कि 'इन्द्राणी' शब्द का अर्थ है इन्द्र की विभूति। परन्तु पौराणिकों (ऐतिहासिकों) ने इन्द्र की स्त्री समझा है।

यहां स्पष्ट दुर्गाचार्य नैरुक्त और ऐतिहासिक पक्ष में भेद मानते हैं। और लीजियेः—

निरुक्त ११। ३९ खण्ड की समाप्ति पर वृषाकपि के निर्वचन पर भाष्य करते हुए दुर्गाचार्य लिखते हैं:—

'ऋषिरेव वृषाकपिः प्रसिद्धः स पुनरादित्योऽभिप्रेतो मनुष्याणाम्।'

अर्थात् ऐतिहासिक प्रसिद्धि के अनुसार 'वृषाकपि' ऋषि का नाम है

परन्तु इतिहास के न मानने वाले नैरुक्त 'वृषाकपि' का 'आदित्य' अर्थ करते हैं। एक और प्रमाण लीजिये: —

निरुक्त अ० ११। खण्ड २४। सरमा। सरणात्।

इस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं:—

'सरमा' देवशुनीत्यैतिहासिक पक्षेण, माध्यमिका वाक् नैरुक्त पक्षेण।

अर्थात् ऐतिहासिक लोग सरमा को देवशुनि का नामान्तर मानते हैं। परन्तु नैरुक्त सरमा का अर्थ अन्तरिक्ष में मेघ का गर्जन मानते हैं। परन्तु यहां वादी कह सकता है कि निरुक्तकार भी लिखते हैं:—

'देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरै समूद इत्याख्यानम्'

इत्यादि से विदित है कि यास्क भी यहां इतिहास अङ्गीकार करते हैं ?

तो इसका उत्तर दुर्गाचार्य स्वयमेव इसी वाक्य का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि:—

'देवशुनीन्द्रेण प्रहिता' इति निदान ख्यापनं मन्त्रार्थाभिव्यक्तये।

अर्थात् निरुक्तकार ने देवशुनी वाला इतिहास मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये दिया है। और आगे दुर्गाचार्य लिखते हैं कि 'इत्याख्यान विद एवं मन्यन्ते' अर्थात् ऐतिहासिक उपरि लिखित इतिहास को मानते हैं।

बस, इन प्रमाणों से पौराणिकों के सिद्धान्तो किले की नींव जर्जर हो जाती है। और हमको इस एक कसौटी से सत्य और असत्य का ज्ञान हो जाता है कि निरुक्तकार यास्कादि स्वयं तो ऐतिहासिकों के विरुद्ध आध्यात्मिकादि अर्थ मानते हैं। और यत्र तत्र मन्त्रार्थ के वैशद्य के लिये आख्यान भी दे देते हैं। इसीलिये दुर्गाचार्य निरुक्तकार का पक्ष लेकर अर्थ करते हैं:—

'वाक्पक्षे तु चिरकाल वृष्ट्युपरमे कदाचिदभिनव मेघ संप्लवे सहसैव स्तनयित्नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक्।' इत्यादि

अब इस कसौटी को लेकर नैरुक्त और ऐतिहासिकों का भेद देखिये और इतिहास को मन्त्रार्थ का पोषक मात्र समझिये तो नैरुक्तों के ऐतिहासिकों के विरुद्ध आध्यात्मिकादि अर्थ ही प्रतीत होंगे। निरुक्तकार मुनिवर यास्क कई स्थानों पर स्वयमेव अपना भेद प्रकट करते हैं। जैसे:—

'आङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो,—

इत्यादि मन्त्र पर ये अङ्गिरसः अर्थवाणः इत्यादि क्या वस्तु हैं इस शङ्का पर यास्क लिखते हैं:—

'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम्। ११।४।१९ ॥

अर्थात् हम नैरुक्त अङ्गिरस इत्यादि शब्दों से माध्यमिक देवगण अर्थ लेते हैं परन्तु ऐतिहासिक पितरों की विशेष योनि मानते हैं। और लीजिये:—

अश्विनौ १२। १ पर यास्क लिखते हैं:—

तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके ॥

अर्थात् 'अश्विनौ' शब्द का अर्थ कई नैरुक 'द्यावा पृथिवी' लेते हैं। कई नैरुक्त 'चन्द्रसूर्य' लेते हैं। कई 'दिन रात' लेते हैं। परन्तु ऐतिहासिक लोग 'अश्विनौ से दो पुण्यकारी राजाओं का नाम समझते हैं। इसी प्रकार

'तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।'

इत्यादि स्थलों पर भेद दिखाया है। इन प्रमाणों की विद्यमानता में कोई भी नैरुक्तों को ऐतिहासिक सिद्ध नहीं कर सकता। और उपरि लिखित कसौटी से 'विश्वामित्र—भौवन—त्रित—सुदास इत्यादि के इतिहास भी सहज सुलझ जाते हैं ॥

चोर चुराते हैं धन तेरा !

जो तेरे घर के ही अन्दर निस दिन करत बसेरा।

बाहर के चोरों पर तूने हाय ! बिठाया पहरा।
जो घर के ही अन्दर रहते उन को क्या नहीं घेरा ॥

तेरे घर के अन्दर छाया कितना हाय अंधेरा ?
उसमें ही छिप कर निस दिन वे हरते सर्वस तेरा ॥

चोरों की चिंता में मूरख ! जागत करत सवेरा।
चोर ही चोर छिपे हैं घर में उनको क्यों नहीं हेरा ॥

चतुर्थ–सर्ग

* महात्मा का महत्व *

(दिसम्बर मास से आगे)

"धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसंमताः ।
जितात्मानो महाभागा येषां नं स्तः प्रियाऽप्रिये ॥
प्रियान्नसंभवेद्दुःखमप्रियादाधिकं भवेत् ।
ताभ्यां हिते वियुज्यन्ते, नमस्तेषां महात्मनाम् ॥"

[वाल्मीकि–रामायण सुन्द० कां०]

इषु-(५)-इन्दु-(१)-अङ्क-(६)-मयङ्क-(*) वत्सर १ विक्रमी जब आगया,
श्रीमान ने अपने यहां तब पाठ्य–क्रम बदला नया ।
नव–शिष्टा–पञ्चक (२) से हुआ नव–पाठ्य–क्रम आरम्भ था,
क्यों हो न ?–उस के जब हुआ आर्षत्व का उपलम्भ ३ था ॥१॥

महाराज की मङ्गलमयी यह कामना थी बढ़ रहीः—
"अब हो पठन–पाठन–प्रथा इन चार ग्रन्थों की वही !
फिर वेद–वैभव का वही सब ओर शुभ–विस्तार हो !
औ, वेद–ध्वनि का फिर वही घर घर प्रगुण–गुञ्जार हो !! २॥

"जो सह रहे हैं सम्प्रदायों की विकट टक्कर, अहो !
म्रियमाण–से हैं जो विविध–मत–अन्ध–कूप–निमग्न हो !,
केवल जिन्होंने अब विधर्मी–भेक–दल–ध्वनि है सुनी,
जिन को अविद्या की बहाले जा रही धुन में धुनी (१)!, ३॥

---

* सं० १९१५ वि०; (२) नवीन शिष्य-पञ्चकः—युगलकिशोर २ चिरञ्जीलाल; ३ गोपाल ब्रह्मचारी ४ सोहनलाल तथा ५ नन्दन जी चौबे; १ ३ उपलम्भ—साक्षात्कार;
१ धुनी—नदी ।

"जिस यत्न से अब शीघ्र उन का हो सके निस्तार है—
वह यत्न—'केवल वेद का ही एक पुण्य-प्रचार' है !
कीजे अनुग्रह हे अनघ ! अघ-वृद्धि की अब रोक हो,
अब सन्तमस२-हरणार्थ विस्तृत वेद का आलोक हो !" ॥४॥

पाठक ! मनोरञ्जक सुनायें एक घटना आप को,
ब्रह्मर्षि के वरती विजय-श्री आप पुण्य-प्रताप को !
कैसे स्वयं ही पापियों का पाप कम्पित हो चला ?
अभिमानियों का मान कैसे छोड़ अब उन को चला ? ॥५॥

"अनुमान से, छः मास जब उस बीत घटना को गए,
तब रुग्ण 'लक्ष्मण-ज्योति' मरणासन्न सहसा हो गए !
तब पाप-कम्पित-सा हृदय गिरने लगा उन का अहो !
सोचा—'कहीं अभिचार (१) दण्डी ने किया मुझ पर न हो ?' ॥६॥

"उस सेठ के भी बात यह ही ध्यान में जब आ गई,
श्रीपाद-पद्मों में तभी यह प्रार्थना पहुंचा दईः—
'महाराज स्वामिन् ! अब कृपा करके क्षमा कर दीजिए,
उन पांच-सौ के स्थान आप सहस्र रूप्यक लीजिए !' ॥७॥

"भगवान ने उस प्रार्थी को उस समय जो था कहा—
पढ़ लीजिए, अङ्कित उसी शब्दावली में कर रहाः—
'तुम भूल करते हो, हमारा धर्म ही यह है नहीं !
नर के किए से जान लो—'नर को न कुछ होता कहीं !' ॥८॥

"बच जाय जो वह मृत्यु से उद्योग मेरे ही किए—
तो हूं सहस्र निजी समुद्यत आप देने के लिए !"
परलोक 'लक्ष्मण ज्योति ने यात्रा करी दिन दूसरे ! "
रोता स्वयं था कंपकंपी खा पाप अन्त, हरे ! हरे !! ॥९ ॥

क्यों अन्त में—सोते हुए, सब भांति भय खाते हुए—
उस दीखते पौलस्त्य को थे 'राम' ही आते हुए ?

(१) अभिचार—मारण प्रयोग; २ सन्तमस— व्यापकतम;

'रथ' 'रण' रकारादिक किसी भी नाम का करके श्रवण—
क्यों 'राम' ही को देखता मारीच भी पाता मरण ? १०॥

दिन रात में, हर बात में, जब प्राप्त—सा विध्वंस था—
तब 'कृष्ण' ही को देखता सब ओर वह क्यों कंस था ?
है ठीक, जो है जन्मता, वह मृत्यु पाएगा सदा,
पर त्रास इस विध 'पाप से ही' मर्त्य खाएगा सदा ॥ ११॥

क्षण के लिए अन्याय जो पाता विजय भी है कहीं—
तो, अन्त में गिर, दांत तुड़वाए विना रहता नहीं !
अब छोड़िए इस वृत्त को, पाठक ! चलो-आगे चलें,
कुछ और घटना एक-दो गौरव-गुंथी भी देखलें ! १२ ॥

आ-मरण तक को कर चुके निश्चय यही महाराज भी—
आगे न पुस्तक कौमुदी—सी हम पढ़ाएंगे कभी !
जीवन लगा दें—आर्ष-ग्रन्थों के पुनीत-प्रचार में —
जिससे बने 'गुरु' वृद्ध-भारत वर्ष फिर संसार में ! १३ ॥

जो उन अशुद्ध पुस्तकों को छात्र पढ़ना चाहता—
तब दोष उनके खोल कर, महाराज देते थे बता !
उन आर्ष-ग्रन्थों में लगाते छात्र का वे चित्त थे,
बस, तत्वतः सब कार्य वैदिक-धर्म-वृद्धि-निमित्त थे ! १४॥

श्रीमान् को विश्वास था—वह सूर्य उनके पास है-
जिसके न सम्मुख ठहर सकता तुच्छ दीप-प्रकाश है !
ज्यों पूर्णिमा बिन, चन्द्र पूर्ण—प्रकाश पा सकता नहीं,
प्राची विना, क्या नाश तम का सूर्य आ करता कहीं ? १५ ॥

खेंचा हुआ जल, अभ्र बिन, रवि आप बरसाता न है,
ज्यों मेदिनी बिन, बीज उग कर, आप फल लाता न है।
ज्यों जीत रण में वीरवर बिन शस्त्र के जाता न है,
सम्राट भी जैसे विजय सेना बिना पाता न है ॥ १६॥

त्यों कर रहे महाराज सच्-छास्त्राऽऽप्ति-हेतु विचार थे।

वे चाहते करना विविध-विध विघ्न-गण—संहार थे!
उस शिष्य—गण की शुद्धि हृत्तल—भूमि उपजाऊ न थी,
महाराज की वह कर्म—धी फिर हार भी खाऊ न थी! १७॥

महाराज थे यों सोचते—अब शिष्य ऐसा चाहिए—
जो वीर सू का वीर—सुत वर—वीरता को हो लिए!
सांसारिकी सब वासनाओं से पृथक मन हो किये!
'औ' देश-हित हो जा मरे 'औ' देश—हित ही जो जिये!! १८॥

"जो एषणात्रय त्याग, करता धर्म की हो एषणा,
जो कर रहा हो प्रेम से परमात्म—तत्व—गवेषणा!
पापाऽन्ध—रजनी में बने जो वेद—विधु—सु-गभस्ति—सा!
जो पाप—पङ्क—प्रणाश-हित हो वेद—रविशुचि—रश्मि—सा!! १९॥

यों सोचते रहते रहे श्रीमान हो कर्तव्य—रत,
वह छात्र-गण भी था उधर कुछ श्रवण-रत कुछ श्रव्य-रत!
यों तीसरी संवत्सरी सङ्कल्प धारे आ गई,
सुनिए, सुनाएं हैं हुई इस बीच जो घटना नईः—२०॥

महाराज के ऋषि-भाव का जिस से पता चल जायगा,
औ, जानने में पाठको! आनन्द भी कुछ आयगाः—
"मुनि-(७)-इन्दु-(१)-अङ्क-(९)-मयङ्क-(१) विक्रम-वर्ष[1] के मधु[2] मास में
दर्बार होता था नृपों का आगरे उल्लास में २१॥

"उस में पधारे जयपुरेश्वर 'रामसिंह' नरेश भी,
जयशील[3] को भी जयपुरेश्वर ने बुलाया था तभी!
श्रीमान[3] भी जा कर वहीं श्रीमान के ठहरे यहां,
श्रीमान ने श्रीमान को आतिथ्य कर, पूजा वहां! २२॥

"दिन तीसरे, श्रद्धा-सहित, अपने निकट बुलवा लिये,
औ, भक्ति से फिर भूप ने भगवान[3] के दर्शन किये,

---

१ सं १९१७ वि० २ मधु—चैत्र; ३ ...श्री विरजानन्दजी;

'केदारनाथ' ४ तथा 'पुरन्दर', ५ 'राजजीवन' ६ तीन थे—
पण्डित-प्रवर उस काल, नृप के जो निकट आसीन थे ! २३॥

"नरराज ने देखा—'तपस्वी द्वार पर हैं आ रहे !'
तज शीघ्र सिंहासन, नृपति ने द्वार पर जा कर गहे !
धीरे उन्हें निज-संग लाये द्वार से सम्मान कर,
कर दान सिंहासन उन्हें वैठे तले भूपति प्रवर ॥ २४ ॥

"स्वामी" उन्हें जब नृप कहें, तब क्यों तले बैठे नहीं ?
'सेवक' सजे भी 'स्वामियों के' हैं समानासन कहीं ?
उस त्याग—श्री से श्री-बहुल सम्राट के 'सम्राट' थे !
भ्राजिष्णुओं में ब्रह्मवर्चोमय अहो ! 'विभ्राट' थे ॥ २५ ॥

"तज राज-सिंहासन" 'तले नरराज का वह बैठना'–
उन को 'महत्ता' का न होगा क्या सदा द्योतक घना ?
जो भेंट दशरथ की हुई थी पूर्व विश्वामित्र से—
फिर आपने उस का दिखाया दृश्य चारु-चरित्र से ! २६ ॥

"उस काल श्री महाराज के दो-शिष्य(१) आए साथ थे,
'उपवीत, पेड़े और श्रीफल' भेंट लाए साथ थे,
वह भेंट गुरु की शिष्य-द्वय ने भूप के आगे धरी,
औ वह प्रसाद समझ, खुशी से भूप ने स्वीकृत करी ? २७ ॥

"ब्रह्मर्षि" से आरम्भ वार्तालाप नृप ने फिर करी,
औ, बीच में यह प्रार्थना की भूप ने अनुनय भरीः—
'महाराज ? कैसे भी पढ़ा 'व्याकरण' हम को दीजिए,
जिससे हमें वेदार्थ का हो ज्ञान ऐसा कीजिए ॥ २८ ॥

———

४ पं० केदारनाथ जी शास्त्री, बून्दी के; ५ रीवा के पं० पुरन्दरसिंहजी; ६ त्रिहुत के नैयायिक श्री राजजीवनसिंहजी शास्त्री;

१ दो शिष्यः—(१) चौबे जगन्नाथ; (२) युगलकिशोर ।

किस से द्वेष करना चाहिये ?

वेद और मांस भक्षण

(ले० श्री पं० परमानन्द बी० ए० गुरुकुल मुलतान)

किसी से द्वेष करना भी कभी उचित हो सकता है यह प्रश्न है जो पाठकों के हृदय में लेख के शीर्षक को पढ़कर उत्पन्न होगा। परन्तु आज यही अचम्भा "आर्य" के पाठकों के आगे धरना है और वह भी वेद के प्रमाण से। आर्य जनता ने समझ रक्खा है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, अभिमान, रागद्वेषादि भाव हर एक अवस्था में बुरे हैं परन्तु अधिक विचार पर यह मानना पड़ेगा कि इनमें से किसी के बिना गुज़ारा भी नहीं। केवल हमीं यह बात नहीं कहते। आइये, पहिले महर्षि मनु के चरणों में चलें और उन से व्यवस्था लें। "काम" के सम्बन्ध में उन की आज्ञा बड़ी स्पष्ट है। मनुस्मृति अ० २ श्लो० १ में आप लिखते हैं—

कामनाओं के अधीन हो जाना निन्दित कर्म है परन्तु संसार में 'अकाम' होना भी असम्भव है। वेद प्राप्ति और वैदिक कर्म्मयोग भी तो काम्य वस्तु ही हैं। काम तो इतना आवश्यक है कि उस के एक स्वरूप को मनुष्य-जीवन के चार उद्देश्यों में गिन लिया गया है।

अब आइये क्रोध की ओर। कौन वैदिकधर्मी है जो वेद भगवान् का यह मन्त्र नहीं जानता, 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि"। उत्तम प्रकार का क्रोध ही मन्यु कहाता है। आज कल जब कि चारों ओर से आर्यजाति पर अत्याचार हो रहे हैं वह आर्य ही नहीं जिसे धर्ममन्दिरों, धर्मपुस्तकों और देवियों पर अत्याचार होता देखकर विशुद्ध क्रोध नहीं आता।

जो बात काम और क्रोधके विषय में कही गई है वही लोभ, मोह, अहंकार आदि के विषय में भी समझनी चाहिये।

अब अन्त में 'राग' और 'द्वेष' शब्द रह जाते हैं। इन के भी अच्छे और बुरे दोनों पहलू हैं। इस सारे मामले को देखकर कई विचारकों का मत है कि संसार में न कोई निरपेक्ष (Absolute) भलाई है और न निरपेक्ष बुराई।

मानुषी जीवन में द्वेष का भी अपना एक स्थान है। अब यह विचारणीय है कि द्वेष के लिये समुचित स्थल कौन २ से हैं ॥ ऋ. ७. १०४. २ में परमात्मा की आज्ञा है:—

ओ३म् इन्द्रा सोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥

इस मन्त्र पर निरुक्त ६ ३. १२. ४५ में निम्नानुसार विचार किया गया है:—

"इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम्। तस्पुतपते चरुर्मृच्चयो भवति ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे। क्रव्यादे क्रव्यमदते। घोरचक्षसे घोरख्यानाय। द्वेषो धत्त मनवायं अनवयवम्। यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इतिवा किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमितिवा पिशुनाय चरते क्रव्यं विकृताज्जायते इति नैरुक्ताः ॥"

भावार्थ—हे इन्द्र और हे सोम! जो मनुष्य पाप का इकरार (अथवा किसी पाप कर्म की प्रशंसा) करता है वह तपनेवाली मट्टी की हंडिया की नाईं जो अग्नि पर रखी हो प्रयत्नशील बन जावे। आप ब्राह्मणों से द्वेष रखने वाले, घृणित ख्यातिवाले, मांसभक्षक तथा चुगलखोर से द्वेष धारण करें। वह द्वेष भी ऐसा हो जिस में कोई त्रुटि न हो और राग द्वेषरहित पुरुष जिस को हटाने के लिये बीच में न आवें।

दण्ड और द्वेष का उद्देश क्या होना चाहिये यह भी यहां बड़ी सुन्दरता से बता दिया गया है। पापी को प्रयत्नशील बनाना है इसी से उन की आत्मा पाप से उपरत हो जाएगी. आलस्य शैतान की दुकान है। इस भाव को आजकल के सभ्यराष्ट्र भली भांति समझते हैं जो जेलों के कैदियों को मुक्ति फौजादि के प्रबन्ध द्वारा परिश्रमी बनाने का यत्न करते हैं। परिश्रमी पुरुष को पाप करने का विचार ही कम आता है। वह दण्ड अथवा द्वेष किन की सम्मति से धारण करना चाहिये इस का भी इसी मन्त्र में उपदेश है। जो लोग किसी के प्रति राग द्वेष नहीं रखते उन की दण्ड प्रणाली में सम्मति लेकर दण्ड देना चाहिये। अर्थात् राजा लोग सन्यासियों के परामर्शानुसार शासन करें। मन्त्रोक्त पापों अथवा पाप की प्रशंसा करनेवालों के लिये दण्ड या द्वेष का भी जो विधान किया

गया है वह "अनवाय" है अर्थात् दण्ड देने की अवस्था में वह दण्ड Capital Punishment (प्राण दण्ड) ही होना चाहिये (द्वेषस्=घृणा, देखो Apte's Sanskrit English Dictionary).

इस मन्त्र में मांस भक्षण के साथ २ तीन और अपराधों को भी गिन दिया गया है यह सब एक ही कोटि के अपराध हैं। इन में से किसी को भी क्षमा नहीं किया जा सकता। इन के लिए तो वह सन्यास्यनुमोदित प्राणदण्ड है। और यदि द्वेष की आज्ञा है तो वह द्वेष ऐसा है जिस में कोई कसर नहीं अर्थात् जिस के लिये काल आदि की कोई सीमा नहीं मांसभक्षक उतना ही बड़ा अपराधी है जितना कि ब्राह्मण द्वेषी। और राजा और न्यायाधीश उसे प्राणदण्ड ही दे सकते हैं अथवा नं० १० के भद्र पुरुषों में उस का नाम लिख लेना चाहिये, यह Criminal tribe के लोग हैं। एक इतिहास की साक्षि भी इस विषय में रुचिकर होगी। फ़ाहियान महाशय लिखते हैंः—

"Through out the whole country the people do not kill any living creature nor drink any intoxicating liquor nor eat onion or garlic. In the markets there are no butcher's shops.........Chandals are fishermen and sell fish meat, are held to be wicked men and live apart from others, away from the cities.

स्यात् क्रव्याद शब्द पर ही कोई विप्रतिपत्ति हो अतः निरुक्तकार ने स्पष्ट कर दिया है कि 'क्रव्यं विकृताज्जायते' अर्थात् मांस काटने से उत्पन्न होता है। इस विषय में मनु का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है —

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

अर्थात् प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं और प्राणिवध पुण्य कार्य नहीं अतः मांस का त्याग कर देना चाहिये।

पाप के लिये इस मंत्र में अघ शब्द आया है जिसका अर्थ निरुक्त कार के मत में वह बात है जो मनुष्य का पूर्णतया नाश कर देती है—आहन्ति। आर्यसन्तान! वेद की आज्ञा आपके सामने है! आप सोच लें कि यदि राजा और न्यायाधीष ऐसे पापियों के प्रति द्वेष धारण न करें तो क्या आपका कोई कर्त्तव्य नहीं? आप बेशक और अपराधोंके अपराधियोंके लिये दण्ड या द्वेष की अनुमति दें पर यह कहकर पल्ला न छुड़ाईये कि यही एक त्रुटी तो नहीं!।

आज लगभग ४ वर्ष होते हैं कि कालिज दल के एक विचारक और नेताके साथ लेखक को लालामूसा आर्यसमाज मन्दिर में विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था विचारक महोदय ने साफ़ शब्दों में कहा था कि महात्मा दल के लोग कांग्रेस में भी अहिंसात्मक असहयोग की आड़ में मास भक्षण के प्रश्न पर दो पार्टियां करा देंगे। और आपने बड़े विश्वास पूर्वक यह चैलेञ्ज दिया था कि मुझे यजुर्वेद का स्वामी दयानन्द कृत भाष्य पढ़ने का अभी अवसर हुआ है उस में अस्तबलों की बनावट और उन के वर्णन से अध्यायों के अध्याय भरे पड़े हैं परन्तु मांस के निषेध का कोई स्पष्ट मंत्र नहीं। यदि मांसभक्षण इतनाही बड़ा पाप होता जैसा महात्मा पार्टी उसे कहती है तो उस पर कम से कम १५० मंत्र तो वेद में होते। यदि महात्मा पार्टी ५० भी स्पष्ट मंत्र पुस्तकाकार में छपवादे तो मैं मानने को तैय्यार हूं। इत्यादि लेखक ने निवेदन किया था कि मांसभक्षण इतना अमानुषी कार्य है जिस के लिये वेद बार २ क्या लिखता ? पं बुद्धदेव जी के शब्दों में Criminal Procedure code में भी murder (मनुष्यबध) के लिये कोई एक आधा विधान होता है परन्तु उसके लिये Capital punishment (मृत्युदण्ड) ही दिया जाता है।

प्रस्तुत मंत्र इतना स्पष्ट है कि इस पर किसी टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। कम से कम महर्षि को महात्मा पार्टी से कोई रिश्वत नहीं मिली। इतना ही नहीं, किन्तु वह सारे नैरुक्तों को अपने साथ अपने मत में सम्मिलित करता है। परन्तु यदि यजुर्वेद का ही मन्त्र चाहिये तो लीजिये यजुर्वेद २३. २१. और उस पर वही स्वामी दयानन्द जी का भाष्य। स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि जो मांसाहारी और व्यभिचारी स्त्री पुरुष हों उन्हें उल्टा लटका देना चाहिये। इसी प्रकार 'यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते' इत्यादि मन्त्र पर सायण का स्पष्ट भाष्य है कि राजा ऐसे हत्यारे का सिर काटदे 'यो नो गां हसि यद्यश्वं यदि पूरुषं। तन्त्वा सीसेन विध्यामो यथा..... "इसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। जो मनुष्य हमारी गौओं घोड़ी और मनुष्यों का घात करता है उसे तोप के मुंह से उड़ा देना चाहिये। इत्यादि। आर्यपुरुषो! मांसभक्षकों के साथ द्वेष करना न राजा के लिये बुरा है न प्रजा के लिये। यह द्वेष 'अनवाय' होना चाहिये इसे कभी मत भूलो। और जबतक किसी मनुष्य में यह दुर्गुण है उससे द्वेष जारी रक्खो। कम से कम मन्त्रोक्त ४ अपराधों के लिये द्वेष करना बुरा नहीं॥

———

भूल सुधार

कार्त्तिक मास के 'आर्य' में 'वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य' पर मेरी समालोचना छपी है। उस में श्री पं० चन्द्रमणि जी की इस कल्पना को कि 'साक्षात्कृतधर्माणः' आदि वाक्य में आए 'बिल्म' शब्द की यास्क द्वारा व्याख्या किये जाने के कारण यह वाक्य यास्क का नहीं, मैंने श्री पण्डित जी की मौलिक कल्पना समझा है। इस से पूर्व यही कल्पना पं० सत्यव्रत सामाश्रमी कर चुके हैं उन की कल्पना का हेतु पं० चन्द्रमणि जी के हेतु से अधिक सूक्ष्म है। वह 'भिल्मं भासनमिति वा' में आए 'वा' को संशयात्मक समझते हैं। उन का विचार है कि यास्क को अपने प्रयोग किये 'बिल्म' शब्द के अर्थ में संशय नहीं हो सक्ता। अतः यह वाक्य किसी और का होना चाहिये वास्तव में यहां 'वा' संशयप्रदर्शक नहीं किन्तु समुच्चयार्थक है जिस का अभिप्राय 'बिल्म' शब्द के दो अर्थ दर्शाना है। 'समाम्नासिषुः' क्रिया भूत काल में होने से सामाश्रमी जी निघन्टु को यास्क कृत नहीं मानते। मैं अपने लेख में दर्शा चुका हूं कि यहां 'इमं ग्रन्थं' का अभिप्राय निरुक्तिविद्या की परम्परा से है। निघन्टु सहित निरुक्त का समाम्नान कई वार हुआ है। अन्तिम समाम्नाता यास्क है।

मेरे लेख में कुछ छापे की अशुद्धियां हुई हैं यथा 'समाम्नान क्रिया' को कई वार समाम्नाय क्रिया लिखा गया है। 'प्रतिभा' का 'प्रतिमा' छपा है और instruction का inspection विज्ञ पाठक स्वयं ठीक कर लेंगे --चमूपति

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी लिखते हैं:—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का २४वां वार्षिक महोत्सव गत वर्ष की भाँति ईस्टर की छुट्टियों में २ से ५ अप्रैल १९२६ तदनुसार २१ से २४ चैत्र सं० १९८२ वि० तक बड़े समारोह के साथ गुरुकुल वाटिका मायापुर (हरिद्वार) में मनाया जावेगा। उस समय ऋतु भी बड़ी सुहावनी होगी।

जो सज्जन मनोहर व्याख्यानों, उपदेशों और भजनों से आनन्द लाभ करने के अभिलाषी हों उन्हें अभी से परिवार सहित उत्सव पर पधारने की तय्यारियां शुरु कर देनी चाहियें। (२) नये बालकों का चुनाव उत्सव से दो दिन पूर्व ३१ मार्च और १अप्रैल को होगा। प्रार्थनापत्र ३१ जनवरी तक कार्यालय में आजाने चाहियें।

सम्पादकीय

टंकारा जन्म भूमि शताब्दि:--फर्वरी मास में मोरवी रियासत में टंकारा स्थान पर ऋषि दयानन्द की स्मृति में शताब्दि समारोह मनाया जायगा। आर्य समाज के इतिहास में परिडतों की असावधानी से ऋषि दयानन्द के जन्म स्थान के सम्बन्ध में कई भ्रम फैल गए थे। इन भ्रमों को दूर करने के लिए गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी के आचार्य श्रीयुत प्रो० रामदेव जी को विशेष रूप से नियुक्त किया गया। उन्हों ने इस सम्बन्ध में जो रिपोर्ट तय्यार की थी उस के अनुसार टंकारा ही ऋषि दयानन्द का जन्म स्थान निश्चित किया गया। इस ऐतिहासिक दृष्टि से यह समारोह बहुत महत्व का है। असम्भव नहीं कि समारोह में एकत्रित आर्य विद्वान ऋषि दयानन्द की बाल्यावस्था के अंधकार-मय इतिहास को उज्वल करें। इस शताब्दि की दूसरी विशेषता यह है कि यह समारोह देशी रियासत में होगा। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन काल में भारत की देशी रियासतों में जागृति पैदा करने के लिए विशेष उद्योग किया था परन्तु उसमें सफलता नहीं हो सकी। हमें आशा है कि उत्साही आर्य भाई टंकारा जन्म भूमि शताब्दि के बाद भारत की देशी रियासतों में आर्य समाज के सन्देश को विशेष रूप से प्रचारित करने में संलग्न होंगे।

देशी रियासतें और आर्य समाज:--जिस प्रकार देश के अन्य उन्नति-शील आन्दोलन इस समय तक केवल मात्र ब्रिटिश भारत में ही फल फूल रहे हैं उनका देशी रियासतों में प्रवेश नहीं है उसी प्रकार आर्य समाज भी देशीरियासतों के अन्दर प्रवेश नहीं कर सका। राजपूताना की रियासतों की कुछेक आर्य-समाजों में हमें भ्रमण करने का मौका मिला है। उदयपुर और जयपुर जैसे बड़े शहरों की आर्य समाजों की दीन दशा को देख कर दुःख होता है। इसी प्रकार मोरवी रियासत जहां स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ वहां आर्यसमाज का न होना इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि हम लोगों ने रियासतों में वैदिक धर्म का विस्तार करने में कितनी उपेक्षा की है हम आशा करते हैं कि टंकारा जन्म भूमि शताब्दि के प्रबन्ध कर्ता अथवा आर्य सार्वदेशिक सभा के सभ्य टंकारा जन्म भूमि शताब्दि के समय भारत वर्ष की तमाम रियासतों में वैदिक धर्म प्रचार के कार्य को एक सूत्र में ग्रथित करने का यत्न करेंगे।

—राजेन्द्र

आर्यसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों की पुस्तकें

सन्यासी महात्माओं की ओर से आत्मप्रसाद ।

(१) **श्री स्वामी सत्यानन्द जी**—दयानन्द प्रकाश १॥) संध्यायोग ।-) सामाजिक धर्म ॥) दयानन्द वचनामृत ॥=) ओंकार उपासना ≡) सत्योपदेश माला १)

(२) **श्री नारायण स्वामी जी**—आत्म दर्शन १॥) आर्य समाज क्या है ।-) प्राणायाम विधि =) वर्णव्यवस्था पर शंकासमाधान ≡)

(३) **श्री स्वामी अच्युतानन्द जी**—व्याख्यानमाला (संस्कृत में) संस्कृत में योग्यता प्राप्त करने के लिये ॥=) आर्याभिविनय द्वितीय भाग सजिल्द -)॥ एक ईश्वरवाद -) प्रार्थना पुस्तक

(४) **श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी**—आर्य पथिक लेखराम १) मुक्ति सोपान ॥=)

(५) **श्री स्वामी सर्वदानन्द जी**—आनन्द संग्रह, परम आनन्द की प्राप्ति के सब साधन इस में दिये गये हैं १)

(६) **श्री स्वामी अनुभवानन्द जी**—भक्त की भावना, बहुत बढ़िया पुस्तक है मू० केवल॥)

भक्ति दर्पण अथवा आत्म प्रसाद ।

इस में भक्ति मार्ग के सभी साधन दे दिये गये हैं । प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढे को हर समय जेब में रखनी चाहिये । पाकिट साईज सुनहरी जिल्द मू० ॥)

स्कूलों तथा पाठशालाओं में बच्चों को उपहार में देने योग्य उत्तम पुस्तक है । आर्य समाज के बड़े २ विद्वानों ने इसे बहुत पसन्द किया है ।

आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकृत ।

—आर्य प्रतिनिधि सभा ने आर्य समाजों के लिये हिसाब किताब, मासिक चन्दा, संस्कार, पुस्तकालय, वस्तुभण्डार, साप्ताहिक सत्संग तथा वार्षिक वृत्तान्त के लिये १० प्रकार के रजिस्टर और फार्म स्वीकार किये हैं, जो प्रत्येक समाज को प्रयोग में लाने चाहियें । यह रजिस्टर सजिल्द तथा एक वर्ष से अधिक समय के लिये पर्याप्त हैं । मू० केवल ६)

—शुद्धि के प्रमाण पत्र—जो सभा द्वारा स्वीकृत हैं, अति सुन्दर रंगीन छपवाए गए हैं, प्रमाण पत्र का एक भाग समाज के पास रहेगा । और दूसरा भाग काट कर शुद्ध हुए व्यक्ति को दिया जाता है । १०० फार्मों की एक कापी का मू० १॥=), ५० फार्मों की कापी ।॥=)

—आर्यसमाज के प्रवेश पत्रों तथा नियमों की १०० फार्मों की सुन्दर कापी ॥=), रसीद युक्त ॥) हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू नियम ।=) सैंकड़ा ॥

साप्ताहिक सत्संग के लिये सत्संग गुटका ≡) भजन संकीर्तन -)

राजपाल—अध्यक्ष, आर्य पुस्तकालय तथा सरस्वती आश्रम, लाहौर ।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

आय व्यय मद्धे मास कार्तिक १९८२

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
मुख्य कार्यालय सभा	२६००)	१७२॥।≡)॥	१०८८।)	६४१०)	४९२॥।-)१	३६४५॥।≡
दशान्श				८६०)	७८॥।)	४८२॥।-)।
दायाद्य रक्षा			१५०)			
पंक्षार्थ			१२५)			
सत्यार्थप्रकाश आज्ञा			८३॥=)			
गिलेस्पसेज़ आफ़						
स्वामी दयानन्द						
योग		१७२॥≡)॥	१४४६॥।=)		५७१॥-)१	४१२८॥।)
कार्यालय वेदप्रचार				१५६०)	४८)	५१२॥)
वैदिक पुस्तकालय	५००)	२०)	२७८)	२५००)	२१७)	१७३२॥।≡
आर्य	३०००)	६०॥)	६०४=)।	३०००)	२३३)	१३२६॥≡)
चाराना निधि	५०००)	४८५॥।≡)॥।	१२५९।=)।			
ट्रैक्ट	२००)		६०॥=)			
वेतन उपदेशक				१७०८०)	११६४॥-)॥।	८२७०॥-)
मार्ग व्यय				६४००)	६१७॥।)॥	४४६७॥।=
बीमा जीवन				९०)	२३।)	६७।≡)
वैदिक कोष				१२००)	५०)	५१३॥।=)
सहायता माता गणपति				२४)		१२)
योग		५६६।≡)॥	२२०२=)॥		२३५४=)।	१६९०४।-
वेद प्रचार		१५९३≡)८	९८३५॥)१०			
लखराम स्मारक निधि	३००)		१५५॥।≡)			
वेतन उपदेशक				२०००)	१६॥)	४६९।)
मार्ग व्यय				५००)		४७॥)
गुज़ारा विधवा पं०						
„ तुलसीराम				१२०)	१०)	८०)
„ „ वज़ीरचन्द				९६)	८)	६४)
योग			१५५॥≡)		३४॥)	६५६॥
सूद बैंक		१६३०=)७	२२१२०।)६		।)	६॥।)५
„ क़र्ज़ा		६९-)८	२१७६।≡)			
भूमि आय व्यय		५८॥)	४७८॥-)		६१=)	४४॥=
किराया मकान			४४)			
योग		१७५७॥)३	२४८१९।)॥		६१।=)	२५१।=)१
अमानत अन्य संस्थायें		३३)	६९४॥)		१३९।≡)॥	६६३६॥≡)
„ आर्यसमाजें		४२२)	२७३०॥।)६		३६९)	१८६९॥≡
„ वैदिक पुस्तकालय			५०)		१०)	२०)
„ विद्यार्थी आश्रम		४१७)	४६२)			५०४)
„ अम्बालाल दामोदरदास						५०॥)
योग		८७२)	३९३७॥)॥		५१८।≡)॥	६०८८=

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
			४७६६।)		२१०)	
सीयत निहाल देवी						४११।-
जींदाराम			१०००)			
शा० विद्यानंद जानकी						१८।'
बाई					२४०)	५२०)
० पूर्णानन्द जी					२५)	२००)
० ओचीराम जी			१०००)			
मशरणदास जी						
योग			६७६६।)	१००००	४७५)	११४६।।-
लितोद्धार	१००००)	१२७	९८५।=)।।।		४१२।)५	५-४२=)
जपूतोद्धार		११।।=)	४७।।=)		२६७=)	५६९०८
वीडैंट		६४।।-)।।।	१०३०-)२			२२५।-
पदेशक विद्यालय	६०००)	६००)	१४६४८।।≡)।।।	६०००)	५२८।-)८	२३२३४
र्य विद्यार्थी आश्रम	४५००)	२३०।।)।।।	४०८७।।=)।	४५००)	५३८)।।	२१७८।।=
ज्ञात निधि		३१८५)	४८१२।)।।।		१५३)।।।	१५९१।=
ताब्दी		४०)	४७६≡)			७५।।=)
शमृत			५४५१।।।≡)			
पदेशक विद्यालय						
स्थिरकोष			२००००)			
देश प्रचार	२०००)		६५।=)।	१५००)		१८।।
द्रास प्रचार		६०)	९०)			
भा के सेवकों की सहायता						६७।।)
ग्रा समिति		१०)	१००)			१८।।)।
पदेशक विद्यालय शाला			१६१०)			
देवीहोमकरणभंडार				९०)		९०)
सास प्रचार						५३।।=)
मचन्द्रस्मारकनिधि			३४५।।-)			१८१।=)
साधारण निधि		१)	२)			
बोनस			१२३।।-)।।।			
कुल मुलतान			।।=)			
दत्त भवन आ.शाला		२५०)	२५०)			
योग		४६१०)।।	५४४०६।-)८		१८६८।।।-)४	३८७७५।।)[illegible]
कुल महानिधि		१५३०१≡ ८	७०२२५।।।≡)।		१०४६६-)।	६२८६२।)४
स्थिर छात्रवृत्ति			१८१३४-)			
अस्थिर ,,		११४९।।)	४५०।।)			
उपाध्याय वृत्ति			५८४०५)।।			
शालानिधि		२५५५।=)	२५५५।=)			
न्यागुरुकुल इंद्रप्रस्थ			१३४६३।=)।।			
योग		१६००६-)८	१६२३६३।-)।		१०४६६-)।	११०८६३।-)[illegible]
सर्वयोग		२८५७८।।-)४	२६५६३९।)।।		१६३७६।।।≡)५	१८१८१८[illegible]
गत शेष		११२८१६९।=)४	१०५६२७६।।।=)१०			
योग		११५६७७७।।≡)८	१३२२२१६≡)४			
व्यय		१६३७६।।।≡)५	१८१८१८≡)१			
वर्तमान शेष		११४०३६८)।।	[illegible]			

भाग ७] लाहौर–माघ १९८२ फरवरी १९२६ [अंक १०

[दयानन्दाब्द १०१]

ईश—प्रार्थना

[श्री० 'मराल' कविरत्न]

नाथ ! मन मन्दिर में जल्दी आप अब तो आइए।
यह पड़ा सूना इसे आकर प्रभो ! अपनाइए ॥ १ ॥
लग रही कब से लगन अब तो अनुग्रह कीजिए।
कीजिए करुणेश करुणा, क्लेश सब हर लीजिए ॥ २ ॥
आप अशरण के शरण, हम हैं शरण में आप की।
मार्ग शुभ दिखलाइए हम राह छोड़ें पाप की ॥ ३ ॥
तुम हो अजर तुम हो अमर हमको बचा कर मृत्यु से।
अमरत्व का बर दीजिए, भय मृत्यु का विनसाइए ॥ ४ ॥
श्रीराम का श्रीकृष्ण का यह रक्त फिर हममें बहे।
उन ही सरीखे वीर हममें से पुनः विकसाइए ॥ ५ ॥
भक्त वत्सल आप हैं अब और मत भटकाइए।
पुत्र हैं हम, गोद में हमको पिता ! बिठलाइए ॥ ६ ॥

शिवरात्री की भेंट

सचहै 'शिवरात्री आर्यसमाजकी जन्मरात्रीहै'। इस सूचिभेद्य अन्धकार में यदि कहीं भी ज्योतिकी किरण दिखाई देतीहै तो वह ऋषि की जीवनी है।

विरोधी चाहे कुछ देर के लिये स्वार्थवृत्तिसे प्रेरित हो ऋषिकी जीवनी पर कालिमा लगाने का यत्न करें किन्तु चांद पर थूकने वालों की क्या अवस्था होती है यह किसी से छुपा नहीं है। ऋषि की दिव्य मूर्ति के दर्शन करना चाहो तो आज युवक भारत के हृदयों में जाकर पता करो। वहां आपको एक चमक दिखाई देगी। बस, यही ऋषि की दिव्य मूर्ति है।

आर्य समाज के काम में आज बहुत कुछ शिथिलता प्रतीत होती है। कई कहने लग गये हैं कि जिन कामों को आर्य समाज किया करता था उन्हें अन्य सभा समाजों ने करना शुरु कर दिया है इस लिये आर्य समाज ......। किन्तु नहीं, अभी तो घर में ही बहुत कूड़ा करकट भरा हुआ है। इसे सिवाय आर्य समाज के कौन दूर कर सकता है। जबतक कुछ भी गन्दगी मौजूद है आर्यसमाज की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आज आर्यसमाज के लिये सचमुच परीक्षा का समय है। एक ओर सारे संसार की विरोधी शक्ति है और दूसरी ओर अकेला आर्य समाज है।

जय पराजय तो प्रभुके हाथ में है किन्तु जबतक ऋषि की दिव्य मूर्ति हमारे सामनेहै हमारे लिए चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं। वीर योद्धा अपने नायक की प्रतिमूर्ति को हृदयमें रखे उसीपर जान देदे इसीमें उसकी शोभा है। इस युद्धमें आर्यसमाज की परीक्षा हो जायगी कि वह कहां तक अपने प्रवर्तक के लिए बलि दे सकता है। धर्मोंकी परीक्षा बलिदानोंसे ही हुआ करती है।

आज एक वर्ष बाद फिर से वही शिव की रात्री आ उपस्थित हुई है। हमारे ऊपर ऋषि और उसके पूर्वाचार्यों का बहुत ऋण है। हमने यथाशक्ति उसके एकांश की पूर्ति करने का जो भी यत्न किया वह आप के सामने है। यह सन्तोषप्रद है वा नहीं, इसका निर्णय हम आपपर ही छोड़ते हैं। किन्तु यह जो कुछ भी है आपके सम्मिलित प्रयत्नों का फल है; इस लिये यह आपका है।

जिन महानुभावों ने लेख तथा कविता आदि किसी भी प्रकारसे ऋषि ऋणकी पूर्तिमें हमारा हाथ बंटाया है उनके हम अन्तःकरण से आभारी हैं।

किन्तु इस बातका हमें बहुत ही शोक है कि भगीरथ यत्न से प्राप्त भी सब कृतियों को हम इस अंक में स्थान नहीं दे सके। ——राजेन्द्र वि. अ.

आर्य सन्तान ! आओ ! आज से फिर अपने जीवन पर गहरी दृष्टि डालो और समझलो कि जिस सत्य की प्राप्ति के लिए मूल-शङ्कर के हृदय में इस रात्री उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई उसकी तलाश में उसने शारीरिक कष्टों की कुछ भी पर्वा नहीं की, और जङ्गल और बियाबान, पहाड़ और मैदान-सबकी ख़ाक छानने और जने जने से, विनय भाव के साथ, उसी का पता लगाते हुए अन्त को सत्य स्वरूप में ही लीन होगए । चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पालन करते, गुण कर्मानुसार वर्णों की व्यवस्था स्थापन करते, उपासना से हृदय को सत्यग्राही और प्राणिमात्र के लिये कल्याणकारी बनाते हुए जो आर्य्य पुरुष कल्याण मार्ग में चलने का आज शुभ संकल्प करेंगे, उनका मैं भी ऋणी हूंगा । शमित्योश्म् ।

यज्ञ में हिंसा
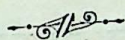
(श्री० पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज)

अश्वालंभं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत् ॥ पाराशरस्मृतिः ॥

इस श्लोक को जिस में अश्व तथा गौ के कलियुग में मारने का निषेध किया है लिख कर ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश में जो उत्तर लिखा है वह इस प्रकार है "जब अश्वालंभ अर्थात् घोड़े को मार के अथवा गवालंभ गाय को मार के होम करना ही वेदविहित नहीं है तो उस का कलियुग में निषेध करना वेद विरुद्ध क्यों नहीं" । ऋषि लोग वेद के आधार पर अश्व और गौ मारने का सर्वदा निषेध करते हैं —

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

भावार्थ—जो गौ, अश्व, पुरुष अथवा अवीर (दुःख न देने वाले) को मारे उसे सीसे की गोली से विद्ध करो ।

याज्ञिकों ने भी जहां पशु मारने की क्रिया लिखी है वहां जिस प्रतीक का विनियोग किया है वह भी मारने का निषेध करती है । उन की प्रतीक है "स्वधिते मा हिंसीः" । तो भी याज्ञिक इस मन्त्र को पढ़कर इसके सर्वथा प्रतिकूल आचार करते हैं ।

वेद को छोड़ कर आज मैं शतपथ ब्राह्मण का एक पाठ पाठकों की भेंट करता हूं जिससे पाठकों को विश्वास हो जायगा कि शतपथ भी आचार्य्य दयानन्द का पोषक है।

"भृगुर्ह वै वारुणिः। वरुणं पितरं विद्ययाति मेने तद्ध वरुणो विदांचकाराति वैमा विद्यया मन्यत इति ॥ १ ॥ स होवाच। प्राङ् पुत्रकं व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वा दक्षिण व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वा प्रत्यग्व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्दृष्ट्वोदग्व्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तन्मा आचक्षीथा इति ॥२॥ स ह तत एव प्राङ् प्रवव्राज एदु पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषा पर्वशः संव्रश्च्यं पर्वशोविभजमानानिदं तवेदं ममेति सहोवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्न्वा पुरुषाः पर्वाण्येषां पर्वशः संव्रश्च्यं पर्वशो व्यभक्षतेति। ते होचुरित्थं वाऽइमेऽस्मानमुष्मिंल्लोकेऽसचन्त तान्वतामिदमिह प्रतिसचा महाऽइति। सो होवाचास्तीह प्रायश्चित्ती ३ रित्यस्तीति का-ति पिता ते वेदेति ॥ ३ ॥ स ह तत एव दक्षिण प्रवव्राज। एदु पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्तं पर्वशो विभजमानानिदं तवेदं ममेति स हो वाच भीष्मं बतभोः पुरुषान्न्वा एतत्पुरुषाः पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्तं पर्वशोऽव्यभक्षतेति ते होचुरित्थं वा इमेऽस्मानमुष्मिँल्लोकेऽसचन्त तान्वयमिदमिह प्रति सचामहाऽइति स होवाचास्तीह प्रायश्चित्ती ३ रित्यस्तीति काति पितैव ते वेदेति ॥ ४ ॥ सह तत एव प्रत्यङ् प्रवव्राज। एदु पुरुषैः पुरुषांस्तूष्णीमासीनांस्तूष्णीमासीना अदन्तीति ते होचुरित्थं वाऽइमेऽस्मानमुष्मिंल्लोकेऽसचन्त तान्वयमिदमिह प्रति सचामहाऽइति। स होवाचास्तीह प्रायश्चित्ती ३ रित्यस्तीति काति पितैव ते वेदेति ॥ ५ ॥

स ह तत एवोदङ् प्रवव्राज। एदु पुरुषैः पुरुषानाक्रन्दयत आक्रन्दयद्भिरद्यमानान्त्स होवाच भीष्मं बत भोः पुरुषान्न्वाऽएतत् पुरुषा आक्रन्दयत आक्रन्दयन्तोऽदन्तीति तेहोचुरित्थं वाऽइमऽस्मानमु० ॥ ६ ॥

स ह तत एवैतयोः पूर्वायोः। उत्तरमन्ववान्तरदेशं प्रवव्राजेदुस्त्रियो कल्याणीं चाति कल्याणीं च तेऽअन्तरेण पुरुषः कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिस्तस्थौ तं

हैनं दृष्ट्वाभीर्विवेद सहेत्य संविवेश तꣳह पितो वाचाधीष्व स्वाध्यायं कस्मान्नु स्वाध्यायं नाधीषऽइति सहोवाच किमध्येष्ये न किंचनास्तीति तद्ध वरुणो विदांचकाराद्राग्वाऽइति ॥ ७ ॥

सहोवाच । यान्वैतत्प्राच्यां दिश्यद्राक्षीः पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संवृश्च्य पर्वशो विभजमानानिदं तवेदं ममेति वनस्पतयो वै तेऽअभूवन्त्स यद्वनस्पतीनाꣳसमिधमादधाति तेन वनस्पतीनवरुन्द्धे तेन वनस्पतीनां लोकं जयति ॥ ८ ॥

अथयानेतद्दक्षिणायां दिश्यद्राक्षीः पुरुषैः पुरुषान्पर्वाण्येषां पर्वशः संकर्त्य पर्वशो विभजमानानिदं तवेदं ममेति पशवो वै तेऽअभून्त्स यत्पयसा जुहोति तेन पशूनवरुन्द्धे तेन पशूनां लोकं जयति ॥ ९ ॥

अथ यानेतत्प्रतीच्यां दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषांस्तूष्णीमासीनांस्तूष्णीमासीनैरद्यमानानोषधयो वैता अभूवन्त्स यत्तृणेनावज्योतयति तेनौषधीरवरुन्द्धे तेनौषधीनां लोकं जयति ॥ १० ॥

अथ यानेतदुदीच्यां दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषानाक्रन्दयत आक्रन्दयद्भिरद्यमानानापो वै ता अभूवन्त्स यदपः प्रत्यानयति तेनापोऽवरुन्द्धे तेनापां लोकं जयति ॥ ११ ॥

अथ यऽएते । स्त्रियावद्राक्षीः कल्याणीं चातिकल्याणीं च सा या कल्याणी सा श्रद्धा स यत्पूर्वामाहुतिं जुहोति तेन श्रद्धामवरुन्द्धे तेन श्रद्धां जयत्यथ यातिकल्याणी साश्रद्धा स यदुत्तरामाहुतिं जुहोति तेनाश्रद्धामवरुन्द्धे तेनाश्रद्धां जयति ॥ १२ ॥

अथ य एनं सोऽन्तरेण पुरुषः । कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिरस्थात्क्रोधो वै सोऽभूत्स यत्सुच्यप आनीय निनयति तेन क्रोधमवरुन्द्धे तेन क्रोधं जयति स य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तेन सर्वं जयति सर्वमवरुन्द्धे ॥१३॥ ब्राह्मणम् ॥४॥ [६. १.] ॥ शतपथ कांड ११ अध्याय ६ ब्राह्मण १।

भावार्थ—भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और शिक्षार्थ कहा। उत्तर में पिता ने भृगु से कहा पूर्वादि चारों दिशा और उत्तर पूर्व के बीच की अवांतर दिशाओं में जाकर देखो आप जो कुछ देखें यदि समझ में न आवे तो मेरे पास आकर पूछ लेना। भृगु प्रथम पिता के आदेशानुसार पूर्व में गया। वहां एक व्यक्ति पुरुष के अवयवों को विभक्त करता था। वह देख कर डरा कि यह क्या भयानक दृश्य है। दक्षिण में पुरुष अंगों के टुकड़े करते पाया। पश्चिम में एक व्यक्ति अन्य को भक्षण करता था, वह मौन था। उत्तर में मौन के स्थान में क्रन्दन था। अवांतर दिशाओं में एक में कल्याणी स्त्री और दूसरे में कृष्ण पुरुष के दर्शन किये।

इन दृश्यों का उस पर बुरा प्रभाव पड़ा। वह अपने पिता वरुण के पास गया। वहां जाकर दृष्ट दृश्यों का वर्णन किया। तब वरुण ने सब की संगति की। यथा प्रथम दृश्य में समिधायों का विधान है जिसमें वृक्ष के पर्वों को काट कर समिधाएं बनाई जाती हैं और उसमें अंगों का विभाग होता है।

द्वितीय दृश्य में पशुओं के दूध का वर्णन है जो उसके स्तनों से थोड़ा २ करके निकाला जाता है।

तीसरे में उन औषधियों का विधान है जो विना काटे हवन में डाली जाती हैं। चतुर्थ दृश्य में क्रन्दन रूप से जल के शब्दों का अलंकार है। स्त्री और पुरुष रूप से श्रद्धा और क्रोध का वर्णन है।

यज्ञ में इन्हीं वस्तुओं का प्रयोग होता है। यज्ञ विध्वंसक को क्रोध से दूर करो। यज्ञ श्रद्धा सहित करो। यज्ञ में समिधा दुग्ध, दुग्धविकार दधि, घृतादि बनस्पति, जल का प्रयोग आवश्यक है और अन्त में वरुण कहते हैं जो इस प्रकार जान कर यज्ञ को करता है वही सब को जीतता है।

इस ब्राह्मण में हिंसा का सर्वथा ही निषेध है। यहां पशुओं के दूध का विधान है न कि मांस का। अतः आचार्य दयानन्द प्रतिपादित मत ही ठीक और वेद सम्मत है कि पशु मार कर यज्ञ करना वेद विहित नहीं है।

———

शिवरात्री का सन्देश।

(श्री० प्रो० रामदेव जी, आचार्य गुरुकुल विश्व-विद्यालय काङ्गड़ी)

शिवरात्री के दिन मूलशङ्कर को सत्य ज्ञान का बोध हुआ था इसी लिये इस दिवस को बोधोत्सव के नाम से मनाया जाता है। इसी दिन ऋषि को इस बात का ज्ञान हुआ था कि निराकार परमात्मा की मूर्त्ति नहीं बनायी जा सकती। आर्य जाति परमात्मा के सत्य स्वरूप को भूल कर पत्थरों को परमात्मा मानने लग गई थी और पत्थर के अन्दर ही परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों का आभास देखने लग गई थी। ऋषि ने इसी शिवरात्री के दिन सच्चे शिव की प्राप्ति का दृढ़ संकल्प कर लिया था और १४ वर्ष तक नर्मदा की तलैटी से गंगा स्रोत तक भ्रमण करते हुए ब्रह्मचर्य और तप से अ ने जीवन को परिमार्जित करके, सैंकड़ों प्रकार की विपद्बाधाओं को झेल कर सच्चे परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया था। स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों तथा ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट पता लगता है कि उनका भाव कितना (Uncompromising) कट्टर था। उन्होंने एक मिनट के लिये भी मूर्त्ति पूजकों से सुलह नहीं की उनके जीवन का बहुत सा भाग ईश्वर पूजा के सिद्धान्त के प्रचार तथा मूर्त्ति पूजा के खण्डन में व्यतीत हुआ। उनके विचार में आर्य जाति के गिरावट का मुख्य कारण मूर्त्तिपूजा था। ऋषि का धर्म वेदों की दृढ़ चट्टान पर अवलम्बित था और वह एक परमात्मा-पूजा का धर्म था। कई प्रकार के प्रलोभनों तथा आपत्तियों के आने पर भी स्वामी दयानन्द अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं हुए। इस्लाम भी मूर्त्ति पूजा का कट्टर विरोधी समझा जाता है। इसके प्रवर्त्तक हज़रत मुहम्मद ने अरब के ज़ाहिल लोगों के सामने एक परमात्मा की पूजा (तौहीद) का सिद्धान्त रक्खा और मूर्त्ति पूजा का खण्डन किया। परन्तु जिस समय करैश लोग सर्वथा मूर्त्ति पूजा छोड़ने के लिये बाधित हुए तो उन्होंने मुहम्मद साहब से प्रार्थना की कि उन्हें तीन दिवस का अवकाश दिया जावे, और तीन दिन तक उन्हें मूर्त्तियों की पूजा करने की आज्ञा दे दी जाय। मुहम्मद साहब ने उनकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उन्हें तीन दिन तक मूर्त्ति पूजा करने की आज्ञा दे दी। मुहम्मद को मूर्त्ति पूजा का कट्टर विरोधी समझा जाता है और कहा जाता है कि संसार में तौहीद

का स्पष्ट शब्दों में प्रचार पहिले पहिल इन्होंने किया। परन्तु हम देखते हैं कि मूर्त्ति पूजा के कट्टर विरोधी मुहम्मद ने भी मूर्त्ति पूजकों से मूर्त्ति पूजा के विषय में सुलह की

परन्तु स्वामी दयानन्द ने इस विषय में किसी से एक मिनट के लिये भी सुलह नहीं की। उदयपुर महाराज स्वामी जी के शिष्य थे। महाराज की स्वामी जी में अनन्य भक्ति और श्रद्धा थी। इन्हों ने स्वामी जी को अपना गुरु बनाया था। एक वार की घटना है कि इन्हों ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि वे उदयपुर के राज-मन्दिर की गद्दी के मालिक बन जावें और सारी आय से अपने धर्मप्रचार का कार्य करें परन्तु केवल मूर्त्ति पूजा का खण्डन न करें। इस पर स्वामी जी महाराज से बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्हों ने उस को खूब डांटा। इस प्रकार की अन्य भी कई घटनाएं स्वामी जी के जीवन में उपलब्ध होती हैं जिन के अध्ययन से पता लगता है कि कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने के समय से लेकर मृत्यु पर्यन्त स्वामी जी ने एक मिनट के लिये भी मूर्त्ति पूजा के साथ सुलह नामा नहीं किया। स्वामी जी के जीवन का यह एक मुख्य भाग था। शिवरात्री या बोधोत्सव का यही सन्देश है।परन्तु हमें दुःख से कहना पड़ता है कि आर्य समाज इस समय अपने उद्देश्य से विचलित हो रहा है। देश के अन्दर जो लहरें चल रहीं हैं उन का आर्य समाज के प्रचार पर भी असर पड़ रहा है उचित तो यह था कि आर्य समाज का प्रभाव ही देश की प्रत्येक लहर के अन्दर दिखाई देता परन्तु दुःख इस बात का है कि उलटा आर्य समाज पर इन का असर हो रहा है हिन्दू संगठन की लहर चली और आर्य समाज इस में बह गया। इतना तो हम समझते हैं कि आर्य जाति की रक्षा करना आर्य समाज का कर्त्तव्य है परन्तु इस का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दू संगठन के नाम पर आर्यसमाज अपने सिद्धान्तों की भी बलि दे दे जब से हिन्दू संगठन की लहर चली है तब से आर्य समाज के अन्दर मूर्त्ति पूजा के खण्डन करने का भाव ढीला हो गया है कई आर्य समाजी भाई यह समझते हैं कि यदि मूर्त्ति पूजा का खण्डन किया जायगा तो हिन्दू भाई अप्रसन्न हो जायेंगे इस लिये हिन्दुओं को खुश करने के लिये हमारे भाई कई ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो कि आर्य समाज की स्पिरिट के विरुद्ध हैं। हम ने कई उपदेशकों को यह कहते सुना है कि "हिन्दुओं के ३३ करोड़ देवी देवता हैं फिर भी वे मुसलमानों की कबरों की पूजा करते हैं।" जहां मूर्त्ति पूजा का सर्वथा खण्डन

करना चाहिये वहां हिन्दुओं को अपने देवी देवताओं की पूजा करने के लिये प्रेरित किया जाता है। वे भाई भूल जाते हैं कि जो व्यक्ति मूर्त्ति पूजा करता है उस का यह स्वभाव पड़ जाता है कि वह संसार भर की मूर्त्तियों की पूजा करे। यही कारण है कि बहुत से कब्र-परस्त मुसलमान भी हिन्दू जोतिषियों के पास आकर तावीज़ इत्यादि बन्धवाते हैं। इसलिये हमारा कर्त्तव्य तो यह है कि हम सर्वथा मूर्त्ति पूजा का खण्डन करें न कि इस के साथ सुलह करें। हमें यह भी शोक से कहना पड़ता है कि हमारे कई नेता हिन्दुओं की मूर्त्ति स्थापना इत्यादि क्रियाओं में जा कर हिस्सा लेते हैं। ऐसी बातों में शरीक होना भी स्वामी की स्पिरिट और वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण हैं। हम यह देख रहे हैं कि आर्यसमाजी अपने सिद्धान्तों से गिर रहे हैं और हिन्दू संगठन की लहर में पड़ कर हम अपने सिद्धान्तों को कुर्बान कर रहे हैं! यदि सच्चे अर्थों में हमें ऋषि बोध का दिन मनाना है तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम किसी भी अवस्था में मूर्त्ति पूजा के साथ सुलह न करें और संसार से मूर्त्तिपूजा का सर्वथा अत्यन्ताभाव करके ऋषि के मिशन को पूरा करें।

प्यारा आर्य समाज

(ब्रह्मचारी भद्रजित् "भद्र")

चूम चूम वीरत्व भाव जिसने भर डाले।
थपकी दे दे अङ्ग अङ्ग लोहे के ढाले।
शिरस्त्राण शुभ धर्म मुझे सिर पर पहनाया।
धैर्य्य कवच से अभय और दुर्भेद्य बनाया।
अब जिसने है पहना दिया मुझको सैनिक साज यह।
वर विश्व ज्योति जगतो रहे प्यारा आर्य समाज वह॥ १॥
देदी तर्क कृपाण तीक्ष्ण हाथों में मेरे।
बुद्धी पैंतरे विविध भाँति के सीख घनेरे।
ढाल वेद की, प्रेम नीर पीने को साधा।
जन्म भूमि का प्यारा भोजन काँधे पर बाँधा।
जिसने दे आशीष शुभ रण में भेजा आज है।
वह, मेरा, जग का, ईश का प्यारा आर्य समाज है॥ २॥

वैदिक तृत्ववाद।

(श्री नारायण स्वामी जी महाराज)

यह जगत् प्रसिद्ध है कि वेद ईश्वर, जीव और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। सांख्य ने, ईश्वर और जीव दोनों को पुरुष नाम देकर, पुरुष और प्रकृति का भेद बतलाया। योग ने वह विधि बतलाई जिस से प्राणी (इस पुरुष और प्रकृति रूप) द्वैतका अनुभव कर लेवे। परन्तु सब की तह में वही वेद प्रतिपादित तृत्ववाद काम कर रहा है। जहां वेदों की अन्य शिक्षायें जगत में फैलीं वहां इस (तृत्व) वाद का भी विस्तार हुआ और जिस प्रकार अन्य शिक्षाओं में, देश काल की भिन्न २ परिस्थितियों से, परिवर्तन हुए उसी प्रकार इस तृत्ववाद का भी रूप बदला।

"उपनिषदों में तृत्ववाद"

उपनिषदों में यह तृत्ववाद एक और रूप में प्रकट हुआ—बृहदारण्यकोपनिषद में (देखो १।६।३) तृत्ववाद के अंग, नाम, रूप और कर्म वर्णित किए गये हैं। नाम का उपादान वाणी, रूप का उपादान चक्षु और कर्म का उपादान आत्मा को बतलाते हुए कहा गया है कि "तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा आत्मेकः सन्नेतत् त्रयम्।" अर्थात् ये तीन होने पर भी एक ही आत्मा (के उत्पन्न किये हुए कार्य) हैं—और आत्मा एक होने पर भी ये तीन हैं। सो यह प्रकट ही है कि चक्षु, वाणी और आत्मा से उत्पन्न रूप, नाम और कर्म आत्मा ही में समाविष्ट हैं। नाम रूपात्मक जगत में कर्म करने ही से समस्त जगत के व्यवहार की सिद्धि होती है। देश से बाहर देखें तो प्रकट होता है कि पारसी आदि प्राचीन मतों में वैदिक तृत्ववाद में केवल नाम का भेद हुआ, आशय का नहीं। सभी ईश्वर, जीव और प्रकृति की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं—परन्तु आगे चलकर आशय का भी भेद होना प्रारम्भ हुआ।

"ताउ मत में तृत्ववाद"

चीन के प्राचीनतम मतों में कन्फ्यूशस और ताउ (लावज़ी का प्रचारित)

मत बहुत प्रसिद्ध हैं । दोनों मतों का प्रारम्भकाल प्रायः एक ही है। कन्फ्यूशस और लावज़ी की शिक्षाओं में भेद यह था कि कन्फ्यूशस अधिकतर अपना मत जगत संबन्धी अनुभवों के आधार पर स्थिर किया करता था और इसीलिये उस के मत में परलोक के लिये बहुत थोड़ा स्थान था जब कि ताउ मत विशेष कर भारत वर्षीय उपनिषदों के आधार पर खड़ा किया गया था। कन्फ्यूशस, किस प्रकार अनुभव से नियम स्थिर किया करता था उस के प्रकट करने के लिये कदा चत् एक घटना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। एक बार कनफ्यूशस, अपने कुछ एक शिष्यों के साथ कहीं जा रहा था। एक जंगलके निकट पहुंचने पर उस ने एक बुढ़िया को रोते देखा। यह बुढ़िया अपने पति और पुत्र के साथ एक अत्याचारी राजा के अत्याचार से तंग आकर इस जंगल में चली आई थी। परन्तु यहां इस के पति और पुत्र को शेर ने मार डाला था। इसी दुःख से वह रो रही थी, यह जान लेने पर कन्फ्यूशस ने उस से कहा कि फिर तू क्यों नहीं यहां से चली जाती जिससे तू तो सिंहका शिकार होनेसे बच जावे। बुढ़िया ने उत्तर दिया कि इस जंगल में रहना इस लिये अच्छा है कि यहां अत्याचारी राजा तो नहीं है—(Because here is no oppressive Govt.) बस, इसी घटना के आधार पर कन्फ्यूशस ने नियम स्थिर करके अपने शिष्यों को बतला दिया कि "Oppressive Govt is more dangerous than a tiger"— अर्थात् अत्याचारी राज्य सिंह से भी कहीं अधिक भयप्रद है अस्तु। जहाँ कन्फ्यूशस की शिक्षाप्रणाली यह थी वहां ताउमत की शिक्षा के आधार पुस्तक थे। उन पुस्तकों में भी एक तृत्ववाद का उल्लेख मिलता है—ताउ-मत में वर्णन किया गया है कि अमरता दो प्रकार की है एक स्वर्ग की और दूसरी पृथ्वी की। स्वर्ग की अमरता १३०० और पृथ्वी की अमरता ३०० शुभकर्मों के करने से प्राप्त हुआ करती है। और दोनों प्रकार की अमरता का आधार यह तृत्ववाद है—

(१) खि (Khi) (२) हि (Hi) (३) वि (Wie)

इन के क्रम पूर्वक अर्थ अरूप, अशब्द, और अस्पर्श हैं—अर्थात ये तीनों शब्द ईश्वर के विशेषण हैं जिन का सविस्तर उल्लेख हमें कठोपनिषद में मिलता है।

रिमसैट (Remnsat) एक पश्चिमी लेखक ने इस तृत्ववाद को यहूदीमत से सम्बंधित करने का व्यर्थ यत्न किया है उसने "खि" से ज (J) "हि" से

हैं (H) और 'वि" से व (V) निकालने का यत्न इसलिये किया है कि इस J+H+V से "जहोवा" यहूदियों के देवता का वर्णन सिद्ध करदे परन्तु "खि" से जे को निकालना धींगा धांगी ही है

ईसाइयों में तृत्ववाद

ईसाइयों का तृत्ववाद (ईश्वर जीव) पिता पुत्र और पवित्रात्मा प्रसिद्ध है। इन के सम्बन्ध में ईसाइयों का यह मन्तव्य है कि "तीनसे एक और एकसे तीन" प्राय ऊपर दिये हुए वृहदारण्यकोपनिषद के वाक्य का अनुवाद मात्र है ।

इस प्रकार जहां मत वादियों ने अपने मतों में इस तृत्ववाद का समावेश किया है वहां दार्शनिक और वैज्ञानिकों ने भी अपने २ तृत्ववाद निर्धारण किये हैं।

"कान्ट का तृत्ववाद"

कान्ट का तृत्ववाद जगत् प्रसिद्ध ही है १) ईश्वर God (२) मुक्ति Freedom (३) अमरता Immortality। कांट के इस तृत्ववाद को हम वैदिक तृत्ववाद की छाया ही कह सकते हैं।

"हैकल का तृत्ववाद"

हैकल जैसे जड़वादी (नास्तिक) वैज्ञानिक की भी इच्छा हुई कि वह अपने जड़ाद्वैतवाद में भी तृत्ववाद को जगह देवे और तदनुसार इस ने (१) सत्य The true (२) भलाई The Good और (३) सुन्दरता The beautiful को अपने तृत्ववाद का अंग ठहराया है । इस प्रकार वैदिक तृत्ववाद रूप और आशय के भेद से एक समय जगत्व्यापी सिद्धान्त बन चुका था और बहुत अंश में अब तक भी बना हुआ शेष है।

कर्मशील आर्य्यसमाज

(देशभक्त श्री कोण्डावेंकट पैय्या, मद्रास)

उन संस्थाओं में से जिन्होंने देश-निर्माण के लिये कार्य किया है, आर्य समाज का नाम मुख्यतया लिया जाना चाहिये। वैदिक-धर्म के पुनरुद्धार के अतिरिक्त आर्यसमाज को सामाजिक-क्षेत्र में जो सेवाएं हैं, उन से विशेषकर

उत्तर भारत अधिक प्रभावित हुआ है आर्यसमाजियों की यह बात मुझे बहुत पसन्द आती है कि उन्होंने विवाह की आयु मनुष्य के लिये २५ वर्ष और स्त्री के लिये १६ वर्ष निश्चित की है और मुझे बतलाया गया है कि प्रायः आर्यसमाजी लोग इसी आयु में ही विवाह करते हैं । मैं चाहता हूं कि इस बात का प्रचार मेरे आन्ध्र-प्रान्त में भी हो । इस के अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्यसमाज ने विशेष प्रयत्न किया है विशेषकर पञ्जाब प्रान्त में तो इस ने स्कूलों का मानों जाल सा ही बिछा दिया है हरिद्वार का गुरुकुल काँगड़ी—और उस के संस्थापक श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति मेरे विशेष श्रद्धा के भाव हैं। यह सारे देश के लिए आदर्श संस्था है । इस के सिवाय 'अछूत-उद्धार' का कार्य जिसे कुछ ही सालों से कांग्रेस ने अपनाया है, आर्यसमाज में बहुत अरसे से चला आता है । और आज भी देश में इस कठिन समस्या को सुलझाने वालों में आर्यसमाजियों की संख्या बहुत अधिक है। यद्यपि मैं आर्यसमाज के अछूत-उद्धार विषयक प्रति प्रोग्राम का समर्थन नहीं कर सकता, तब भी इतना निस्सन्देह कह सकता हूं कि आर्यसमाज को इस कार्य का पर्याप्त श्रेय मिलना चाहिये

अब मैं समझता हूं कि थोड़े से आर्यसमाजियों का इतने अल्पकाल में यह सब कर दिखाना उन के सुदृढ़ सङ्गठन Organization का ही परिणाम है। और मैं चाहता हूं कि हमारे देश की बहुतसी जातीय-संस्थाओं को इस उत्तम संगठन की शिक्षा आर्यसमाज से लेनी चाहिये ।

———

उत्तर हिन्दुस्तान में थोड़े ही मनुष्य होंगे जोकि देशभक्त श्री कोण्डा वंकटपैय्या पन्तलुगारू के नाम से परिचित हों। परन्तु दक्षिण-भारत में और विशेषतः आन्ध्र-देश में देशभक्त जी का नाम 'घरेलू' सा होगया है । पिछले ४, ५ सालों में जितना जातीय महासभा का कार्य इधर हुआ है, वह मुख्यतया आप ही के परिश्रम का फल है । आप म० गांधी जी के विशेष चेलों में से हैं, और आपकी सादगी, आपकी तपस्या, आपका स्वार्थ त्याग और आपका शान्तिमय जीवन सब नवयुवकों के लिये आदर्श है। आप ही सब से प्रथम थे जिन्होंने दक्षिण-भारत में कोकिनाडा-कांग्रेस के प्रधान बनकर हिन्दी में भाषण किया । आपको हिन्दी भाषा से अगाध प्रेम है। आप यद्यपि आर्यसमाजी नहीं तब भी आर्य समाज के कार्यों से विशेष सहानुभूति रखते हैं। उसी सहानुभूति और सद्भावना का परिचय आपके ऊपर लिखे 'सन्देश' से मिलता है ।—सं०

*दर्शन !

(श्री वंशीधर विद्यालङ्कार, मुख्याध्यापक गुरुकुल सूपा)

मेरी आंखों के आगे वह—
चित्र खिंचा है—
चित्रित सी हो
खिंची हुई हैं दोनों आँखें।
कलम लिये बैठा मैं सोचूं
कैसे खींचूं-कैसे खीचूं
तेरी उस निस्तब्ध मूर्ति को।
अपने दिव्य नयन को खोले
बाल्य काल की चञ्चलता को
उत्सुकता में लिये हुए जब—
बैठा था तू स्तब्ध रात्रि में—
शङ्कर के दर्शन करने को
शङ्कर की प्रतिमा के आगे।
वायु सुप्त था—श्वास गूंजता—
था सोने वालों का पर तू—
किस चैतन्य दीप्ति से जलतीं—
निर्निमेष आँखों को खोले—
करता था आवाहन प्रभु का
भक्ति पूर्ण बालक के दिल से।
गजर बज उठा घोर तिमिर में।
ज्ञान सूर्य की मधुर उषा में—
हृदय-पद्म खिल गया।आगये
सन्मुख-निर्निमेष आँखों के
निराकार चेतन मय शङ्कर।
सुप्त भाग्य जागे भारत के॥

*यह कविता १६ मात्रा छन्द में अमिताक्षरों (Blank) में बनाई गई है – लेखक

सच्चा सुधारक ऋषि दयानन्द

[श्री० पं० गुरुदत्त सिद्धान्तालङ्कार, आर्योपदेशक]

हम इस लेख में पाठकों के सन्मुख न तो स्वामी जी के कार्यों और सुधारों का ही वर्णन करेंगे और न ही हम उन उपकारों को गिनावेंगे, जो कि स्वामी जी ने आर्य जाति पर किये हैं। इन विषयों पर आज तक अनेकों लेख लिखे जा चुके हैं। स्वामी जी के कार्यों, सुधारों और उपकारों से आर्य जाति का प्रत्येक बच्चा २ परिचित है, अतः अब उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामी जी ने मृतप्राय आर्य जाति तथा भारत का उद्धार करने के लिये किन २ उपायों का अवलम्बन किया, तथा उन्होंने अपने कार्य के लिये किस क्षेत्र का चुनाव किया, हम इस छोटे से लेख में इन ऊपर कही गई बातों पर प्रकाश डालते हुए पाठकों को ऋषि की दूरदर्शिता तथा उस की विस्मय में डालने वाली प्रतिभा का परिचय देंगे।

क्रांति के इतिहासों का अध्ययन करने से हमें निम्न सचाई (fact) का पता लगता है, कि दुनियां के किसी भी देश और जाति में बड़ी २ राजनैतिक क्रांतियां होने से पूर्व उस देश और जाति में सामाजिक और विशेष कर धार्मिक परिवर्तन प्रायः अवश्य हुआ करते हैं। दुनिया के बड़े २ राजनैतिक परिवर्तन प्रायः धार्मिक और सामाजिक क्रांतियों वा परिवर्तनों के बाद ही हुए हैं। हर प्रकार की राजनैतिक उन्नति के लिये उच्च आकांक्षा, अदम्य उत्साह, दृढ़ संकल्प, अपूर्व त्याग, अटूट आत्मविश्वास, अपूर्व धैर्य, गंभीरता, सच्चाई, संलग्नता तथा वैयक्तिक और सामाजिक उच्च जीवन आदि जिन २ गुणों की आवश्यकता होती है, व्यक्तियों और जातियों में उन अपूर्व गुणों का संचार प्रायः धर्म से ही हुआ करता है। सद्शिक्षा आदि अन्य साधनों द्वारा भी इन गुणों को व्यक्तियों और जातियों में पैदा किया जा सकता है। तथापि धर्म इस का सब से श्रेष्ठ साधन है क्योंकि सद्गुण और सदाचार सामान्य मनुष्यों में तभी स्थिरता पूर्वक रह सकते हैं, जब कि मनुष्य के हृदय से संबद्ध हों, और ये कार्य धर्म द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि धर्म का मनुष्य के हृदय

से सीधा सम्बन्ध होता है धर्म के बिना व्यक्तियों और जातियों में सद्गुण का विकास और सदाचार को स्थिरता असम्भव है यह एक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक सचाई है ऐतिहासिक साक्षियों के अतिरिक्त क्रांतियों के प्रवर्तकों और नेताओं का चरित्र ही इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि कोई भी ऐसा पुरुष जो कि सच्चरित्र तथा पूर्ण धर्मात्मा न हो, कभी भी किसी क्रांति को सफलता पूर्वक नहीं चला सकता। मेज़िनी, वाशिंग्टन, डिवैलरा, रुसो, टालस्टाय, लेनिन, और महात्मा गांधी आदि सभी क्रांति कारक और अराजक नेता बहुत ही धर्मात्मा तथा सच्चरित्र हुए हैं। इसी बात को देख कर एक बार जर्मन देश के सम्राट् ने अपने भाषण में कहा था, कि समस्त धार्मिक चेष्टाएं वास्तव में राजनैतिक चेष्टाएं ही होती हैं"। यह बात निस्संदेह इस हद तक सच्च है कि धर्म द्वारा ही मनुष्य में समस्त सार्वजनिक चेष्टा के लिये उत्साह उत्पन्न होता है। बुद्ध जैसे प्रभाशील, और अहिंसाप्रधान, और दयालु धर्म ने भी भारतवर्ष में इतना बड़ा संगठित साम्राज्य स्थापित कर दिया, जितना कि इस देश में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित होने से पूर्व कभी देखने में न आया था। मुहम्मद ने अरब को एक राजनैतिक संगठन में संगठित करने के लिये तथा उनके जातीय बल को बढ़ाने के लिये वहां की धार्मिक दुरवस्था को सुधारनाही परमावश्यक समझा मुहम्मद ने अपने जीवनकाल में ही इस्लाम के द्वारा अरब की जंगली और असभ्य जातियों को परस्पर संगठित करके उन का बल इतना बढ़ा दिया कि मुहम्मद की मृत्यु के कुछ सदी बाद ही अशिक्षित अरब निवासी सारे पश्चिम के गुरु हो गये, तथा उनकी विजयपताका पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में स्पेन तक लहराने लगी। योरोप में लूथर के सुधारों के बाद ही उन्नति का युग प्रारंभ हुआ लूथरकी धार्मिक क्रांति और सुधारोंके बाद ही योरोपमें बुद्धिस्वातन्त्र्य तथा विज्ञान, शिल्प, विद्या, साम्राज्य-वृद्धि आदि की प्रबल लहर चली। प्योरिटेन-मत (Puritanism) ने ही इंग्लैंड में वास्तविक स्वतन्त्रता स्थापित की।

यहूदियों की गिरी हुई राजनैतिक दशा को सुधारने के लिये तथा अपनी जाति को रोमन लोगों के दासत्व के पंजे से छुड़ाने के लिये ईसा ने अपनी जाति की गिरी हुई धार्मिक, सामाजिक और इख़लाकी दशा को सुधारना ही परमावश्यक समझा क्योंकि क्राइस्ट इस बात को अच्छी तरह से समझता था, कि जब तक वह अपनी जाति की सामाजिक और सदाचार संबंधी हीन दशाको न

सुधारेगा, तथा फ़ैरेसीज़ और स्क्राइब्स द्वारा फैलाये हुए अंधविश्वासों और ढोंगों को दूर करके लोगों के जीवनों को उन्नत और उन के हृदयों को विशाल न बनावेगा एवं जब तक कि वह जन्मगत कृत्रिम ऊंच नीचके भेदों को दूर करके अपनी जाति में समानता, भ्रातृत्व और एकता के सिद्धान्तों का प्रचार न करेगा तब तक उस की जाति किसी प्रकार की भी उन्नति नहीं कर सकती और न वह विदेशियों की पराधीनता के पंजे से ही मुक्ति पा सकती है। अतः ईसा ने राज्यद्रोह न करके धार्मिक क्रान्ति को ही खड़ा किया। परन्तु शोक है कि हत-भाग्य यहूदियों ने ईसा के उपदेशों का महत्व न समझ कर उसे अपना दुश्मन समझ लिया, तथा उसे राज्यद्रोह के अपराध में पकड़ कर अपनी जाति के शत्रुओं के हाथ में सौंप दिया। बुद्धिमान् रोमन सरकार ईसा की उत्पन्न की हुई धार्मिक क्रान्ति के द्वारा पैदा होने वाले भावी राजनैतिक परिणामों को खूब समझती थी। अतः उसने इस स्वर्णावसर का उपयोग उठाकर ईसाको cross पर लटका दिया।

संसार के अन्य देशों में तो राजनैतिक आन्दोलनों का धर्म के साथ इतना घनिष्ट संबन्ध नही रहा, जितना कि भारत में रहा है। भारत में राजनीति सदा से धर्म के पीछे चलती रही है। यहां के बड़े २ राजनैतिक परिवर्तन तथा राजनैतिक क्रांतियां धर्म की आड़ में ही हुई हैं. बहुत प्राचीन काल से ही भारत की सामान्य जनता अपने राजनैतिक स्वत्वों तथा राजनैतिक ज्ञान से वंचित (हीन वा शून्य) रही है। बहुत प्राचीन समय से ही ये लोग दृढ़ धार्मिक रहे हैं। इसलिये इन के समस्त महान् कार्यारम्भों तथा कार्य सिद्धियों में धर्म ही प्रधान प्रेरक शक्ति रही है।

सोलहवीं सदीके अंत में तथा सत्रहवीं शताब्दि के आरम्भ में महाराष्ट्र में जो हलचल मची थी वह केवल राजनैतिक ही नहीं थी वरन् राज्यक्रान्ति से पूर्व वहां धर्मक्रान्ति हो चुकी थी। यदि महाराष्ट्र में धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न न होती तो राजनैतिक क्रांति का होना सर्वथा असंभव था। यद्यपि मुगलों के अत्याचारों, औरङ्गजेब के धर्मोन्माद तथा उसकी हठधर्मिता के कारण भी महा-राष्ट्र में असन्तोष की वृद्धि हुई तथापि औरङ्ग़ज़ेब की कट्टरता ही महाराष्ट्र के साम्राज्य विकास का एक मात्र कारण नहीं कही जा सकती। वास्तव में औरङ्गजेब के शासन से पूर्व ही मराठों का उत्थान प्रारम्भ हो चुका था. योरोप के धार्मिक संशोधन की तरह पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भारत में विशेषतः दक्षिण

में धार्मिक और सामाजिक संशोधन तथा पुनरुज्जीवन का कार्य बड़े ज़ोर शोर से हुआ। दक्षिण भारत को इस धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के नेता, साधु, कवि तथा तत्वज्ञानी थे। उपर्युक्त क्रांति में ब्राह्मणों तथा उच्चश्रेणी के लोगों की अपेक्षा दर्ज़ी, बढ़ई, कुम्हार, माली, नाई तथा भंगी आदि निम्न श्रेणी के लोगों ने ज़्यादा भाग लिया। इसी कारण ही तुकाराम, वामन पंडित, एकनाथ, रोहितदास, गोरा-कुम्हार, नामदेव दर्ज़ी आदि के नाम सुनते ही महाराष्ट्र की जनता मोहित हो जाती थी शिवाजी को भी अपने हिन्दू साम्राज्य स्थापना के कार्य के लिये उत्तेजना तथा प्रेरणा गुरु रामदास से ही प्राप्त हुई थी, जोकि उस समय महाराष्ट्र के धार्मिक नेता माने जाते थे। शिवाजी ने लोगों के धर्म भावों को भड़काया तथा अपने को हिन्दू धर्म का रक्षक तथा गौ ब्राह्मण का प्रतिपालक बतलाया। इस तरह धर्म की आड़ में अथवा राजनीति को धर्म का पहिरावा पहिना कर शिवाजी को एक बड़ा भारी साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त हो सकी। इसी प्रकार १०वीं सदी में गुरु गोविन्द सिंह तथा उसके अनुयायियों बन्दा आदि द्वारा पंजाब में खड़े किये गये राज्यविप्लव का बीज कबीर, नानक आदि धर्म सुधारक सन्तों तथा हक़ीक़त राय धर्मी तथा गुरुतेग़ बहादुर आदि धर्म पर हंसते २ बलिदान होने वाले महात्माओं द्वारा बोया गया था। यदि कबीर, नानक आदि धर्मसुधारक सन्त पंजाब के हिन्दुओं में धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति द्वारा जागृति उत्पन्न न करते, तथा हक़ीक़त राय, गुरु तेग़ बहादुर जैसे भक्त लोग हंसते २ धर्म पर अपने को न्योछावर न करते, तो हिन्दु जाति में नये जीवन और उत्साह का संचार कदापि न होता, तथा उन में स्वतन्त्रता की प्रबल लहर कभी न चलती। नानक के सुधारों तथा हक़ीक़त और तेगबहादुर आदिके बलिदानोंने मरती हुई हिन्दुजातिमें नई जान फूंक दी। अन्यथा पंजाब में राज्यविप्लव या क्रान्ति कभी खड़ी न की जा सकती।

१८५७ का प्रसिद्ध गदर अधिकतर हिन्दु तथा मुसलमान सिपाहियों के उस धार्मिक क्रोध का ही परिणाम था, जोकि चर्बी वाले कातूसों के कारण उत्पन्न हो गया था। कूकों का विप्लव, जिसके परिणाम स्वरूप सैंकड़ों को तोपों के सामने खड़ा कर उड़ा दिया गया, मुख्यतः रामसिंह के अनुयायियों के धर्मोन्माद का ही परिणाम मात्र था, इन सबके पीछे बंगाल का नूतन विक्षोभ भी बड़े बलके साथ ऊपर कहे राम सत्य की पुष्टि कर रहा है। इस नाटक के समस्त अभिनेता धार्मिक पुरुष ही हुए हैं, वे मनुष्य जोकि एक हाथ में बंब का गोला ले जाते थे उनके दूसरे

हाथ में प्रायः भगवद्गीता पड़ी हुई होती थी, जिस समय महात्मा गांधी ने कांग्रेस तथा असहयोग आन्दोलन को धर्म का पहिरावा पहिनाया, उसी समय से ही भारत क सामान्य जनता में कांग्रेस और असहयोग आन्दोलन की कदर बढ़ी। महात्मा जी से पहिले कुछ थोड़े से शिक्षित लोगों को छोड़ कर कोई भारतीय कांग्रेस का नाम तक भी न जानता था। सिक्खों का वर्तमान शुद्ध राजनैतिक सत्याग्रह आन्दोलन तथा हिन्दु मुसलमानों के राजनैतिक अधिकार मूलक पारस्परिक झगड़े क्या इस बात की बड़े बल के साथ पुष्टि नहीं कर रहे कि धर्म ही भारत की मुख्य प्रेरक शक्ति है? यहां राजनीति तभी सफल हो सकती है, जब कि उसे धर्म का पहिरावा पहिनाया जाय। ऊपर कही गई घटनाओं से यह स्पष्ट है, कि सामान्यतः सारे संसार में और विशेषतः भारत में धार्मिक क्रान्ति के बिना किसी प्रकार की भी जातीय वा राष्ट्रीय जागृति नहीं हो सकती।

ऋषि दयानन्द ऊपर कही गई सचाई (fact) से भली भान्ति परिचित थे। ऋषि आर्य जाति के रोग के निदान को तथा उसके ठीक इलाज़ को खूब अच्छी तरह जानते थे। जिस समय ऋषि का भारत भूमि में अवतरण हुआ, उस समय आर्य जाति बिल्कुल मरणासन्न अवस्था में थी उस समय हिन्दु जाति की हालत क्षय रोग पीड़ित व्यक्ति की तरह हो रही थी। नाना प्रकार के धार्मिक और सामाजिक कुरीति रूपी जर्म्स हिन्दू जाति के शरीर को खोखला कर रहे थे। धार्मिक अंधविश्वास, धार्मिक पराधीनता, सदाचार और वास्तविक कर्म कांड को नष्ट करने वाली धार्मिक कुप्रथायें तथा रीतिरिवाज़, बाल विवाह, स्त्रियों की गुलामी, स्त्री शिक्षा का अत्यन्ताभाव, पत्थर को भी मोम बनाने वाला तथा वज्र के कठोर हृदय को भी टुकड़े २ कर देने वाला करोड़ों विधवाओं का घोर आर्तनाद, जाति के अनाथों की बेपरवाही आदि कमज़ोरियां आर्य जाति के शारीरिक बल, मानासिक उत्साह, सदाचार तथा सामाजिक संगठन को लगातार क्षीण कर रही थीं इस पर भी जात पात के कृत्रिम बन्धन, अछूतों और निचली श्रेणी के लोगों के साथ किये जाने वाले अमानुषीय निष्ठुर व्यवहार, अत्यन्त उग्र धार्मिक कट्टरपन तथा अनुदारता आदि साधनों द्वारा हिन्दू जाति अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ा चला रही थी। ईसाई पादरी हमारी इन कमज़ोरियों का फ़ायदा उठा कर धर्म प्रचार के बहाने से हमारी सभ्यता तथा जातीयता का नाश कर रहे थे। ईसाई पादरियों ने घोषणा कर दी थी,

कि वे ३३ वर्ष के अर्से के अन्दर ही सारे भारतीयों को प्रभु ईसा मसीह की भेड़े बना देंगे।

ऐसे कठिन समय में स्वामी कार्य क्षेत्र में पधारे. कुम्भ के मेले पर ऋषि ने भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक हीनावस्था का सच्चा जीता जागता फ़ोटो लिया ऋषि ने सच्चे वैद्य को तरह मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई आर्य जाति के रोग के निदानों को पहचाना। ऋषि ने अपने मन में विचारा कि धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में सुधार और क्रांति उत्पन्न किये बिना आर्य जाति को जीवित जागृत बनाना तथा भावी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने के वास्ते लायक बनाना असम्भव है। उस समय किसी प्रकार के राजनैतिक सुधार के लिये अथवा स्वतन्त्रता संग्राम के लिये प्रयत्न करना ऊसर भूमि में बीज बोने के समान था। उस समय किसी प्रकार का भी राजनैतिक आन्दोलन भारत में सफलता पूर्वक नहीं चलाया जा सकता था। धार्मिक और सामजिक परतंत्रा की कड़ी बेड़ीयों में बंधी हुई तथा बालविवाह, अछूतपने आदि रोगों से पीड़ित मरणासन्न हिंदु जाति—निश्शस्त्र क्रान्ति तो क्या वैधान्दोलन को चलाने में भी समर्थ न थी। केवलमात्र धार्मिक और सामाजिक पुनरुद्धार ही एक.मात्र चिकित्सा थी, जिसके द्वारा उस समय आर्यजाति को आसन्न विनाश से बचाया जा सकता था। दूरदर्शी ऋषि ने इस बात को अच्छी तरह से अनुभव कर लिया था कि भारत में धार्मिक और सामाजिक क्रांति किये बिना आर्यजाति को जीवित जागृत बनाना तथा भावी स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई लड़ने वास्ते लायक बनाना असंभव है। ऋषि ने केवलमात्र भावी में राजनैतिक और जातीय सुधारों के लिये क्षेत्र ही तय्यार नहीं किया, अपितु उन्होंने अपने इलाज द्वारा जाति की बेहोशी को दूर करके उसे जीवित जागृत बना दिया।

दयानन्द जैसा आदित्य ब्रह्मचारी ही उस समय भारत में बड़ी भारी क्राँति सामाजिक पुनरुज्जीवन, तथा जातीय निर्माण के महान् कार्य को कर सकता था। किसी अन्य के लिये यह कार्य करना असम्भव था। उस आदित्य ब्रह्मचारी ने किसी सैनिक और जनरल की सहायता के बिना ही अकेले भारत में ही नहीं, अपितु सारे संसार में क्राँति की, और बड़ी भरी क्राँति की. ऋषि ने अकेले ही सारे पापों के विरुद्ध निर्भयता से क्राँति खड़ी की। ऋषि ने निर्भयता पूर्वक हर प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक पाप की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाया।

ऋषि की इस क्राँति का परिणाम यह हुआ कि हिंदु जाति की धार्मिक और सामाजिक परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्ति हो गई स्वामी रूपी सूर्य के उदय होने पर सब प्रकार के अन्धविश्वास अन्धकार की तरह एकदम विलीन हो गये ऋषि ने जाति के शरीर को क्षीण करने वाले जर्म्स का नाश करके अपने सुधार रूपी टौनिक से जाति के शरीर को इतना पुष्ट और बलवान बना दिया, कि वह भावी जीवन संग्राम में आने वाले आघातों और विपत्तियों का मुकाबिला करते हुए अपनी सत्ता को कायम कर सके, तथा सब प्रकार की उन्नति कर सके । आज हिन्दुजाति में इस संसार की संग्राम भूमि में अपनी सत्ता को कायम रखने के लिये जो हलचल दीखती है, उस के श्रेय का एक मात्र अधिकारी ऋषि दयानन्द ही है। ऋषि वास्तविक अर्थों में समाजशास्त्र का बड़ा भारी विद्वान् था ऋषि विनाश और निर्माण दोनों के उचित महत्व को खूब अच्छी तरह समझते थे । ऋषि इस बात को अच्छी तरह से जानते थे, कि जब तक सामाजिक बल और संगठन को कमज़ोर करने वाली तथा जात पात के भेदों को दृढ़ करने वाली हिंदु समाज की वर्तमान सामाजिक रचना तथा सामाजिक प्रणाली Institution को समूल नष्ट करके उसके स्थान पर नवीन रचना न की जावेगी, तब तक हिन्दु समाज का सुधार करना बिल्कुल असंभव है। अत: ऋषि ने पुरानी सामाजिक रचना का नाश करके उसके स्थान पर समानता, परस्पर सहयोग और एकता को पुष्ट करने वाली नवीन समाज-रचना की उस सच्चे वैद्य ने हिन्दु जाति के रोगों को दूर करने के लिये जो नुसख़ा दिया था, उस समय रोगी ने अपनी नादानी से उसे कड़वा समझ कर थूक दिया था। परन्तु आज सारे के सारे हिन्दू जाति के दिमाग़ रखने वाले नेता तथा हिन्दु जातीय महासभा ऋषि के निर्दिष्ट किये हुए उपायों और सुधारों के महत्व और उनकी उपयोगिता को अनुभव कर रही है। दूरदर्शी ऋषि ने आज से ६० साल पूर्व ही आर्य जाति के उद्धार के लिये जिस मार्ग को दिखाया था आज सारे के सारे हिन्दु उस ऋषि के बताये हुए मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। ब्रह्मचर्य रक्षा, शुद्धि, धार्मिक उदारता, जात पात के कृत्रिम बन्धनों को तोड़ना, दलितोद्धार, स्त्री शिक्षा, स्त्रियों की स्वतन्त्रता, विधवोद्धार आदि जिन बातों का महत्व हिन्दु जाति के विचारशील नेता आज अनुभव कर रहे हैं, ये बातें कोई नई नहीं हैं आज से ६० वर्ष पूर्व ऋषि ने इन बातों का केवल मात्र मौखिक प्रचार ही नहीं किया, अपितु उस दूरदर्शी ऋषि ने

इन बातों को क्रियारूप में परिणित करके आर्य जाति के सन्मुख आदर्श स्थापित किया था।

ऋषि ने सुधार का कार्य अन्य सुधारकों की अपेक्षा बहुत अधिक सफलता के साथ किया एक तो भारत के अन्य सुधारकों की अपेक्षा ऋषि विद्या, तपस्या, चरित्र निर्मलता तथा इन सब से बढ़कर ब्रह्मचर्य की पूर्णता में बहुत अधिक बढ़े चढ़े थे। इन सब बातों के अतिरिक्त ऋषि का सुधार करने का तरीका अन्य सुधारकों की अपेक्षा अधिक व्यापक, विस्तृत, क्रियात्मक तथा श्रेष्ठ था ऋषि ने अन्य सुधारकों की तरह तर्क और श्रद्धा को पृथक कर केवल एक पर ही बल नहीं दिया, तथा दूसरे की बिल्कुल उपेक्षा भी नहीं की ऋषि ने दोनों को यथोचित स्थान दिया ऋषि ने बुद्ध, शङ्कराचार्य, कबीर, चैतन्य, रामानन्द आदि सुधारकों की तरह जाति और राष्ट्र की कर्मण्यता का नाश करने वाले मायावाद, निवृत्तिमार्ग तथा केवल परलोकवाद का सामान्य जनता में प्रचार नहीं किया ऋषि ने प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्तिमार्ग दोनों का ही यथायोग्य उपदेश दिया। ऋषि ने बुद्ध, शङ्कर, कबीरादि सुधारकों की तरह सामान्य जनता को गृहस्थ जीवन से घृणा करने तथा संसार छोड़ने का उपदेश नहीं दिया। ऋषि ने अन्य सुधारकों की तरह सभी को एक लाठी से हांकने तथा जनता में अक्रियात्मक कार्य को प्रचार करने का भूल कर भी यत्न नहीं किया। ऋषि ने यथा योग्य भिन्न २ जाति और भिन्न २ वर्णके व्यक्तियों को अपने २ धर्म और कर्तव्य पालन करने का उपदेश देकर वर्णाश्रमों की बिगड़ी हुई दशा को सुधारा ऋषि ने महात्मा बुद्ध की तरह निराशावाद का कभी प्रचार नहीं किया। ऋषि पूर्णाशावादी थे। ऋषि को परमेश्वर की दयालुता और उस की न्याय बुद्धि पर पूर्ण विश्वास था, अतः वे कभी निराशावादी हो ही न सकते थे। ऋषि निराशा को महापाप और नास्तिकता समझते थे। ऋषिका धर्म आस्तिकता, ईश्वर विश्वास और आशा का धर्म था। उस में निराशावाद के लिये कोई स्थान न था। ऋषि ने महावीर, शङ्कर, नानक, आदि सुधारकों की तरह गुरुडम और गद्दी प्रथा चलाने का भी यत्न नहीं किया, जिस ने कि उस के संस्थापकों, प्रवर्तकों या मूल सुधारकों की वास्तविक Spirit का नाश करके उस के विरुद्ध व्यक्ति पूजा प्रचलित करने तथा अन्ध विश्वासों, कुप्रथाओं और मतमतान्तरों का जाल फैलाने में बहुत सहायता की। ऋषि ने अपने पीछे अपने मिशन को पूरा करनेके लिये महात्मा बुद्धकी तरह प्रजासत्तात्मक संगठनको स्थापित किया, परन्तु दोनों महापुरुषों द्वारा स्थापित

संगठन प्रजासत्तात्मक होते हुए भी सिद्धान्त भेद के कारण मूल में ही एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। भगवान् बुद्ध परमात्मा तथा इलहाम पर विश्वास न रखते थे, अतः स्वाभाविक था, कि वे अपने अनुयायियों को अपने पीछे "धर्म की प्रामाणिकता के सम्बन्ध" में अपने उपदेशों तथा सदा के प्रामाणिक अधिकारी (Authority) होने का उपदेश देते जैसे कि भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों को "बुद्धं सरणं गच्छामि" संघं सरणं गच्छामि" के मूलमंत्रों का उपदेश दिया है। बुद्ध के उपदेश तथा बौद्ध संघ के निश्चय बौद्धमत के विषय में अन्तिम प्रमाण हैं। बौद्ध संघ प्रचारादि के प्रबन्ध तथा धर्म दोनों के विषय में अन्तिम प्रमाण है। महात्मा बुद्ध के "बुद्धं सरणं गच्छामि" के उपदेश ने उस की (बुद्ध की) वास्तविक Spirit के विरुद्ध बुद्ध की वैयक्तिक पूजा प्रचलित करने तथा उसे उपास्य देव मान कर पूजने (पूरे शब्दों में बौद्धों में गुरुडम की प्रथा प्रचलित करने) में बहुत सहायता दी है। इस बात को इतिहास के विद्यार्थी भली भान्ति जानते हैं। दूसरी तरफ़ ऋषि ने अपना व्यक्ति या अपने उपदेशों तथा अपने द्वारा स्थापित संगठन को धर्म के विषय में कभी भी अन्तिम प्रमाण नहीं माना। आर्यों के संगठन ऋषि के मिशन प्रचार करने के प्रबंध के विषय में तो पूर्ण स्वतंत्र हैं। परन्तु धर्माधर्म निर्णय करने का उन्हें कोई हक नहीं। धर्म के सम्बन्ध में तो अन्तिम प्रमाण वेद ही हैं, न कि ऋषि के उपदेश अथवा उन के द्वारा स्थापित आर्य संगठन अतः ऋषि संगठन जहां रचना की दृष्टि से सब से उत्तम है, वहां भावी में इस के द्वारा भ्रम फैलने अथवा गुरुडम फैलने का कोई भय नहीं। इन ऊपर कहे गये मोटे २ भेदों को छोड़ कर ऋषि तथा अन्य भारतीय सुधारकों में एक और बड़ा भारी भेद है। ऋषि बुद्ध, महावीर, शङ्कर, नानक, कबीर तथा चैतन्यादि सुधारकों की तरह एकतरफ़ा सुधारक न था। जहां ऋषि द्वारा प्रचारित धर्म तथा Philosophy-comprihensive है वहां ऋषि के सुधार भी एकतरफ़ा न हो कर comprihensive हैं। यद्यपि ऋषि ने भारत में मुख्यतया धार्मिक और समाजिक क्रांति ही उत्पन्न की है, जो कि उस समय परमावश्यक थी। ऋषि ने धार्मिक और सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त भारत की राजनैतिक सेवा भी बहुत ज्यादा की है। ऋषि सच्चा देशभक्त था ऋषि के हृदय में देश भक्ति की आग जल रही थी। सब से पहिले ऋषि ने ही स्वतंत्रता और क्रांति का बीज बोया। आज भारत में जो भी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक हल चल

दीखती है, तथा राष्ट्रनिर्माण और स्वराज्य स्थापना के कार्य की सिद्धि के लिये जो भी क्रांति के चिन्ह दिखाई देते हैं, इन सब का बीज ऋषि ने ही बोया था। वर्तमान भारत में दिखाई देने वाली जागृति के श्रेय का सेहरा एक मात्र ऋषि के सिर ही बांधा जा सकता है। वास्तव में ऋषि ही इस सारे श्रेय का एकमात्र अधिकारी है। भावी स्वतंत्र भारत के राष्ट्रनिर्माण के कार्य कर्ताओं में सब से ऊंचा आसन ऋषि को ही दिया जावेगा। २० वीं सदी का सच्चा सुधारक तथा क्रान्तिमय भारत का सच्चा निर्माता ऋषि दयानन्द ही है। प्यारे पाठको! आओ, एक वार सब मिल कर भूले भटके भारत को राह दिखाने वाले, प्राणों से भी प्यारी मातृभूमि की स्वतंत्रता का बीज बोने वाले तथा क्रान्तिमय भारत के निर्माता उस आदित्य ब्रह्मचारी के चरणों में भक्तिभाव से अपनी अंजलियों में श्रद्धा के फूल लेकर वाणी द्वारा अवर्णनीय अपनी प्रेमभरी अगाध कृतज्ञता को प्रकाशित करने के लिये अपने सिरों को झुका दें।

ऋषियों का चमत्कार।

(श्री यशः पाल सिद्धान्तालङ्कार, वैदिक मिशनरी)

प्राचीन आर्यों ने सन्तति-शास्त्र-विज्ञान में आश्चर्य जनक उन्नति की थी। उनका यह विचार था कि सन्तानोत्पत्ति का कार्य बड़ा उत्तरदायित्व पूर्ण है। इस से अधिक महत्व का कार्य अन्य दूसरा कोई नहीं है। संस्कारों की सम्पूर्ण फिलौसफ़ी इसी विज्ञान के आधार पर निर्मित की गई थी। किसी जाति का भविष्य उस जाति के बालकों पर निर्भर है। जिस जाति के बच्चे निर्बल, बीमार तथा बलहीन हों वह जाति संसार में कभी भी उन्नति नहीं कर सकती और सदा पद दलित होती रहती है। इसी लिये हमारे शास्त्रों में गर्भाधान संस्कार को विशेष महत्व दिया है तथा गर्भस्थ बालक के संस्कारों को उन्नत तथा परिमार्जित करने के लिये गर्भावस्था में ही कई संस्कारों का विधान किया है। प्राचीन आर्यों ने इस सत्य को भली प्रकार से अनुभव किया था कि गर्भ के समय बालक को जिस तरह का बनाया जावेगा या जो जो संस्कार उस पर डाले जायेंगे उनको मिटाना

बड़ा कठिन हो जाता है। विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति था न कि विषयभोग। विषयभोग के उद्देश्य से विवाह करने वाले व्यक्तियों की सन्तानें प्रायः विषयी होती हैं। यही कारण है कि आजकल हमारे देश की सन्तति सत्वहीन पैदा होती है।

मनुस्मृति में एक स्थान पर लिखा है:—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥
यादृशं भजतेहि स्त्री सुतं सूते तथा विधम्।
तस्मात् प्रजा विशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥

अर्थात् पति ही पुत्र रूप से अपनी पत्नी से पैदा होता है। स्त्री का स्त्रीत्व यही है कि पति उस में फिर जन्म लेता है। गर्भाधान के समय जिस प्रकार का विचार स्त्री के हृदय में होता है उसी प्रकार की सन्तान उस से पैदा होती है। यह जानकर कि वंशानुक्रम संस्कार बहुत दृढ़ होते हैं शास्त्रकारों ने वंश के बुरे संस्कारों को दूर करने के लिये तथा उन के प्रभाव को नष्ट करने के लिये विविध उपायों का वर्णन किया है। परन्तु इतना निश्चित है कि कई संस्कार इतने प्रबल होते हैं जिनका मनुष्य के सदाचार, विचार तथा स्वभाव (Temperament) पर अवश्य असर पड़ता है। जहां गर्भाधान से पूर्व माता पिता के लिये पवित्र विचारों का विकास करना आवश्यक है तथा गर्भावस्था में बच्चे पर किसी प्रकार का बुरा संस्कार न पड़े इस बात के लिये बड़ी सावधानी की आवश्यकता बतलाई गई है वहां इस बातपर भी बल दिया गया है कि बीमार तथा अयोग्य व्यक्ति विवाह न करे ताकि अयोग्य तथा निर्बल सन्तान पैदा न हो। सन्तानोत्पत्ति (Breeding of Human beings) का कार्य बहुत ही उत्तरदायित्व पूर्ण समझा जाता था। इसी पर किसी भी देश या जाति का भविष्य निर्भर है। जिस जाति के माता पिता गर्भाधान संस्कार के महत्व को नहीं समझे उस जाति में बलवान् बच्चों का पैदा होना नितान्त असम्भव है। इसी सचाई को दृष्टि में रख कर मनु लिखता है:—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्र कुष्ट कुलानिच ॥
मनु० ३. ६—७

चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे। जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्यन से विमुख, शरीर पर बड़े २ रोम और बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मृगी श्वेतकुष्ट और गलित कुष्ट हों, उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह न होना चाहिये। क्यों कि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।

इसी को दृष्टिमें रखते हुए डा०एफ, डबल्यू, मौट, एफ.आर.ए. एस लिखतेहैं कि "संस्कारोंकी वंशानुक्रमिता का प्रश्न जातीय हितकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि अब जनता ने इस विषय पर विचार करना प्रारम्भ किया है। प्रोफेसर आर्थर टाम्सन की सचाई को लोगों ने अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है कि "वर्त्तमान मूल का पुत्र है, संस्कार में एक बच्चे का पैदा होना कोई साधारण कार्य नहीं है परन्तु अपने माता पिता के प्रभावों तथा संस्कारों को लेकर ही बच्चा इस संसार में जन्म लेता है और इन संस्कारों का प्रभाव एक वंश से दूसरे वंश में जाता है"। इस उद्धरण से पाठक भली प्रकार समझ सकते हैं कि सन्तानोत्पत्ति का कार्य कितना महत्व पूर्ण है। अब तक पाश्चात्य विद्वानों ने सन्ततिशास्त्र (Eugenics) के विषय में अन्वेषण नहीं किये थे और उन को इस विद्या का सर्वथा ज्ञान न था परन्तु अब पश्चिम में भी इस विद्या के विषय में अन्वेषण प्रारम्भ हुए हैं और जितनी २ उन्नति होती जा रही है उतनी प्राचीन ऋषियों की बुद्धि का चमत्कार लोगों के सामने प्रगट हो रहा है और संसार को पता लग रहा है कि ऋषियों ने कितने आश्चार्यजनक सिद्धान्त आज से कई लाख वर्ष पूर्व मनुष्य जाति के सामने रक्खे थे। जितनी २ विज्ञान की उन्नति होगी उतनी ही वैदिक सिद्धान्तों की विजय होगी और वेद की सचाईयों का प्रकाश संसार में फैलेगा।

ऋषिबोध

[श्री मुक्तिराम उपाध्याय, आचार्य गु० कु० पोठोहार]

बालक के भोले भाव।

सब सोते हैं, हम जाग आज तो शिव के दर्शन पावेंगे।
चरणों में शीस झुका जल से झट उन को स्नान करावेंगे॥
फिर अक्षत बिल्व चढ़ा यह भोजन सुमधुर उन्हें करावेंगे॥
फिर जाग पिता जी को यह बीती सब ही कथा सुनावेंगे॥

घटना की ठोकर।

चूहा चावल चाब चढ़, शङ्कर के शुभ शीस।
कूद फांद कह सा गया, मूल! न यह जगदीश॥

दोहे की व्याख्या।

जिसे स्पर्श से शून्य वेद सब ही बतलाते।
उसे स्पर्श कर हम क्योंकर ऊपर चढ़ जाते॥
है इतनी समता सच्चे ईश्वर से इस की।
भोजन में कामना, है इसकी ना उस की॥
वह चेतन यह जड़, वह स्रष्टा है यह माया।
वह द्रष्टा यह दृश्य, भेद इतना ही पाया॥
भोजक समझ इसे कुछ लोग चढ़ा जाते हैं।
हम या पूजक वृन्द उसे सब खा जाते हैं॥
इतना कर निर्देश कर्म अपने से चूहा।
लम्बा बना मूल शङ्कर को उपजी ऊहा॥

विचार परिवर्तन।

रवि मण्डल में, शशि कुण्डल में,
तारा दल में, दावा नल में,

विद्युत् खद्योत निकर सब में विद्योत रही सुषमा जिसकी।
गिरि कन्दर के, सरिदन्तर के,
धरणीतल के, नभ अञ्चल के,
लघु दीर्घ चराचर की कृति से सम्प्रोत लखी महिमा जिसकी।
ग्रह चक्र फिरे, क्षण भी न टरे,
नहिं एक गिरे, न कभी टकरें,
इस ग्रह गण के उत्तोलन में गत तोल मिली गरिमा जिसकी।
तरु का उगना, फल का लगना,
जल का झिरना, ऋतु का फिरना,
इस अणुचय के परिवर्तन में प्रतिभास रही महिमा जिस की।
अजरामर का, सुख सागर का,
ज्ञानाकर का, जगतीधर का,
उस शङ्कर का निज मन्दिर ही निज आश्रम मान लिया किस ने ?
दृक् दूर रुके, चल चित्त थके,
मन भी सटके, मति भी अटके,
ऋषि नेति रटें जिस को सुन के उस को पाषाण किया किस ने ?।
जल मूल दिये, फल फूल दिये,
सब अन्न दिये, सम्पन्न किये,
जिस ने हम दाता पाता हैं उस के यह मान दिया किसने ?
श्रुति मान नहीं, प्रभु ज्ञान नहीं,
कुल आन नहीं, बलिदान नहीं,
है मंत्र यही जप का जग को यह बेजड़ ज्ञान दिया जिसने।

धारणा।

मति मलहर द्युतिकर अजर, ईश्वर है बस और।
मिले विवेकी गुरु जहां, चलो चलें उस ठौर॥

गुरु प्राप्ति।

यह चारु विचार धार धाया।
तप से गुरु देव एक पाया॥

निगमागमनीति पक्ष धारी।
शुभचिन्तक शिष्य का भिखारी।
निज पूजित धर्म क्लेश तोड़ा १।
विधि ने यह ठीक जोड़ जोड़ा।
२व्रज में यह मेल पा दया का।
दुहरा आनन्द आगया था।
गुरु में गुरुता३ मिली निराली।
तनुता४ की जो जनी व पाली।
मन में गुरु देव के समाया।
तनु ने उपदेश यह सुनाया।
इस नश्वर देह को तपा लो।
अविनश्वर धर्म को बचालो।

परिणाम।

गुरु आयसु उर धार, श्रुति पङ्कज परिमल मधुर।
निज उपदेश बयार, झोली दिशि दिशि ऋषि मुकुट।
गहि गुरु तर्क कुठार, काटि कुमतकण्टकि तरुहिं।
लखि हिय खेत सुधार, बोए श्रुति सहकार तरु।

धन्यवाद।

पीडित लखि जननी धरा, किया आत्म बलिदान।
धन्य ऋषे निज जाति का, जाने दिया न मान।

मङ्गल कारक ऋषि मिला, अब न रही वह बात।
मङ्गल कर अन्वर्थ बन, धन्य बनी शिवरात।

१–तोड़ा=तोड़ने वाला।

२–व्रज में गुरु के दयाभाव को प्राप्त कर ऋषि को दूना आनन्द आया। अथवा व्रज के साथ दया के मेल को देख कर दो आनन्द आमिले, अर्थात् व्रजानन्द और दयानन्द का मेल हुआ।

३–गुरुता=ज्ञान की उत्कृष्टता।

४–तनुता=शरीर की कृशता।

राजनैतिक नेताओं के नाम ऋषि दयानन्द का सन्देश

(श्री० धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति)

ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचारों से अपरिचित पाठक इस लेख के शीर्षक को देखकर चकित हो जाएंगे। वे कह उठेंगे कि ऋषि दयानन्द तो केवल एक धार्मिक वा सामाजिक सुधारक थे राजनीति के क्षेत्र से वे कोसों दूर रहते थे। राजनीति में उन्होंने कभी कदम तक नहीं रक्खा था। ऐसी अवस्था में वे राजनैतिक नेताओं के नाम कोई महत्त्वपूर्ण सन्देश दे ही कैसे सकते थे? पर स्वाध्यायशील सज्जनों के सन्मुख इस तरह की सारी शङ्काएं फ़जूल हैं। ऋषि के वेदभाष्य, आर्याभिविनय और सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों को आद्योपान्त पढ़ने का जिन सज्जनों को सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि यद्यपि ऋषि दयानन्द ने प्रत्यक्ष अथवा बाह्य रूप से केवल धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी थी पर उन के लेखों का यदि मनन किया जाए तो वे राजनैतिक क्रान्ति उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं और वर्तमान समय के बड़े से बड़े राजनीतिज्ञों के अनुभवसिद्ध मन्तव्यों से भी वे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इस विषय के विस्तार में न जाते हुए मैं दो तीन स्पष्ट उदाहरण पाठकों के सामने रखता हूं

सब से पहले मैं पाठकों का ध्यान ऋषि के इन शब्दों की तरफ़ खैंचना चाहता हूं "जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" सत्यार्थ प्र० समु० १० ॥

इन शब्दों के अन्दर ऋषि ने एक बड़े ही महत्त्व पूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है भारतवर्ष के वृद्ध पितामह स्वर्गवासी दादाभाई नौरोजी के निम्न शब्दों के साथ यदि उपर्युक्त वाक्य की तुलना की जाए तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। नौरोजी महोदय के शब्द ये हैं "A foreign rule can never be but a curse to any nation, on the face of the earth, except so far as it approaches a native rule, be the foreigners angels themselves." भावार्थ यह है कि विदेशी राज्य भूमण्डल पर

किसी भी जाति के लिये शाप के समान दु:खदायी हुए बिना नहीं रह सकता। हां, यह स्वदेशी शासन के पास तक पहुंच सकता है अगर विदेशी शासक खुद देवदूत ही हों। यहां यह बात याद रखनी चाहिये कि ऋषि के उपर्युक्त लेख के कई वर्षों बाद और विदेशी शासन के कड़वे फल का देर तक आस्वादन करने के पश्चात् दादा भाई नौरोजी महोदय की आंखें खुली थीं और तब उन्हों ने अपने हार्दिक उद्गार को ऊपर उद्धृत शब्दों द्वारा प्रकाशित किया था यद्यपि कई वर्ष पूर्व नर्म दल के नेताओं के समान उन का यही सच्चा विश्वास था कि अंग्रेज़ लोग ईश्वरीय प्रेरणा से भारत में आए हैं और उनकी कृपा की पूर्ण छत्रच्छाया के नीचे रहते हुए ही हमारा कल्याण हो सकता है। उन का दयामय हस्त हमारे ऊपर से उठते ही भारत वासियों का सर्व नाश निश्चित समझना चाहिये। वर्तमान समय में राजनैतिक नेताओं के शिरोमणि स्वनामधन्य महात्मा गान्धी जी भी बहुत काल के पश्चात् अंग्रेज़ी राज्य के असली स्वरूप को समझ सके हैं और उन्हों ने अपने प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पत्र 'यङ्ग इन्डिया' में इस का सच्चा चित्र निम्न लिखित स्पष्ट शब्दों में खैंचा है जिस को पढ़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

"See what this Empire means to India :—exploitation of India's resources for the benefit of Great Britain; an ever increasing military expenditure disarmament and consequent emasculation of a whole nation, progressively repressive legislation in order to suppress an ever growing agitation seeking to give expression to a nation's agony, [quoted from the Great Thoughts of Mahatma Gandhi P. 46.]

अर्थात्—देखो इस (ब्रिटिश) साम्राज्य का भारत के लिये मतलब यह है कि ग्रेट ब्रिटेन के लाभ के लिये भारत की सम्पति की लूट, प्रतिदिन बढ़ता हुआ सैन्य व्यय, शस्त्र हीन कर के सम्पूर्ण जाति को नपुंसक बनाना, जाति के असली कष्ट को प्रकाशित करने वाले प्रबल आन्दोलन को कानून के अनुचित प्रयोग द्वारा दबाना, इत्यादि ॥ इन्हीं शब्दों को अन्य हर एक विदेशी शासन पर लागू समझने पर ऋषि के लेख का महत्त्व ठीक तौर पर समझ में आता है।

स्वराज्य के महत्त्व के विषय में ऋषि के सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समु० पृ० २३७ में लिखे निम्न शब्द एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं।

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।'

प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ कैम्पबैल के "Good government can never be a substitute for the government by the people themselves." इस सुप्रसिद्ध वाक्य का यह भाव कि एक अच्छा शासन अपने शासन वा स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता, ऋषि के ऊपर उद्धृत वाक्य में सम्पूर्ण रुपेण पाया जाता है बल्कि उस से भी अधिक ज़ोरदार है।

ऋषि दयानन्द प्रजावाद वा Democrecy के कितने पक्षपाती थे यह सत्यार्थ प्रकाश आर्याभिविनयादि से तो स्पष्ट हो ही जाता है किन्तु इस विषय में 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' नामक ऋषि के छोटे से ग्रंथ से निम्न लिखित संवाद देना अधिक मनोरञ्जक होगा

प्रश्न - राजा कौन हो सकता है?

उ०—जो धर्मात्माओं की सभा का सभापति होने योग्य होवे।

प्र०—जो प्रजा को दुःख देकर अपना प्रयोजन साधे वह राजा हो सकता है वा नहीं?

उ०—'नहि नहि नहि स तु दस्युः॥" नहीं नहीं नहीं, वह तो डाकू ही है॥

विषय विस्तार भय से ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचारों के महत्त्व दिखाने के लिये अन्य उद्धरण छोड़ देता हूं। इन उद्धरणों को पढ़ कर कोई भी निष्पक्षपात पुरुष यह कहने का साहस न करेगा कि ऋषि ने राजनीति पर कभी विचार न किया था अतः उन का निम्न सन्देश ध्यान देने योग्य है।

देश की वर्तमान राजनैतिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। कुछ वर्ष पूर्व जो स्वतन्त्रता की प्रबल उमंग जोश और स्वार्थत्याग उत्साहादि हमारे देश वासियों के अन्दर दिखाई देते थे उस का दसवां हिस्सा भी अब दिखाई नहीं देता। राष्ट्रीय महा सभा के सामने कोई निश्चित स्पष्ट मार्ग नहीं प्रतीत होता। औरों की बात तो अलग रही स्वयं महात्मा गांधी तक ने स्वीकार किया है कि वे देश का नेतृत्व करने में असमर्थ हैं जब तक विशेष कोई ज्योति उन को मार्ग न

दिखाए। हमारे देश वासियों की (सर्वसाधारण ही नहीं बल्कि राजनैतिक नेताओं की भी) अवस्था लक्ष्य भ्रष्ट निराश यात्रियों की सी प्रतीत होती है। इस शोचनीय दशा का मुख्य कारण यह है कि लोगों ने अब तक आत्म सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया। धर्म और जातीयता दोनों भाव जब तक प्रत्येक भारतीय के हृदय में पूर्णतया अङ्कित हो कर उस के अन्दर देश भक्ति की तरङ्गे उठाने को समर्थ न हों तब तक देश के भविष्य उज्ज्वल होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। ऐसी हालत में ऋषि दयानन्द सब दलों के राजनैतिक नेताओं के नाम मुझे यह सन्देश देते हुए दिखाई दे रहे हैं कि लोगों के अन्दर धर्म के भाव को जागृत करो। "अदीनाः स्याम शरदः शतम्" "अजिताः स्याम शरदः शतम्" इन वैदिक भावों को उन के दिल के अन्दर पूर्णतया अङ्कित कर दो। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' इस प्रकार के कर्मण्यता के भाव देश वासियों के हृदयों में कूट कूट कर भर दो। तब उन्हें बताओ कि "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मत भेद ब्रह्मचर्य पालन न करना विद्या न पढ़ना पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्बर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार इत्यादि कुकर्म हैं जब आपस में भाई २ लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।

स० प्र० १०म समु० ॥

क्या आज निराश प्राय राजनैतिक नेता ऋषि के इस महत्त्व पूर्ण सन्देश को सुनने के लिये तैय्यार हैं? क्या वे अनुभव नहीं कर चुके कि जब तक धर्म, देशभक्ति वा जातीयता का भाव प्रबल होकर हम लोगों की आपस की फूट दूर न हो जाएगी तब तक कोरी हिन्दू मुसलमानों की एकता के लिये अपील बहरे कानों पड़ती रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि ऋषि के ऊपर उद्धृत वाक्यों में प्रकाशित भाव हरेक देशवासी के दिल में गड़ जाएं। वह इस बात को भी निश्चित तौर पर जान लें कि "जब तक एक मत, एक हानि लाभ, एक सुख दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।" (स० प्र० १०म समु०) तब निस्सन्देह देश उन्नति मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ता चला जाएगा और भगवान की दया से अपने परम अभीष्ट स्वराज्य को प्राप्त कर लेगा। जब तक स्थायी देश भक्ति का भाव धर्म के साथ मिल कर भारतीयों के जीवनों को परिवर्तित नहीं कर देता तब तक देश की उन्नति सम्भव नहीं है॥

* शान्ति–सदन *

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य, सन्तलाल दाधिमथ, वैद्यराज)

तुम सुषुमामय ! सुषुमाऽऽकर(१) हो;
तुम शिव ! श्रेय-सुधा के सर हो;
सुख–सागर हो;
शुचि, श्री–धर हो;
'सत्य' स्वयं हो, सर्वेश्वर हो ॥ १ ॥

तुम महिमामय ! करुणामय हो,
जड़—जङ्गम—जग के प्रत्यय हो,
सुखद ! सदय हो,
प्रिय अतिशय हो,
तुम—बिन किस विध सृष्टि—प्रलय हो ? ॥ २ ॥

तुम निर्—धन—हित बहु—धन पति हो,
तपन(३)—तप्त—हित हिम संहति(४) हो,
अ–वि–चल—मति हो,
सङ्कट—क्षति हो—
क्यों न ? प्रभो ! 'अ—गतीनां गति' हो ! ॥ ३ ॥

तुम तम—निर्—गत द्युतिमय दिन हो,
तुम मन—मधु—कर—हेतु नलिन ६ हो,
त्वत्—शक्ति न हो—
सफल—कृति न हो,
द्रुम—दल७—कम्प न त्वद्—गति बिन हो, ॥ ४ ॥

तुम भावुक के जीवन-धन हो,
तुम भगवन् ! भव-भय-भञ्जन हो,
सुख—साधन हो,
रुक्—प्रशमन हो,
तुम शुभ ! सब विध "शान्ति—सदन" हो ॥ ५ ॥

१ सुषुमा-परमा शोभा; २ प्रत्यय-कारण; ३ तपन-(त्रिविध) ताप; ४ हिमसंहति महाहिम; ५ संकट-क्षति, संकट-नाश; ६ नलिन-कमल; ॥

अन्ध गुरु के बन्द द्वार पर

(श्री० चतुरसेन वैद्य सम्पादक 'संजीवन')

अन्ध गुरु के द्वार बन्द थे, कुटिया ढह गई थी, पर द्वार वैसा ही था। गुरु निश्चिन्त उसमें सो रहे थे। वज्र सन्यासी अभीष्ट गुरु-दक्षिणा लिये द्वार पर अचल खड़े थे !!

शीत और अन्धकार से व्याप्त वातावरण था। अपने सफल परिश्रम की थकान से चूर २ हुआ वज्र सन्यासी वज्र निनाद से पुकार रहा था—हे तेज पुंज गुरु ! उठो, यह मैं आप के लिये गुरु दक्षिणा लाया हूं !!!

द्वार नहीं खुले, गुरु की निद्रा भंग न हुई। धीरे धीरे मथुरा की सोती हुई गलियों में ४ लाख नर नारी यह कौतुक देखने उस द्वार के सामने आ खड़े हुए। उन्हों ने सन्यासी के वज्र स्वर में स्वर मिला कर पुकारा—

हे गुरु उठो !! हे गुरु उठो !!!

मथुरा की विधवा भूमि आश्चर्य चकित हुई, और यमुना कुछ सोचने लगी। यमुना के उस ओर बूढ़े और झुके हुए वृक्षों के झुरमुट में विरहणी वंशीध्वनि कृष्ण को ढूंढ रही थी उसने अवाक् हो कर यह सुना !

उस दिन उसी बन्द द्वार पर हमने निश्चय किया, प्रातः काल हमने हठात् जागृत हो कर अपने आप को देखा और पहचाना, हम विस्मित हुए, हमने कहा, क्या यह हम हैं ? क्या हम ऐसे हैं ??? हम हंसे, हम गर्व से तन गये।

कुटिया ढही पड़ी थी, गुरु उसी तरह निश्चिन्त सो रहे थे। और वज्र सन्यासी अखण्ड जागृत तब से अब तक वहीं वैसा ही अचल खड़ा था।

उसने हमें देखा और सिर झुका लिया। हम कुछ न समझे। हम उठ खड़े हुए। हमने उसे अभिवादन किया, स्तुति की, कीर्तन किया।

परन्तु सन्यासी ने हमारी ओर सिर न उठाया, उसने फिर एक बार कुटिया के विध्वंस को देखा एक वार फिर गुरु को आवाज़ लगाई और चल दिया !!!

अध्यात्म व्याख्या वेद का सच्चा अर्थ है और शेष पक्ष उसके अनुकूल होने से सत्य हैं।

[श्री० जयदेव विद्यालङ्कार, सम्पादक 'आर्य जीवन']

वेद के प्राचीन भाष्यकारों ने वेद को दो विभागों में बांट दिया है। एक परा विद्या और दूसरी अपरा। परा विद्या अध्यात्म ज्ञान का नामान्तर है। अपरा विद्या कर्मकाण्ड को कहा जाता है। इसी के दो नाम विद्या और अविद्या भी हैं। इसी के रूपान्तर दो और नाम हैं सम्भूति और विनाश। विनाश क्षणिक कर्मको बतलाता है और सम्भूति नित्य बीजमय आत्माके प्रादुर्भाव को बतलाता है। अब यही विचार करना है कि वेद का वास्तविक अर्थ क्या परा विद्या है या अपरा विद्या?

जैमिनी का मत है— 'अथातो धर्म जिज्ञासा' वेदाध्यन के अनन्तर धर्म विचार करना चाहिये क्योंकि वेदाध्यन का फल ही उसका अर्थ ज्ञान करना है। "चोदना लक्षणाऽर्थो धर्मः" चोदना वेदवाक्य ही धर्म में प्रमाण है और धर्म में प्रमाण ही वेद है। तात्य निमित्त परीष्टिः। उसके कारणों की परीक्षा कर लीजिए। क्योंकि और कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण धर्म में प्रमाण हो नहीं सकते क्योंकि—

'सत् संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धि जन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥'

विद्यमान पदार्थ में ही पुरुष की इन्द्रियों का व्यापार होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष से विद्यमान पदार्थ ही जाना जाता है इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण धम में प्रमाण नहीं। जैसे आज का किया दान धर्म ६ मास के बाद फल देता है तो दान क्रिया तो नष्ट हो गयी फिर उस अदृष्ट असत् दान क्रिया से कालान्तर में फल होगा यह कौन बतलाये? उत्तर यही है कि वेद बतलाए गा।

इस प्रकार जैमिनी ने वेद को कर्म-काण्ड का पूर्ण सत्य प्रति पादक ग्रन्थ स्वीकार किया है। और कर्म काण्ड की दृष्टि से ही समस्त जैमिनीय शास्त्र में वेद तथा ब्राह्मण के वाक्यों का विचार किया गया है।

इस के अतिरिक्त उपनिषदों के भाग को या आरण्य काण्डों को लेकर वेदांत या उत्तर मीमांसा शास्त्र का विवेचन होता है और सम्पूर्ण उपनिषदों के वाक्यों का तत्व खोला गया है।

जितना मेरा स्वाध्याय है वहां तक मैं इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि वेदान्त और मीमांसा ये दोनों शास्त्र मूल वेद के आधार पर खड़े कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड की व्याख्या दर्शाने के लिये प्रवृत्त हुए हैं परन्तु बाद के भाष्य-कारों ने उन का व्याख्यान अधिकत: साम्प्रदायिकता, या सुगमता के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यकों के प्रकरण विवेचना परक ही कर दिये हैं। मूलवेद की तत्वार्थ विवेचना एकदम इन दोनों शास्त्रों से कट गयी है। और न बाद के स्वाध्यायशील विद्यार्थी इन दोनों शास्त्रों का स्वाध्याय मूलवेद के तत्वार्थ दर्शन करने के लिये करते ही हैं फल यह हो गया है कि हमारे जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों वेद के मूल से टूट कर ऐसे अलग २ हो गये हैं कि दोनों का जीवन में समन्वय होता नहीं देखा जाता ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या में कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड दोनों का समन्वय रख कर ही वेद का व्याख्यान किया गया है। इस कारण ब्राह्मण ग्रन्थ वेद की सच्ची व्याख्या हैं उन में क्योंकि प्रत्येक इष्टि या क्रिया भाग की अध्यात्मिक व्याख्या साथ ही दी है इसलिये उस इष्टि में विनियुक्त मन्त्र के दो रूप प्रकट होते हैं। एक कर्म रूप, दूसरा ज्ञान रूप। कर्म की विवेचना मीमांसा करेगी और ज्ञान की विवेचना उत्तर मीमांसा करेगी।

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि कर्म और ज्ञान ये दो रूप वेद मन्त्र के ऊपर प्रकट कैसे हुए। इसके लिये मैं एक लौकिक दृष्टान्त देता हूं।

किसी राजा ने आज्ञा दी 'हे मन्त्री ! शत्रु की सेना पर युद्ध करने के कुछ नियम सक्षेप में दिखलाओ। तो वह अबोध राज को कहने लगा

पानी बन सन्धि करे विग्रह करे पनीर।
लाठी बन पीछे परे लुमड़ी सोचे धीर॥

मन्त्री के इस बचन में कुछ शब्द ऐसे हैं जो जड़ पदार्थों के वाचक हैं और कुछ जन्तु के नाम हैं और कुछ ऐसे भाववाचक शब्द भी हैं जो उत्तम रूप से मनुष्य समाज में मुख्य रूप से घटेंगे। और अन्यत्र गौण रूप से। पानी, पनीर और लाठी ये जड़, पदार्थ वाचक शब्द हैं। सन्धि करना, विग्रह करना और पीछे पड़ना

आदि शब्द मुख्य वृत्ति से मानवसंसार में घटता है जड़ संसार में नहीं घटता। फलत. इन भाववाचक पदों से ये जड़ पदार्थ वाचक पद गौण रूप से अपने अन्दर रहनेवाले गुणों का अर्पण कर के स्वयं निवृत्त हो जांयगे । परन्तु यह व्याख्या उक्त वाक्य के शतांश की व्याख्या होगी। परन्तु क्रियांश की व्याख्या के लिये प्रथम क्रिया का स्वरूप बनाना होगा।

एक गिलास का पानी दूसरे गिलास में उठाकर मिलाओ और उक्त वाक्य का स्मरण करो। देखो उस वाक्य का क्रियांश स्पष्ट हुआ कि नहीं। इसी प्रकार दूध में खट्टा, जाग या पनीर डाल देना दूसरे पद का क्रियांश है। पशु के पीछे लाठी लेकर चलना तीसरे चरण का क्रियांश है और इसी प्रकार एक लोमड़ी लाकर खड़ी कर देना चौथे अंश का क्रियांश है। फलतः मन्त्री के कहे दोहे के पूरे क्रियाकाण्ड को यदि एक सिलसिले में करें तो बड़ी हंसी आवेगी। और लोग केवल क्रियामात्र करनेवाले को पागल कहेंगे।

कल्पना कीजिये कि इस क्रियाकाण्ड का नाम रिपुदमनी इष्टि रखें तो उसका संक्षेप यही लिखा जायगा कि पानी में पानी मिलाओ, दूध में पनीर डालो, भैंस के पीछे लाठी लेकर चलो और गीदड़ी को देख दिखालो।

यदि मन्त्री के कथन का तात्पर्य भुलाकर केवल इस क्रियाकाण्ड पर ध्यान दें तो यह क्रियाकाण्ड एक मनहूसों का सा काम मालूम होता है। परन्तु यदि इन क्रियाओं को समझकर उन से प्राप्त होनेवाली वास्तविक ज्ञान शिक्षा को समझा जाय तो यही एक बड़े रहस्य की बात हो सकती है। परन्तु अंध परम्परा चल जाने पर इस क्रियाकाण्ड का फल ही शत्रु का वशीकार फल माना जाना सम्भव है और इसी में अपूर्व अदृष्ट की कल्पना और व्यर्थ श्रद्धा का आडम्बर और निगूढ़ अभिमानी देवताओं की कल्पना और स्तुति पूजापाठ इसी में जुड़ जाने सम्भव हैं।

इस दृष्टान्त को यदि पाठक समझ गये हैं तो हम उन पर अपना यह विश्वास प्रकट करना चाहते हैं कि वैदिक यज्ञ भी इसी प्रकार के कर्मकाण्ड हैं। जो प्रारम्भ काल में इसी प्रकार तत्वांश को स्थिर रखने के लिये क्रियांश की कल्पना की गई और बाद में अन्धी श्रद्धा ने उस को अदृष्ट अपूर्व की कल्पना कर के क्रियाकाण्ड को इतना बोझल कर दिया कि तत्वांश का सर्वथा लोप ही कर

दिया यहां तक अभिमानी देवताओं ने जड़ पकड़ ली और फल की इष्टानिष्टता भी देवताओं की प्रसन्नता और रुष्टता पर अवलम्बित हो गयी और उस कर्मफल की व्यवस्था करनेहारे ज्ञानी परमेश्वर का वास्तविक ज्ञान सर्वथा लुप्त होगया।

उदाहरण के तौर पर हम 'अग्नि-आधान' का प्रकरण लेते हैं।

अग्न्याधान करने का अधिकार गृहस्थ को है ब्रह्मचारी को नहीं। अग्नि आधान करना स्त्री में पुत्र के निमित्त वीर्याधान करने के तुल्य है। अग्नि का उत्पन्न होना पुत्र के उत्पन्न होने के समान है। अग्नि भी कुमार है। पुत्र भी कुमार है स्त्री वेदी है ईंधन या काष्ठ समिधा कामवासनाएं हैं होता यजमान गृहपति हैं इत्यादि यज्ञ की गृहस्थ कर्म से तुलना सर्वांश में सुन्दर रूप से वैदिक ऋषियों ने की है। जिस का विवरण छान्दोग्य और बृहदारण्यक में बड़ी उत्तमता से किया है। और वहां इस का अध्यात्मिक रहस्य खोलकर कह दिया है। इस अध्यात्मिक रहस्य को जानकर उस के आधार पर जब अग्निहोत्र के मन्त्रों पर विचार करते हैं तब उन का चमत्कारी वास्तविक अर्थ प्रकट होता है। समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् समिध् से अग्नि का सत्कार करो और घृतों द्वारा उस अतिथि को बोधित करो, जगाओ। यह स्थूलार्थ है।

बिना तिथि बतलाए आया हुआ पुत्र अतिथि है। भली प्रकार चमकने वाली हृदय की आशा (काष्ठा) से उसका सत्कार करो। स्नेह या पुष्टिकारक पदार्थों से उस का चैतन्य करो, उस को और अधिक जीवन दो। यह गृहस्थ का स्थूल आध्यात्मिक अर्थ है।

परन्तु जहां आत्मा स्वयं गृहपति है शान्ति गृहिणी है हृदयमात्र मन्दिर है वहां मन मात्र वत्स है। उधर भी योग क्रियाओं से उसका सत्कार करो और घृत दीप्तिवाली आन्तरिक ज्वालाओं (अर्चियों) से उस को पुष्ट करो यही अर्थ है। इस प्रकार समस्त क्रियाकाण्ड में बंटा हुआ वेदमन्त्र समूह मूलतः ब्रह्मज्ञान की शलाका में पिरोया हुआ है।

इस प्रकार समस्त क्रियाकाण्ड आत्म का विलास और यजमान के हाथ का शक्ति के अनुरूप अधिकार प्रयोग है। इस कारण वह मूल में आध्यात्मिक संकल्प (Mental Idea) का विकसित स्थूलरूप है इसलिये वह भी अवश्य मूल में आध्यात्मिक तत्व से ही व्याख्या किया जायगा। इस सम्बन्ध में अभी बहुतसे विचार हैं परन्तु लेख लम्बा होने के भय से यहां ही समाप्त करता हूं। पाठक इस पर और भी विचारेंगे।

बल-प्रार्थना

(श्री पं० चेतराम शर्मा, क० म० वि० जालन्धर)

ऐसा बल दे ओ माँ! बलदे!

देश-वेदना जगा देश में बाल-वृद्ध को चञ्चल करदे। ऐसा०। १।

भीषण अट्टहास सुन तेरा, जो उमंग से आग उबल दे,

अकड़बाज़ को पकड़ रगड़ कर जो गर्वी का गर्व कुचल दे। २। ऐसा बलदे०

भूखे, मारे, डरे, सताये, तरसाये, बिलगाँय, जी-जले,—

वैरभाव के भावक दलसे जो जल-थल को उथल-पुथल दे ३। ऐसा बल दे०

धूर्त-कुटिल दल को कलबल कर छलिया, छद्मवेष को छल दे।

बने निरंकुश को जो अंकुश, अत्याचारी को अड़चल दे।४। ऐसा०

रोम-रोम में सोम-व्योम में स्वतन्त्रता की ज्वाला ढल दे।

रक्त-चूस के रक्तपात से मरुथल में भी दलदल कर दे।५। ऐसा०

शान्त कुटी, एकान्त मढ़ी में, जीर्ण झोपड़ी, शीर्ण देह में,—

आलय, विद्यालय, देवालय, कार्यालय में हल चल कर दे।६। ऐसा०

धवल-महल में, अन्तःपुर में, हाट-बाट में, गहन-घाट में —

रास-हास में, रस-विलास में अदल-बदल कर जो खलबल दे ७। ऐसा०

जीवन-ज्योति जगा जनता में, जो जन मन-घन-भयतम हर दे।

पराधीनता के दानव का जो उठ सारा दल-बल दल दे। ८। ऐसा०

संजीवित कर भाषा-जननी जन-जन-तन-मन जीवन भर दे।

कर अनुप्राणित बान्धव गण को बन्ध मुक्त माता को कर दे। ९। ऐसा०

भूख-विकल की नग्नभूख में त्रस्त हृदय की मूक-कूक में,—

निःसहाय की हाय-हूक में, जो जीवन दे, जीवन-भरदे १०। ऐसा०

श्रमजीवी की थकी देह में, स्नेह-वञ्चिता के सनेह में,—

गृह-हीनों को धूप-मेह में, सुबल, सुफल दे, शरणस्थल दे ११ ऐसा०

आशा उठे निराश हृदय में, नाचे किसान अपने हल में,—

बँसुरी बजे चैन की वन में, गावें ग्वाले, ऐसा बल दे। १२। ऐसा०

देशभक्त की दिव्य भूति में, दीन बन्धु की बन्द्य स्फूर्ति में,

मातृभूमि की मधुर मूर्ति में, एक बार फिर चहल-पहल दे। १३। ऐसा०

वेद और वर्तमान सभ्य जगत्

[श्री परमानन्द बी. ए. आर्योपदेशक]

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने आर्य्य समाज के नियम बनाते हुए एक नियम यह रक्खा:—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'। कई लोग इस नियम को सुन कर चौंक उठे, और अब भी चौंक उठते हैं। वर्तमान युग विकास का युग है। वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे पुराने पुस्तक हैं। यह कैसे संभव है कि वेद में वह सारी विद्याएं हों जो वर्तमान विज्ञान बड़ी तेज़ी के साथ नित्य आविष्कृत करता जाता है। इस स्थापना को पढ़ कर आधुनिक सभ्य मनुष्य का माथा ठनकता है। आजकल का सभ्य संसार केवल स्थापनाओं और कल्पनाओं से सन्तुष्ट नहीं होता, वह ठोस उदाहरण मांगता है। 'वेद का पढ़ना पढ़ना सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है'। वैदिक धर्म्म में मनुष्य जाति के दो ही भेद किये गए हैं एक आर्य्य और दूसरे दस्यु। अतः वर्तमान सभ्य (आर्य्य) जगत् यह पूछने का अपना अधिकार समझता है कि वेद में ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके कारण उसका पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आवश्यक बताया गया है। वेद बीसवीं शताब्दी के मनुष्य के लिए क्या नया सन्देश लाता है? यह और इत्यादि प्रश्न महर्षि दयानन्द के समय से चले आते हैं यही प्रश्न स्वामी जी के जीवन काल में उठाया गया था जब वह अपना बनाया वेद भाष्य पञ्जाब विश्व विद्यालय की पढ़ाई में रखाना चाहते थे। आइये पाठक! आज आपको वेद के प्रमाण से बताएं कि वेद आधुनिक संसार को क्या देता है?

विषय बड़ा विस्तृत है और एक लेख की संकुचित सीमाएं उसके लिये सर्वथा अपर्य्याप्त हैं। अत: इस लेख में तो विषय का दिग्दर्शन मात्र ही हो सकता है। एक शब्द में वेद अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करता हुआ सब कुछ देता है। वेद लोक और परलोक दोनों संवारता है। पहले 'यह लोक' बनाता है और फिर 'पर-लोक' में भी मनुष्य का भला होगा इसका भी निश्चय हो जाता है। आयु, प्राण, द्रविण, प्रजा, कीर्त्ति, ब्रह्मवर्चस और अन्त में ब्रह्मलोक—यह वह सुख सामग्री है जो 'वरदा वेदमाता' देती है। वैदिक धर्म्म में धन के नियमित भोग की कहीं भी निन्दा नहीं की गई। जब संसार भी परमात्मा का है और वेद भी उसी का तो एक

पिता के दो पुत्र परस्पर निन्दा करते हुए कहीं अच्छे लगते हैं ? परमात्मा पूर्ण हैं उनका जगत् (कार्य्य) भी पूर्ण है। अतः वर्तमान सभ्य जगत् को यह जान कर परम सन्तोष होना चाहिये कि वेद इस जगत् को कहीं हेय नहीं बताता, किन्तु इसे सुखमय बनाता है। आइये पाठक! इस जगत् के एक सुख का विचार करें जिसकी आपको समय विशेष में कामना उठा करती है, और देखें कि वेद उसके सम्बन्ध में क्या आनन्द समाचार देता है।

ऋग्वेद के पांचवें मण्डल के ५२ सूक्त का ९ म मंत्र इस प्रकार है:—

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः,
उतपव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा॥

इस मंत्र का देवता 'मरुतः' है जो वेद में बहुधा 'सांसारिक मनुष्यों' का वाचक है। अर्थ इस प्रकार है (ते) वह (परुष्ण्याम्) पर्व वाली भूमि—पर्वतों-पर (शुन्ध्यवः) शुद्ध पवित्र होकर (ऊर्णाः) सुरक्षित रूप से (वसत स्म) रहें (उत) और (रथानाम्) गाड़ियों सवारियों के (पव्या) धुरों के लिये (ओजसा) ज़ोर (वाली वस्तुओं) से (अद्रि) पहाड़ को (भिंदन्ति) तोड़ते हैं (तोड़ कर मार्ग बनाते हैं)

इस मंत्र में कई उपदेश इकट्ठे मिलते हैं। पर्वतीय लोगों को शुद्धता और सुरक्षा से रहने की बड़ी आवश्यकता है। सर्दी के कारण पहाड़ी लोग स्नानादि कई शुद्धता के नियमों को शिथिल कर देते हैं। वहां exposure भी अधिक हो जाता है। चोर डाकू इत्यादि जिन्हें पृथिवी के समभागों पर छिपने का कम स्थान मिलता है वह पर्वतों पर जा छिपते हैं। कुछ हिंस्र पशु भी वहां हो सक्ते हैं। बिच्छुओं से तो सावधान रहने की आवश्यकता होती ही है। मकान भी शीत वर्षा आदि से रक्षा के लिये अच्छे बनाने चाहियें, ऊर्णा वसत) शब्दों से कुछ यह गन्ध भी निकलती है कि पर्वतों पर ऊन के कपड़े पहिनने चाहियें। यदि यह कल्पना ठीक हो तो सारी Woollen industry का उपदेश हो गया समझना चाहिये।

परन्तु वेद वहां कमाल करता है जहां वह पर्वतीय मार्ग तोड़ कर उन पर्वतों के शिखरों पर हमें ला बिठाता है। बीसवीं शताब्दी का मनुष्य गर्मी की ऋतु में कश्मीर और दार्जीलिंग की यात्रा करना चहता है। उसी के लिये पर्वतों को मार्ग देना चाहिये। परन्तु आजकल की व्यग्रता के दिनों में सब लोग पैदल नहीं जा

सक्ते अतः गाड़ियों-सवारियों के लिये भी पर्वतों को मार्ग छोड़ना होगा । वह कैसे हो ? 'ओजसा' ज़ोर से (ज़ोर वाली वस्तुओं की सहायता से) सांसारिक मनुष्य 'अद्रि' को तोड़ते हैं। शायद कहीं Dynamite (बारुद) से भी काम लेना पड़ेगा न टूटने वाली चीज़ भी मनुष्य के 'ओजस्' के आगे झुक जाती है। 'हिम्मत करे इन्सान तो क्या हो नहीं सक्ता'। 'कोह से दरिया बहाते हैं'

पाठक ! आपने वेद के अनुसार जीवन का फ़लसफ़ा देख लिया । मानुषी जीवन का उद्देश्य जीवन है। शारीरिक जीवन, आत्मिक जीवन, सामाजिक जीवन, भोग पूर्वक त्याग और त्यागपूर्वक भोग ही उस जीवन का सर्वस्व है। संसार को जब भी बलात्कार से भोगों से पृथक् रक्खा जायगा परिणाम भयंकर निकलेंगे। और यदि वह भोग, त्यागपूर्वक न होंगे-दूसरों को बिना अपने साथ सम्मिलित किये भोगे जाएंगे-तो उस का फल Communism, socialism, और bolshevism होगा। वैदिक धर्म मनुष्य को दोनों अतियों के बीच में रखता है और मनु के शब्दों में उपदेश करता है —

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्म्मयोगश्च वैदिकः ॥

कामना

('श्री हरि')

(१)

प्रभु आप पूरन काम तो मैं दास एक सकाम हूँ
हो दीन बन्धु दयालु तो मैं दीन एक निकाम हूं ॥
जो प्रेमसागर आप हैं तो मैं उसी का कूल हूं ।
जो आप सुरतरु फूल हैं, तो मैं उसी की धूल हूँ ॥

( )

जो चन्द्र हैं हरि ! आप तो मैं प्रिय चकोर किशोर हूँ ।
घनश्याम हैं तो आपका मैं नृत्यकारी मोर हूं ॥
करुणानिधे ! करुणामयी यह भीख मुझको दीजिये ।
"श्री हरि" किसी भी भांति से अपना बना प्रभु लीजिये ॥

आन्ध्र देश में आर्य समाज और शुद्धि

(श्री० केशवदेव सिद्धान्तालंकार, मंत्री 'आन्ध्र आर्यन मिशन' गुंटूर, मद्रास)

आर्य समाज का जितना ही उद्देश्य ऊंचा है उतना ही वह उस से दूर है। कहां तो 'देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर' में आर्यसमाज का डंका बजाने के स्वप्न और कहां अपने देश का तीन चौथाई हिस्सा ही आर्यसमाज के प्रचार से खाली पड़ा है। विशेषतः दक्षिण-भारत में, जिस की आबादी देशी रियासतों को मिला कर ५ करोड़ से अधिक होगी, आर्यसमाज का कुछ भी पता नहीं। इस से बढ़ कर और शोचनीय दशा क्या हो सकती है कि जिस समय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी पिछले अक्तूबर मास में दक्षिण-भारत में पधारे तो कई अंग्रेज़ी पढ़े लिखों के पत्र उन्हें मिले, जिन में पूछा हुआ था कि "गत फ़र्वरी १९२५ में आप लोगों ने जो एक आर्य समाज मथुरा में खोला है, उसका कहां २ प्रचार हुआ है, कितने मैम्बर हैं, और क्या २ नियम हैं?"

परन्तु इसमें दोष किसका है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि या तो आर्यसमाजियों में उत्साह ही नहीं कि अपना घर छोड़कर दूसरी जगहों में प्रचार के लिये जावें, या त्याग-भाव की कमी है। और फिर, नहीं तो पर्याप्त योग्यता का अभाव समझना चाहिये। इन तीनों के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है?

यद्यपि दक्षिण-भारत को लोग "द्राविड़ प्रदेश" कहते हैं, परन्तु वस्तुतः यही आर्य प्रदेश है। यहां आज भी ब्राह्म मुहूर्त्त में ब्राह्मणों का सस्वर वेदपाठ सुनाई देता है। आज भी द्विज लोग यथाविधि १६ संस्कार कराते हैं। आज भी ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रति श्रद्धा लोगों के हृदयों में विद्यमान है। यहां आर्यसमाज का प्रचार हो सकता है, सारे हिन्दू फिर से वैदिक-धर्मी बनाये जा सकते हैं। परन्तु कब? जब कि कम से कम १०० आर्यसामाजिक विद्वान्, संस्कृत के धुरन्धर ज्ञाता, अंग्रेज़ी का भी पर्याप्त परिचय रखने वाले अपने घर बार का मोह छोड़ कर इधर बस जांय। बस! अपना जीवन, अपनी योग्यता, अपना सर्वस्व अर्पण कर दें। निस्सन्देह यह कहना सरल है किन्तु करना..........।

यद्यपि आज ब्रह्म समाज को ४० वर्ष, और आर्यसमाज को लगभग १५ वर्ष मद्रास-प्रान्त में काम करते हुए होगये हैं तथापि जैसा कि नीचे की रिपोर्ट से

पता चलता है इन दोनों समाजों का इस प्रान्त में बहुत कम फल देखने में आया है। गत १९२१ की मनुष्य गणना रिपोर्ट में समाजियों की संख्या जो कि सन् १९११ में ३७४ थी, १० साल के समय में घट कर आधे से भी कम १७१ रह गई है। और आर्य समाज इस से भी गया गुज़रा है आर्य समाजियों की कुल संख्या ५१ है ! इस पर रिमार्क करते हुए सैन्सस सुपरिण्टैण्डैण्ट लिखता है:—

"Generally speaking it is evident (from the above figures) that neither of these reformed-Hindu societies—whether Brahmusmaj or Aryasmaj, has any effect on the religious life or thought of the masses of the Madras Presidency." Vol II, pp. 63.

अर्थात्, साधारणतया, ऊपर की संख्याओं से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में से किसी भी सुधार-समाज का मद्रास-प्रदेश के लोगों के धार्मिक-जीवन और विचार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इसका कारण सिवाय हमारी अकर्मण्यता के और क्या हो सकता है? हम निश्चय से कह सकते हैं कि यदि ईसाइयत जैसी युक्ति हीन विदेशी-समाज यहां लाखों में फैल सकती है तो आर्य-समाज जैसी यौक्तिक (Rational) समाज के फैलने में किसे सन्देह होगा? परन्तु विशेष उद्योग होना चाहिये।

पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि यहां किस संगठित-रूप से ईसाइयत का प्रचार किया जाता है। केवल मद्रास-प्रान्त में काम करने वाले भिन्न २ ईसाई मिशन संख्या में ६७ हैं। फिर कुल विदेशी कार्य कर्त्ताओं की संख्या ११६८ है। फिर उनके साथ मिल कर काम करने वाले भारतीय (पोज़ीशन के) कार्य कर्त्ताओं की संख्या ३९५ है। साधारण काम करने वाले भारतीय २०००० से भी ऊपर हैं। इसके सिवाय कुल मिला कर स्कूल, कालिज, हस्पताल कोआपरेटिव सोसाइटी, सैटलमैण्ट, एसाइलम, प्रैस इत्यादि संस्थाओं की संख्या ६०० है। केवल शिक्षा विभाग में नियुक्त भारतीय और विदेशीयों की संख्या ११५०८ है। और वे लोग जिनका काम केवल मात्र ईसाई-धर्म का प्रचार करना है, ७१३४ की संख्या में हैं। अब बतलाइये कि यदि इन अवस्थाओं के होते हुए ईसाई लोग प्रति दिन ३०० की संख्या में, और प्रति वर्ष ११०००० एक लाख दस हज़ार की संख्या में बढ़ें तो क्या आश्चर्य है? यदि ऐसी ही अवस्था रही और

हिन्दू-जाति ने अपने अछूत भाइयों पर सामाजिक—अत्याचार करने न छोड़े तो अगले दस सालों के बाद सारे दक्षिण-भारत में एक भी "परया" "माला" या "मादिगा" हिन्दू न रहेगा।

यद्यपि २५ एप्रिल सन् १९२४ से पहिले भी * आन्ध्रदेश में ठाकुर ज्ञानचन्द्र जी वर्मा के "Chryst a myth" विषय पर व्याख्यान और आदि पुरी सोमनाथ राय की धर्म कथाएं कई बार हो चुकी थीं। और भाई परमानन्द जी ने भी शायद आज से १०. १२ वर्ष पूर्व इधर की एक गश्त लगाई थी, परन्तु "आन्ध्र" में नियमित प्रचार का श्रेय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को ही मिलना चाहिये

सन् १९२३ का फ़र्वरी का महीना था जब कि श्री पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अछूतोद्धार के लिये कार्यकर्त्ताओं और धन की अपील की। शायद लेखक सबसे पहिला था जिसने "सन्यासी की अपील" के उत्तर में अपनी तुच्छ सेवाओं को भेंट किया। १ वर्ष बाद ठीक उन्हीं दिनों दक्षिण—भारत में "वैकम—सत्याग्रह" प्रारम्भ हुआ, और केशव मेनन, नम्बूदरी पाद इत्यादि सत्याग्रह-कारियों ने श्री स्वामी जी को उधर आने के लिये निमन्त्रण दिया। लेखक भी इस अवसर पर श्री स्वामी जी के साथ "दक्षिण-भारत" को रवाना हुआ। शायद इतिहास में यह पहिला ही अवसर था जब कि एक आर्य सन्यासी १५०० मील का सफ़र करके हज़ारों वृद्ध और नवयुवकों को मद्रास के प्रसिद्ध समुद्र तट की बालू पर खड़ा होकर पांच हज़ार वर्ष पुराने आर्य-सभ्यता का सुन्दर उपदेश दे रहा था। आंखें चाहती हैं कि वह स्वर्गीय नज़ारा फिर कभी सामने हो। अस्तु, दक्षिण-कर्नाटक, मालाबार और टामिल नाडू का चक्कर लगाते हुए श्री स्वामी जी २५ एप्रिल को गुंटूर पहुंचे। गुण्टूर आन्ध्र देश का केन्द्र समझना चाहिये। हज़ारों की संख्या में नगर निवासी सन्यासी का "वर्ण व्यवस्था और शुद्धि" विषयक व्याख्यान सुनने के लिये जमा हुए शहर की प्रत्येक छोटी बड़ी संस्था ने श्री स्वामी जी की सेवा में अपने २ तुच्छ अभिनन्दन-पत्र भेंट किये। स्वामी जी गुण्टूर से चल कर "गुडीवाड़ा" "मसुलीपटाम" "राजमहेन्द्री" और "बरहामपुर" होते हुए ऊपर कलकत्ता चले गये।

* मद्रास प्रैजीडैन्सी के भाषा के लिहाज़ से कांग्रेस ने ४ प्रांत बनाये हैं। उनमें से "तिलगू" भाषा वाले भाग को "आन्ध्र" कहते हैं।

इस प्रकार २८ एप्रिल सन् १९२४ से लेखक इस प्रान्त में है, और अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत कार्य कर रहा है। इस समय आन्ध्रदेश में ५ आर्यसमाजें हैं और लगभग १४० इन के सभासद हैं। गुण्टूर जिले में गुण्टूर, कृष्णा में गुडीवाडा, गोदावरी में निददबोल और एलूर, और ज़िला अनन्तपुर में हिन्दूपुर। इन सब में गुण्टूर को ही केवल जीती समाज कहना चाहिये, जहां लेखक का हैड-क्वार्टर है। इस के ६० से अधिक सभासद हैं। इस के आधीन एक Free Aryan Reading Room और एक रात्रि-पाठशाला भी है। परन्तु अपना स्थान न होने से कभी २ भयङ्कर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः किसी भी कार्य के लिये अपनी स्वतन्त्र स्थिति और अपने भवन की बड़ी आवश्यकता होती है।

शुद्धि का काम

इतिहास इस बात का साक्षी है कि शुद्धि का काम आन्ध्र देश के लिये कोई नया नहीं है किन्तु इस में सन्देह नहीं कि चाहे शुद्धि-संस्कार प्राचीन हो या अर्वाचीन. इतिहास में इसका नाम सदा आर्यसमाज के साथ लिया जायगा।

एवं अछूतों की शुद्धियां भी आज से दस वर्ष पूर्व एलूर-तालुक में होती रही हैं। परन्तु आर्यसमाज की तरह इस का भी नियमित Organized प्रचार का श्रेय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी को ही मिलना चाहिये। जिन्होंने शुद्धि का न केवल मौखिक-प्रचार ही किया, अपितु क्रियात्मक रूप से दक्षिण-कर्नाटक में वेणूर गांव में आर्यसमाज मंगलोर के आधीन एक "शुद्धि-संस्था" कायम की। पालघाट और वैकम की शुद्धियां सब उसके पीछे की हैं।

आन्ध्र-देश में भी "आन्ध्र-आर्यन-मिशन" की स्थापना के बाद सन् १९२४ के पिछले भाग से "शुद्धियां" होनी प्रारम्भ हुई हैं। और तब से लेकर अब तक लगभग ३००० अछूत, जो कि कई वर्ष पूर्व ईसाई होगये थे, फिर से शुद्ध कर के अपनी जाति में मिलाये गये हैं।

इन शुद्ध हुए २ अछूतों के लिये स्थान २ पर स्कूल खोले जारहे हैं। मुफ्त-मेडीकल-एड का भी प्रबन्ध किया जा रहा है। कोओपरेटिव-सोसाइटी, बैंक्स इत्यादि खोलने की भी स्कीमें हैं। परन्तु इन के लिये पर्याप्त धन चाहिये। इस प्रकरण में यह लिखना आवश्यक है कि इस शुद्धि-कार्य में इधर के शिक्षित वकील और जमींदार हमें विशेष सहायता दे रहे हैं। इस समय लगभग

गुण्टूर के ४ तालुकों में "शुद्धि-सहायक-संघस्" स्थापित हो चुके हैं। शेष ५ तालुकों में भी शीघ्र स्थापित हो जाएंगे। अभी तक इतना विशाल कार्य सामने है कि देखकर भय और निराशा होती है कि अकेले आन्ध्र-देश में पाँच लाख से ऊपर अछूत और अन्य जातियां क्रिश्चियन हो चुकी हैं। इन सब को शुद्ध करके फिर से आर्य-जाति में मिलाना होगा। इस के लिये ईसाई मिशनरियों की तरह नियमित और लगातार कार्य की आवश्यकता है।

पाठक ध्यान रक्खें कि यह कार्य केवल अभी तक आन्ध्र के २ ज़िलों में ही शुरू हुआ है। अर्थात् गुण्टूर और कृष्णा। शेष ५ ज़िले "वैज़ाग" "गोदावरी" "नैलोर" "बल्लारी" और "अनन्तपुर" अभी तक छूए भी नहीं गये।

एक झलक

[श्री० पं० चमूपति एम. ए. अफ्रीका]

इस छोटे विक्षिप्त हृदय में हैं कितनी चुलबुली उषाएं।
सो जाने को शिथिल होरही श्रान्त शांत सन्ध्या वेलाएं॥
है दिन के कोलाहल का स्वागत करता शीतल सौरभ भी।
और रात की नीरवता में लीन हो रहा कल कल रव भी॥
अरुणोदय की ख़बरें दे दे मिटती जाती तिमिर-कालिमा।
चित्रित है छाती पर चितारूढ़ दिनकर की दैव लालिमा॥
पर वह टंकारे की शिव-निशि-गर्भित उषा निराली थी।
औ' अजमेर पुरी में सांझ सदय अनुपम दीवाली थी॥
एक झलक थी जीवन-लीला वेद-सुगीत उषाओं की।
आहुति लेती चिता दिशापति (१) की थी सती दिशाओं की॥
इन चुलबुली उषाओं में मैं किसे ढूंढने जाता हूँ?
सन्ध्या के जलते सुहाग में वह सति-तेज न पाता हूं॥
टंकारे की वह प्रभात सुर-पुर-दुर्लभ उजियाली थी।
देख सांझ का अजब साज अजमेर-पुरी मतवाली थी॥
चित-चित्रित वह दीप-मालिका जगमग २ जलती है।
घोर निराशा-निशा कभी रह रह कर उषा उगलती है॥

---

(१) वेद में संन्यासी को 'दिशांपति' कहा है। ऋ० ९. ११३. २.

ऋषि दयानन्द और सन्तति-सुधार

(ले० — प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, सम्पादक "अलंकार")

ऋषि दयानन्द ने जो चौमुखा, विस्तृत कार्य-क्रम देश के सन्मुख रखा है उसे देख कर उस महानात्मा के सन्मुख हमारा मस्तक स्वतः नत हो जाता है। उस माली को वृक्ष के जड़ से लेकर फल तक, एक २ चीज़ का फ़िक्र था। समाज-सुधार की नींव उस ने रखी, धर्म पर चढ़े मोरचे को उस ने खुरेच डाला, शिक्षा के क्षेत्र में उस ने क्रान्ति मचा दी; जिस तरफ़ देखो उस तरफ़ उस ने कुछ न कुछ कर ही डाला । उस में दिव्य, अलौकिक शक्ति थी। वह जब तक जीवित रहा, अपनी अथाह शक्ति की लहरों को सब किनारों तक पहुंचाता रहा।

ऋषि दयानन्द के बाद उन के कार्य-क्रम को आर्यसमाज ने सम्भाला। इतने विस्तृत तथा व्यापी प्रोग्राम को सफल बनाने के लिये काम को बाँट लेना ज़रूरी था। काम बाँटा गया । समाज-सुधार के लिये जात-पात-तोड़क मण्डल, विधवा-विवाह-सहायक समिति, शुद्धि-प्रचारिणी सभा आदि खुलीं। धर्म-प्रचार के लिये वेद-प्रचार-फण्ड तथा समाजों के जल्सों, व्याख्यानों और कथाओं का सिलसिला जारी हुआ। शिक्षा के जीवनमय मौलिक सिद्धान्तों को सशरीर बनाने के लिये गुरुकुलों की प्रथा को जारी किया गया । इन सब से देश का बहुत भला हुआ। परन्तु जीवनी-शक्ति की लहर के उमड़ने से जिस प्रकार मुर्दे के ज़िन्दा हो जाने की उमीद थी, जिस प्रकार जादू से काया-कल्प हो जाने की आशा थी, वह कुछ न हुआ! जात-पात तोड़ने पर धुँआधार व्याख्यान देने वाले जात ढूण्ड २ कर उस की बग़ल में घुसने लगे, विधवा-विवाह प्रचारक विधुर क्वारियों से, और चार चार पांच पांच बार विधुर होने पर भी, क्वारियों से शादियें करने लगे। शुद्धि का नाम ले कर मेज़ तोड़ देने वाले धुरन्धर व्याख्याता कच्ची-पक्की में फ़रक करने लगे। धर्म का डंका 'आलम' में बजा देने वाले, मौका पड़ने पर शिवजी की घण्टी घर के कोने में बजाने लगे। गुरुकुल के गीत गाने वाले उल्टी तानें आलापने लगे। मैंने इन सब बातों के कारणों पर सोचा है, खूब सोचा है। क्या कारण है कि हम दुनियां को जैसा बनाना चाहते हैं वैसी बनती ही नहीं।

लाख कोशिश करने पर भी नहीं बनती ? जहां तक मैं सोच पाया हूं, मैं समझता हूं कि इस का यह कारण है कि हम ने ऋषि दयानन्द के सम्पूर्ण कार्य-क्रम को नहीं अपनाया। "मीठा मीठा गप्प, कड़वा कड़वा थू"—जो मज़ेदार बातें थीं, जिन पर खूब लैक्चर झाड़े जा सकते थे, कथा-किस्से सुनाए जा सकते थे, तालियें पिटवाई जा सकतीं थी और 'वाह-वाह' लूटी जा सकती थी, वह सब कुछ हम ने किया; परन्तु ऋषि के प्रोग्राम में जो मूल-आधार था, जो उस प्रोग्राम की जान थी, जिस के किये बग़ैर प्रोग्राम मुर्दा और जिस के करने से प्रोग्राम में प्राण का सञ्चार हो सकता था, वह सब कुछ हम ने नहीं किया। ऋषि दयानन्द की खड़ी की हुई इमारत का आधार स्तम्भ था—

'गृहस्थाश्रम का सुधार'।

इस सुधार के लिये ऋषि दयानन्द की आत्मा तड़प रही थी, व्याकुल हो रही थी। कीचड़ में पड़े रहने से मनुष्य से बदबू आने लगती है। भङ्गी जो गन्दगी का ही काम करता है, लोग कहते हैं उस के परमाणु ही बदबूदार हो जाते हैं। खैर, बाहर के गन्द को धोया जा सकता है, किसी न किसी प्रकार दूर किया जा सकता है। परन्तु वर्त्तमान समय के गृहस्थ के कीचड़ से, इस गन्द से जो आत्माएं निकलती हैं, जिन बच्चों का जन्म होता है, उन के अन्दर, नस २ में, गन्द रच गया होता है। ऐसे लोगों के हाथ में जब देश-सुधार का प्रोग्राम दे दिया जायगा तो वह भला कभी सफल हो सकता है ? ऐसे लोगों को तो अच्छी बात भी कही जायगी तो उस का भी नतीजा उल्टा ही निकालेंगे। ऋषि दयानन्द इस बात को भली भान्ति समझते थे। वे जानते थे कि हम देश का कुछ नहीं बना सकते जब तक नस्ल को न सुधारा जाय। हमारी वर्तमान सन्तति ही आगामी के समाज को बनाने वाली होगी। यदि समाज में कुछ परिवर्तन लाने हैं तो बाह्य उद्योग तो होते ही रहने चाहियें परन्तु उन के साथ २ आन्तरिक उद्योगों में शिथिलता नहीं आनी चाहिये। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऋषि दयानन्द इस से भी एक कदम आगे जाते थे। उन का कथन था कि वास्तविक सुधार वही है जो अन्दर से—जड़ से प्रारम्भ हो। इसी उद्देश्य को सन्मुख रख कर उन्हों ने नियोग की प्रथा का भी मण्डन किया, गृहस्थाश्रम पर भी पृष्ठों का ढेर लिख मारा। नियोग का मण्डन करते हुए, गृहस्थाश्रम पर सत्यार्थ प्रकाश में एक अध्याय लिखते हुए तथा संस्कार-विधि की रचना करते हुए ऋषि दयानन्द का लक्ष्य एक था और वह था गृहस्था-

श्रम के सुधार द्वारा—

'सन्तति-सुधार'।

इस समय हमारा ध्यान 'सन्तति-सुधार' (Race Betterment) की तरफ़ नहीं है। हम 'समाज-सुधार' कर रहे हैं परन्तु समाज की संघटक सन्तति की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं है। प्रमादवश हम यह समझ रहे हैं कि चाहे किन्हीं संस्कारों की सन्तानें हमारे सन्मुख लायी जावें हम उन्हें गुरुकुलों की मशीनों में ढाल कर अपने काम का बना लेंगे। आर्य समाज का सभासद् बना कर या शुद्धि सभा का उत्साही कार्य-कर्ता बना कर जादू कर डालेंगे, परन्तु हम भूल में हैं। ऋषि दयानन्द इस भूल में न थे। हमें समझ लेना चाहिये कि आम की गुठली से अनार बना लेना कठिन ही नहीं, असम्भव है। जिस गन्द में से आज देश के भविष्यत् को बनाने वाली सन्तानों को निमन्त्रित किया जाता है उस गन्द के वैसे का वैसा बने रहते भी यदि हम किसी वास्तविक उन्नति की तरफ़ आशा लगाये हुए हैं तो बलिहारी है हमारी बुद्धियों की! ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि तथा सत्यार्थ प्रकाश में जगह २ पर गुरुकुलों तथा सन्तति-सुधार की तरफ़ इशारा किया है। जिन महानुभावों ने ऋषि से गुरुकुलों के इशारे को लेकर उस विचार को क्रियात्मक रूप देने का सफल उद्योग किया है उन के लिये मेरे हृदय में असीम श्रद्धा तथा भक्ति है, परन्तु मेरा विचार है कि ऋषि दयानन्द के विचारों की गहराई तक पहुँचने के लिये हमें कुछ और गहरा जाने की ज़रूरत है। सुना जाता है कि ऋषि दयानन्द एक वार एक वेद मन्त्र की व्याख्या कर रहे थे। व्याख्या करते २ उन्हों ने सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से ही स्त्री-पुरुष के संयोग को वेदानुकूल ठहराया। श्रोताओं में से एक ने उठ कर निवेदन किया कि वर्तमान पतित गृहस्थ-जीवन में ये आदर्श घटने असम्भव हैं! ऋषि का एक ही उत्तर था "असम्भव है तो उन का फल भी भोगो! यह नहीं हो सकता कि जीवन-विद्या के नियमों का उल्लंघन भी किया जाय और सज़ा से भी बचा जाय!" इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के जीवन की एक दूसरी घटना भी सुनी जाती है। कहते हैं कि एक वार ऋषि कुछ भक्तों के साथ सैर को जा रहे थे। मार्ग में ५-६ वर्ष की एक बालिका खेलती हुई मिली। ऋषि ने उस के सन्मुख मस्तक झुका दिया। पूछे जाने पर कहा कि मैंने मातृशक्ति के सन्मुख सिर झुकाया है। क्या ऊंचे

आदर्श हैं ? इतने ऊंचे हैं कि हमारा पतित जीवन उन से बहुत नीचे धूल में गिरा मालूम देता है। परन्तु फिर भी वे आदर्श हैं। समाज का जो थोड़ा बहुत जीवन चलता है वह उन्हीं के आधार पर है। आदर्शों की मात्रा जितनी बढ़ती जाती है उतना ही समाज का जीवन भी उत्कृष्ट तथा स्पृहणीय बनता जाता है, जितने ही वे आदर्श लुप्त होते जाते हैं उतना ही मानव-जीवन फीका तथा निस्सार होता जाता है। ऋषि के इन आदर्शों को जीवन में घटाने के लिये आर्यसमाज ने क्या किया है ? "सन्तति-सुधार" के महान् कार्य को अपनाने के लिये क्या प्रयत्न हुआ है ? दुःख से कहना पड़ता है कि इस तरफ़ हमारा ध्यान नहीं गया !

"सन्तति-सुधार" के प्रश्न को भारत ने बिल्कुल ही छोड़ रखा हो, ऐसी बात नहीं। इस प्रश्न के महत्व को जनता की पर्याप्त संख्या अनुभव करती है। इस समय भी "स्वस्थ बच्चों की प्रदर्शिनी" (Child welfare Exhibition) तथा "सन्तति-निग्रह" (Birth-Control) की दो लहरें देश में धीरे २ बढ़ती चली जा रही हैं। इन दोनों का उद्देश्य अच्छा है। बच्चों की प्रदर्शिनी से तो "सन्तति-सुधार" की लहर को बहुत सहायता मिल रही है परन्तु मेरा विचार है कि 'सन्तति-निग्रह' की लहर भारत के लिये ही नहीं, संसार भर के लिये घातक है। 'सन्तति-निग्रह' करनेवाले पवित्र विचारों को नहीं रख सकते। वे 'सन्तति-निग्रह' के अप्राकृतिक अमानुषिक तथा घृणित उपकरणों को विषय-वासना तृप्त करने का साधन समझने लगते हैं। ऐसे भावों के लोगों की सन्तानें चाहे कम भी क्यों न हों, परन्तु जो भी एक दो होंगी, वे कलुषित भावों तथा संस्कारों की पुंज होंगी। 'सन्तति-निग्रह' से सन्तानों की संख्या तो नियमित हो जायगी परन्तु 'सन्तति-सुधार' न होगा। युरुप की प्रत्येक चीज़ भौतिक-वाद की दृष्टि से की जाती है। ईसा का सिद्धान्त था कि संसार भी मिल जाय और आत्मा का घात करना पड़े तो उस संसार पर थूक दो। वर्तमान युरुप का सिद्धान्त है कि दो पैसे बचते हों तो आत्मा को बेच डालो। सन्तति-निग्रह में यह तो देखा जा रहा है कि जितना भोजन है उस से अधिक खाने वाले कहीं पैदा न हो जांय, यह नहीं देखा जा रहा कि जिन्हें डरते २ पैदा किया जाता है उनमें आत्मा भी है या नहीं। वे समय के संस्कारों को लेकर उत्पन्न होते हैं या व्यभिचार के। युरुप अपनी सुध आप ले, परन्तु मैं यह निश्चय से

जानता हूँ कि भारत को 'सन्तति-निग्रह' के अश्लील तथा गन्दे उपायों के इस्तेमाल करने की ज़रूरत नहीं है। भारत को तो 'सन्तति-सुधार' के उपायों की ज़रूरत है। ऋषि दयानन्द के एक २ कार्य में इसकी तरफ़ इशारा है। इस इशारे पर काम नहीं किया गया। ऋषि दयानन्द के विशाल कार्य-क्रम के आधार में, मूल-भूत, यही इशारा है। 'सन्तति-सुधार' के काम को नींव में रख कर काम किया जाय तो ऋषि का कार्य-क्रम एक दम सफल हो सकता है, नहीं तो ज़माना भी लम्बा है उमर भी काफ़ी है, गुज़र तो हरेक की जाती ही है।

आर्य-समाज ऋषि दयानन्द का उत्तराधिकारी है। आर्य-समाज ने ऋषि के कार्य-क्रम को पूरा करना है। आर्य-समाज का परम कर्तव्य है कि इस प्रोग्राम की तरफ़ दृष्टि फिराये। समझ लेना चाहिये कि इस कार्य-क्रम के पूरा किये बग़ैर कुछ न होगा। आर्य समाज की वेदियों पर से 'सन्तति-सुधार' विषय पर व्याख्यान होने चाहियें, इस विषय के समाचार-पत्र निकलने चाहियें, प्रत्येक शहर की आर्य-समाज में इस विषय की उत्तमोत्तम हिन्दी-उर्दू-अंग्रेज़ी पुस्तकों का संग्रह होना चाहिये। इस सारे कार्य को पूरे उत्साह से चलाने के लिये प्रत्येक शहर में—

'सन्तति-सुधार-संघ'

अर्थात् Race Betterment Association की स्थापना होनी चाहिये। आर्यसमाज को इस संघ की पूरी २ सहायता करनी चाहिये। इस संघ में हिन्दु मुसल्मान, ईसाई, पारसी, सभी को सभासद बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि अभी देश के कोने २ में इस सङ्घ की शाखाएं नहीं खोली जा सकतीं इस लिये मुख्य संघ गुरुकुल-कांगड़ी में स्थापित किया गया है और इस कार्य को विस्तृत रूप दिये जाने का विचार हो रहा है। अभी तक 'सन्तति-सुधार-सङ्घ' Race Betterment Association का कोई निश्चित प्रोग्राम नहीं बतलाया जा सकता, हां निश्चित उद्देश्य अवश्य बतलाया जा सकता है। 'सन्तति-सुधार सङ्घ' का यह उद्देश्य है कि माता-पिता इस बात को समझ जाँय कि देश को हीन तथा अपाहिज सन्तानों की आवश्यकता नहीं है। 'सन्तति-सुधार-सङ्घ' प्रत्येक माता-पिता अथवा माता-पिता बनने की उम्मीदवारी रखने वाले व्यक्तिके सन्मुख अपनी मांग रखता है। उसकी मांग है, 'उत्तम-सन्तति'। यह मांग देश के डूबते भाग्यों पर आँसू बहा कर तथा आने वाली आत्माओं पर माता-पिता की उच्छृङ्ख-

लता से होने वाले अन्याय पर आहें भर कर की जाती है। क्या इस मांग को पूरा करने के लिये देश के नवयुवक तैयार न होंगे? स्मरण रखो, इस मांग को करने वाला दूसरा कोई नहीं है। इस मांग को करने वाला—

"ऋषि दयानन्द"

स्वयं है। यह मांग ऋषि दयानन्द की एक २ पुस्तक में प्रत्येक पुस्तक के एक २ पृष्ठ में, प्रत्येक पृष्ठ के एक २ शब्द और अक्षर में मौजूद है! ऋषि दयानन्द ने जो चौमुखा विस्तृत प्रोग्राम देश के सन्मुख रखा है उस प्रोग्राम की सफलता के लिये 'सन्तति-सुधार-संघ' का प्रोग्राम आधार है और इसीलिये अनिवार्य है। मुझे पूर्ण आशा है कि आर्य-समाज की शक्तियें जो कभी २ अनावश्यक नोंक-झोंक में बिखरने लगती हैं इस एक प्रोग्राम पर केन्द्रित हो जांयगी और ऋषि के प्रारम्भ किये हुए कार्य को सफल बना कर छोड़ेंगी। *

* नोट—इस विषय पर जो विस्तार से पढ़ना चाहें वे गुरुकुल कांगड़ी, बिजनौर से 'अलङ्कार' मासिक पत्र के सन्तति-शास्त्र विशेषाङ्क (Eugenics-Special-number) को मंगा कर पढ़ें। इस अङ्क का मूल्य छः आने है। —— लेखक।

गोरखधन्धा

[श्री प्रो० वागीश्वर विद्यालङ्कार]

साधु जन जहां रहे दुख भोग, मौज हैं लूट रहे खल लोग।
शम्भु कर रहे जहां विषपान, राहु ले रहे सुधा का दान॥
न्यायमय! हे अनाथ के नाथ!, वहीं है छुपा तुम्हारा हाथ॥ १॥

धर्म के धनी जहां हैं दीन, फूल फल रहे कर्म से हीन।
कमल हैं जहां कीच के बीच, बाग में सत्यानासी नीच॥
सर्वदा अटल नियम के साथ, वहीं है छुपा तुम्हारा हाथ॥ २॥

सत्य से जहां कट रहे सीस, झूठ से हित है बिस्वे बीस।
जहां बिंध बँधे चमेली फूल, ईश शिर रहे धतूरे झूल॥
गा सके कौन नाथ! गुणगाथ, वहीं है छुपा तुम्हारा हाथ॥ ३॥

आर्य्य समाज का कार्य्य

[श्री अयोध्यानाथ शर्म्मा, एम. ए. काशी]

महर्षि दयानन्द के छंद रहित स्वच्छ हृदय में यदि कोई चिंता थी तो आर्य्य जाति के भविष्य की, कोई सोच था तो गिरे हुए भारत वर्ष का, कोई कामना थी तो वेद प्रचार की। इन कार्य्यों के करने के लिये स्वामी जी ने अपना भावी कार्यक्रम जिस प्रकार स्थिर किया था वह तीन भागों में बांटा जा सकता है और जिस के अनुसार उन्हों ने अन्त समय तक काम किया और जिस के अधूरे रहने का खेद उन को उस समय हुआ था जब दुष्ट जगन्नाथ ने, उस परोपकार और दया की मूर्ति को, केवल कुछ रुपयों के लालच से, बहुत बारीक कांच पीस कर दूध में मिला कर दिया। १, मौखिक प्रचार और शास्त्रार्थों द्वारा पाखंड-खण्डन और वेद प्रचार। २, वेदों के भाष्य और दूसरे ग्रंथों द्वारा प्रचार की भूमि तय्यार करना और ३, अपने पीछे भी उपरोक्त दोनों कार्य्यों को सुचारु रूप से जारी रखने के लिये आर्य्य समाज के रूप में अपना एक स्थानापन्न छोड़ना। इस तीसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सन् १८७५ में सब से पहले बम्बई में आर्य समाज स्थापित किया।

आज आर्य्य समाज के कार्य को अन्य सभा समाजों द्वारा होता हुआ देखकर बहुत से सज्जनों ने यह भी सोचना प्रारम्भ कर दिया है कि अब आर्य्य समाज की कोई आवश्यकता ही नहीं रही। परन्तु क्या हम समाज के मुख्य कार्य की ओर, जिस से प्रेरित हो कर उस के प्रवर्त्तक ने उस की स्थापना की थी अपने कर्त्तव्य का पालन पिछले पचास वर्षों में जैसा चाहिए था वैसा करसके हैं? यदि नहीं, तो क्या हमने उस ऋषि के प्रति, जिसने सब प्रकारके सुखकी सामिग्री को तिलाञ्जली देकर, सांसारिक दुःखों का आह्वान कर लोगों के हित के लिये अपने सर्वस्व को हमारे ऊपर निछावर कर दिया, कृतघ्नी और अविश्वासी ठहरने का घोर पाप नहीं किया है।

आर्य समाज से सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही बड़ी बड़ी संस्थायें विद्यमान हैं जिन में जनता प्रति वर्ष लाखों रुपए व्यय करती है और जिन में कार्य करने वालों की संख्या बहुत पर्य्याप्त है। परन्तु इस से वेद प्रचार सम्बंधी कार्य्य की पूर्ति किस अंश तक हो सकी है इस प्रश्न का उत्तर बड़ाही असन्तोषप्रद मिलता है। इस का कारण हमारी उदासीनता और अकर्मण्यता के अतिरिक्त

और क्या हो सकता है। जितना धन और शक्ति संस्थाओं के चलाने में लगाया जाता है उस का एक भाग ही प्रचार कार्य के लिये पर्याप्त होता। संस्थाओं का होना आवश्यक है परन्तु प्रचार का कार्य्य अच्छी तरह से और सन्तोष प्रद होना परम आवश्यक है।

प्रचार सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रचारक का अपना आचरण अच्छा, बनावट से दूर और सादा हो। या कम से कम जिन सिद्धान्तों को वह जनता के सम्मुख रखता हो, उनकी अवहेलना वह स्वयं न करता हो।

खण्डन बुरा नहीं है परन्तु उसके करने की क्षमता होनी चाहिये। स्वामी जी महाराज खण्डन करते थे और बड़े ही ज़ोरों में करते थे, परन्तु उनके ऐसा करने पर भी लोगों की श्रद्धा और भक्ति उनके प्रति कम न होकर और भी प्रबल हो जाती थी, और उनके अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती गई। विधर्मी भी उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते और उनके उपदेशों को हृदयंगम करते थे। इसका कारण यह था कि वे बड़े विद्वान, आचारवान, महान थे। उनको किसी के प्रति द्वेष न था, और जो कुछ वे कहते थे शुभ भावनाओं और विचारों से प्रेरित होकर ही। इस लिये खण्डन का कार्य केवल उन्हीं थोड़े लोगों पर छोड़ देना चाहिए जो इस के सर्वथा योग्य हैं और जिन के खंडन से जनता केवल अप्रसन्न ही न होकर उन की ओर आकर्षित होती हुई उनके बतलाए हुए मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हो जावे।

आर्य समाज जैसी उत्तर दायित्व पूर्ण संस्था के लिये मुख्य और परम कर्त्तव्य की ओर पूर्ण ध्यान न देना शोभा नहीं देता। अतः शिव रात्रि के शुभ अवसर पर समाजों को इस बात का निश्चय करना चाहिए कि वे अपनी शक्ति को प्रचार की ओर अधिक लगाएँ गी और महर्षि के सच्चे प्रतिनिधि होने का प्रमाण देंगी। वेद के प्रचार द्वारा ही वैदिक धर्म्म की उन्नति हो सकती है। लोक हित का ध्यान रख कर तथा समाज के नियमों को सम्मुख रख कर प्रत्येक आर्य का यह कर्त्तव्य ठहरता है कि वह वैदिक धर्म्म-प्रचार में पूर्ण सहयोग दे और अपनी समाज को इस ओर कार्य्य करने के लिए प्रेरित करे। ऐसा करने से ही शिव रात्रि का सचा व्रत धारण किया जा सकता है नकि बड़ी बड़ी बातें करने से। अंत में कल्याणकारी शिव से प्रार्थना करते हैं कि वह हम में बल और शक्ति दे कि हम अपने व्रत का पालन कर सकें।

खण्डन का फल

[श्री० पं० चमूपति एम. ए. 'आर्य-सेवक' अफ्रीका]

एक ओर अल्पशक्ति आर्यसमाज है और दूसरी ओर नीतिमत्ता तथा वैभव के शस्त्रों से सजा हुआ सांप्रदायिक संसार। ख्वाजाहसन निज़ामी का और किसी से वैर नहीं। सनातनियों के वह मित्र हैं, आर्य समाज के जन्म-वैरी। अहमदियों के पत्र तथा व्याख्याता यदि किसी पर दांत पीसते हैं तो आर्य समाज पर। और तो और, सनातनियों की वक्र दृष्टि भी आज इसी आर्य समाज ही पर है। सनातन धर्म कान्फरेंस के स्वागताध्यक्ष का भाषण यदि किसी के अत्याचार के हाथों छिपा २ करुण क्रन्दन करता था तो आर्य समाज के। पण्डित मौलीचन्द्र का भाषण उस विकट विष का एक कण था, जो कुछ समय से सनातनी महादेव के कण्ठ में फंसा हुआ आर्य समाज के विरुद्ध परवश फनियर की तरह मुंह बढ़ाता है पर दांत नहीं पाता। इन सभाओं, सोसाइटियों, समुदायों का बस चले तो इकट्ठे आर्य समाजकी इतिश्री: करें और मिल कर उसकी चिता पर सन्तोष का श्वास लें।

आर्य समाज! तूने क्या पाप किया है जिस का प्रायश्चित्त तेरी मौत से कराने की चारों ओर से तैयारियां हो रही हैं। तेरा अपराध है खण्डन, तीव्र खण्डन, निर्भय निश्शंक खण्डन। महात्मा गांधी जैसा सहन शक्ति का देवता इसी असह्य अपराध पर तेरी पीठ में छुरा घोंपने को उद्यत होगया था। हृदय कांपता है जब स्मरण आता है, महात्मा ने तुझ पर स्त्री-अपहरण का कुत्सित पाप आरोपित किया और उसकी असत्यता प्रमाणित हो जाने पर भी अपनी भूल को पी गया। आज ला० लाजपत राय कहते हैं तेरी शास्त्रार्थ की प्रचार प्रथा मध्यकालीन है, यूरोप में इस विधि को कभी का छोड़ दिया गया है। हाय यूरोप का जादू! हम धर्म प्रचार का ढंग भी अब यूरोप से सीखने जायंगे! लाला जी का उद्देश्य क्या है? क्या आर्य समाज ईसाइयों की भांति अपना प्रचार प्रलोभन से करे—छल से करे—राजभक्ति के ढोंग से करे? यूरोप की और विधि कौन सी है? लाला जी ने पश्चिम का साक्षात् अवलोकन किया है और यहां केवल सुने सुनाए का परिचय है। तो भी आए दिन के Fundamentalists फण्डेमेण्टैलिस्ट और Modernists मौडर्निस्ट ईसाइयों के परस्पर वाद विवाद की सूचनाएं पत्रों में प्रकाशित होती हैं। यह शास्त्रार्थ नहीं तो और है क्या? पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने भरी सभा में शास्त्रार्थ का आह्वान चाहा है। इस का उत्तर अब आर्य समाज क्या दे? मौन?

नेताओं को विचार एकता का है और आर्य समाज को सुधार का। नेता बल के भूखे हैं, सुधारक सत्य और सदाचार के। इनकी भ्रान्त दृष्टि में सदाचार सब से बड़ा बल है। देखें इतिहास

किस के परिधान की प्रशंसा करता है। भावी विजयी हम होंगे या हमारे राजनैतिक नेता। इस में हमारी अपनी अब की साक्षि तो कोरा पक्षपात होगी। समय बदल गया है। नहीं तो महात्मा जी का तथा लाला जी का लक्ष्य-बिन्दु एक है। महात्मा को भारतीयता के नाते हम पर रोष था, लाला को हिन्दुत्व के नाते है। यदि हमें अपनी सफलता अथवा सत्य परायणता का प्रमाण राजनैतिक नेताओं से लेना हो, तो हम तो पहिली ही वार इन के सम्मुख होते ही अनुत्तीर्ण हैं। हमारा परीक्षक अन्तरात्मा है। इस से अधिक स्थूल साक्षि हमारे शत्रु मन्यों की है-अर्थात् उनकी जो आज हमारी जान के प्यासे प्रतीत हो रहे हैं।

मुसलमानो ! कुरान की कसम है। अहमदियो ! कलामे पाक को हाथ में लेकर सच कहो, हमने तुम्हारा हित किया है या अहित ? मौलाना मुहम्मद अली ! तुम्हीं कहना, हमारे खण्डन की छाप मात्र से ही क्या तुम ने कुरान को सिर से पांव तक सद्भावों के भूषणों से मण्डित करने का प्रयत्न नहीं किया ? क्या हमारे खण्डन-कुठार के घाव कुरान के कलेवर पर वीरों के प्रसाद की भान्ति कुरान को शर-शय्या पर लेटाए हुए भी उस से अमरता का स्वांग नहीं भरवा रहे ? लो ! कुरान स्वयं बोल उठा !

I कुरान सूरा २७, आया ६० में मुहम्मद महोदय के परमात्मा के दर्शनार्थ सातवें आसमान पर जाने का वर्णन किया है। बुराक़ नाम का गधा इस पुण्य यात्रा में खुदा के रसूल की सवारी होने से अमरता प्राप्त कर चुका है परन्तु मौ० मुहम्मद अली अपने कुरान-भाष्य में लिखते हैं:—

'भाष्यकार प्रायः सहमत हैं कि यहां संकेत आरोहण के स्वप्न की ओर है जिस से पवित्र सन्देशहरको अपने पलायन (हिजरत) के पश्चात् बड़ी सफलताओं का वचन दिया गया।'

Holy Quran Note 1441

II सूरा ४१ आया १० में पृथिवी के छः दिनों में बनाए जानेकी कथा है जैसे तौरा (Old Testament) में सूर्य के चौथे दिन निर्मित होने का वृत्तान्त है। हमारे ईसाई भाइयोंने दिन का अर्थ स्टेज कर लिया तो अहमदी क्यों पीछे रहने लगे ! उक्त भाष्यकार के अपने शब्दों में—

'छः समयों या दिवसों में सृष्टि होने का अर्थ आसमानों और ज़मीनों के निर्माण में लगे कालकी इयत्ता प्रकाशित करना नहीं......वास्तव में छः काल......इन पदार्थों की सृष्टि की स्थितियां-स्टेजें-हैं।'

Holy Quran Note 2199

III शैतान पर मौलाना की टिप्पणि देखने योग्य है। सूरा ७ आया १२ पर आप लिखते हैः—

'इस प्रकार यहां दिया वर्णन इन दो प्रकार के प्राणियों के शील के मुख्य गुणों का द्योतक है। यहां इस का अभिप्राय केवल यह है कि आग्नेय शील (के मनुष्य) ही पूर्ण पुरुष अथवा सच्चे सन्देशहर के अनुकरण से नकार करते हैं।'

Holy Quran Note 862.

कुरान में यहां वर्णन शैतान के आदम के पूजन से इनकार करने का है। सो देख लीजिये यहां आदम मुहम्मद होगया और शैतान उस के विरुद्ध विद्रोही लोग।

IV आदम से यों छुट्टी हुई तो उस के पुत्र आबील काबील कहां बच सकते हैं? सूरा ५, आया २७ पर यह आलोक चढ़ाया है: —

'परन्तु इस सारी कथा का अभिप्राय आलंकारिक लिया जा सकता है जिसका संकेत पवित्र सन्देशहर के विरुद्ध यहूदियों के षड्यन्त्रों की ओर है। यहां अत्याचारी तथा पापी भ्राता (एक वचन) का अर्थ इस्राईली (बहु वचन) हैं और धर्मात्मा भाई (एक वचन) का अर्थ इस्माईली हैं जिन का प्रतिनिधि पवित्र सन्देशहर है।'

Holy Quran Note 686

कथा ही उड़ गई। बे सिर पैर की बात को सिर पैर देने का प्रयत्न किया है। यह और बात है, हाथी का सिर गणेश की गर्दन पर पूरा आए या न आए।

V कुरानी बहिश्त को सर सैयद ने वेश्या-गृह का नाम दिया था वह अब क्या बन रहा है? अहमदी भाष्यकार के अपने शब्दों में:—

'स्वर्ग और नरक दो स्थानों के नाम नहीं, किन्तु वास्तव में दो अवस्थाएं हैं। क्योंकि यदि स्वर्ग हो तो नरक नहीं हो सकता। इन आयतों के अनुसार स्वर्ग सारे आकाश (Space) पर व्यापक है।

Holy Quran Note 2454

कुर्आन कर्ता इतनी अन्धकार-कारक बुद्धि के मालिक न थे। इस का प्रमाण कुर्आन के अन्यस्थल हैं। शुक्र है १३०० वर्ष के पीछे कोई नाम लेवा ऐसा भी हुआ जिसने पूर्वजों की भूल सुधार दी। सुपूत ऐसी ही सन्तति को कहा है।

VI बहिश्त की यह गति है तो हूरों का ठिकाना? इस पर एक वृहत् टिप्पण दिया है। प्रमाण कोई नहीं।

'इसलिए श्वेत आंखों वाली, विशाल नेत्रों वाली, पवित्र सुन्दरियां-इस आया में आई हूर और ईन—इस जीवन की दूसरी स्त्रियां नहीं। यह स्वर्गीय आत्मा (हूर) हैं जो धर्मात्मा स्त्रियां

भी पुरुषों के साथ भोगेंगी।······पवित्रता और सुन्दरता का प्रतिनिधि स्त्रीत्व है, पुरुषत्व नहीं।

Holy Quran Note 2356

हम जानते हैं कुरआन के निष्पक्ष अध्येता उपर्युक्त टिप्पणियों के रचयिता पर खेंचातानी का दोष आरोपित करेंगे। हम भी उन के साथ सहमत हैं। परन्तु एक सुधारेच्छुक के लिए यह कुछ थोड़े सन्तोष का स्थान नहीं कि अरब के उपजे धर्म से विज्ञान और पवित्र आचरण की कवितात्मक ध्वनि निकले। अटकलपच्चू कहानियों को इस्लाम के प्रारम्भिक इतिहास का आलंकारिक रूप दिया जाए। बहिश्त का विलासिनी-गृह उखाड़ उस के स्थान आध्यात्मिक अवस्थाओं का स्वप्न देखने की ओर प्रवृत्ति हो। मोटी आंखों और पवित्र भावों में क्या सम्बन्ध है-यह चाहे एक साहित्यिक समस्या ही रहे परन्तु स्त्रीत्व को पुण्य भावों का प्रतिनिधि अरबी सन्देशहर के मुख से—नहीं हम भूल गए, उस के भी खुदा के मुख से—कहलवाना बीसवीं शताब्दी का चमत्कार कहो तो है, चौदहवीं सदी का क़यामत का निशान कहो तो है।

विस्तार भय से पुराण और बाइबल का उद्धरण आज उपस्थित नहीं करते।

यह है खण्डन का मीठा फल, जिस का आस्वाद हमारे विरोधी होंट चाट कर लेते जाते हैं और बस नहीं करते। यह और बात है खाते भी हैं और खिलाने वाले को गाली भी देते जाते हैं। अभी इस फल का सहवर्त्ती विष है जो आर्य समाज देख रहा है और उस का उन्मूलन अपना पवित्र कर्तव्य समझ रहा है। हम भविष्य-वक्ता नहीं। संभव है, इस घोर संग्राम का परिणाम जो आर्य समाज ने अपने खण्डन-कुठार की पैनी धारा से संसार के या कम से कम भारत के कोने २ में मचा दिया है, समस्त आर्यों का प्राण-घात हो। संभव है, वैरी जन-बाहुल्य के बल से आर्य समाज को धराशायी कर उस पर सुख की नींद सोएं। हमें सन्तोष होगा यदि हमारे दहकते हुए शरीरों की अग्नि कम से कम रोग कीटों को स्वाहा करदे जो अभी कुरान में हैं, पुराण में हैं, और इंजील आदि सांप्रदायिक पुस्तकों में हैं। यदि हमारी राख पर पवित्र जातीयता का मन्दिर खड़ा होजाए तो अहो भाग्य हैं हमारे प्राणों के जो इस यज्ञ में आहुति बन कर गिरें। हम समझौता नहीं, सचाई चाहते हैं। मिश्रण नहीं, एकीकरण चाहते हैं। हम भेदभाव को सहना नहीं, ऐक्य के भाव में लीन कर देना चाहते हैं। हमारे उद्दिष्ट ऐक्य का दूसरा नाम सत्य है। हम गांधी नहीं, मालवीय नहीं, लाजपत नहीं, दयानन्द के चेले हैं।

महात्मा ने सच कहा, दयानन्द असहिष्णु थे—असत्य के असहिष्णु, कदाचार के असहिष्णु, वैमनस्य के असहिष्णु। उन का लक्ष्य ऐक्य था और उन का वह ऐक्य पर्याय था शुद्ध स्वच्छ सत्य का। वह नेता न थे, सुधारक थे।

दिव्य मूर्ति

(श्री० विद्यालङ्कार)

क्या खूब चीज़ थी वह दुनियां में एक आई।
ताक़त न आदमी की रूहानी एक आई ॥ १ ॥

बरसे हैं ईंट, पत्थर, शोले न डर ज़रा है।
बदले में इस के उसने अमृत नदी बहाई ॥ २ ॥

बादल घिरे हैं काले अन्धेर छा रहा है।
अपनी चमक से सबको रस्ता दिखाने आई ॥ ३ ॥

देते ज़हर का प्याला बढ़ कर खुशी से लेती।
बंधन में आप बंध कर जग को छुड़ाने आई ॥ ४ ॥

ख़म ठोक कर जो उससे लड़ने को आरहे थे।
भागे हताश उसने उंगली जो इक दिखाई ॥ ५ ॥

सर्दी क्या और गर्मी उस पर असर करेंगी ?
उसने मुकाबिले में बस धूमि है रमाई ॥ ६ ॥

बन्दा बना के केवल बस एक उस प्रभु का।
सब में ही प्रेम की वह बीणा बजाने आई ॥ ७ ॥

पहिना गले में उस के देखो विजय की माला।
कहती है कौन तुम ने काली घटा हटाई ॥ ८ ॥

खिलते से चेहरे पर अभिमान की न रेखा।
कुछ काम हो गया है, मुसकान एक आई ॥ ६ ॥

संसार आज उस के कदमों पै चल चुका है।
फैली है बस लहर वह उस ने जो थी चलाई ॥ १० ॥

वह है गुरू हमारा हम एक शिष्य उस के।
सच्ची है राह केवल उसने जो है बताई ॥ ॥ ११ ॥

स्वामी दयानन्द का उद्देश्य

(देवतास्वरूप श्री भाई परमानन्द जी)

शिवरात्री इस लिए प्रसिद्ध है कि उस रात्री को स्वामी जी के हृदय में, जब कि अभी वह लड़के ही थे, यह भाव पैदा हुआ कि इस जाति के धर्म और ज्ञान पर एक बड़ा भारी अज्ञान का पर्दा छा गया है। स्वामी जी को इस के पीछे इस बात की बहुत ही चिन्ता रही उन के त्याग का कारण उन की भगिनी व चचा की मृत्यु थी जिस से इन्हें बहुत ही प्यार था। घर बार को त्याग देने के पीछे स्वामी तपस्या और विद्याध्ययन में लगे रहे। उन का बहुत सा समय इधर उधर घूमने में ही गुज़रा परन्तु इस समय में उन्होंने अपने उद्देश्य का ठीक निश्चय नहीं किया था। उन के चित्त में एक बड़ी भारी आकांक्षा सी प्रतीत होती है। उन के अपने भ्रमण करने के समय उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया कि इस देश में अविद्या और ठगी की कोई सीमा नहीं है। उनका चित्त चाहता था कि जाति को इस अंधेरे गढ़े से किसी प्रकार से बाहर निकालें किन्तु उन्हें चिरकाल तक कोई उपाय सूझता न था।

उन की आयु इस समय बहुत बड़ी हो गई थी जब वे मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी के पास अध्ययन किया करते थे। स्वामी दयानन्द के उद्देश्य का निश्चित हो जाना उन के प्रज्ञा-चक्षु गुरु विरजानन्द की कृपा से हुआ। विद्या प्राप्ति के पश्चात् उन से विदा होते हुए गुरु ने श्री स्वामी जी को दो बातों में उन के सारे जीवन का उद्देश्य बता दिया और इन्हीं बातों में जाति और धर्म के रोग की औषधि बता दी। वे दो बातें इस वाक्य में पाई जाती हैं 'वेदों का प्रचार करो और देशी रियासतों का सुधार करो।' इस देश के पतन का कारण यही था कि ब्राह्मणों ने वेदों के अध्ययन को छोड़ दिया था और देश के क्षत्रिय राजनीति और क्षात्रधर्म को भूल गए थे। धर्म की रक्षा वेदों के प्रचार से हो सकती थी और देश की रक्षा के लिये क्षत्रियों को अपने धर्म का परिचय दिलाना ज़रूरी था। इन दोनों मार्गों पर चलने के लिए स्वामी दयानन्द ने पहले पहल तो ब्राह्मणों और संस्कृत के विद्वानों के बीच में जाकर असत्य का खण्डन और सत्य का मण्डन करने का काम शुरू किया। बनारस में जा

पंडितों के साथ शास्त्रार्थ करने में उन का अभिप्राय यही था कि वे ब्राह्मणों के सामने खुले प्रकार से यह प्रगट कर दें कि जब से उन्होंने वेदों के मार्ग को छोड़ा है तभी से इस देश का पतन आरम्भ हुआ है और इस का पुनरुत्थान उसी समय होगा जब हिन्दु जाति फिर से वेदों के झंडे तले आ जायगी। इसी उद्देश्य का प्रचार करने के लिए स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना की।

स्वामी जी के उद्देश्य का दूसरा भाग देशी रियासतों में सुधार का था। स्वामी जी ने कुछ समय धर्म के प्रचार में लगाया परन्तु उस से अधिक समय उनका राजपूताने की रियासतों में गुज़रा जिस में कि उन का यही यत्न था कि किसी प्रकार से भारत की क्षत्रिय जाति में अपने धर्म का प्रेम उत्पन्न होजाय। उन के जीते जी राजपूत राजाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपनी स्थापित की हुई परोपकारिणी सभा में भी इन राजाओं को ही अधिक भाग दिया। परन्तु उन के देहान्त हो जाने से इन राजाओं पर दूसरे प्रभाव पड़ गए और स्वामी जी का उद्देश्य अधिक सफल न हो सका।

स्वामी जी के दिल में राजपूताने के राजवंशों के लिए जिन्होंने पिछले इतिहास में जाति और धर्म की रक्षा के लिए इतना कुछ किया था अधिक श्रद्धा थी। इसलिये उन्होंने अपना यह उद्देश्य राजपूताना में ही पूरा करने का प्रयत्न किया। सम्भव है स्वामी जी के अपनी जन्मभूमि में न जाने का कोई और कारण भी हो। यदि वह काठियावाड़ में जाकर इसी उद्देश्य को सामने रख प्रचार करते तो बहुत सफलता की आशा हो सकती थी। यद्यपि स्वामी जी ने अपनी जन्म भूमि की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं दिया किन्तु आज आर्य-समाज के लिये इस से अधिक सन्तोषजनक बात क्या हो सकती है कि इसी स्वामी जी की स्वजन्मभूमि के रईस और ठाकुर स्वामी जी की यादगार बनाने में इतने उत्सुक पाए जाते हैं।

यह भूमि अति प्राचीन काल से क्षत्रिय जातियों की निवास भूमि चली आती है। यदि इस भूमि के ठाकुर लोग अपने धर्म को जान देश की उन्नति में हाथ बटाएँ तो वह निस्सन्देह अपनी भूमि के उस महापुरुष के उद्देश्य को—जो कि इस समय में एक अकेला देश और जाति को जगानेवाला था—सफल करेंगे।

तपस्वी दयानन्द ।

ऋषि दयानन्द के जीवन और सन्देश की सच्चाई उसके देश वासियों पर प्रकट होती जाती है। मेरा विश्वास है कि आगामी दिनों में यह और भी अधिक प्रकट होगी। गत वर्ष दिवाली के अवसर पर लण्डन की एक सभा में ऋषि के स्मृति में प्रशंसा पूर्ण उद्‌गार निकले थे। कुछ दिन हुये कि जञ्जीवार (पूर्व अफ्रीका) से आये एक व्यक्ति ने मुझे बतलाया कि वहां के स्त्री पुरुषों की बड़ी संख्या पर दयानन्द का गहरा प्रभाव है, मैं उसकी जीवनी में एक तीन तार का धागा फैला
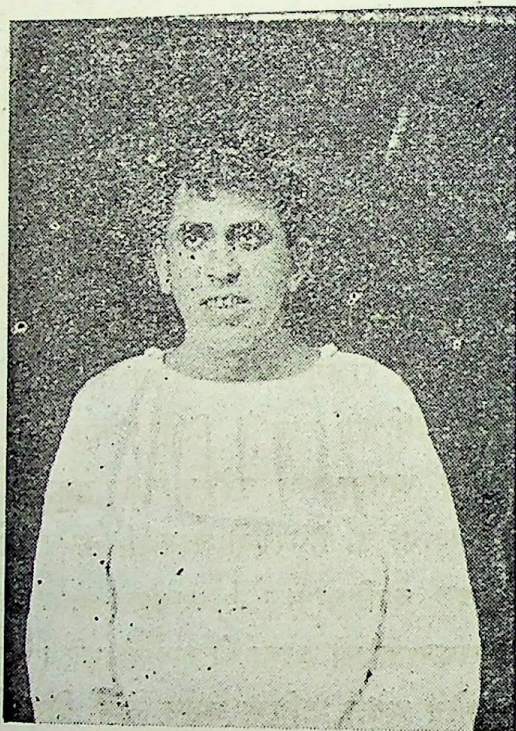
(ऋषि भक्त साधु टी. एल. वास्वानी)

हुआ देखता हूं वह ऋषि' 'योगी' और 'कर्मवीर' है। मैं जब उस के चित्र को देखता हूं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मानों अपने देश और प्राचीन इतिहास की पुकारों को सुन रहा है! कोई प्रेरणा उसे घर से बाहर निकालती है, बहुत वर्षों तक इधर उधर घुमाती है और अन्त में वह 'प्रज्ञाचक्षु सन्यासी' के पास आता है और उसका आशीर्वाद पाकर अपने मिशन पर चल देता है। वह अपने जीवन में तपस्या किये बिना अपने 'मिशन' पर नहीं निकलता। एक 'तपस्वी' ही को 'मनुष्यों के शिक्षक' बनने का अधिकार है, क्या अर्वाचीन भारत में दयानन्द से बढ़ कर कोई तपस्वी हुआ है?

उस दिन से डरो।

श्री—संतराम बी० ए० मंत्री, जात-पात तोड़क मंडल)

जिनके नेत्र हैं वे देख रहे हैं, जिनके बुद्धि है वे समझ रहे हैं, और जिनके ज्ञानेन्द्रियां हैं वे अनुभव कर रहे हैं कि भारत में शीघ्र ही एक घोर विप्लव होने वाला है। हाँ, एक ऐसी महाज्वाला प्रज्वलित होने को है जिस में यहाँ की सर्व अन्यायमूलक रूढ़ियाँ, पक्षपातयुक्त रीतियाँ, और लोक-अहितकारिणी संस्थाएं—चाहे वे समाजिक हों और चाहे राजनैतिक—भस्मीभूत हो जायँगी। उस प्रलयंकरी पावन ज्वाला में से इस देश का सारा सामाजिक और राजनीतिक मैल जल जायगा, और जो चीज़ बचेगी वह कुन्दन हो कर चमकेगी। देश में स्वार्थपरता, अन्यायप्रियता, और जन्माभिमान का विषैला मादा इतना अधिक बढ़ चुका है कि राष्ट्र-रूपी शरीर का कायाकल्प होने के लिए समस्त देश का प्रायश्चित्त की भट्टी में जलना अवश्यम्भावी है।

मैं जितना सोचता हूँ मुझे यही निश्चय होता है कि आर्य जाति के अधःपतन और दुर्दशा का एक मात्र मूल कारण जात-पात का भाव है। यही जात-पात एक फूट की जननी है जिसने एक जाति को असंख्य छोटे छोटे मज़बूत पिंजड़ों में बन्द कर दिया है। इस जाति के नर-नारी जात-पात के बंधनों में फंसे हुए शिकारी के जाल में कबूतरों की तरह तड़प रहे हैं। जिसने यह जात-पातका फन्दा तैयार किया उसकी बुद्धि की बलिहार है। लोग कहते हैं कि अंगरेज़ Divide and rule अर्थात् फूट डाल कर शासन करने के सिद्धान्त पर चलते हैं परन्तु ज़ात पात को बनाने वाला तो अंगरेज़ों को भी मात कर गया। ऐसा मज़बूत जाल तैयार किया कि बड़े बड़े सुधारक भी उसे तोड़ने से कान पर हाथ धरते हैं। हमारे नेता सरकार का मुकाबिला कर लेंगे, जेल में चले जायंगे, आर्थिक हानि उठा लेंगे, परन्तु ज़ात-पात में विश्वास न रखते हुए भी उन्हें इसे तोड़ने का साहस नहीं होता। बड़े बड़े नेताओं को इस क्षेत्र से दुम दबा कर भागते देखा गया है।

आर्य समाज की आज कल यह दशा है कि उस के सदस्य की स्थिति जब तक साधारण रहती है तब तक उस के अन्दर सब प्रकार के सुधार का भाव

जोरों पर रहता है, परन्तु अमीरी में पैर रखते ही वह सब सुधारों का कम से कम कर्म से विरोध करने लगते हैं। अब वह सामाजिक सुधार को बखेड़ों का मार्ग बता कर योग और उपनिषदों की व्याख्या में ही आनन्द लेने लगता है। प्रायः देखा जाता है कि वेदों की व्याख्या करते समय बाल की खाल उतारने वाले महाशय इस क्षेत्र में पैर तक रखने का साहस तक नहीं करते। एक बार एक मित्र से बात चीत में मैंने पूछा कि क्या करण है कि आप की समाज (कालेज-विभाग) के बहुत ही कम लोग जात पात तोड़क मण्डल के सदस्य बने हैं। तो उन्हों ने साफ़ कहा कि इस पार्टी में प्रायः अमीर लोग हैं और अमीर लोग प्रत्येक सुधार के विरोधी होते हैं। राज्यक्रान्ति और समाज क्रान्ति करने वाले प्रायः मध्यम स्थिति के लोग ही हुआ करते हैं।

आर्यसमाज की संस्थाएँ—इस के स्कूल, इस के कालेज, इस की कन्या पाठशालाएँ इस के उद्देश्यों को पूरा नहीं कर रहीं। इन संस्थाओं से प्रति वर्ष इतने लड़के और लड़कियां पढ़कर निकलती हैं, परन्तु उन में से सौ पीछे एक को भी ज़ात-पात तोड़ने का साहस नहीं होता। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म स्वभाव से है, इस पर ज़बानी चाहे सैकड़ों व्याख्यान दिला लो, परन्तु प्रोफ़ेसर साहब जब पुत्री के लिये वर ढूंढने बैठेंगे तो ज़ात से बाहर नहीं जा सकेंगे। उपर्युक्त संस्थाओं को हम बाज़ार के तनूरों से उपमा दे सकते हैं। लोगों को रोटी खानी है। जो भी तनूर खोलेगा वे वहीं खाने चले जांयगे। सनातनियों, सिक्खों, देव-समाजियों, मुसलमानों और ब्राह्मों, सब ने कालेज और स्कूल खोल रक्खे हैं। आर्यसमाज को इस में कुछ विशेषता नहीं। इन संस्थाओं का खोलना सरकार का कर्तव्य है और वह खोल भी रही है। आर्यसमाज का जन्म किसी उच्चतर कार्य के लिए—मनुष्य और मनुष्य के बीच झूठे और बनावटी भेद को मिटाने के लिए—हुआ था यदि वह इस कार्य को नहीं करता तो उसका होना और न होना बराबर है। कालेज और हस्पताल खोलने, अकाल और बाढ़ के पीड़ितों को सहायता देने में ईसाई धर्म उनसे कहीं बढ़ चढ़कर है।

क्या कोई माता का लाल ऐसा है जो छाती पर हाथ रखकर कह सके कि ज़ात-पात के रहते शुद्धि अछूतोद्धार और हिन्दू-संगठन का प्रश्न सच्चे अर्थों में हल हो सकता है ? यदि आज आर्यसमाजी ज़ात-पात को छोड़कर गुण-कर्म स्वभावानुसार विवाह करने लग जांय—यदि वे दूसरे धर्मों को छोड़कर आने

वालों के साथ बेटी का सम्बन्ध करने में सब संकोच को छोड़ दें—तो आज ही सौ पीछे पचानवे मुसलमान वैदिक धर्म को शरण में आ जायँ। मुसलमानों के दौरात्म्य को दूर करने का ज़ात-पात को छोड़ने के सिवा और कोई भी उपाय नहीं। उन को आत्मसात् करने—भोजन के समान उन को अपने शरीर का अंग बनाने—से ही इस देश की राजनीतिक और धार्मिक समस्या हल हो सकती है।

ज़ात-पात के भाव ने केवल यही नहीं कि शुद्धि ही का द्वार बन्द कर दिया हो, यह स्वयं हिन्दुओं में भी अपने विष का प्रभाव दिखा रहा है अछूतों को जाने दीजिए, हिन्दुओं की स्पृश्य जातियों में भी जिन को "छोटी" जातियां कहा जाता है उन के अन्दर अपने को उच्च समझने वाली जातियों के प्रति अविश्वास का भाव जागृत हो रहा है। वे समझने लगे हैं कि ब्राह्मण, खत्री और बनिए हमें घृणा की दृष्टि से देखते और हमारे अभ्युदय पर द्वेष से जलते हैं। यदि कोई नाई या कहार का लड़का अपनी योग्यता से किसी अच्छे पद पर पहुंच जाय तो ये लोग उस का अपमान करने का यत्न करते हैं। म्युनिसिपल कमेटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में, जहां प्रजा के मत से सदस्य चुने जाते हैं, इन लोगों की यही चेष्टा रहती है कि कोई "छोटी" जाति का मनुष्य सदस्य न बन जाय यह रोग हिन्दुओं ही में नहीं, आर्य समाजियों में भी बड़े जोर से फैल रहा है। मेरे एक होशियारपुरी मित्र म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में इस द्वेष का शिकार हो चुके हैं।

अभी तक तो हिन्दुओं में ब्राह्मण और अब्राह्मण की, काश्तकार और ग़ैर काश्तकार की, बनिए और जाट की ही बांट थी, पर अब "उच्च जाति" और "छोटी जाति" की भी एक नई बांट शुरू होगी। सरकार ने मुसलमानों को विशेष अधिकार देना आरम्भ कर दिया है। ये "छोटी जाति" वाले भी अपमान से बचने के लिए हिन्दुओं से अलग होने पर विवश होने को हैं। इस से उच्च जातियों के रक्त की 'पवित्रता" और "हिन्दू संस्कृति की रक्षा" सहज में हो सकेगी। अभी तक मुसलमानों का दौरात्म्य ही इन की "रक्त-शुद्धि" कर रहा है फिर "छोटी जातियां" भी, जो हिन्दू होते हुए भी अहिन्दू हैं, उस रक्त को "पवित्र" बनाने में सहायता देने लगेंगी। उस समय फूट की चण्डी भयङ्कर ताण्डव नृत्य करेगी और योगिनियां अट्टहास्य पूर्वक दम भरती हुई जाति का

रक्त-पान करेंगी। हा, वह दिन कितना भयानक होगा, कितना अनिष्टकारी होगा। परस्पर की फूट से यह जाति छिन्न भिन्न हो जायगी।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना ही इसलिए की थी कि वह इस अन्याय और स्वार्थमूलक जन्माभिमान को दूर करके आर्यों को नष्ट होने से बचाए, परन्तु खेद है कि वह आप ही उस का शिकार हो गया। आर्यसमाज में भी धवन, चोपड़े, शर्मा, वर्मा आदि नाम बड़े अभिमान के साथ लिखे जाते हैं। बीस वर्ष से आर्यसमाज के प्रस्ताव चले आते हैं, परन्तु अवस्था यह है कि ज़ात-पात को तोड़ना तो दूर इसके विरुद्ध लेकचर तक दिलवाने से घबराते हैं।

समझते हो, आर्यसमाजियों की इस उदासीनता का क्या परिणाम होगा? जिस उद्देश्य के लिए किसी संस्था का अस्तित्व होता है जब वह उस को पूरा नहीं कर सकती, तो फिर वह जीवित नहीं रह सकती। उसे किसी दूसरी के लिए स्थान खाली करना पड़ता है। ज़ात-पात का क़िला तो गिरा चाहता है। इस पर चारों ओर से बम-वृष्टि हो रही है, इस की दीवारें हिल रही हैं। इस की पर नहीं कह सकते इस को भूतलशायी करने का श्रेय किस को प्राप्त होगा। आर्यसमाज के नवयुवकों से हमारा निवेदन है कि बुड्ढे तो अपना बाजा बजा चुके। अब आर्यसमाज की गौरवरक्षा आप के हाथ है। अवसर आ गया है कि आप ज़ात-पात का विध्वंस करने के लिए कटिबद्ध हो जायं प्रत्येक युवक सच्चे हृदय से यह प्रतिज्ञा करे कि अपनी ज़ात में मुझे अनुकूल लड़की मिलने पर भी मैं समाज और देश के हित के लिए जाति-बन्धन को तोड़ कर ही विवाह करूंगा जिस प्रकार तरुण टर्कों ने परदा, बहु विवाह और खिलाफत आदि पुरानी और हानिकारक संस्थाओं को तिलांजलि देकर उन्नति के मार्ग पर पग रक्खा है, उसी प्रकार हमें भी वीरों की तरह इस ज़ात-पात के साथ को कुचलना पड़ेगा, अन्यथा हमारा कल्याण नहीं।

"यदि दयानन्द न होते तो आज तक वेदों की चर्चा सर्वथा लुप्त हो गई होती और आर्यावर्त क्रिश्चियनिटी के रूप में बदल गया होता।"

महामहोपाध्याय शिवदत्त
प्रोफेसर ओरियंटल कालिज लाहौर

मौन व्रत

(कविराज हरनामदास बी० ए०आयुर्वेद विद्यारत्न-लाहौर)

स्त्रियां अपने मासिक धर्म्मादिसम्बन्धी रोग तथा पुरुष अपने वीर्य्य संबंधी रोग सब से छुपाने का यत्न करते हैं। और इन के विषय में मौन व्रत धारण करते हैं तथा कष्ट उठाते हैं ॥

मैं प्रायः इन ही रोगों की चिकित्सा का इलाज करता हूं ॥ अपना पूरा हाल भेज कर मेरी सेवा से लाभ उठावें ॥ निम्न लिखित औषधियां शीघ्र ही फल दिखाती हैं ॥

(१ सुप्रसावक बंधन १) बच्चा पैदा होते समय स्त्री को कष्ट नहीं होता

(२, सोम पाक १) सफ़ेद पानी को निश्चय पूर्वक अच्छा करता है मासिक धर्म्म के सब विकारों को ठीक करता है।

(३) गर्भ दाता १०) इस के प्रयोग से गर्भ स्थापित होता है। बहुत आजमाई हुई दवाई है।

(४) पुत्र दाता १०) गर्भ के ३ मास के अन्दर १ बार वरतें। पुत्र न हो तो दाम वापस।

(५) शक्ति रसायन ५) दुबले पतले स्त्री पुरुषों को मोटा ताजा करती है ॥ पहले अपना तोल कर लेना ॥

(६) धातु रसायन २॥) वीर्य्य को सब कमजोरियां तथा स्वप्न दोषादि ठीक करती है।

(७) सिद्ध मकरध्वज ४८) तोला ॥ इस से बढ़कर संसार में और कोई दवाई अधिक बल वीर्य्य को बढ़ाने वाली नहीं ॥

हदायत नामा ख़ावन्द—१।) रेशमी जिल्द। घरों में जितनी भी अशन्ति और दुःख उत्पन्न हो जाते हैं वह प्रायः पति की अज्ञानता के कारण होता है ॥ यह पुस्तक पति पत्नी दोनों का जीवन सुधार देगी ॥ (उर्दू)

भोजन शिक्षक ।) मेवे, दाल, अनाज, सबजीयां जितनी खाने की वस्तु हैं सब के गुण अवगुण लिखे हैं। उर्दू की पुस्तक का नाम तालीमेगिज़ा है उसका दाम है ॥

हरिज्ञान मन्दिर लाहौर।

हिन्दी की उत्तम २ नवीन और सचित्र पुस्तकें

स्त्री शिक्षाः—

पुस्तक	मूल्य
माता और पुत्र	१॥=)
महारानी शकुन्तला सजिल्द	१।)
पती पत्नी प्रेम	॥।)
दमयन्ती	।)
द्रोपदी सत्यभामा सम्बाद	=)
पार्वती	२।)
सुकन्या	१।)
गृहलक्ष्मी	१॥)
पुत्री शिक्षक	॥)
गृह शिक्षक	॥।)
शिशु सुधार	॥)
गृह धर्म्म	॥।)
उर्वशी	१)
सीता बनबास	।=)
अञ्जना देवी	॥=)
स्त्री सम्बोधनी	२॥)
नारायणी शिक्षा	२)
मनोहर कहानियां	१।)
महासती मंदालसा	१॥)
सच्ची देवियां	।)
राजस्थानकी वीररानियां	१)
चितौड़ का शाका	।)
राजपूतनीका विवाह	।)
विधवा	।-)
मधूमती	≡)॥

पुस्तक	मूल्य
गीता भाषा	१)

चुने हुए सामाजिक; सचित्र उपन्यास

पुस्तक	मूल्य
शाही लकड़हारा	२)
शाही डाकू	१॥)
शाही जादूगरनी	१॥)
शाही पती परायणा	॥=)
शाही चोर	)
भाग वन्ती	१॥)
सुप्रभात	१॥)
कर्तव्य घात	२॥)
प्रेम ए बना के क्यों मेरी मट्टी पलीद की	२)
कुसुम संग्रह	१॥)
शैल बाला	१)
गोरा	१॥)
टाम काका की कुटिया	१)
सम्राट अशोक	१॥)
भारत के महा पुरुष	५॥)
परशराम	३)
दङ्गल प्रभात	५)
देवदास	१)
मनोहर ऐतिहासिक (कहानियां)	१॥)
मनोरञ्जक कहानियां	१)
सेवा सदन	३)
प्रेम आश्रम	३॥)
रागिणी	४)
रंग भूमि	५)
प्रेम प्रसून	१)
राव बहादुर	।॥)
नट खट पांडे	१॥)
गधे की कहानी	॥।)
कृष्ण कुमारी	२)
प्रेम गंगा	१)
चरित्र हीन	३।)
नंदन निकुंज	१।)
मंजरी	१=)
मूर्ख मंडली	॥=)
शान्ती नकेत	१।)
सत्या नन्द	१॥)
प्रेम	॥)
कुंवर सिंह	२)

गीता पर भाष्य

पुस्तक	मूल्य
गीता योग प्रदीप (पं० आर्य मुनी कृत)	२)
गीता भाष्य (पं० राजा राम कृत)	२।)
गीता गुटका अर्थसहित	।।)
गीता रहस्य	४॥)
गीता गुटका मूल	॥)
सरल गीता	१॥)

नारायण दत्त सहगल ऐंड संस

पुस्तक विक्रेता, अध्यक्ष आर्य बुक डिपो

लोहारी गेट लाहौर

Registered No. L 1424.

रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

ओ३म्

भाग ७ अप्रैल १९२६
अङ्क १२ चैत्र १९८२

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तोऽराव्णः ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

बाबू जगत्नारायण [illegible] से विरजानन्द प्रेस लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ ।

विषय सूची

संशोधन

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	२७	कोयलों	कोंपलों
,,	२८	महात्मा	महात्मा (या महातमाः ?)

सर्वयोग	३४८८८२३।)११	६५४९६५॥)	४६७२१।≡)७	२७;८३[illegible]
गत शेष	११३७३०४॥=)	१०५६२७६॥=)१०		
योग	१४८६१२७॥।)११	१७११[illegible]२२।=)१०		
व्यय	४६७२१।≡)७	२७१८३२१॥≡)॥		
शेष	१४३८४०६।≡)४	१४३९४०६।≡)४		

* ओ३म् *

भाग ७] लाहौर—चैत्र १६८२ अप्रैल १६२६ [अंक १२

[दयानन्दाब्द १०१]

वेदामृत
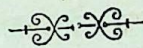
१. परम ब्रह्म

ओ३म् यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन ॥

अथर्व १०. ८. १६.

जिस से सूर्य उदय पाता है,
रात अस्त हो छिप जाता है ।
मैंने ज्येष्ठ उसी को जाना,
उस से परे न कुछ जाता है ॥

वैदिक सिद्धान्तमाला ।

[पुष्प १]

वर्णव्यवस्था और पौराणिक मत ।

(पुराणों के प्रकाश में वर्णव्यवस्था पर कुछ विचार)

(श्री० गुरुदत्त सिद्धान्तालङ्कार आर्योपदेशक)

(गतांक से आगे)

'न यतोऽस्ति किंचित्—वस्तुतस्तु तस्य पुरुषस्य किमपि स्थूलं विग्रहं नास्ति । धारणार्थमेवास्य स्थूल विग्रहस्य कल्पनेति तात्पर्यम् ।" भागवत के द्वितीय स्कन्ध प्रथमाध्याय के २५ से ३७ श्लोक तक दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन श्लोकों में वर्णित विराट पुरुष का स्थूल शरीर वर्णन काल्पनिक और आलङ्कारिक है, वास्तविक नहीं । लेख में केवल मात्र एक २५ वां श्लोक नमूने के तौर पर दिया गया है, शेष स्थल को पाठक स्वयं पुराण में से देखने का कष्ट उठा सकते हैं । इस तरह स्वयं पुराणकार ने भी यजुर्वेद के पुरुष सूक्त की छाया में ही विराट् पुरुष के देह की आलङ्कारिक व्याख्या करते हुए "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र की अभिधापरक व्याख्या ठीक उसी ढङ्ग से तथा उन्हीं शब्दों में की है जिन शब्दों में कि आर्यसमाज इस मंत्र की वास्तविक व्याख्या पेश करता है । पुराणकार का आशय तो निम्न श्लोक से स्पष्ट होरहा है-

"ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा, विडूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः"

ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख है । क्षत्रिय भुजायें हैं । वैश्य इस के उरु हैं तथा शूद्र पादस्थानीय हैं । क्यों पंडित जी महाराज ! अपने माननीय पुराण की इस सारमय व्याख्या को देख कर क्या अब भी आप को कुछ होश आया या नहीं ? स्वयं पुराणकार भी आपकी इस लपोड़शंख व्याख्या पर हंस रहे हैं कि ब्राह्मण देवता परमात्मा के मुख से टपक पड़े, क्षत्रिय महाराज उसकी भुजाओं

से और लाला साहिब (वैश्य) उस की जङ्घाओं से। शेष रहा बेचारा शूद्र। वह भगवान् के पैरों के तलुओं से पैदा हुआ। यही एक श्लोक ही आप के मानमर्दन के लिये काफ़ी है। परन्तु आप इतने से ही सन्तुष्ट न होंगे। आप हम से ऋषि के लाक्षणिक अर्थ के लिये प्रमाण पूछेंगे। सो भी लीजिये, हाज़िर है। कहीं और से नहीं, अपितु आप के ही घर से और वह भी आप के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण से। ज़रा आंखों पर से पक्षपात की पट्टी खोल कर ग़ौर से पढ़ना कि आप के परम माननीय आचार्य श्रीमद्भागवत्कार ने यजुर्वेद के उक्त मंत्र की क्या लाक्षणिक व्याख्या की है, और वह ऋषि के लाक्षणिक अर्थ से कितना ज़्यादा टक्कर खाती है। अब हम उक्त मंत्र की भागवतकार कृत लाक्षणिक व्याख्या को पाठकों की भेंट करते हैं। व्याख्या निम्न प्रकार से है—

१ मुखतो अवर्तत ब्रह्म, पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां, मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः ३०।
२ बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं, क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान्, पौरुषः कण्टक क्षतात् ॥३१॥
३ विशोऽवर्ततन्तुतस्योर्वो, लोकवृत्तिकरी विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां, नृणां यः समवर्तयत् ॥३२॥
४ पद्भ्यां भगवतो जज्ञे, शुश्रूषा धर्म सिद्धये।
तस्यां जातःपुरा शूद्रो, यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥३३॥
५ एते वर्णाः स्वधर्मेण, यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं, यज्जाताः सहवृत्तिभिः ॥३४॥

श्रीमद्भागवत ३ स्कं० ६ अध्या० ३० .... ३४ श्लोक

इन उपर्युक्त ५ श्लोकों में से प्रथम चार श्लोकों में तो क्रमशः उक्त मन्त्र के एक २ पाद की व्याख्या कीगई है पांचवां श्लोक वर्णव्यवस्था पर सामान्यदृष्टि से प्रकाश डालता है। पहिले हम पांचवें श्लोक पर कुछ विचार करेंगे। क्योंकि हमारी व्याख्या का मुख्य आधार यही श्लोक है। इस श्लोक में पठित "यज्जाता सह वृत्तिभिः" वाक्य विशेष विचारणीय है। इस का अर्थ निम्न है—कि "उक्त भिन्न २ वृत्तियों के साथ जिस हरि से ये चार वर्ण पैदा हुए"। इस श्लोक का चतुर्थ पाद इस बात को खुले शब्दों में घोषित कर रहा है कि स्वयं पुराणकार

भी वर्ण विभाग का मुख्य आधार मानसिक वृत्तियों को ही मानते हैं। केवल मात्र जन्म को वर्णव्यवस्था का मुख्य निर्णायक मानना तो पौराणिकों के परम माननीय आचार्य श्रीमद्भागवतकार को भी अभीष्ट नहीं है. मानसिक वृत्तियों से वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन करके श्रीमद्भागवतकार ने तो एक प्रकार से पौराणिकों पर वज्रप्रहार ही कर दिया है, तथा इन के जन्म मूलक वर्णव्यवस्था के दृढ़ दुर्ग को पूरी तरह से हिला दिया है। पंचम श्लोक का चतुर्थ पाद ही हमारे इस अर्थ की पुष्टि कर रहा है, कि पहिले चार श्लोकों में पठित ब्रह्म, विश तथा सेवा शुश्रूषा शब्द ब्राह्मणादि वर्ण अथवा एतद्संज्ञाविशिष्ट व्यक्ति या जाति के वाचक नहीं अपितु ये शब्द मानसिक वृत्तियों के वाचक हैं। इस से भी बढ़कर हमारे अर्थ की पुष्टिमें एक और प्रमाण है और वह यह, कि उपर्युक्त श्लोकों में क्षत्र, विश तथा शुश्रूषा शब्दोंके विद्यमान होते हुए भी इनसे पृथक् पुनः क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शब्दों को इनमें पढ़ा गया है। क्षत्रियादि पदों का पुनः पृथक् पठन हमारी उक्त स्थापना को और भी ज्यादा पुष्ट कर रहा है। यदि क्षत्रादि शब्द मानसिक वृत्तियों के वाचक न होकर क्षत्रियादि वर्णों के वाचक होते, तो ऐसी अवस्था में क्षत्रियादि पदों का पुनः पठन निरर्थक है, तथा उक्त श्लोकों में निरर्थकत्व तथा पुनरुक्त दोष उपस्थित होते हैं। अतः पुराणकार की पद्य रचना को दोष रहित सिद्ध करने के लिये तथा अपने परम माननीय पुराण की इज़्ज़त रखने के लिये पौराणिकों को भी झख मार कर हमारा अर्थ ही स्वीकार करना होगा। अन्यथा उन्हें अपने परम माननीय आचार्य पर बलात्कारेण पद्य रचनानभिज्ञता तथा दुष्ट कवित्व के दोष को मढ़ना ही होगा। देखें, पौराणिकों को इन दो विकल्पों में से कौनसा विकल्प अभीष्ट है। इस प्रकार से स्वयं श्रीमद्भागवतकार ने विराट पुरुष के मुख, बाहू, उरु तथा पाद से क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विश तथा शुश्रूषा (शूद्र वृत्ति) वृत्तियों की उत्पत्ति बता कर ऋषि दयानन्द के लाक्षणिक अर्थ की पुष्टि की है। दोनों ही इस बात में पूर्ण रूप से सहमत प्रतीत होते हैं, कि विराट पुरुष के आलङ्कारिक आधिभौतिक देह में ब्रह्मवृत्ति, क्षात्रवृत्ति, वैश्यवृत्ति तथा शूद्रवृत्ति क्रमशः उसके मुख, बाहू, उरु तथा पाद को Represent करती हैं। विराट पुरुष के मुखादि अवयवों से ब्रह्म, क्षत्रादि मानवीय मानसिक वृत्तियों की उत्पत्ति बताकर तथा इनके आधार पर वर्ण विभाग करके स्वयं पुराणकार ने भी ऋषि के उक्त लाक्षणिक अर्थ तथा वर्ण व्यवस्था विषयक वैदिक सिद्धान्त की मुक्त कण्ठ से पुष्टि की है। पुराणकार को इस लाक्षणिक व्याख्या को अशुद्ध सिद्ध किये बिना अहंमन्य

तथा पांडित्य का झूठा अभिमान करने वाले पौराणिक विद्वानों का ऋषि दयानन्द की लाक्षणिक व्याख्या पर हंसी उड़ाने का प्रयास करना सूर्य पर थूक फैंकने के प्रयत्न के समान निरर्थक तथा साहस मात्र है। अब हम क्रमशः प्रथम चार श्लोकों की व्याख्या करके इनके अर्थों की ऋषि के उक्त लाक्षणिक अर्थ से तुलना करेंगे। जिनमें से कि प्रथम श्लोक निम्न है:—

"मुखतोऽवर्तत ब्रह्म, पुरुषस्य कुरूद्वह, यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां, मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः"

इस श्लोक का अर्थ निम्न है—विराट् पुरुष के मुख से ब्रह्मवृत्ति से युक्त ब्राह्मण वर्ण पैदा हुआ। जोकि सब वर्णों में से मुख्य (श्रेष्ठ तथा उनका नेता) होने के कारण उन का गुरु हुआ। इस स्थल में ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण नहीं, अपितु ब्रह्मवृत्ति से युक्त ब्राह्मण वर्ण है। इससे ऊपर हम इसके समाधान के सम्बन्ध में कुछ लिख चुके हैं। अब कुछ और प्रकाश डालते हैं। इससे पिछले तीनों श्लोकों में क्षत्र, विश तथा सेवा शब्द क्षत्रियादि वर्ण वाचक पदों से पृथक पठित होने के कारण तत्तत्सम्बन्धिनी मानसिक वृत्तियों के वाचक हैं। यद्यपि इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द का पृथक पाठ नहीं है, तथापि साहचर्य बलात् ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मणवृत्ति ही करना होगा ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण वृत्ति है, इससे आप भी इन्कार नहीं कर सकते। क्योंकि उणादि प्रकरण में कौमुदीकार ने भी ब्रह्म शब्द का निम्न अर्थ लिखा है "ब्रह्मतत्वं तपो वेदो ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः"। ब्रह्म शब्द का एक अर्थ ब्राह्मण भाव (ब्रह्मवृत्ति) भी है। तत्व शब्द का तद्भाव अर्थ स्वयं भाष्यकार ने ही किया है। "तस्य भावस्तत्वं"। इस के अतिरिक्त स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ भी हमारे उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि कर रहे हैं। "ब्रह्म हि ब्राह्मणः" यह शतपथ का वचन है। इस वाक्य में हि पद एव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस का अर्थ निम्न है "मानो ब्राह्मवृत्ति ही साक्षात् ब्राह्मण है"। इस का स्पष्ट भावाशय यही है कि ब्रह्मवृत्ति से युक्त पुरुष की ब्राह्मण संज्ञा होती है। यहां पर ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण नहीं, अपितु ब्राह्मवृत्ति है। शतपथकार ने जिस प्रकार से ब्रह्मप्रकृति अथवा ब्राह्मवृत्ति में तत्संयुक्त चेतन ब्राह्मण व्यक्ति की उत्प्रेक्षा (कल्पना) की है। इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं कि पुराणकार ने भी ठीक उसी प्रकार ब्रह्मप्रकृति अथवा ब्राह्मणत्व रूप धर्म तथा तद्धर्म से युक्त वर्ण में घनिष्ठ सम्बन्ध मान करके दोनों के लिये एक ही शब्द का प्रयोग किया हो। यद्यपि अन्य श्लोकों में क्षत्रियादि वर्णवाचक पदों का पाठ तत्संबन्धिनी वृत्तियों

के वाचक पदों से पृथक् किया गया है। अब इस पद्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि— विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मवृत्ति युक्त ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न हुआ। जो कि शेष तीन वर्णों का नायक (नेता) होने के कारण सब से मुख्य (श्रेष्ठ अथवा प्रधान) तथा सब का गुरु होता है"। पाठक गण! अब ज़रा ऋषिकृत लाक्षणिक अर्थ पर भी ध्यान दीजिये। देखिये! दोनों के भावाशयों में कितनी विशेष समीपता है। ऋषि ने "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" प्रथम पाद की निम्न लाक्षणिक व्याख्या की है—'अस्य पुरुषस्य मुखं विद्याद्यो ये मुख्यगुणा सत्यभाषणोपदेशानि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नः" ऋषि ने मुख शब्द का लाक्षणिक अर्थ ज्ञान, उपदेश (मार्ग प्रदर्शन करना) तथा सत्यभाषणादि सात्विक गुण और कर्म किया है पुराणकार ने भी ब्राह्मवृत्ति को विराट् पुरुष के मुख का representative बता कर ऋषि के उक्त लाक्षणिक अर्थ की पुष्टि की है। दोनों लेखक इस बात में भी सहमत हैं कि ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति का आधार ब्राह्मवृत्ति ही है, न कि विराट् पुरुष का मुख। इस तरह पुराणकार ने भी ऋषि की हां में हां मिलाई है। अब ज़रा शतपथकार की कल्पना को भी देखिये। उस ने तो पौराणिक अर्थ की एकदम ही सफ़ाई कर दी है। शतपथकार ब्राह्मण की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि 'यस्माद्देते मुख्यास्तस्मान्मुखतोऽसृजन्त'। उक्त वाक्य में तस्मात् में हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है। इस का अर्थ 'तस्माद्धेतोः, तस्माद् कारणाद्वा' ऐसा होगा अब उक्त वचन का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है, कि— 'क्योंकि ये (ब्राह्मण) सब वर्णों में मुख्य हैं, इसलिये ये मुख से हुए स्वयं शतपथकार का उक्त वचन ही इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि— क्योंकि ब्राह्मण मुख्य हैं, अतएव इन के मुख से पैदा होने की कल्पना की गई है। वास्तव में ब्राह्मणों का मुख से उत्पन्न होना कोई प्राकृतिक अथवा भौतिक fact नहीं है, कल्पना मात्र ही है। वास्तविक fact तो यह है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ तथा नेता होने के कारण मुखस्थानीय (Head) है। अब 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' पद की वास्तविक व्याख्या स्पष्ट होगई है। क्यों पण्डित जी महाराज! इतने पुष्ट प्रमाणों के अनन्तर भी क्या आप अब भी ऋषि को लाक्षणिक व्याख्या को अशुद्ध कहने का दुस्साहस करेंगे?

द्वितीय श्लोक में पुरुष सूक्त के वर्ण व्यवस्था विषयक मंत्र के द्वितीय पाद "बाहू राजन्यः कृत." की लाक्षणिक व्याख्या की गई है। श्लोक का अर्थ निम्न है—

"पुरुष की बाहुओं से क्षत्रवृत्ति उत्पन्न हुई । इस वृत्ति के अनुकूल कर्मों (व्रत) वाला पुरुष ही क्षत्रिय है अर्थात् क्षात्र धर्म से युक्त पुरुष की क्षत्रिय संज्ञा होती है। जो (क्षत्रिय) उत्पन्न होकर सब वर्णों की शत्रु तथा दुष्ट लोगों से रक्षा करता है। इस श्लोक में क्षत्र शब्द क्षात्रवृत्ति या क्षात्र धर्म के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इस शब्द के पीछे पड़ा हुआ "क्षत्रियस्तदनुव्रतः" तथा पञ्चम श्लोक में पठित 'यज्जाताः सह वृत्तिभिः" निम्न दो वाक्य आन्तरिक साक्षि के रूप से हमारे निम्न कथन की पुष्टि में प्रबल प्रमाण हैं, कि इस श्लोक में पठित क्षत्र शब्द से पुराणकार का तात्पर्य क्षात्र वृत्ति से है, न कि क्षत्रिय संज्ञा से। इस श्लोक में पुराणकार ने क्षत्रिय शब्द की स्वाभाविक व्युत्पत्ति बहुत उपयुक्त शब्दों में की है । यह व्युत्पत्ति कोई नवीन नहीं है, जैसा कि हम रघुवंश में पढ़ते हैं:—

"क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः"

अब ज़रा देखिये, कि पुराणकार ने इस श्लोक द्वारा क्षत्रिय के लक्षण को कितना स्पष्ट कर दिया है। क्षत्रिय के घर में उत्पन्न होने मात्र से ही कोई व्यक्ति क्षत्रिय नहीं बन जाता, अपितु क्षत्रिय संज्ञा उसी की है, जिस के व्रत (कर्म) क्षात्रवृत्ति के अनुकूल हों, तथा जो व्यक्ति शेष वर्णों की शत्रुओं तथा दुष्ट पुरुषों से रक्षा करे । अब सारे श्लोक को सङ्गत कर के (बाहू राज्यन्यः कृतः) निम्न मंत्राश की पुराणकार कृत लाक्षणिक व्यख्या पर ध्यान दीजिये, कि 'पुरुष की बाहुओं से क्षत्रिय संज्ञाविशिष्ट व्यक्ति नहीं अपितु क्षात्र वृत्ति उत्पन्न हुई और उस से उक्त पुरुष क्षत्रिय है । अब ज़रा पुराणकार की इस लाक्षणिक व्याख्या का ऋषि दयानन्द के निम्न अर्थ से मिलान कीजिये। देखिये कितना ज़्यादा सादृश्य है। ऋषि ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उक्त मंत्र के द्वितीय पाद (बाहू राजन्यः कृतः) की निम्न व्याख्या की है:—

"बलवीर्यादि लक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेनकृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति।"

बल, वीर्य तथा पराक्रमादि गुण (क्षत्रप्रकृति) विराट् पुरुष के आलङ्कारिक आधिभौतिक देह में बाहु को Represent करते हैं। इन गुणों अथवा क्षत्र प्रकृति से क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति हुई। क्षात्रधर्म अथवा बल, वीर्यादि गुणों से युक्त पुरुष की संज्ञा होती है। पुराणकार ने भी ऊपर ठीक इसी भावाशय को ही व्यक्त किया है । देखिये दोनों के शब्दों तथा भावाशय में कितनी ज़्यादा

सदृशता है । ऋषि ने बाहु शब्द का लाक्षणिक अर्थ मनमाना नहीं किया अपितु शतपथ ब्राह्मण के आधार पर किया है । देखिये शतपथकार क्या कहते हैं:—

"बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू ।

शतपथ कां ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ ॥

बाहुएं ही निश्चय से मित्र और वरुण हैं (क्योंकि ये हमारी शत्रुओं के आक्रमणों तथा आपत्तियों से रक्षा करती हैं) वे बाहुएं कौन सी हैं? शतपथ कार इस को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, राजन्य (क्षत्रिय) का वीर्य ही बाहु है। क्यों पण्डित जी महाराज! आप का बाहु शब्द के ऋषि कृत लाक्षणिक अर्थ का प्रमाण मिला या नहीं?

अब आइये ज़रा तीसरे श्लोक पर विचार करें। तीसरे श्लोक में उक्त मंत्र के तृतीय पाद (ऊरु तदस्य यद्वैश्यः) की लाक्षणिक व्याख्या की गई है। श्लोक निम्न है—

"विशोऽवर्तन्त तस्योर्वो, लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्त्तां, नृणां यः समवर्तयत् ॥

श्लोक का अर्थ निम्न है, कि—उस विराट् पुरुष की उरु जङ्घाओं से लोक वृत्ति (धन धान्य आदि वैश्य वृत्ति) संपादित करने वाली साधारण प्रजाएं उत्पन्न हुई। वैश्य की उत्पत्ति उन से हुई, जो कि मानवीय प्रजाओं को व्यापार, कलाकौशलादि व्यवहार को संपादित करता है। इस श्लोक में विश शब्द से वैश्य का नहीं अपितु वैश्य वृत्ति संपन्न साधारण प्रजाओं का ग्रहण है* इस की सिद्धि के लिये हमें अब युक्तियाँ देने की ज़रूरत नहीं। इस का समाधान हम ऊपर कर आये हैं। द्वितीय पाद में पठित 'लोक वृत्ति करी' पद तथा तृतीय पाद में पठित "वैश्यस्तदुद्भवो" वाक्य हमारे इस आशय को व्यक्त रूप से पुष्ट कर रहे हैं।

(शेष आगे)

---

* विश् शब्द का लौकिक अर्थ प्रजा इस लिये है, कि साधारण जनता में धनधान्य कमाने तथा भोग विलास की प्रवृत्ति की प्रधानता होती है। सामान्य जनता में परोपकार, त्याग, कर्तव्य पालन, प्रभुत्व, साहस तथा प्रजारक्षा की प्रवृत्ति धनधान्य पैदा करने की प्रवृत्ति की अपेक्षा बहुत ही कम पाई जाती है। इसलिये सामान्य प्रजा को शास्त्रों में विश् अर्थात् वैश्य कहा है।

गोरक्षक खिष्टान।

(लेखक—कविराज विद्याधर विद्यालंकार आयुर्वेदशास्त्री)

गतांक से आगे।

(३य परिच्छेद)

पण्डित जीके मरने के पीछे कल्याणी की अतिहीन दशा होगई थी। जीविका का कोई साधन न था। किशोर अभी बच्चा ही था। साथ में एक गौ को भी पालना पड़ता था। गौ अभी बछिया कहाने के योग्य थी। अभी वह पहली बार भी दूध न दे पाई थी। कल्याणी को आशा थी कि इस बार वह ज़रूर दूध देने योग्य हो जावेगी। कल्याणी यथा शक्ति उस की सेवा करती थी। खाने पीने के लिये ऋण लेना आवश्यक देख कल्याणी उधार लेने लगी छः महीने में लग भग पच्चास रुपये उस के सिर चढ़ गये। उधार बढ़ता हो जाता था। उसे कल्याणी कैसे चुका सकेगी इस बात को कल्याणी जब सोचती थी तो सिवाय किशोर के और कोई अवलम्ब न दीखता था। कभी २ वह किशोर की छोटी आयु देख कर निराश भी हो जाती थी। रुपया चुकाते न देख लोगों ने उधार देना बन्द कर दिया। रुपये वाले चुकाने का तक़ाज़ा करने लगे एक दिन एक बनिये ने गली में खड़ा होकर कल्याणी को बहुत ऊंच नीच सुनाई। कल्याणी ने बनिये के केवल तीस रुपये देने थे। कल्याणी ने हाथ जोड़ कर बनिये से दो महीने की और मोहलत मांगी। बनिया यह कह कर चला गया कि यदि दो महीने के अन्दर मेरे रुपये न चुकाये तो मकान और सब असबाब कुर्क करा लूंगा।

कल्याणी एक लज्जा शील अच्छे चरित्र की स्त्री थी। उस ने निश्चय कर लिया था कि यदि दो मास तक कुछ बन्दोबस्त रुपये चुकाने का न हो सका तो मैं आत्महत्या कर लूंगी। जब पति ही न रहे तो स्त्री के भी रहने का धर्म नहीं।

कल्याणी इसी उधेड़ बुन में रहती थी। उस ने रात के समय का भोजन उसी दिन से छोड़ दिया था जिस दिन बनिये ने उस के मकान को कुर्क करने की बात कही थी। अब एक मास होने को है कि कल्याणी के घर रात को चूल्हा नहीं जलता। दोपहर की रूखी सूखी

रोटियां नमक और पानी से खाकर किशोर रात का भोजन समाप्त करता है। परन्तु आज किशोर सायंकाल घर नहीं पहुँचा। कल्याणी बड़ी चिन्तित बैठी थी कि अचानक किशोर ने दरवाज़ा खटखटाया और अन्दर आते ही बोला, "मां, आज पूरा बदला ले लिया है। पिता का बदला पुत्र को लेना ही चाहिये न। क्यों मां! मैंने अच्छा किया न! मैंने आज उसी मोटे साधु के गले में जूतियों का हार भरी सभा में डाल दिया।'

मां ने उठकर किशोर का मुंह हाथ से ढांप कर कहा, 'बेटा! क्या बकता है। चुप रह, ऐसी बात मुंह से नहीं निकाला करते। किसी साधु के क्या डाला, ज़रा धीरे २ कह।'

किशोर ने मुंह पर से मां का हाथ हटाते हुए कहा 'मां, ! वही खिश्चान दयानन्द साधु आजकल काशी में फिर आया हुआ है। मैं भी वैद्य जी के साथ सभा में जा पहुंचा था। वहां एक स्त्री खिष्टान के गले में डालने को जूतियों की माला बना लाई थी। मैंने उसी माला को ले साधु के पास जाकर उस के गले में डाल दिया। पिता का बदला लेते ही मैं भाग पड़ा।'

कल्याणी दयानन्द का नाम सुनते ही सिर पीट कर रह गई। शिवजी को स्मरण करते हुए वह बोली, 'बेटा, तैंने बहुत बुरा किया। तेरे पिताने उसको ज़हर दिया था, वह स्वयं ही चलता बना और साधु का कुछ न बिगड़ा। अब तूने ऐसा काम किया है कि न जानें तुझे साधु ने क्या शाप दे दिया हो। हे भगवान! मुझ अभागिनी पर क्यों विपत्ति गिरा रहे हो' ऐसा कह रोते २ उसने किशोर को गोद में ले चादर से ढक लिया। फिर डरते २ पूछा 'बेटा! साधु ने तुझे मारा था?'

किशोर ने गोदी से निकल कर कहा, 'नहीं मां, लोग मारने लगे थे। पर जब साधुने देखा तो उसने लोगों को बन्द करके कहा, कि देखो, इस बच्चे को कोई कुछ मत कहो, इसे आने दो। यह बड़े प्रेम से बनाये इस जूतियों के हार को हमारे गले में डालने को आ रहा है। 'ऐसा कहते २ साधु ने आगे बढ़ कर सिर झुका कर वह हार अपने गले में डाल लिया और मुझे कुछ न कहा। बस, मैं वहां से सरपट भागता आ रहा हूं।'

मां ने पुत्र की मंगल कामना करके रोटी खिला कर किशोर को सुला दिया। कल्याणी उदास हो कर कुछ सोचती रही। वह दयानन्द के नाम से घबरा गई थी।

(४र्थ परिच्छेद)

उपरोक्त घटना को बीते पांच दिन हो गये।

आधी रात का समय है अभी बारह बज कर चुके ही हैं । रात चांदनी है पर बादलों में कभी २ चांद छिप जाने से अंधेरा भी हो जाता है । इस समय काशी निस्तब्ध है । गंगा के बहने का शब्द केवल सुनाई दे रहा है । एक साधु समाधि लगाये गंगा के किनारे बैठा है । उसके शान्त मुख मण्डल से अद्भुत शान्ति बरस रही है । पास ही एक मनुष्य पड़ा सोरहा है । साधु ध्यानमें मग्न है।

इसी समय "गंगा मईया! तेरी शरण लेती हूं । तूही दुःख दूर कर" ऐसा बोलते हुए किसी नारी ने गंगा में छलांग लगादी । साधुने नेत्र खोल पास पड़े हुए मनुष्य को पुकारा 'बलदेव! देखो कोई अबला पानीमें कूदी है, जल्द निकालो । मैं भी उसे...................... ।'

अभी वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि दूसरी छलांग की आवाज़ सुनाई दी और देखते न देखते बलदेव एक स्त्री को जल से निकाल साधु के सामने ले आया।

साधु –'देवी ! तुम कौन हो ? आधी रात में पानी में क्यों कूदती हो ? क्या जीवन छोड़ने से दुःख छूट जायेंगे । कर्म फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा' ।

नारी !—महाराज ! आपने मुझे बचा कर अच्छा नहीं किया । मैं दुःखों से एक बारही छूटने चली थी आपने क्यों बाधा दी ! मुझे अब जीने से कष्ट ही कष्ट है । मैं जी कर क्या करूंगी ।'

साधु—'देवी ! धीरज धरो ! कहो तो तुम्हें क्या कष्ट है'

नारी–महाराज ! मैं विधवा हूँ दरिद्रता के मारे तंग आगई हूं । कर्ज़ बहुत सिर चढ़ गया है । उतारने का कोई उपाय नहीं । एक मात्र पुत्र है वह भी छोटा है उसे सोता छोड़ कर आज गंगाकी शरण आई थी सो आपने मरने न दिया' ।

साधु—देवी ! तुम्हारे घर में कुछ और भी है ?

नारी—महाराज ! एक बछिया और है । पर वह आज तक सूई नहीं, अब सूने की आशा थी पर उससे क्या होगा ?

साधुने नेत्र बन्द कर लिये । दो क्षण बाद नेत्र खोल कर कहा—

"देवी ! तुमने बहुत भूल की जो यहां चली आई । शीघ्र घर जाओ । तुम्हारी

गौ अभी घण्टे भर में सूने वाली है। तुम्हारे सभी दुःख गौ की सेवा से दूर हो जायेंगे। शीघ्र चली जाओ।"

कल्याणी—सच महाराज ! क्या एक घण्टे तक मेरी गौ सूएगी ? तबतो लौट जाना ही धर्म है। नहीं तो गोहत्या का पाप भी सिर चढ़ेगा।'

साधुने बलदेव से स्त्री को घर तक पहुंचा आने को कहा।

कल्याणी बलदेव के साथ चल पड़ी। परन्तु दो पग चल कर फिर लौट पड़ी। साधु से कहने लगी—

'महाराज ! आपका शुभ नाम क्या है ? कहां निवास है ?'

साधु—माई ! मुझे दयानन्द कहते हैं। मैं रामबाग़ में ठहरा हुआ हूं।

कल्याणी एकदम घबरा कर खड़ी हो गई। डरते २ बोली—"क्या कहा, दयानन्द ! हाय, तब तो अनर्थ हो गया।"

दयानन्द—माई ! क्या अनर्थ हो गया।

कल्याणी—महाराज ! यदि सचमुच आप ही दयानन्द हो तो मुझे अभी भस्म करो। मैंने आपको कष्ट देने के कारण ही ये सब दुःख उठाये हैं। मेरे पति ने आप को ज़हर दिया था, आप के शाप से वही मर गया। मेरे बच्चे ने आप के गले में जूतों का हार डाल था वह भी तभी से सूखता जा रहा है। तब महाराज ! मुझे भी शाप देकर अभी भस्म करो। मैं जीकर क्या करूंगी।'

दयानन्द—माता ! धैर्य्य धरो। क्या कह रही हो ? दयानन्द ने तो आज तक किसी को भी शाप नहीं दिया। वह शाप देगा भी नहीं। वह तो सदा लोगों का भला ही करता है और करता रहेगा। उसका चाहे कोई कितना ही अनिष्ट कर डाले वह तो उसे याद भी नहीं रखता। तुम्हारे पति ने कब ज़हर दिया था। (कुछ ध्यान करके) ओह ! वह बात कहती हो। वह तो होनहार थी। होनहार जो होती हो उस में दयानन्द कुछ नहीं कर सकता।

कल्याणी—क्या कहते हो, महाराज ! होनहार थी। तो क्या आपने मेरे स्वामी को शाप नहीं दिया।

दयानन्द—नहीं देवी। विस्मय न करो। तुम्हारे पति ने ज़हर वाला पान भूल से स्वयं खालिया था और मुझे दूसरा पान दिया था। मैंने उसे पान खाने से रोका भी। परन्तु ऐसा ही उसका कर्म फल था। मैं उसे कैसे बचा सकता था?

कल्याणी—ओहो ! तब तो बड़ा भारी भ्रम उड़ गया। तभी पतिदेव आपको

स्तुति करते २ परलोक सिधारे थे। तो क्या मेरे किशोर को भी आप ने शाप नहीं दिया ? वह तो दिन २ सूखता जाता है।

दयानन्द—(कुछ देर ध्यान करके) देवी ! दोनों समय सूखी रोटी खाने और वह भी भरपेट न खाने से ही उसका यह हाल हुआ है। जाओ गौ का दूध पिलाने से वह भी पुष्ट हो जायेगा।

कल्याणी कुछ देर आश्चर्य मुग्ध हो कर खड़ी रही। तब आगे बढ़ कर स्वामी के चरण छूने लगी।

दयानन्द ज़रा हटते हुए सतेज स्वर से बोले—

"जाओ जाओ, जल्दी चली जाओ। तुम्हारा अब विलम्ब करना ठीक नहीं। दयानन्द के चरण छूने का रमणी को अधिकार नहीं। हां, दयानन्द का मस्तक माता के चरणों को छू सकता है। विधाता का ऐसा ही विधान है। देवी ! मुझे स्पर्श मत करना।"

कल्याणी ठिठक कर वहीं खड़ी रह गई। डरते २ बोली। "महाराज ! आप इतने ऊंचे हैं !" ऐसे तपस्वी, महात्मा परोपकारी मनुष्य तो इस कलियुग में होते नहीं। आप कहां इस लोक में आगये। मैं चरण स्पर्श तो नहीं करती मुझे कोई अन्य सेवा अवश्य बतायें। मैं कृतार्थ हो जाऊंगी ',

दयानन्द—माता ! साधु को सेवा की आवश्यकता नहीं होती। तोभी तुम्हें श्रद्धा हो तो कुछ दूध मेरे स्थान पर भिजवा दिया करना, परन्तु यदि गौ की बच्ची और किशोर को भूखा रखा तो मैं दूध न पीऊंगा।

कल्याणी—महाराज ! मैं कृतार्थ हुई ! क्या गौ बच्ची देगी ?"

दयानन्द—जाओ, शीघ्र जाओ। बलदेव ! जाओ इन्हें शीघ्र छोड़ आओ।

बलदेव—गुरुदेव ! आप यहां अकेले रहेंगे ?

दयानन्द—अकेले ! बलदेव ! दयानन्द सदा अकेला ही रहा है कोई भय नहीं है। शीघ्र देवी को घर पहुंचा आओ। भय यही है कि कहीं जाने से पहले गौ सू न गई हो।

बलदेव कल्याणी को लेकर चला गया।

कहना नहीं होगा कि घर पर पहुँचते ही देखा कि गौ एक बछिया कुछ देर पहले जन के चुकी थी। कल्याणी उसकी देख भाल में लग गई। बलदेव के लौट जाने का उस को पता भी न लगा।

(५म परिच्छेद)

कल्याणी की सेवा से प्रसन्न हो कर गौ दोनों समय मिलाकर आठ सेर दूध देती है। कल्याणी नियम से छः सेर दूध नित्य दयानन्द जी के स्थान पर भेज देती है। स्वामी जी के स्थान पर कल्याणी को जाने की आवश्यकता नहीं। बलदेव नित्य प्रातः सायं आकर दूध ले जाता है।

किशोर नित्य ही डेढ़ दो सेर दूध पी कर पुष्ट हो गया। कल्याणी प्रसन्नता में बनिये की बात भूल गई।

ठीक दूसरे महीने की समाप्ति पर सायंकाल बनिया रुपया मांगने आगया। कल्याणी उसे देख इधर उधर झांकने लगी। बनिये ने गौ को बच्चा दिया देख उसी को लेने की मन में ठान, कहा—

"रुपया देती है या नहीं?"

कल्याणी चुप रही।

बनिया—तुम्हारी गौ कितना दूध देती है?

कल्याणी—आठ सेर!

बनिया—अच्छा, अभी मैं इसे ही लेजाता हूं। बाक़ी हिसाब फिर समझ लूंगा।

बनिया गौ को खोलने लगा। कल्याणी ने गो को न ले जाने की बहुत प्रार्थना की, गिड़गिड़ाई, रोई, चिल्लाई। पर बनिये ने एक न सुनी। गौ खोल कर चलने लगा।

उसी समय बलदेव दूध लेने आ गया। गौ को बलपूर्वक घर से ले जाते देख बलदेव ने बनिये को गले से पकड़ लिया। बनियां डर के मारे गौ को छोड़ हट कर एक ओर खड़ा होगया।

बलदेव ने बनिये को घर से बाहर निकाल कड़कड़ाते हुए पूछा, "तेरे कितने रुपये इसने लिये थे"?

बनियें को स्वप्न में भी आशा न थी कि कोई विधवा का भी सहायक आ निकले। वह बलदेव के वज्र समान हाथ से पकड़ा जाने के कारण दुखते हुए गले को अभी मल ही रहा था कि बनिये से बलदेव ने रुपये के विषय में पूछा। बनिये को इस प्रश्न से कुछ शान्ति मिली सही। परन्तु बलदेव को सामने खड़ा

देख वह डर के मारे कांपते २ बोला "तीस रुपये"। उसने डर से व्याज भी न बताया केवल तीस ही कह कर और परे को हट गया।

बलदेव—अच्छा सुन लिया। ज़रा परे हट कर खड़ा रह। अभी २ रुपये तुझे मिल जायेंगे। पहले हम गुरु जी के लिये दूध ले लें"।

बनिया यह न जानता था कि बलदेव जैसा कड़ियल जवान भी अपने गुरु से डरता है। बनिये ने बलदेव के गुरु को बलदेव से भी बड़ा पहलवान समझ कर कांपते २ कहा "कुछ जल्दी नहीं हुजूर! आपका दास रात भर ऐसे ही खड़े रहने को तय्यार है"।

बलदेव कुछ मुस्कराया। कल्याणी ने दूध दोह दिया। बलदेव ने तीन आने सेर के हिसाब से लगभग एक महीने भरके दूध के दाम ३३) रुपये कल्याणी को देदिये कल्याणी ने रुपये लौटाते हुए आश्चर्य से कहा—"यह रुपये कैसे! मैं कदापि न लूंगी"।

बलदेव—यह तीन आने सेर के हिसाब से दूधके दाम हैं। तुम लेती क्यों नहीं"!

कल्याणी—ब्राह्मण को दूध बेचने से पाप लगता है।

बलदेव—"मेरे गुरुदेव तुम से अधिक पाप पुराय को समझते हैं। यह उन के भेजे हुए रुपये तुम्हें अवश्य ही स्वीकर करने पड़ेंगे"।

यह कह कर बलदेव ने कल्याणी को रुपये फिर देदिये।

कल्याणी ने देवता का प्रसाद समझ रुपये ले लिये। बलदेव चला गया। बनिये की आकाङ्क्षा पूरी हुई।

(छटा परिच्छेद)

आज काशी में स्थान २ पर एक ही चर्चा हो रही थी। कुछ लोग चौराहे पर खड़े कल की घटना के विषय में बातें कर रहे थे। कल सायंकाल भरी सभा में उसी लड़के किशोर ने दयानन्द सरस्वती के गले में फूलों की माला डाली थी। लोग इसी घटना को लेकर दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा कर रहे थे।

एक ने कहा—वह जादूगर प्रतीत होता है। जो कोई उसके यहां जाता है वैसा ही होजाता है। वह कुछ ऐसा बोलता है, कुछ ऐसा देखता है कि बिना उसके वश

में हुए रहा ही नहीं जाता। कल उसी लड़के ने जब फूलों की माला गले में डालनी चाही तो उसने कहा, 'बेटा, हमें तो वही जूते की माला ला दो। मेरे लिये फूलों की माला नहीं है।' लड़का रोता २ उनके पैरों को लिपट गया। सारी सभा इस दृश्य को देख कर रो पड़ी।

लोगों में से एक ने कहा – अजी वह मंत्र शास्त्री है। मंत्र से सब को वश में कर लेता है।

दूसरा बोला—नहीं जी वह कोई सिद्ध है।

तीसरा—अजी सरस्वती उसकी जीभ पर है। सब वेद शास्त्र उसे कण्ठ हैं।

चौथा वह पूर्ण ब्रह्मचारी है।

पांचवां – वह ऋषि है, कोई ब्रह्मर्षि है।

छटा—वह इस लोक का नहीं, कोई देवता है।

सातवां—वह हिन्दु जाति का रक्षक है।

आठवां – वह सब जगत का उपकार करने वाला पूरा महात्मा है।

नौवां—अजी! किस की बात करते हो, भाई! कौनसा गुण है जो उसमें न हो। वह ब्रह्मचारी है, सन्यासी है, तपस्वी है, योगी है, ऋषि है, ब्रह्मवेत्ता है, परोपकारी है। कोई ब्रह्मा जी के समय का वैदिक ऋषि है। हम से पूछो तो हम सबका कल्याण उसी की बात मानने से होगा।

इसी समय इस भीड़ को चीरते हुए एक रमणी और एक बालक आगे बढ़े।

किशोर – वह तुम्हारा कोई भी हो, पर मेरा तो वह 'खिृष्टान दयानन्द" ही है।

कल्याणी—वह स्त्री जाति का सच्चा उपकार करने वाला और गौ–रक्षक है। उससे बढ़ कर इस काशी में कोई देवता नहीं है बोलो गोरक्षक दयानन्द की जय।

सब—गोरक्षक दयानन्द की जय।

किशोर—गोरक्षक खिृष्टान दयानन्द की जय॥

वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य (समालोचना)

(श्री० पं० चमूपति 'आर्य सेवक')

(५)

इस समय तक हमने पण्डित जी के किये निरुक्त-भाष्य से प्रायः मतभेद ही दर्शाया है। इसका अभिप्राय यह न समझना चाहिये कि पण्डित जी के परिश्रम का हमारे हृदय में आदर नहीं। आरम्भ में संक्षेप से हमने पण्डित जी के भाष्य की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की थी। अपने से पूर्ववर्ती भाष्यों से पण्डित जी ने बहुत स्थानों पर पृथक्ता का पथ ग्रहण किया है। ऐसे अवसरों पर ऋषि दयानन्द कृत भाष्य से भी सहायता ली गई है। निरुक्त ५. ४७ में आए 'उर्वशी' के प्रकरण को बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया गया है। यह कहना कठिन है कि भाष्य के इस स्थल का कितना भाग पण्डित जी की मौलिकता का परिणाम है। क्योंकि इससे पूर्व भी उर्वशी विद्युत् वाची समझा और कहा जाता रहा है। परन्तु संपूर्ण स्थल को जिस सफ़ाई से श्री चन्द्रमणि जी ने खोला है। वह उन्हीं का हिस्सा है। यास्क के 'ऊरुभ्याम् अश्नुते' शब्दों का अर्थ 'ऊरुभ्यामश्नुते' करने वालों की भ्रान्ति का प्रदर्शन भी हृदयङ्गम हुआ है। यहां पण्डित जी ने अपने विज्ञान परिचय का पूरा पता दिया है।

हम चाहते हैं 'हृदय' और 'हिरण्य' के अर्थों पर भी हम पण्डित जी को इसी प्रकार बधाई दे सकते। इन दो शब्दों के अर्थ भी वर्तमान विज्ञानानुकूल किये गए हैं परन्तु प्रमाण अपर्याप्त होने से यह अर्थ निस्संकोच स्वीकार करने योग्य नहीं। शतपथ में 'हृदय' शब्द को व्युत्पत्ति हृ, द, और य से की गई है। हृदय हरता है, देता है और चलता है केवल इन संकेतों से रक्त संचार के सिद्धान्त की अभिज्ञता का प्रमाण ब्राह्मण-कारों को देना पण्डितों की दृष्टि में आदरणीय नहीं हो सकता रक्त संचार का वर्णन वेद में है। श्री डा० राधाकृष्ण का एतद्विषयक लेख वैदिक मैगज़ीन में प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार के और प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं। परन्तु पण्डित चन्द्रमणि जी की स्फूर्ति अभी और पुष्टि चाहती है।

'हिरण्य' शब्द का प्रयोग सिक्के के अर्थ में होता है। परन्तु निघण्टु में इस शब्द का पाठ सुवर्ण ही के नामों में हुआ है। यास्क की 'ह्रियते जनाज्जनमिति वा (२-१०) इस व्युत्पत्ति मात्र से इसका अर्थ सिक्का विशेष करना भी भाष्यकार की स्फूर्तिमात्र ही है। सोना भी एक मनुष्य के पास स्थिर नहीं रहता। हम जानते हैं कि यदि श्री चन्द्रमणि जी का अर्थ ठीक हो तो भारत के आर्थिक इतिहास की एक गुत्थी खुलने में सहायता मिले परन्तु प्रत्येक अर्थ के पीछे व्याख्याता की केवल स्फूर्ति मात्र से पुष्टतर प्रमाण की अपेक्षा होती है।

श्री चन्द्रमणि जी ने जहां प्रचलित भाष्यों से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया है वहां स्वतन्त्र विचार का आश्रय लेने से भी नहीं चूके। इसका कुछ दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। कहीं २ दुर्गाचार्य का स्पष्ट नाम लेकर भी खण्डन किया है। एक जगह, हम समझते हैं, पण्डित जी ने दुर्ग से स्पष्ट अन्याय किया है। यथा १. ११ की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने संविज्ञातानि शब्द के दो वैकल्पिक अर्थ दिये हैं। एक अर्थ यह है:—

संविज्ञानपदमितीह शास्त्रे रूढि शब्दस्येयं सञ्ज्ञा

यह अर्थ पण्डित जी को स्वीकार है। जहां दुर्गाचार्य के इससे पहिले किये अर्थ से असहमति का अधिकार श्री चन्द्रमणि जी को है वहां उपर्युक्त अर्थ का श्रेय भी अपने से पूर्व व्याख्याकार को देना चाहिये था श्री चन्द्रमणि जी का टिप्पण पढ़ते हुए प्रतीत होता है कि दुर्ग ने यह दूसरा अर्थ किया ही नहीं, जो तथ्य के विपरीत है।

(६)

श्री चन्द्रमणि जी के मन्त्रार्थ पूर्व भाष्यकारों से बहुत उत्कृष्ट हैं। इसमें कारण है ऋषि दयानन्द की भाष्य-शैली का आश्रय। कई स्थलों पर अभी और विचार की आवश्यकता है, यथा हीनोपमा का उदाहरण देते हुए 'कुह स्विद्दोषा' इत्यादि ऋचा को उद्धृत किया है। श्री चन्द्रमणि जी इस मन्त्र का अर्थ करने से पूर्व इसका विनियोग लिखते हैं:—

यदि कोई स्त्री पुरुष अपने देश से देशान्तर में जावें तो उस देशान्तर के कर्मचारी प्रवेश से पूर्व उनसे निम्न प्रकार प्रश्न करें —

......(विधवा देवरं इव, योषा मर्यं न शयुत्रा सधस्थे वां कः आकृणुते) और जैसे कोई विधवा स्त्री नियुक्त पति को ... अथवा विवाहिता स्त्री अपने पति

को (के साथ) समानस्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को उत्पन्न करती है, एवं तुम्हारा परम प्रिय घनिष्ठ मित्र कौन है?'

हम नहीं जानते यह विनियोग कहां से लिया गया है। उपमेय 'मित्र' भी बिना खेंचातानी के कुछ विषम सा प्रतीत होता है। उपमा असभ्य है। कहीं हीनोपमा बनाने के लिये ही तो हीन विनियोग नहीं किया गया? हमें इस मंत्र का ऋषि दयानन्द प्रतिपादित अभिप्राय ही ठीक प्रतीत होता है। तद्यथा:—

'इससे यह सिद्ध हुआ कि देश विदेश में स्त्री पुरुष संग ही में रहें। और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।' (स० प्र० पृ० ११८)

यह मन्त्र आर्य समाजियों और सनातनधर्मियों में विवाद का कारण रहता है। यदि इस पर सनातन धर्म के प्रामाणिक तथा प्रख्यात पण्डितों का पक्ष भी दर्शा दिया जाए तो अनुचित न होगा। विवादास्पद वाक्य यास्क कथित 'देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते' है। विपक्षियों का कहना है कि यह वाक्य प्रक्षिप्त है, क्योंकि दुर्गाचार्य ने अपनी वृत्ति में इसे छोड़ दिया है। परन्तु सायणाचार्य अपने ऋग्वेद भाष्य में यास्क का उद्धरण करते हुए इस वाक्य को भी उसमें अंगीकार करते हैं। अतः सायण के मत में यह वाक्य यास्क ही का है। महामहोपाध्याय श्री शिवदत्त दाधिमथ ने दुर्गाचार्य की वृत्ति का संपादन करते हुए इस वाक्य पर विस्तृत टिप्पण दिया है। वह उक्त टिप्पण का आरम्भ 'निरुक्ताश्रयेण' इन शब्दों से करते हैं। उन्हें भी यह वाक्य शिरोधार्य है। इस से, प्रक्षिप्त कहने वालों का पक्ष कितना थोथा है, स्वयं सिद्ध हो जायगा।

'विधवेव देवरम्' का अर्थ दुर्ग की सम्मति में यह है:—

'यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, स हि परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यतरो भवति'

अर्थात् 'जैसे विधवा सोने में गुप्त रूप से देवर की सेवा में अधिक यत्न करती है। क्योंकि वह पर पुरुष होने से सहज आराध्य नहीं'

'मर्यं न योषा' का अर्थ करते हैं:—

'मनुष्यं देवरं सैव मृतभर्तृका ...... '

अर्थात् वही विधवा देवर को ...... ।

दुर्गाचार्य की खींचातानी इसी से स्पष्ट है कि वह रहस्य तथा यत्न को सकारण बनाने के लिये परकीय पुरुष के संसर्ग को उपमा देर में ढूंढता है। 'मर्यं

न योषा' का अर्थ 'विधवेव देवरम्' करने में पुनरुक्ति के अतिरिक्त सामान्य सा-हित्यक प्रयोग पर अनावश्यक अत्याचार भी करता है। दुर्ग को भ्रम यह हुआ प्रतीत होता है कि स्यात् हीनोपमा में किसी हीन अर्थात् कुत्सित कर्म वा गुण का उपमान में होना आवश्यक है। वास्तव में यह बात नहीं। यास्क का कहना है:—

अथापि कनीयसा ज्यायांसम् (उपमिमीते)। ३. १.

अर्थात्—अथवा गौण अर्थात् अपेक्षया अप्रसिद्ध से बड़े अर्थात् प्रसिद्ध को उपमा देते हैं।

कनीयान् का अर्थ अप्रख्यात और ज्यायान् का अर्थ प्रख्याततम इस से पूर्व ३. १३ में यास्क ने स्वयं कर दिया है।

परमात्मा को जहां उपमेय बनाया जायगा वह हीनोपमा द्वारा ही होगा। कारण कि वहां तो उपमेय सदा हीन (कनीयान्) रहेगा ही। भक्त लोग परमात्मा को चोर तक कह जाते हैं। वह हीनोपमा ही तो है। निरुक्त में हीनोपमा का प्रथम उदाहरण 'तनूत्यजेव' इत्यादि मन्त्र दिया है। इस में चोर उपमान है और वनस्थ के बाहु उपमेय। परमात्मा चोर का उपमेय हो तो उपमा और भी हीन हो जाती है। अस्तु।

श्री शिवदत्त का पक्ष दुर्ग से ठीक उलटा है उन्हों ने विधवेव देवरम् के अनेक अर्थ किये हैं:—

(१) क्रीडामात्रासक्तोऽत्र स्वोदर पूर्त्युपाय ज्ञान विकलो बालः स्तनंधयोऽपत्यमेव गृह्यते देवर शब्दार्थः।

अर्थात् देवर शब्द का अर्थ है खेल में लगा दुग्धपान के लिये विकल बालक।

(२) येन पत्याऽस्मिंल्लोके क्रीडिता।

अर्थात् जिस पति से इस लोक में खेल चुका है वह विधवा का देवर है।

(३) देवर शब्द ईश्वरार्थकः। तथा च यस्तद्भरणे समर्थः पिता भ्राता पुत्रो वा।

अर्थात् देवर का अर्थ ईश्वर अर्थात् पिता भ्राता या पुत्र जो उस (विधवा) का पालन कर सके।

(४) देवर शब्दस्य परमेश्वरार्थकत्वेन ......।

अर्थात् देवर शब्द का अर्थ परमेश्वर होने से...।

(५) तस्य पत्युरसुसमाप्तयोगाद् विधवा कथ्यते

अर्थात् जिस पति के साथ चतुर्थी कर्म अर्थात् समागम नहीं हुआ उस की वह विधवा है। उस का द्वितीय वर देवर होगा।

इन महाशय का मत यह है कि इस एक मन्त्र में विधवा का बाल पोषणार्थ ब्रह्मचारिणी रहना, मृत पति के साथ सती होजाना अथवा पिता भ्राता आदि के सहारे से रहना, परमेश्वर परायण रहना अथवा अक्षतयोनि हो तो पुनः संस्कार—इन सब विकल्पों का विधान है।

अन्तिम विधान की पुष्टि में मनु का श्लोक दिया हैः—

यस्या मृयेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवर॥

यही श्लोक ऋषि दयानन्द ने अक्षतयोनि के पुनर्विवाह में लगाया है। पौराणिक लोग कहते थे यहां विवाहिता अक्षयोनि नहीं। किन्तु वाग्दान की हुई का संस्कार अभिप्रेत है। पं० शिवदत्त ऋषि के साथ हैं। उन की दृष्टि में 'वाचा सत्या कृता' वह है जिस का केवल चतुर्थी कर्म अर्थात् समागम न हो, विवाह हो गया हो। यही पक्ष शास्त्र का है।

पं० शिवदत्त के किये 'देवर' शब्द के सारे अर्थ विनोदजनक कल्पनाएं हैं। आप देवर के साथ समागम केवल अन्तिम अर्थ में ही मानते हैं, जब कि दुर्गाचार्य यास्ककृत दीव्यतिकर्मा अर्थ में मानता है। इस वैपरीत्य का समाधान वह स्वयं करें।

अब देखें सायणाचार्य का क्या मत है?

'शयुत्रा शयने विधवेव याथ मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरं अभिमुखी करोति।' ऋग्वेदभाष्य १०. ४०. २.

अर्थात् सोने के स्थान में जैसे विधवा अपने देवर को अभिमुख करती है। यह अर्थ वही है जो ऋषिदयानन्द का है भेद केवल इतना है कि वहां सन्तानोत्पत्ति है यहां भोग। इसके आगे कहा है—

'तथा च यास्क' अर्थात् यास्क भी ऐसा ही कहता है, इस प्रकार सायण के मत में यास्क ने विधवा और देवर का वही संबन्ध निश्चित किया है जो सन्तानोत्पत्ति के लिये पति पत्नी में होता है।

उपर्युक्त अर्थों की तुलना करने से पाठक को स्वयं विदित हो जायगा कि ऋषिकृत अर्थ सब से उत्तम और सभ्य है। यदि श्री चन्द्रमणि जी ने उसी अर्थ का उद्धरण कर दिया होता तो कुछ आपत्ति न थी। उस को तोड़कर मन्त्र का विशेष विनियोग कल्पना करने की कोई आवश्यकता न थी।

हीनोपमा के प्रकरण में 'जार आ भगम्' (नि. ३. १६) के दूसरे अर्थ से भी हम अपनी असहमति प्रकट कर देना चाहते हैं। हीनोपमा कुत्सित उपमा को नहीं कहते। 'जार' का अर्थ यहां सूर्य ही है आदित्योऽत्र जार उच्यते। नि. ३. १६ और भग का तेज हो। पारजायिक अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं।

(शेष फिर)

'तू'!

(श्री० कुरङ्ग)

मयावी हो रङ्गबरङ्गी लाखों खेल दिखाता तू
इन्द्रजाल सम जगत् बना कर नृत्य नया नचवाता तू ॥
सूर्य किरण में चन्द्र प्रभा में निज कौशल दर्शाता तू
रच कर कोयल काक विश्व में लाखों राग सुनाता तू ॥
क्रूरभाव भर पञ्चानन में मृग में दया दिखाता तू
क्षात्र धर्म को विकट रूप दे दासदशा शर्माता तू ॥
सूर्य किरण में सूर्य सोत में भेद भाव अधिकाता तू
पङ्क रङ्क से कमलराज को क्यों कैसे उपजाता तू ?
नदियों के कलकलित नाद में भैरव रूप दिखाता तू
बहती उनकी मधुर धार में क्या है मौत छिपाता तू ॥
जिन हाथों से कमल फूल को जग में प्रभु सरसाता तू
रुधिर पिपासु कण्टकगण को क्या उन से निर्माता तू ?

दयानन्द की प्यारी भाषाएं।

(श्री मुक्तिराम उपाध्याय आचार्य गु० कु० पोठोहार)

ऋषि दयानन्द के कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट हो उस की कार्यमाला के मणकों को जितना अधिक टटोलते हैं उतना ही अधिक रहस्यमय पाते हैं। एक हाथ में सत्यार्थप्रकाश को लेते हैं तो दूसरे हाथ में उसी समय भूमिका आ जाती है। इस ओर मातृ भाषा की स्थापना है तो उस ओर देववाणी विराज रही है। वेद-भाष्य देखते हैं तो वहां भी दोनों देवियों का समान आसन पाते हैं। देश में और भी भाषाएं थीं, ऋषि की अभ्यस्त अपनी मातृभाषा गुजराती भी थी, परन्तु औरों को यह समादर न मिला। यह साधारण बात नहीं है, इस में कोई रहस्य है। विचार से समझ में आता है कि ऋषि ने अपने एक हाथ में राष्ट्र-महागढ़ के बन्द बड़े किवाड़ों के मोटे ताले की तालिका पकड़ी हुई थी। और दूसरे हाथ में टूटे हुए नहीं, पर अज्ञान काल के कुमत और कुविचार की आंधियों से रेत और मट्टी में दबे हुए, पुराने, पर पवित्र धर्मगढ़ के आधे बन्द ताले की ताली थी। अथवा यों कह सकते हैं कि ऋषि के एक हाथ में भूखे भारत को राष्ट्र भाव रूपी अन्न बांटने की थाली थी; और दूसरे हाथ में कुमत और जड़-वाद के घोर अन्धकार में परस्पर टकरा कर ठोकरें खाते हुए मनुष्यमात्र को प्रकाश दिखलाने के लिये दीपिका थी। उसने फैलाने से पहले अपने हाथों की ओर गम्भीर दृष्टि से देखा दोनों हाथों की वस्तुओं को विकृत देख आंखों ने लौट कर अन्तःकरण से जा कहा, और अन्तः करण के गम्भीर तल में से आकाश-वाणी के सदृश यह ध्वनि निकली—"दयानन्द! इन्हें हाथ में लिये देखते क्या हो!! अच्छा देखो। और भली भान्ति देखो! देववाणी के उस अङ्ग को देखो जहां मध्यकालीन रुढियों की जवनिका ने वैदिक दिव्य ज्योति को आच्छादित कर संसार में अन्धकार का साम्राज्य स्थापित कर दिया है। अथवा लौकिक संस्कृत साहित्य के उस अङ्ग को देखो जहां स्त्रैणता का भाव वाङ्मय कलेवर धारण कर ब्रह्मचर्य्य और आचार के मूल का उन्मूलन कर रहा है। बस देख चुके! नहीं, और देखो, तुम्हारे दूसरे हाथ में आर्य भाषा है इस की ओर भी देखो। यह विचित्र दृश्य है। और इसने अपने शब्द अङ्गों को कैसी निर्दयता

से काट २ कर फेंक दिया है। और उन की जगह दूसरी भाषाओं के भद्दे अङ्गों को जोड़ अपना कैसा विरूप रूप बना लिया है। अपनों को उतार अन्यों के लेकर पहने हुए लिपि वस्त्र इस की विरूपता को और भी बढ़ा रहे हैं। न तो इस की जननी देववाणी के शब्द भण्डार का दिवाला ही निकला है, और न आर्य लिपि के चरणों में बैठने की योग्यता भी अन्य किसी लिपि ने आज तक प्राप्त ही की है। फिर इस में रहस्य क्या है? रहस्य है हां इस में रहस्य है। और वह है भारतीय जनता का कुकाल चक्र तोता मैना जब अपनी भाषा को अन्य भाषा के रंग में रंगने लग जाते हैं, और दूसरों के इङ्गित पर विना विचारे हां हां की ग्रीवा हिलाना आरम्भ कर देते हैं, उसी समय उन के लिये बन्धन का पञ्जर प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों की भाषा में आकर मिला हुआ अन्य भाषा का एक २ शब्द एक २ लोहे का कड़ा बन, एक बृहत् शृङ्खला बनाता है। जोकि उन मनुष्यों के हाथों और पैरों के बन्धन में काम आती है। जाति के गढ़ की नींव सभ्यता पर है। प्रत्येक जाति की अपनी २ भिन्न सभ्यता होती है, और उस में निराले ही ढंग के भाव का गन्ध होता है। भाव और भाषा का जोड़ा है। भाषा के विकार से भाव विकृत हो जाते हैं और भाव के विगड़ जाने पर भाषा अपना रूप स्थिर नहीं रख सका करती। इन दोनों के विकृत हो जाने पर शनैः २ सभ्यता की जड़ खोखली हो जाती है, और जाति का गढ़ विना ही आयास के टूट जाता है। बस ये ही वे हृदय के उद्गार थे जिन की प्रेरणा से ऋषि के मुख से ये शब्द निकले थे—"मेरी पुस्तकों का अनुवाद आर्य भाषा के अतिरिक्त और भाषा में न करो" क्या आर्य जनता, ऋषि के नाम पर, नहीं नहीं अपनी जातीय सभ्यता के नाम पर बलिदान होने वाली आर्य्य जनता इस मङ्गल कारक ऋषिबोध दिवस के शुभ अवसर पर प्रण कर संस्कृत भाषा के साहित्य भण्डार को वैदिक भाषा के रंग में रंगते हुए इस की रूढ़ियों के दूर करने का आचरण रूप में और भी अधिक प्रयत्न करेगी? एवं आर्य्य भाषा को और भी अधिक अपनाने के लिये, उसे राष्ट्र भाषा, पर समुज्वल भाव पूर्ण शुद्ध आर्य भाषा बनाने के लिये अपने हाथ को ऋषि दयानन्द के विशाल हाथ का अनुगामी कर लम्बा फैलाती हुई श्रेय प्राप्त करेगी? क्या आर्य्य प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित आर्य्य गज़ट और प्रकाश आर्य जाति के माथे से कलङ्क को धोते हुए आर्य भाषा में प्रादुर्भूत होंगे? और इस आचरण से हम सब उच्च स्वर से संसार को कहेंगे कि ये हैं—दयानन्द की प्यारी भाषाएं।

सच्चे प्रचारक

(श्री प्रोफेसर अमरनाथ विद्यालङ्कार तिलक स्कूल पोलिटिक्स)

संसार में किसी विचार या मत के लोक-प्रिय हो जाने का कारण सदा उस की उत्तमता या तर्क के साथ अनुकूलता ही नहीं हुआ करती। धर्मों, सम्प्रदायों व सम्प्रदायों का इतिहास हमें बताता है कि यह मुख्यतः उस के अनुयायियों की लगन, परिश्रम और चरित्र बल का ही असर होता है। सिद्धान्तों की रक्षा के लिये अपने जीवन की बाजी लगा देने वाले व्यक्तियों के हृदयों में एक आग होती है जो देखते देखते सब ओर फैल जाती है। उन के हृदय में एक धड़कन होती है जो समाज को जबर्दस्त गति देती है। संसार में जितने भी धर्मप्रचारक हुए उन के हृदयों में कोई ऐसी ही आग थी इसी प्रकार की एक धड़कन थी—ऐसा मानना पड़ेगा। प्रत्येक सम्प्रदाय-प्रवर्तक के अन्दर उस की त्रुटियों के साथ ही साथ समाज को भलाई की एक तेज़ आग भड़क रही थी। परन्तु इतिहास बतलाता है कि प्रारम्भिक प्रवर्तकों के शिष्य भी सिद्धान्त-रक्षा और सत्य प्रेम के लिये बहुत बार अपने प्रारम्भिक प्रवर्तकों का मुकाबला करते रहे हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक धर्म की आधार शिला जहां मतों के प्रवर्तक रखा करते हैं वहां उस पर भवन खड़ा करने के लिये उस मत के अनुयायी अपनी बलि दिया करते हैं। जहां बड़े बड़े नेता, किसी भवन में स्पष्ट दीखने वाली ईटों के समान हुआ करते हैं, वहां जातियों के शहीद पिल-कर गारे और चूने का काम दे कर उस भवन को खड़ा करने में सहायता दिया करते हैं। उन्नति शील जातियों व संघों का इतिहास वस्तुतः शहीदों के रक्त से ही लिखा जाया करता है।

'आर्य' के किसी पिछले अङ्क में मैंने बौद्ध भिक्षुओं के कठोर नियन्त्रण का जिक्र किया था। उस लेख में मैंने बताया था कि जब तक किसी समाज व सिद्धान्त के प्रचारक इतने लगन वाले न हों, कि अपनी धुन में मस्त हो कर उसे पूरा करने के विचार से अपने प्रत्येक प्रकार के स्वार्थ को छोड़ने तथा अपने ऊपर कठोर से कठोर नियन्त्रण लगाने के लिये तैयार न हों—तबतक उस की उन्नति नहीं होती। मैंने बताया था कि बौद्धों के इतने फैलाव का कारण उन के

संघ का कठोर नियन्त्रण ही था। आजकल के ऐतिहासिक बुद्ध धर्म को भारत में अकर्मण्यता और अहिंसा का प्रचारक कह कर भारत की अवनति और पतन का अपराध बौद्धों के माथे मढ़ कर अपने ऐतिहासिक ज्ञान की अपूर्णता का परिचय भले ही दें किन्तु एक इतिहास का विद्यार्थी बौद्ध प्रचारकों के हृदय में एक आग देख सकता है, जिस के कारण बौद्ध भिक्षुगण एक तरफ़ सुदूर दक्षिण और इस के भी आगे समुद्र लांघ कर 'ईस्ट इण्डीज़' के टापुओं में तथा दूसरी ओर हिन्दु कुश की ऊंची चोटियों को पार करते हुए एशिया के सुदूर पश्चिम तक पहुंच गये। इतना ही नहीं उन्हों ने पूर्व में चीन, जापान और उत्तर में मध्य एशिया-तिब्बत मंगोलिया और मंचूरिया तक से भारत के तपस्वी का संदेश गुंजाते फिरते थे। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि इस सारे एशिया में फैल जाने वाली गूंज को उठाने वाले लोग कितने धुन के पक्के रहे होंगे ? और कर्मण्यता उन में कितनी ज़्यादा मात्रा में होगी। इस कर्मवीरों के प्रभाव के समय भारत की राष्ट्रीय शक्ति को एक इञ्च भी पीछे नहीं हटना पड़ा-परन्तु अब तक प्राप्त इतिहास में भारत की राष्ट्रीय उन्नति बौद्ध सम्राटों के समय ही (गुप्तों को छोड़ कर) अपनी उन्नति के शिखर पर पहुंची-और बौद्धधर्म के अस्त के साथ ही प्रायः भारत का गौरव-सूर्य भी अस्त होगया।

यह सब कुछ मैंने यही दिखाने के लिये लिखा है, कि धर्म की सच्ची लगन राष्ट्रीयता की सहायता करती है, विरोध नहीं। सच्चा धार्मिक अपने हृदय में मनुष्यमात्र के प्रति सहानुभूति रखता है, विरोध नहीं। वह सब के गुणों की अत्यन्त प्रशंसा करता है, परन्तु दोषों की विज्ञापन बाज़ी नहीं करता किन्तु सच्चे प्रेम से वह प्रत्येक व्यक्ति व समाज के दोषों को दूर करने की कोशिश करता है। सच्चे प्रचारक के हृदय में प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह किसी धर्म-किसी जाति या किसी देश का हो-के लिये प्रेम का समुद्र उमड़ता है-वह विरोधी को गालियां नहीं देता-उन पर लाठियां नहीं चलाता-परन्तु विरोधी की शारीरिक व आत्मिक उन्नति दिल से चाहता हुआ-मौका पड़ने पर अपने प्राण के गाहकों की रक्षा के लिये भी अपने प्राण देने को भी उद्यत रहता है। सच्चा प्रचारक विरोधी को अपने प्रबल प्रेम से जीत लेता है। बौद्धों और ईसाइयों को प्रारम्भ में ही ऐसे प्रचारक मिले। यही कारण है कि उन का इतना विस्तार हुआ और संसार में प्रेम और शान्ति का संदेश सुना सके। ऋषि दयानन्द ऐसे ही प्रचारक थे। ऐसे प्रचारक को ही अपनी वाणी को 'मधुकशा' (मोठी चाबुक) क[illegible]

का अधिकार है। कौन नहीं जानता कि सर सय्यद अहमदख़ां के दिल में मुसलमानों के लिये कितना पक्षपात था? कहा जाता है कि वह रातों जाग कर बड़े ज़ोर २ से रोते हुए घुटने टेक कर परमात्मा से प्रार्थना किया करते थे कि 'या खुदा मुसल्मानों का किसी तरह भला कर। जिसे अपनी जाति की इतनी चिन्ता थी-जिस का अपनी जाति से प्रेम आजकल के तंज़ीम प्रचारक मुसल्मानों में से शायद किसी से कम न होगा-बल्कि ज़्यादा ही होगा-वह सर सैय्यद घंटों ऋषि दयानन्द के पास बैठे रहते जहां स्वामी जी आस पास कहीं आते वहीं उनका दर्शन करने के लिये पहुंचते-यद्यपि ऋषि उन के धर्म का कठोर खंडन करते क्योंकि सर सैय्यद जानते थे कि स्वामी का हृदय शुद्ध है-वह द्वेष भाव से ऐसा नहीं कहते, उनके हृदय में मुसल्मानों के लिये भी प्रेम का इतना ही अगाध समुद्र बह रहा है जितना हिन्दुओं के लिये। मेरी सम्मति में जो प्रचारक इस प्रेम का दावा अपनी छाती पर हाथ रख कर-कर सकते हों-उन्हीं को इस पवित्र "मधुकशा" को हाथ लगाने का अधिकार है, उन्हीं को शास्त्रार्थ करने का हक है अन्यथा अयोग्य व्यक्तियों को हाथ लगाते ही यह "मधुकशा" "विषकशा" का रूप धारण कर लेती है, जिसका परिणाम सिर फुटौव्वल के सिवाय और कुछ नहीं होता। विरोधी से बदला न लेने का भाव प्रचारक में पहिला गुण होना चाहिये। संसार के इतिहास में ईसा के अन्तिम शब्द— 'परमात्मा! उन्हें क्षमा कर। वे नहीं जानते वे क्या कर रहे हैं"— स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। ईसाई प्रचारकों ने अपने गुरु के इस आदर्श का कहाँ तक पालन किया इसके कुछ उदाहरण देना यहां अप्रासंगिक न होगा

१— जिस समय "पाल" जोकि ईसाई मत का यूरोप में सन्देश ले जाने वाला था रोम में प्रचार कर रहा था, रोम सम्राट प्रसिद्ध-"नीरो" ने ईसाई प्रचारकों पर अत्याचार शुरू किया-नयी नयी तरह की यन्त्रणाओं (Tortures) के तरीके ईजाद किये गये। कई लोगों को जंगली पशुओं की खालों में भरवा कर सी दिया गया। कइयों को शिकारी कुत्तों द्वारा फड़वा दिया गया, उनकी स्त्रियों को मस्त बैलों की पूंछ में बांध कर शहर भर में घसीट २ कर मार दिया गया। रात्रि को नीरो की रंगशाला में उन्हें बुलवाया गया-उनके शरीर पर कपड़ा लपेट कर तेल डाल दिया गया। इसके बाद मशालें बुझा दी गयीं-और इन्हीं ईसाई वीरों की देह में आग लगा कर इन जलती हुई मशालों की ज्योति में राग रंग किया गया—पर कौन कह सकता है कि यही जलती हुई मशालें रोम वासियों के हृदयों के बुझे हुए दीपकों को नहीं जला गयीं? क्या ईसाई-

यत इन अत्याचारों से मर गयी ? इन अत्याचारों ने रोम वासियों के मुर्दे दिलों को जगा दिया—ये अत्याचार सरे आम होते थे। ईसाई शहीद मृत्यु के समय जिस शान्ति का प्रकाश करते थे—उनके चेहरों पर जो प्रसन्नता झलकती वह दर्शकों पर असर डालती थी। इन कष्टों से बेचैन न होने का कारण वे यही समझते कि दैवीय शक्ति इन शहीदों के साथ है जो इन्हें कोई कष्ट नहीं होने देती। और कौन कह सकता है कि उनकी रक्षा आत्मा की दिव्य शक्ति नहीं कर रही थी। ईसाई प्रचारक जिस शक्ति का प्रचार करते थे-उसकी प्रत्यक्ष झलक जिस झलक ने पं० गुरुदत विद्यार्थी को आस्तिक बनाया था उसी झलक ने रोमन लोगों के हृदय में भी ईश्वरीय सत्ता का विश्वास करा दिया। रोमन लोग धड़ाधड़ ईसाई होने लगे। भौतिक शक्ति के घमंडियों ने समझा कि अभी और अत्याचारों की आवश्यकता है। परन्तु ईसाई मत-"जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दुगुन कपि रूप दिखावा" के अनुसार बढ़ता ही गया। अन्त में सब के गुरु "पाल" को ही कुचलने का निश्चय हुआ। आग के ढेर पर लाठी मारना मूर्खता है-वह बुझती नहीं किन्तु कोयले बिखर जाते हैं-और चिंगारियां उड़ कर घर में ही आग लगने का भय रहता है। फिर रोमन लोग तो पहले ही फूस के झोपड़ों में रह रहे थे। पाल के अन्तिम शब्द थे—

"O Death, where is thy sting ? O Gr ve, where is thy victory ? Thanks be to God who gave us t e victory through Jesus Christ."

सचमुच ईसाई मत को पाल की मृत्यु से 'विजय' हासिल हुई। जिस आग को बुझाने का प्रयत्न किया जा रहा था वह रोम ही में नहीं, पर थोड़ी ही देर में सारे यूरोप में फैल गयी।

२—सैंट 'पाल' के बाद सैंट 'जान' भी इसी प्रकार शहीद हुआ। रोमन सम्राट् ट्रेजन ने उद्घोषित किया कि सब लोग रोमन देवताओं की उपासना करें। ईसाई मत गैर कानूनी उद्घोषित किया गया। ईसाइयों का नेता सैंट जान था। उसे पकड़ कर रोम मंगाया। सैंट 'जान' ने जिस समय यह समाचार सुना उस के ये शब्द थे— "I thank thee Lord, that thou hast given a perfect Love of Thee." इस के बाद उसने अपने हाथ से बेड़ियां पहनीं और अपने आप को सैनिकों के सपुर्द कर दिया। उस समय रोमन

लोग नाट्यशालाओं और तमाशों के बहुत शौकीन थे। नाट्यशालाओं में जंगली पशुओं की लड़ाई करायी जाती। प्रायः दास और कैदी लोग उन के सामने डाल दिये जाते और इस वीभत्स दृश्य को देख कर वे आनन्द लेते थे। सैंट जान को भी ऐसी ही रंगशाला में दो भूखे शेरों के सामने छोड़ दिया गया। जोन के अन्तिम शब्द थे—

" Would to God that I too might be found worthy to suffer for His cause. I shall go to Him, when my soul desires. He is the bread of life. I am His; my soul desires Him, I despise your torments.

यही कहते कहते भूखे शेरों ने उसे समाप्त कर दिया।

३—'हिलेरियन' नामी एक बालक था—उसके देखते देखते उस के पिता, दो भाइयों और एक बहन को बड़ी यन्त्रणायें दे कर मारा गया था। राज कर्मचारी को इस बालक पर दया आयो—उसने उसे बचाने के लिये पूछा—"क्या ईसाईयों को सभा में ज़बर्दस्ती तुम्हें तुम्हारा पिता लेगया था या भाई ?" उस का उद्देश्य था कि बालक किसी का नाम लेकर छूट जावे। परन्तु वीर बालक ने उत्तर दिया "मैं ईसाई हूं, और मैं अपनी निजी इच्छा से सभा में शामिल हुआ था"। राजकर्मचारी ने बालक को डराया—परन्तु वह भयभीत होने वाला न था। उसने परमात्मा को धन्यवाद देते हुए कहा "तुम पूछ देखो, एक छोटा बालक भी कह देगा कि अनेक झूठे देवी देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा, संसार के बनाने वाले एक परमात्मा की पूजा श्रेष्ठ है।" अचानक एक ईसाई महिला पास ही खड़ी थी। उसकी गोद में ९ या १० वर्ष का एक बच्चा था। इस बालक का नाम "साइरिल" था।

राजकर्मचारी ने कौतूहल वश यूंही उस बालक से यही सवाल पूछ लिया। उसे जवाब मिला—"परमात्मा एक है और ईसा उस का पुत्र है" राजकर्मचारी का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। वह बोला—" अरी नीच औरत ! तूने अपने बालक को यह सिखाया है ?" फिर बालक से धीरे से पुचकारते हुए बोला—"प्यारे बालक ! तुम ने यह कहां से सीखा है !" उसने प्रेम से माता के मुंह की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"परमात्मा की दया है कि उसने यह सत्य मेरी माता को सिखाया और इसने मुझे उपदेश दिया।"

राजकर्मचारी ने क्रुद्ध हो कर बालक को पीटना शुरू किया और माता से बोला—'देखते हैं ईसा का प्रेम इस की कैसे रक्षा करता है।" माता ने जवाब दिया "ईसा का प्रेम इसे वही दुःख सहन करने की शक्ति देता है जो ईसा ने इसके और हम सब के लिये सहा था" बालक को फिर पीटा गया और माता से वही सवाल किया गया—इस बार माता का उत्तर था—"ईसा का प्रेम इसे अपने अत्याचारियों पर क्षमा सिखाता है।" बालक से पूछा गया पर उसने अब भी उत्तर दिया—"परमात्मा एक है और संसार का बनाने वाला है" अधिक पीटा जाने से बालक बेहोश हो कर गिर गया—" माता से फिर वही सवाल पूछा गया। इस बार उस का उत्तर था कि "परमात्मा के प्रेम ने इसे मनुष्यों के घृणित क्रोध की आग से निकाल कर सदा के लिये स्वर्ग की शान्ति प्रदान की है।" माता की आंखों से आंसू टपक पड़े। नास्तिक राज-कर्मचारी की आंखों से भी झलकते हुए दो बूंद आंसू गिर पड़े। नास्तिक के हृदय के भी द्वार खुले-शहीद बालक ने नास्तिक को आस्तिक बना दिया। बालक ने अपने शब्दों को फिर दोहराते हुए प्राण छोड़ दिये।

संसार के इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं। धर्मों व जातियों के इतिहास इस प्रकार के शहीदों की सुनहली स्मृति से भरे पड़े हैं। समाजों की उन्नति, जातियों और राष्ट्रों का उत्थान ऐसे बलिदानों से ही होता है। जिस जाति में ऐसे निर्भीक पुरुष नहीं, जिस समाज के पास बड़ी संख्या में ऐसे वीर नेता नहीं, जिस धर्म में ऐसे शहीदों का आसन खाली है, वह संसार में उन्नति नहीं कर सकता। असल बात तो यह है कि विरोधियों से लोहा लेने वाले ये शहीद ही होते हैं—जो शत्रु के भी हृदय द्वार को ज़ोर से खटखटा जाते हैं, जो विरोधियों के हृदयों में भी ज्योति जगा जाते हैं, और मेरी सम्मति में जब तक कोई समाज इस प्रकार के प्रचारक पैदा न कर ले तब तक उसे अपने आन्तरिक सुधार में ही लग कर अपने अन्दर यह शक्ति पैदा करनी चाहिये। सच्ची आत्माओं की शक्ति बारूद की शक्ति के समान होती है जो संसार की काया पलट देती है। आर्य समाज का यह दौर्भाग्य है कि उस के अन्दर बचपन में ही बुढ़ापे के चिन्ह दिखाई देने लगे हैं इस समय आर्य समाज को पहिले सारी शक्ति अन्दर की ओर लगा देने की आवश्यकता है। इस समय आर्य समाज को बड़े बड़े दिग्गज शास्त्रा-

र्थियों की ज़रूरत नहीं—परन्तु संसार की काया पलटने वाले अपने धुन के पक्के, सदाचारी प्रचारकों की ज़रूरत है। जिन के हृदय में एक आग हो, वैदिक सिद्धान्त जिन के जीवन में पढ़े जा सकते हों—जिन के हृदय में विरोधियों के प्रति भी प्रेम का अथाह समुद्र बह रहा हो, जिन की मधुकशा समय आने पर लाठी का रूप धारण न कर ले, किन्तु जिन की 'मधुकशा' शत्रुओं के सामने और भी मीठी हो जाय। विरोधी मतवाले के लिये सहानुभूति—उस के लिये करुणा और क्षमा जिन के जीवन का अङ्ग हो—। मैं समझता हूं—इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार के अन्दर इस प्रेम-धर्म के उपासकों ने जो सफलता प्राप्त की है,—संसार की जो काया पलट की है, वह और नहीं कर सके। क्या आर्य समाज के वर्तमान प्रचारक इतिहास की इस शिक्षा का अनुसरण करेंगे ? क्या आर्य समाज अपने आचार्य के समान विष देने वालों के बन्धन कटाने वाले प्रचारक उत्पन्न कर सकेगा ?

मैं जानता हूं कि शास्त्रार्थ प्रेमी आर्य भाई मेरे इस कथन को महत्व नहीं देना चाहेंगे—किन्तु यदि आर्य समाज ने उन्नति करनी है, तो उसे इसी उपाय का अनुसरण करना होगा। यह आर्य समाज के जीवन का सवाल है। शास्त्रार्थों से बाहरी जोश भले ही होजाय—और तो क्या जोश में आकर चाहे कितने लोग आर्य समाज के रजिस्टर में नाम लिखा कर महीने भर में ही समाज के सदस्यों की संख्या दुगनी से चौगुनी कर दें, परन्तु जब तक लोगों के जीवन में वास्तविक उन्नति न होगी, आर्य समाज के वैदिक सिद्धान्त लोगों के दैनिक व्यवहार में पथदर्शक न बनेंगे,—आर्य समाज का सारा कार्य फिज़ूल होगा—आर्य समाज ही क्या प्रत्येक मत, सम्प्रदाय या धर्म जब तक क्रियात्मक जीवन में परिवर्तन न कर दे, संसार के लिये उस की कुछ भी उपयोगिता नहीं। इस मुख्य उद्देश्य में सदा हमारी अधिक शक्ति लगनी चाहिये।

आर्य्यों का भावी राज्य

(श्री विष्णुदत्त बी. ए. एल. एल. बी.)

किसी समय संसार में आर्यों का चक्रवर्त्ती राज्य था। विशेष कर आर्यावर्त्त आर्य सभ्यता का केंद्र था और संसार में यदि किसी देश वा जाति ने चरित्र सीखना होता तो यहां आते और शिष्य भाव से यहां के गुरुजनों से शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् अपने २ देशों में जा कर सदाचार और सुशिक्षा का विस्तार करते थे।

कोई समय आया कि भारत में स्वयं अंधकार फैल गया ज्ञान और सदाचार की प्रतिष्ठा नहीं रही। अत्याचार और अनाचार फैल गया। धर्म्माधम को लोग भूल गए। तपस्या और योग के जीवन के स्थान में भोग और असद् व्यवहार का राज्य हो गया। जब गुरु देश और जाति का पतन हो गया और धर्म और सदाचार का उस के केंद्रस्थान से ही बहिष्कार हो गया तो ब्राह्मणों और सुशिक्षकों के अभाव से सारे संसार में ज्ञान और धर्म नाममात्र को नहीं रहा।

बुद्ध और अन्य आचार्यों ने अपने २ सम्प्रदायों की स्थापना की परन्तु शंकराचार्य के प्रयत्न को छोड़ कर किसी आर्यावर्त्त वा अन्य देश के आचार्य ने आर्य सभ्यता के पुनरुद्धार के लिये प्रयत्न नहीं किया। इस कारण भारत वर्ष में से आर्य सभ्यता के चले जाने के पश्चात् यहां का स्वातंत्र्य, विज्ञान, सदाचार और उन्नति भी ऐसे मिट गए कि अब किसी को यह आशा मृगतृष्णा मात्र प्रतीत होती है कि फिर कभी भारत के प्राचीन दिवस आएंगे। आज तो भारत का अपना जीवन भी संदेहास्पद है जो देश किसी समय जगत के प्रायः सभी देशों पर किसी न किसी रूप में शासन करता था, वही देश अब पादाक्रांत है और शिर ऊंचा करके साहस पूर्वक बात करने के भी योग्य नहीं है।

यूरप, अमरीका और जापान आदि कई देश आजकल बड़े उन्नत देश गिने जाते हैं परन्तु उन उन देशों में धर्म और सदाचार नाम मात्र को नहीं है। इन देशों में भोग विलास ने धर्म और आचार का आसन ग्रहण कर लिया है और कुटिलता और असद्व्यवहार को कुशलता की पदवी दी गई है।

आज संसार में किसी देश और जाति को देखो एक निरन्तर संग्राम चल रहा है सम्प्रदाय और पक्षपात अपना प्रभाव अशान्ति और शत्रु भाव के प्रसार के रूप में दिखला रहे हैं।

संसार की इस अशांति का एक मात्र प्रतिकार आर्य सभ्यता का प्रचार है। जब तक आर्यों का पुराना राज्य सर्व रूप में संसार में नहीं फैल जाता उस समय तक संसार में शांति नहीं आ सकती।

स्वामी दयानन्द ने देखा कि संसार पीड़ित है। दिव्य दृष्टि से ऋषि ने अनुभव किया कि यदि भारत में आर्य सभ्यता का पुनरपि प्रचार हो जावे तो सारे संसार का भला हो सकता है।

भारत की उन्नति का सब से बड़ा उपाय ऋषि ने यह बतलाया कि संसार भर में से साम्प्रदायिक भाव को निकाल देना चाहिये अन्यथा परस्पर भ्रातृभाव की कदापि आशा ही नहीं हो सकती। जिस मनुष्य का आत्मा कई भ्रान्तियों का दास है वह न अपना भला कर सकता है और न किसी अन्य का। धर्म वा सदाचार, देशोन्नति वा विज्ञान प्रसार, वर्णाश्रम धर्म स्थापना वा योगाभ्यास, तपस्या वा वीरता, निर्भयता वा सतोगुणी वृत्तियां कोई जप कर लेने वा विश्वास मात्र से उपलब्ध होने वाली वस्तुएं नहीं हैं। इस के लिये प्रथम साधन आत्म स्वातंत्र्य है। उपरोक्त सद्गुणों की प्राप्ति से ही प्राचीन आर्य्यों का निष्कंटक राज्य था। स्वराज्य को लोग स्वप्न देखना चाहते हैं। परंतु यह नहीं समझते कि आत्म स्वराज्य के बिना बाह्य राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ऋषि दयानन्द के नाद ने भारत भूमि में एक ऐसे यज्ञ का प्रारम्भ करा दिया है जो दिन प्रति दिन विस्तृत हो रहा है। आर्य्य सभ्यता के इस राज्य के विस्तार के लिये किसी आग्नेय वा वायव्य अस्त्रों की आवश्यक्ता नहीं है। परञ्च अपने जीवनों को आर्य्य सभ्यता के आदेशानुसार संगठित करने की आवश्यकता है।

इस नए युद्ध का एक मात्र शास्त्र विज्ञान का प्रचार है। स्वामी दयानन्द ने इस कारण केवल ऋषिकृत ग्रंथों के ही पढ़ने पढ़ाने की आज्ञा दी है। सारा संसार आज किस्सा कहानी कथा गल्प और उपन्यास में आनन्द लेता है जिसको साइन्स और विज्ञानशास्त्र और विद्या का नाम दिया जाता है वह भी भ्रांति रहित नहीं। डार्विन का शासन कई वर्षों से प्रत्येक पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता के मस्तिष्क पर

उपस्थित है। यद्यपि वैदिक सभ्यता के पुनरुद्धार के पश्चात् अब कहीं २ लोग इस भ्रांति को अनुभव करने लगे हैं।

वर्तमान शिक्षा का अंतिम उद्देश्य प्रकृति वाद है। ईश्वर वाद के लिये कोई स्थान नहीं है। आज कल जितने सम्प्रदाय भी प्रचलित हैं वह भी कथा और भ्रांतियों का संग्रह हैं।

प्राचीन ऋषि सदैव आप्त पुरुष थे। वह कदापि असत्य भाषण नहीं करते थे। यदि अपने कथन को लेखबद्ध भी करते थे तो सूत्रवत् आयुर्वेद, न्याय शास्त्र आदि किसी विद्या वा विज्ञान के ग्रंथ को उठा कर देखलो अंत में और आरम्भ में सदा ईश्वर की सत्ता को अनुभव किये बिना पढ़ने वाला नहीं रह सकता था। इन ग्रंथों और शास्त्रों ने अपना मुख्य उद्देश्य ही मोक्ष की प्राप्ति ही बतलाया है।

वेद इस अनोखी सभ्यता का स्रोत है। किसी साम्प्रदायिक आचार्य्य ने कभी वेद की स्थापना की ओर क्षण भर भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि वेद के दर्शनमात्र से ही उन की कपोल कल्पित साम्प्रदायिक भ्रांतियों का जाल नहीं फैल सक्ता। स्वामी दयानन्द ने इसी वेद को उच्चासन दिया। यदि वे चाहते तो अन्य आचार्य्यों की भांति वह भी अपना एक सम्प्रदाय चला देते। उस का मंत्र, जप, तप, स्तोत्र और कलमा बना लेना उन के लिये कठिन न था जब कई अनपढ़ मूर्ख पाखंडी आज कल कान में मंत्र फूंक कर गले में कंठी बांधते फिरते हैं। शिष्यों का भला करना तो ऐसे लोगों के लिये कठिन है परंतु यह लोग शिष्यों से धन बटोर कर और बड़े २ भवन निर्माण करके अपने आत्मा का नाश कर लेते हैं। इन लोगों ने जगत् में हठ और दुराग्रह को फैलाया है। यदि यह लोग संसार में पैदा ही न होते तो भी अच्छा था। अब यह बात स्पष्ट है कि मुसलमान और ईसाई, बौद्ध और जैनी, सिख और ब्राह्म और अन्य मतवादी भली प्रकार समझ रहे हैं कि अब तर्क और ज्ञान के मार्ग से बच कर कोई सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता। इस कारण अपने २ ग्रंथों के सब चमत्कारों को अलङ्कारों का वस्त्र पहनाया जा रहा है और इस काट छांट का यह परिणाम होगा कि कभी कोई ऐसा समय आ जावेगा कि विश्वास मात्र वैर भाव हठ और दुराग्रह का नाम धर्म्म नहीं रहेगा। और आत्म स्वातंत्र्य, सदाचार, तर्क, और वेद ही एक मात्र आदर्श संसार का

धर्म्म होगा। सहस्रों वर्षों के पश्चात् फिर स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में भारत संसार को वेद का झंडा लेकर विजय करने के लिये चला है। इस विशाल कार्य्य के लिये एक महती सेना की आवश्यकता है। इस समय जो सैनिक इस सेना को मिले हैं वह अपनी एकत्रित की हुई सामग्री के अनुसार कार्य्य कर रहे हैं परन्तु देश में आर्य्य सभ्यता का निष्कंटक राज्य होने पर ही विदेश में यह धर्म्म का राज्य फैलेगा। वह सैनिक कैसे सौभाग्यवान होंगे जो इस शांति और धर्म्म का राज्य फैलाने वाली सेना में सम्मिलित होकर अपने धार्म्मिक जीवन से वीरता का ज्वलन्त दृष्टान्त उपस्थित करेंगे। वह दिन भी कैसा स्वर्गीय होगा जब कि अंग्रेज़ और जर्मन, फ्रांसीसी और चीनी, जापानी और ईरानी, अफ़गान और अमरीकन, तुर्क और अरब आदि सब फिर वैदिक धर्म्म को सहर्ष स्वीकार करके आर्य बन जावेंगे। आर्य्यों के इस भावी राज्य की आशा ने स्वामी दयानन्द को वैदिक धर्म्म के प्रचार के लिये प्रोत्साहित किया और हमें भी उन के चरण चिन्हों पर चल कर इस स्वप्न को पूर्ण करने में सहायता देने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहिये।

" प्रार्थना "

" श्री कुरङ्ग "

मोह व्यथा में दुःख दशा में, उद्धर दीनाधार !
मानस पीड़ा हर कर हरिवर, तारो करुणागार !
यत्न प्रयत्न किए मैं लाखों, हुई निराशा घोर।
पड़ा प्रभो ! तव चरण शरण में, करो कृपा की कोर॥
जल थल नभ में तुम ही व्यापक तेरो रूप अथोर।
जीवन दो अब जलधर स्वामिन् ! द्वारे खड़ा चकोर॥
मीन मनुज हो सूर्य चन्द्र हो, जग तेरा विस्तार।
शक्ति शालि ! हे करुणासागर ! दुख से परे उतार॥
अन्ध निशा में कलुषित होकर, फिरता मानस चोर।
सूर्य छटा छटका दो भगवन् ! करदो भावन भोर॥

सम्पादकीय

फिर भारत में

९ मास के प्रवास के पश्चात् संपादकासन पर फिर बैठते हुए 'आर्य'-पाठकों की सेवा में सस्नेह 'नमस्ते' कहता हूँ। अपने आफ्रिका के अनुभव अंग्रेज़ी पत्रों में तो प्रकाशित करता रहा, अब 'आर्य' में भी पुरानी और नई आफ्रिकीय सभ्यता पर लेख माला प्रकाशित कराने की आयोजना करूंगा।

मेरी अनुपस्थिति में श्री राजेन्द्र जी ने 'आर्य' का संपादन किया। उनके संपादन में उत्तम २ लेख 'आर्य' के पृष्ठों को अलंकृत करते रहे। उन के परिश्रम तथा कार्य-तत्परता के लिये उनका बार २ धन्यवाद है।

मैंने स्वयं इस समय में लेख भेजने में कमी नहीं थी। परन्तु वह लेख सब समालोचनात्मक थे। इसमें सन्देह नहीं कि समालोचना, और वह भी उत्कृष्ट साहित्य की। साधारण पाठकों के लिये कुछ बहुत रुचिकर नहीं होती। परन्तु साहित्य की उन्नति का साधन समालोचना ही है। 'आर्य' में समालोचना का स्थान रहना आवश्यक है। हां! इतना ध्यान रखना ही होगा कि यह अंग पत्र का एक छोटा सा लघुकाय अंग हो। बहुत पृष्ठ न घेरे।

साप्ताहिक या स्थूल?

'आर्य' की कलेवर-वृद्धि अथवा इसे मासिक से साप्ताहिक कर डालने की आवाज़ आर्य जगत् में क्रमशः बल पकड़ती जाती है। मासिक का साहित्य में अपना स्थान है, साप्ताहिक का अपना। मासिक विचार का प्रेरक होता है, साप्ताहिक आन्दोलनों का प्रवर्त्तक। यह बात तो निर्विवाद ही है कि आर्य सामाजिक जगत् में आर्य सिद्धान्तों ही पर गम्भीर विचार केवल 'आर्य' के पृष्ठों में होता है। मासिक होने के कारण यह पत्र सामयिक वादविवादों से ऊपर उठ कर धर्म तथा समाज की स्थिर समस्याओं के सुलझाने में अपनी शक्ति का व्यय करता है।

कुछ हो, 'आर्य' की पृष्ठ-संख्या बढानी हो चाहे उसे साप्ताहिक बनाना हो, कठिनाई आर्थिक ही होगी। आर्य प्रतिनिधि सभाओं में सब से बड़ी तथा अधिक शक्ति-संपन्ना सभा का एक मात्र मासिक पत्र हो और वह घाटे में रहे, यह कुछ गौरव की बात नहीं। आर्यों को इसकी ग्राहक संख्या बढ़ानी चाहिये।

"पहिले की अपेक्षा भोग की ओर अधिक प्रवृत्ति है। जीवन पर दृष्टि उपेक्षा की है। गंभीर यत्न में शिथिलता है...... सुन्दर प्रतीत होने की कामना............आडंबर और वेष की अतिशयता तक पहुंचती है। ...... खर्च बहुत अधिक है। अधनवानों को धनवानों की व्यय में स्पर्धा नष्ट कर रही है।

यह शब्द हैं एक आंगल महाशय के जो अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य पुरोहितों में से हैं और एक ऐसे महाविद्यालय को चला रहे हैं जिस के दूसरे महाविद्यालय अधूरी नकलें हैं। नीचे हम कालेजों के विद्यार्थियों के एक हितैषी को अपनी आंखों का दिया प्रमाण पेश करते हैं।

टिब्बी में अकाल- लाहौर के एक कालेज के एक कार्यकर्ता रावी से आते हुए टिब्बी के पास से गुज़रे। टिब्बी में लाहौर की वेश्याओं का आवास है। एक वेश्या एक टांगे वाले से पूछ रही थी कालेज कब खुलेंगे? जाने वाले को ख़याल आया, संभव है, इस का कोई संबन्धी कालेज में भर्ती होने वाला हो। पूछने पर वेश्या ने कहा:—हम भूखी मर रही हैं।

आशय स्पष्ट है। ऐसी ही एक घटना का पता एक और महाशय से मिला। दोनों संवाददाता खिन्न थे कि नई पीढ़ियों की वृत्ति किस भविष्य की ओर संकेत करती है।

हम इसे पाश्चात्य सभ्यता का स्वाभाविक फल समझते हैं। संभव है, लाहौर से बाहर की दशा इतनी शोचनीय न हो, परन्तु लाहौर जो इस शिक्षा का केन्द्र है, इस सुशिक्षित भोग विलास का भी केन्द्र है। पाश्चात्य शिक्षा का उपकार टिब्बी की भूखी वेश्याओं के लिये है। जिन की परोपकार कामना इतनी तीव्र हो कि अपने जिगर के टुकड़ों को दरिद्र वेश्याओं की भोग भट्ठी का ईंधन बना सकें वह आखें मूंद कर इस विद्या (?)—वृद्धि के पक्षपाती हो सकते हैं। दूसरों को सावधान होना चाहिये।

पुत्रि शिक्षा का प्रस्ताव उसी लेख में महाशय जी ने पुत्रियों के शिक्षण पर ध्यान देने की प्रेरणा की है। कहीं शिक्षा प्रेमी लोग उन कोमल कोयलों को अंग्रेज़ी शिक्षा की विषैली हवा न लगा दें। कालेजों के विद्यार्थी टिब्बी के अकालपीड़ितों की सेवा के पीछे भी संभवतः महात्मा बन सकें, देवियां एक वार भोग वाद की दासी हुईं, डायनें ही बन कर रहेंगी।

कन्याओं के शिक्षण में गवर्नमेंट की उपेक्षा आप की सफलता की हेतु न होगी। कारण कि यहां अंग्रेज़ी शिक्षा की आवश्यकता न उसे है न आप को। भोगवादी उसी शिक्षा पर यहां भी बल दे रहे हैं। आप यहां अपना कर्तव्य क्या समझते हैं? उस आवाज़ के आगे झुकना या उस का प्राण-पण से विरोध करना? यही बालकों के विषय में करते तो आज क्यों यह करुण क्रन्दन करना होता? महाराज! सफलता का माप बदलिये। शिक्षा का सच्चा ध्येय अपनी आंखों के सम्मुख रखिये। विष सस्ता है, इस लिये खा लेना चाहिये, यह बुद्धि-मानों की नीति नहीं। जिन गुरुकुलों को महँगा कहते हो, वह महँगे नहीं। हों भी तो अमृत हैं जो किसी भाव मिले सस्ता है।

हमारा विरोध किसी संस्था विशेष से नहीं। हम तो पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी हैं जिस का दूसरा नाम अंग्रेज़ी शिक्षा है। इस की आयोजना मैं करूं तो भोगवाद बढ़ाऊंगा आप करें तो भोगवाद बढाएंगे।

आर्य समाजों में मिलाप की आवाज़ उठती रही आओ भावी सन्तति को भोगवाद की भड़कती भट्ठी से बचाने के लिये साझा यत्न करें। शिक्षा का ध्येय वह बनाएं जो ऋषि ने अपनी पुस्तकों में स्थिर किया है।

गुरुकुलोत्सव- गुरुकुलोत्सव २ से ५ एप्रल तक बड़े समारोह से हुआ। उपस्थिति खूब रही। व्याख्यान उत्तम हुए। ८६ हज़ार रुपये दान की प्राप्ति तथा प्रतिज्ञाएं हुईं। संचालकों को बधाई हो।

आचार्य रामदेव जी ने अपने भाषण में गुरुकुल की कृत-कार्यता पर प्रकाश डाला। आपने बताया कि अब तक १३४ स्नातक हुए हैं जिनमें से ४ का देहान्त हो चुका है, ५ आगे शिक्षा पा रहे हैं। शेष १२५ में से ८६ सार्वजनिक कार्यों में लगे हैं। इस अनुमान से किसी दूसरे विद्यालय ने देश को सेवक नहीं दिये। प्रत्येक सात स्नातकों में से एक लेखक है गुरुकुल के स्नातकों की कृतियों ने हिन्दी साहित्य की संवृद्धि की है शिक्षा का मासिक व्यय विद्यालय-विभाग में कांगड़ी तथा उसकी समग्र शाखाओं का ५) रु० प्रति ब्रह्मचारी से अधिक नहीं। इस स्थिति के होते कौन कह सकता है कि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली महंगी है। इन सस्ते दामों यह सुवर्णीय परिणाम बधाइयों तथा साधुवादों का स्थल हैं।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य एम. ए. एल. एल. बी. ने जो तिलक विद्या पीठ के वाईस चांसलर हैं, दीक्षान्ताभिभाषण किया जिसमें आपने गुरुकुल के आदर्श तथा शिक्षा विधि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

दानों में मुख्य राशि श्री जमनालाल बज़ाज की है। उन्होंने१५००) रु० आगामी वर्ष के लि गान्धी अर्थ-शास्त्र पीठ के व्यय के लिये दिया और प्रतिज्ञा की कि यदि इस पीठ का कार्य सन्तोषदायक रहा तो इसके लिये दृढ़ ३००००) रु० की राशि एकत्रित कर देंगे जिसके सूद की आय से यह पीठ स्थिर रूप से चल सके।

दयानन्द वैदिक ग्रन्थ माला

आर्य जनता इस बात से अपरिचित नहीं कि पं० चमूपति जी की अध्यक्षता में ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य तथा अन्य प्रत्येक स्थल से जहां ऋषि ने किसी भी वेद मंत्र का भाष्य किया है, वैदिक शब्दों का कोष तैयार हो रहा है। अब यह संग्रह समाप्त प्राय है और संपादित हो 'वेद कोष' बन मुद्रणार्थ प्रेस में जानेवाला है पुस्तक की उपयोगिता इसी से स्पष्ट है कि आर्यसमाज के परिडतों ने इस पुस्तक के प्रस्ताव होने के दिन ही से इस शुभ विचार का स्वागत किया है। ऋषि की दृष्टि से वेद का अर्थ करने के लिये यह कोष मुख्य कुंजी का काम देगा। यह कोष दयानन्द वैदिक ग्रन्थमाला का पहिला पुष्प होगा। अन्य पुस्तकें भी तैयार कराने और छपवाने की आयोजना हो रही है। आर्य समाज में गम्भीर निश्चित तथा वैज्ञानिक रीति के स्वाध्याय-साहित्य की इस पुस्तक माला ही से नींव पड़ेगी। ऐसी पुस्तक मालाओं की प्रथानुसार इस माला की ग्राहकता के नियम यह होंगे:—

संरक्षक—२५०) एकदम देने वाले महानुभाव इस के संरक्षक कहला सकेंगे।

आजीवन सदस्य—जो महाशय १००) रु० पेशगी देगें, उन्हें आजीवन इस माला की पुस्तकें बिना दाम मिलती रहेंगीं।

सहायक-जो महाशय २५) रु० देदेगें, उन्हें पुस्तकें ४/५ दाम में भेजी जाया करेंगी। अर्थात् ५) रु० का पुस्तक ४ रु० में दिया जायगा।

स्थिर ग्राहक--जो महाशय १) रु० जमा करादेंगे, उन्हें पुस्तकें बिना डाक व्यय मिला करेंगी।

आर्यों को इस माला के ग्राहक इस लिये बनना चाहिये कि वेद के स्वाध्याय में इससे अधिक उपयोगी साधन और नहीं स्वयं लाभ न उठा सको तो भी वेदार्थ की आर्ष शैली के प्रचारार्थ पुस्तकें खरीदो और धन से इस प्रयत्न की

सहायता करो। सब आर्य समाजों और आर्य संस्थाओं यथा गुरुकुल, स्कूल, पाठशाला आदि को अवश्य ग्राहकों में अपना नाम लिखवाना चाहिये। ग्राहकों की पर्याप्त संख्या हो जाने पर मुद्रण कार्य आरम्भ होगा। वेद कोष का मूल्य उसकी पृष्ठ संख्या पर निर्भर होगा। लगभग १०) रु० का अनुमान है।

सब रुपया मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन के नाम से आना चाहिये।

कलकत्तामें हिंदू-मुस्लिम फसाद

कलकत्ता में हिन्दू मुस्लिम फसाद के समाचार जनता तक पहुंच चुके हैं। फसाद का आरम्भ आर्य समाज के नगर-कीर्तन से हुआ। पोलिस के डिपुटी कमिश्नर कीर्तन यात्रा के साथ थे। मुसलमानों ने अकस्मात् आक्रमण किया। झगड़ा बढ़ गया।

मुठभीड़ आर्यों तक ही परिमित न रही। आक्रान्ताओं का लक्ष्य आर्य समाज मन्दिर तथा काली के मन्दर को भ्रष्ट करना था। समस्त हिन्दुओं ने मिल कर फ़सादियों को रोका। जहां मन्दिरों को आघात पहुंचा, वहां मस्जिदें भी टूटने से नहीं बचीं। २०० के लगभग घायल हस्पतालों में पहुंचे। इनमें से अधिक मुसलमान हैं। कुछ मृत्युएं भी हुईं। आक्रान्ताओं का जब जम कर मुकाबिला हुआ तो दुम दबा कर भागे।। कई स्थानों पर लेने के देने पड़े। पोलिस ने विशेष रक्षा न की होती तो अशान्ति-प्रियता का पूरा मज़ा चखते।

अब अभियोग चलेंगे और वैमनस्य बढ़ेगा। फसादों की शृंखला से, जो कुछ समय से विविध स्थानों में घटित हो रहे हैं, प्रतीत होता है कि परदे के पीछे कोई गहरा षडयन्त्र है जो सारे भारत में द्वेषाग्नि को प्रचण्ड कर रहा है। कलकत्ते के फ़साद से हिन्दू मुसलमानों दोनों को शिक्षा लेनी चाहिये। हिन्दुओं को संगठित सांमुख्य की, मुसलमानों को हिन्दुओं की जागृत अवस्था और उस के संमुख अपने गुंडापन की निर्बल कायरता की। गुंडापन परिणाम में भीरु होता है। उस की बहादुरी तभी तक रहती है जब तक उस का विरोध न हो। अब सामना होगा।

सयाने मुसलमानों को अपने शान्ति-प्रेम की आवाज़ शक्तिशालिनी करनी चाहिये। अभागा भारत दीन है—दूसरों के अत्याचार से इतना नहीं जितना अपने आन्तरिक कलहों के कारण। यदि गुंडे लोग स्वयं न रुके और उन के सहधर्मियों ने भी उन पर ज़ोर न डाला तो हिन्दुओं का अपना बाहुबल उन्हें सचेत कर सीधे रास्ते पर लायगा। फिर भारत को शान्ति होगी।

सरकार की शान्ति-स्थापन की डींग क्या हुई ? सरकार अपनी अधिकारेच्छा का मुख्य हेतु कलही हिन्दी जातियों में शान्ति-स्थापन की आवश्यकता को बताती है। यदि यह हेतु भी थोथा है, जैसे इन बार बार होते फसादों से सिद्ध होता है, तो सरकार स्पष्टतया अपनी निष्प्रयोजनता की साक्षि देती है। बन्दर बांट का शासन आखिर कब तक ?

आर्य प्रतिनिधिसभा के मंत्री महाशय लिखते हैं:—

फरीदकोट में आर्यसमाज का उत्सव बन्द

'फरीदकोट की भूमि को जब से तुलसीराम के रक्त ने पवित्र किया है तब से आर्य जनता उस स्थान को पुण्य धर्म-धाम समझती है। वीर के बलिदान के पीछे वहां की परिस्थिति प्रचार के सर्वथा प्रतिकूल थी परन्तु पिछले दिना वहां आर्यसमाज की फिर से स्थापना हुई। ९, १०, ११ एप्रिल को आर्यसमाज का उत्सव होना नियत हुआ। आर्य सामाजिक जगत् के प्रसिद्ध संन्यासियों, वक्ताओं, तथा नेताओं ने वीर की बलिदान-भूमि को अपने प्रचार का योग्यतम क्षेत्र मान वहां की जनता को अपने दर्शनों तथा उपदेशों से कृतार्थ करना स्वीकार कर लिया था। उत्सव की तैयारियां जोरों से हो रही थीं। सरकार से सज्जा-सामग्री की प्रार्थना की गई। सनातनधर्म सभा, गुरुद्वारों, जैनसभा, अंजुमन इसलाहे मुसलिमीन को उन के त्यौहारों और वार्षिक उत्सवों के अवसरों पर यह सहायता दी जाती रही है, परन्तु आर्य समाज से सरकार ने सुतेली मां का सा व्यवहार किया। सज्जा भूषा की कुछ ऐसी बात न थी। ५ एप्रिल को जब उत्सव में कुल चार दिन शेष थे आज्ञा आई कि उत्सव बन्द कर दो। आज्ञा अत्याचार-पूर्ण तो है ही; सिखाशाही है और फिर आकस्मिक। आर्य समाज पर कोई दोष नहीं लगाया। बन्दिश का कोई कारण नहीं बताया, लिखा है 'विविध कारणों से'। अधिकारियों ने कोई अपराध किया होता तो उन से पूछ ताछ करते। बैठे बिठाए जलसा रोक दिया। स्थानीय कार्य कर्ताओं को तो कष्ट हुआ ही, बाहर के गणयमान्य नेताओं को मुफ्त का क्लेश दिया गया। यही नहीं, देश भर के आर्यों को इस समाचार के पहुंचते ही कठोर आघात पहुंचा है। शासकों ने मनमानी कर प्रजा के एक शान्ति-प्रिय भाग को वेदनाएं अपने विरुद्ध करली हैं। मैंने कौंसिल के प्रधान को तार दिया था। परन्तु उत्तर नहीं आया। उत्सव-निरोध का प्रभाव केवल रियासत ही में नहीं

किन्तु संसार भर की आर्य जनता पर है। जहां भी एक आर्य रहता है, उसके हृदय में तुलसीराम की बलिदान-भूमि का प्यार है। इस पवित्र स्थान पर एकत्रित हो वीर की प्रतिष्ठा करने के अधिकार को आर्य जनता छोड़ नहीं सकती। यह अधिकार प्राप्त करना ही होगा किस प्रकार ? यह बताने का अभी समय नहीं। क्या मैं आशा करू कि रियासत के अधिकारी समय पर अपनी भूल स्वीकार कर उस अत्याचार को शीघ्र लौटा लेंगे जो उन्होंने विचार न कर कर डाला है।'

मसूरी का नगर कीर्तन बन्द

पिछले वर्ष मसूरी आर्य-समाज का नगर कीर्तन बन्द हुआ था। इस बार फिर बन्द होने का समाचार आया है। आखिर यह धींगा धांगी कब तक ? राज्य नियम पालन तथा शान्ति स्थापन किये रखने का फल यही है तो आर्यों को अपना व्यवहार बदलना होगा। स्थान २ पर आर्य समाज के रास्ते में बाधा खड़ी की जा रही है जो असह्य है। आर्यों को जीना है और साधिकार जीना है उसका साधन है सत्याग्रह। निरोधाज्ञा होते हुए भी नगर-कीर्तन कर लेना चाहिये। अहिंसात्मक निष्क्रिय प्रतिरोध ही, जिसका दूसरा नाम विनीत आज्ञाभंग है, इस समय आर्य जनता का केवल मात्र हथियार हो सक्ता है। प्रश्न किसी स्थान विशेष का नहीं। सारी आर्य जनता का है। जनता को तैयारी करनी चाहिये। जब नेताओं का बुलावा आए, कार्य आरम्भ हो जाए।

अछूत आर्य समाजी

हम समझते थे आर्य समाज ने छूत का भूत हटा दिया। सहयोगी 'प्रभात' में निम्नलिखित समाचार पढ कर हँसी भी आई खेद भी हुआ —

"देहरादून में प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन के अवसर पर, जैसा कि हुआ करता है, बहुत से लोगों ने प्रतिनिधियों को अपने अपने यहां निमंत्रित किया था। इन्हीं में से एक लाला बिहारीलाल जी भी थे जो रैदास (चमार) सभा के प्रधान हैं। वे यद्यपि प्रचलित जाति के अनुसार अछूत जाति में से हैं परन्तु योग्यता, गुण, ज्ञान, और सामाजिक स्थिति में वे उच्च वर्ण वालों से कदापि कम नहीं हैं। आपने भी एक दिन के लिए प्रतिनिधियों को भोजन के लिए निमंत्रित किया था। परन्तु बड़ी हैरानी और लज्जा की बात है कि देहरादून आर्य्य समाज ने यह शर्त लगाई कि भोजन के बनाने वाले, सब ब्राह्मण ही होंगे और यह प्रबन्ध समाज की ओर से होगा। लाला बिहारीलाल जी को केवल धन दे देना चाहिए। इस पर लाला बिहारीलाल जी ने एक शर्त्त पेश की कि हमारी जाति के तीन-चार पढ़े-लिखे शुद्ध और साफ व्यक्ति भोजन परोसने का काम करेंगे, क्योंकि ईसाई मिश्नरी हमारी जाति

के लोगों में जो यह कह कर भ्रम फैलाते हैं कि आर्य्य समाज भी इन से परहेज़ करता है, वह दूर हो जायगा। लेकिन शास्त्री जी ने यह बात, यह कह कर अस्वीकार कर दी कि इस बात से प्रतिनिधि-सभा के मेम्बरों में, आपस में मत-भेद हो जायगा क्योंकि सारे प्रतिनिधि सदस्यों को यह बात स्वीकार न होगी।"

यदि हमें पीछे के समाचारों से यह पता न होता कि कई प्रतिष्ठित प्रतिनिधियों ने म. बिहारीलाल के हां खाना खाया तो हम देहरादून समाज को ही नहीं, यू. पी. की आर्य जनता को धिक्कार देते।

वीर महिला

दैनिक 'बङ्गाली' ने इन्हीं दिनों की एक घटना का वर्णन किया है जिस से विश्वास होता है कि भारतीय महिलाओं में आज भी प्राचीन वीर क्षत्रियाओं का निर्भीक साहस विद्यमान है जो उचित शिक्षण से विकसित किया जा सक्ता है:—

'अलीपुर पोलिस को एक साहस-पूर्ण डाके की सूचना मिली है जिस का निरोध गृहपत्नी की वीरता से हुआ। बज बज के थाने के अन्तर्गत राजारामपुर के एक धनी गिरीशचन्द्र अदोक हैं। १६ (मार्च) की रात को जब अभी सायंकाल हो रहा था, गिरीश बाबू की पत्नी अपने बालकों को साथ लिये बरामदे में बैठी थी इतने में कुछ पुरुष उस के घर में घुस आए।...... महिला डर गई और अपने बच्चों को घर के अन्दर कर आप भी अन्दर घुसी। इतने में डाकू बरामदे में दौड़ आए और उसे द्वार बन्द करने से रोकने लगे। अब एक ओर देवी द्वार बन्द करने को अन्दर से बल लगाती थी दूसरी ओर डाकू उसे खोलने को ज़ोर लगा रहे थे। ... महिला ने द्वार ढीला किया और एक डाकू का हाथ तख्तों के बीच में आ गया। देवी ने अपूर्व साहस से ......द्वार भींच दिया जिस से डाकू की उंगलियां द्वार ही में रह गईं [illegible] डाकुओं ने अपने साथी को छुड़ाने का पूरा प्रयत्न किया और वह इस में सफल हुए। डाकू का हाथ छूट गया परन्तु उस के हाथ की चार उंगलियां कट कर पीछे रहीं।.........—उंगली कटा डाकू शीघ्र पकड़ा गया। उसे पकड़ाने वाला यही चिन्ह था।'

क्या इस्लाम सार्वभौमिक धर्म है?

यह प्रश्न सहयोगी मौडर्न रिव्यू ने उठाया है जो साम्प्रदायिक या धार्मिक पत्र नहीं। इस का उत्तर सहयोगी के अपने शब्दों में सुनियेः—

अन्तर्जातीय वृत्ति का अर्थ यह नहीं कि अपनी जाति (या संप्रदाय के हित को भुला दिया जाय। जब पूर्वीय या उत्तरीय बंगाल में अकाल या बाढ़ या भूकम्प या बीमारी आदि पड़ते हैं तो यद्यपि यह प्रान्त मुसल्मान-प्रधान प्रान्त हैं तो भी वहां के रहने वाले मुसल्मानों की सहायता संकीर्ण-हृदय हिन्दु ही करते

हैं, उदारमना मुसल्मान नहीं। ..... कामिल्ला के अभयाश्रम के द्वितीय वार्षिक वृत्तान्त से पता लगता है कि उस के दवाई देने वाले हस्पताल से ४१७५ मनुष्यों ने सहायता प्राप्त की जिन में से २३९६ मुसल्मान थे। इस आश्रम द्वारा संचालित स्कूल में १२० छात्र हैं जिन में से ७२ मुसल्मान हैं। है यह आश्रम हिन्दुओं ही का चलाया हुआ। इस के हिन्दु ही कार्यकर्त्ता हैं और हिन्दु ही संचालक। बंगाल और आसाम में पछड़ी हुई जातियों के उद्धारार्थ परिश्रम करने वाली सभा की पंद्रहवीं वार्षिक रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि उस के नीचे बीस जिलों में ४०६ स्कूल हैं जिन के छात्रों की संख्या १६३८९ हैं। इन में सब से अधिक भाग नम शूद्रों का है और उस के पीछे मुसल्मानों का जो ३०२३ हैं। अब इस सभा की चन्दे की सूची पढ़ जाइये। मुसल्मान चन्दा देने वाले केवल दो हैं। इन में भी सर अब्दुर्रहीम या उनके अनुयाई बिल्कुल नहीं। .... जिसे इसलाम की सार्वभौमिकता या अन्तर्जातीयता कहा जाता है वह केवल सांप्रदायिकता है जो मुसलमान-प्रधान देशों पर फैली हुई है और वहां के ही मुसल्मानों की खैर मनाती है। वास्तविक सार्वभौमिकता का अर्थ है सब देशों की सब जातियों, सब संप्रदायों के, सब मनुष्यों की खैर मनाना।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

आय व्यय मद्धे मास फाल्गुण १९८२। १०१

निधि	बजट आय	इस मासकी आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
मुख्य कार्यालय सभा				६५१०)	४८५।≡)॥।	४८०१॥≡)॥
दशान्श	२६००)	५९)	१३३१॥-)			
दायाद्य रक्षा				८६०)	४५॥-)	६२१।-)॥
पंखार्थ			१५०)			
सत्यार्थप्रकाश आज्ञा			१२५)			
गिलम्पसेज़ आफ़ दयानंद			८३॥=)			
गुरुकुल से दशांश		१२००)	१२००)			
योग		१२५६)	२८९०≡)		५३१)॥।	५५५६॥≡)
कार्यालय वेदप्रचार				१५६०)	४७)	६५५॥)
वैदिक पुस्तकालय	५००)	२०)	३५०॥।≡)	२५००)	२०६।=)	२३३०)॥।
आर्य	३०००)	५५९॥।≡)	१४४९॥।≡)।	३०००)	२६८॥-)	२०५०॥≡)
चाराना निधि	[illegible]०००)	२४२॥)१	२००१॥।≡)४			
ट्रैक्ट			६५॥=)			
वेतन उपदेशक				१७०८०)	१०९७॥-)१०	११६२.६।-
मार्ग व्यय				६४००)	६७॥।=)॥	५६२५।=
बीमा जीवन				९०)	६४॥।=)	१३१
वैदिक कोष				१२००)	५०)	६६३॥।=
सहायता माता पं० गणपति शर्मा				८४)		१२
योग		८२२।≡)१	३८६८।≡)७		१८३२।-)४	२३१६
[वेद] प्रचार		३६०८।)	१७२३५॥-)२			
[लेख]राम स्मारक निधि	३००)	१४९॥-)	३०६॥)			
वेतन उपदेशक				२०००)	१६॥)	५१७॥
मार्ग व्यय				५००)		४७॥
गुज़ारा विधवा पं० तुलसीराम				१२०)	१०)	११
" " वज़ीरचन्द				९६)	८)	८८
योग		१४६॥-)	३०६॥)		३४॥)	७६
सूद बैंक		३५४।-)१	३६३६४॥)५		२३१८१=)	२२२
" क़र्ज़ा			२१७६।≡)			
भूमि आय व्यय			५५७॥-)		२३।-)॥।	६२॥
किराया मकान		५।)	५८।)			
योग		३५६॥-)१	३९१५७)५		२३२०४।≡)॥।	२३५
अमानत अन्य संस्थायें		१८०)	१३४६)			७१४८॥
" आर्यसमाजें		५)	२६१५≡)		२००)	२५८१॥
" वैदिक पुस्तकालय		१०)	७०)		१०)	४०
" विद्यार्थी आश्रम			५०२)			५७४
" अम्बालाल दामोदरदास						५०१
योग		१९५)	४८३६≡)		२१०)	१०३६४

निधि	बजट आय	इस मास की आय	इस वर्ष की आय	बजट व्यय	इस मास का व्यय	इस वर्ष का व्यय
			४७६९।)		४१)	४०२≈)।
सीयत निहाल देवी						१८॥)
जींदाराम			१०००)			
वा० विद्यानंद जानकी बाई					५०)	६७०)
० पूर्णानन्द जी					२५)	२७५)
० आचीराम जी						३२=)
ामशरणदास जी			१०३२=)			१००)
स० ईश्वरदास					११६)।	१५७७॥≡)।
योग			६८०१।=)			६८०७॥≡)१
लितोद्धार	१००००)	४०८≡)॥।	२२४८≡॥।	१००००)	४०१=)	६।४८।≡)१
		१३)	११४=)		८८)	४३५॥-)
ाजपूतोद्धार		११३॥=)१	१३२४=)५			
ोवीडेंट		३३६)	१९००७॥≡)॥।	९०००)	४२४॥=)॥	२४९१०॥≡)
दशक विद्यालय	९०००)	७४५)	५९८२॥-)।	४५००)	१३२।≡)॥	३११९०-)॥
र्य विद्यार्थी आश्रम	४५००)		२५०)			
इ०भ० आश्रम शाला		४२५-)॥।	५१११॥)॥।		४०।-)॥।	४७४८
ात निधि			४७९≡)		-)	७५॥-
द्दी			५४५१॥≡)			
्मृत			२००००)			
शक विद्यालय रकोष			६५॥=)।	१५००)		
ा प्रचार	२०००)					
के सेवकों की यता					१३॥=)॥	
समिति		८०)	२४०)			
क विद्यालय शाला			१६१०)			
ोहोमकरणभंडार				९०)		५
ाम प्रचार						२
न्द्रस्मारकनिधि			३५७)॥			
धारण निधि		१०)	१७)			
			१८३॥-)॥			
बोनस						
मुलतान			५९=)			
प्रचार			७०)		११००॥≡)॥	४६
योग		८१३३॥≡)७	९०५१३=)२		११०५४≡)॥।	१३
कुल महानिधि		५०८७२≡)५	१३०८८८-)११			
स्थिर छात्रवृत्ति		४७१२१॥।)	६५९९०॥।-)			
अस्थिर ,,			—४५०॥)			
उपाध्याय वृत्ति			५८४०५)॥			
शालानिधि		५९९११)	६४१६।=)			
अन्य दान		१५४५१५)	१५४५१५)			
भूमि तथा हिस्सा बैंक		१८३४३)	१८३४३)		८९३८=)॥	२
गुरुकुल इंद्रप्रस्थ		९१२२)।	२५५७४≡)।		११६९२=)।	१
योग		३४०८९५)२	५१६३१७-)८			

(शेष टाइटल के दूसरे पृष्ठ पर)

Registered No. L.1424. रजिस्टर्ड नं० एल १४२४

ओ३म्

भाग ७ मई १९२६
अङ्क २ ज्येष्ठ १९८३

आर्य्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मासिक पत्र

सम्पादक—चमूपति

प्रार्थना

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तोऽराव्णः ऋग्वेद ।

हे प्रभु ! हम तुम से वर पावें ।
विश्व जगत् को आर्य्य बनावें ॥
फैलें, सुख सम्पत् फैलावें ।
आप बढ़ें, तव राज्य बढ़ावें ॥
वैर-विघ्न को मार मिटावें ।
प्रीति-नीति की रीति चलावें ॥

वार्षिक मूल्य ३) रु० पेशगी

बाबू जगतनारायण प्रिन्टर व पब्लिशर के अधिकार से विरजानन्द प्रेस लाहौर में छप कर प्रकाशित हुआ ।

विषय सूची

भाग ७] लाहौर—ज्येष्ठ १९८३ मई १९२६ [अंक २

[दयानन्दाब्द १०२]

वेदामृत

ज्ञान झलकी

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ।

ऋ. ८. ४३. १४.

प्रकाशवान् के प्रकाश ज्ञान ज्ञानवान् के ।
सखे ! सुमित्रवर्ग के सखित्व में समा रहे ॥

वर्णव्यवस्था और पौराणिक मत।

(श्री० गुरुदत्त सिद्धान्तालङ्कार आर्योपदेशक)

(गतांक से आगे)

पुराणकार ने पुरुष सूक्त के वर्ण व्यवस्था विषयक मन्त्र के तृतीय पाद "ऊरू तदस्य यद्वैश्यः" की व्याख्या इस श्लोक में बहुत ही सुन्दर शब्दों में की है, कि—मानवी वैश्यवृत्ति विराट् पुरुष के आलङ्कारिक, आधिभौतिक देह में जङ्घाओं की प्रतिनिधि है। इसी वैश्यवृत्ति से वैश्य वर्ण का उद्भव हुआ। केवल वैश्य के घर में पैदा होजाने मात्र से ही कोई व्यक्ति वैश्य कहाने का अधिकारी नहीं, अपितु वार्ता, व्यापार, कला कौशलादि वैश्यवृत्तिजन्य धन सम्पादन आदि कार्यों को करने वाले व्यक्ति की ही वैश्य संज्ञा होती है। अब ज़रा इस श्लोक की ऋषिकृत लाक्षणिक व्याख्या से तुलना कीजिये। ऋषि ने "ऊरू तदस्य यद्वैश्यः" की निम्न व्याख्या की है—

"कृषि व्यापारादयो मध्यमगुणास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्" अर्थात् ऊरू के प्रतिनिधि कृषि व्यापारादि गुणों (वैश्यवृत्ति) से वैश्यवर्ण की उत्पत्ति होती है। पाठक स्वयं ही विचार करें कि दोनों व्याख्याओं में कितनी ज़्यादा समीपता है। अब ज़रा चौथे श्लोक का चामत्कारिक अर्थ देखिये। पौराणिकों की सारी उछल कूद का आधार उक्त मंत्र का चतुर्थ पाद ही है। परन्तु यहां पुराणकार ने अपनी सारमय व्याख्या द्वारा पौराणिकों की जात पात सम्बन्धी पोपलीला की कल्पित जड़ को पूरी तरह से हिला दिया है। पुराणकार ने उक्त मंत्र के चतुर्थपाद "पद्भ्याँ शूद्रोऽजायत्" की लाक्षणिक व्याख्या निम्न शब्दों में की है—

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्म सिद्धये। तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः॥

धर्म की सिद्धि के लिये भगवान् के पैरों से शुश्रूषा (सेवा) पैदा हुई। उसमें कुशल व्यक्ति की शूद्र संज्ञा हुई, जिसकी सेवा वृत्ति से हरि सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् के पांव से सेवा वृत्ति की उत्पत्ति बताकर तो पुराणकार ने एक प्रकार से पौराणिकों के वर्णव्यवस्था सम्बन्धी दृढ़ दुर्ग को एक दम ही भूमिसात् कर दिया है। अब ज़रा इस श्लोक की तुलना ऋषि की व्याख्या से कीजिये "पद्भ्या शूद्रो अजायत्" की व्याख्या ऋषि ने इस प्रकार से की है—'पादेन्द्रिय (स्थानीयः)........ शूद्रस्सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानोऽजायत्"। इन दोनों व्याख्याओं में कितनी अधिक समानता है, पाठक इसका स्वयं ही निर्णय

कर सकते हैं। ऋषि दयानन्द तथा पुराणकार दोनों का आशय एक ही है, कि सेवा जिसे कि आधुनिक अर्थ शास्त्र की परिभाषा में श्रम Labour कहा जाता है—विराट् पुरुष के आलङ्कारिक आधिभौतिक देह में पाद को Represent करती है। इसी सेवावृत्ति से शूद्रवर्ग Labour Class का उद्भव हुआ। पुराणकार की इन उक्त दो व्याख्याओं को देख कर अब पाठक स्वयं अपने हृदय में विचार करें कि आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द का वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त कितना प्रबल तथा पुष्ट है, कि स्वयं पुराण भी उस का हृदय से समर्थन करते हैं। क्या आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के वर्णव्यवस्था विषयक विचारों की सत्यता तथा अजेयता का यह प्रबल प्रमाण नहीं है, कि स्वयं उस के प्रतिद्वन्दियों के परम माननीय ग्रन्थ भी इस विषय में उन के साथ पूर्णरूप से सहमत हैं। क्यों पंडितजी महाराज ! आख़िर आप के परम माननीय आचार्य श्रीमद्भागवतकार को भी पुरुष सूक्त के वर्णव्यवस्था विषयक मन्त्र की वही व्याख्या करने के लिये बाधित होना पड़ा, जोकि आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द की तरफ़ से पेश की जाती है। जान बूझ कर सचाई का ख़ून करना तथा झूठ को फैलाना सरल काम नहीं, अपितु टेढ़ी खीर है। पुराणकार की इस सारमय और वैज्ञानिक व्याख्या को देखने के अनन्तर क्या अब भी आप का नशा उतरा या नहीं ? क्या आप अब भी वेदवक्ता ऋषि दयानन्द को संस्कृतानभिज्ञ तथा वेदों के परम रक्षक आर्यसमाज को केवल चन्द अंग्रेज़ी पढ़े लिखे धर्म-विमुख बाबुओं का समूह कहने की ढिठाई करेंगे ? श्री मद्भागवतकार ने अपनी इस उदार और वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जहां ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के वर्णव्यवस्था विषयक विचारों की सत्यता और उनकी अजेयता पर अपनी अटूट मुहर लगादी है, वहां पौराणिक वर्णव्यवस्था तथा जात पात के भूसे के से बने हुए नकली किले में आग लगा कर उसे पूरी तरह से भस्मसात् कर दिया है। हम भागवतकार की इस उदार और वैज्ञानिक व्याख्या की तहे दिल से तारीफ़ करते हैं तथा कम से कम इस अंश में सचाई का पक्ष लेने के लिये उसे हार्दिक बधाई देते हैं। पंडित जी महाराज ! यद्यपि भागवतकार की उत्तम व्याख्या मात्र ही आप का जन्म विषयक झूठा घमंड तोड़ने के लिये काफ़ी से अधिक है, तो भी हम आपका पीछा इतना जल्दी न छोड़ेंगे। अब तक तो हमने केवल मात्र आप ही के घर से पुरुष सूक्त के वर्ण व्यवस्था विषयक मंत्र की ऋषि तथा आर्यसमाज कृत व्याख्या की पुष्टि की है। परन्तु हम तो आपकी व्याख्या को व्याकरण, साहित्य तथा तर्क की कसौटी पर पूरी तरह से कसके उसकी निस्सारता का नग्न-चित्र सारे संसार के सामने खींच कर ही आराम लेंगे।

राजा वेन और नियोग

(श्री पं० विश्वनाथ आर्योपदेशक)

शास्त्र दृष्टि से नियोग कोई कर्तव्य-कर्म एवं आवश्यक अनुष्ठेय धर्म नहीं है। केवल एक आपद्धर्म है। महर्षि दयानन्द जी ने भी ऐसा ही प्रकट किया है, और आर्य समाज भी इसी प्रकार मानता है। अतएव इसके लिये अधिक कहने सुनने की आवश्यकता नहीं। परन्तु आर्य-समाज के विरोधिया ने नियोग को अपने आक्षेपों का एक विशेष लक्ष बनाया हुआ है। अत एव कभी २ लिखने को आवश्यकता पड़ जाती है।

शास्त्राथों में जब आर्य पण्डित नियोग विषयक प्रमाणों की भरमार करके पौराणिकों के सब मार्ग रोक देते हैं तो वह मनुस्मृति के उन प्रक्षिप्त श्लोकों का आश्रय ढूंढते हैं जिन में बताया गया है कि नियोग राजा वेन ने चलाया। यह पशु धर्म है और वर्ण संकरता को फैलाने वाला है अतएव साधुजनों ने इसकी निंदा की है। इस विषय पर 'आर्य' के किसी गताङ्क में मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्र प्रमाणों से उक्त श्लोकों को प्रक्षिप्त एवं नियोग पर किये आक्षेपों की निःसारता को विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं। इस लेख में केवल इतना ही बताना है कि पुराणादि में जहां कहीं वेन की कथा आई है, उपयुक्त कल्पना का किञ्चन्मात्र भी उल्लेख नहीं मिलता।

पुराणों के कथनानुसार राजा वेन मनु के कुल में उत्पन्न हुआ था और बड़ा पापी था। इसके राज्य में प्रजा को बड़ा कष्ट हुआ। धर्म का लोप हो गया और अधर्म बढ़ने लगा। अन्त को ऋषियों के कोप से इसका नाश हुआ और इस के शरीर को मथकर एक स्त्री पुरुष का जोड़ा निकाला गया। पुरुष का नाम पृथु, और स्त्री का नाम शतरूपा हुआ। पृथु विष्णु का अवतार था। इसने वेन के राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होकर धर्म की रक्षा की और गौ रूपिणी पृथिवी से अनेक पदार्थों को निकाला, इत्यादि। यद्यपि यह कथा असम्भव दोष युक्त है और वेन का मनु के कुल में उत्पन्न होना ही यह सिद्ध कर देता है कि मनुस्मृति में लिखे वेन सम्बन्धि श्लोक मनु भगवान का उपदेश कदापि नहीं हो सकते।

अतएव यह नियोग आपद्धर्म के तत्व को न जानने वाले किसी पुरुष के नियोग निन्दा युक्त प्रक्षिप्त श्लोक हैं। परन्तु श्रीमद्भागवत् पुराण से भी वेन राजा के सम्बन्ध में कुछ श्लोक यहां उद्धृत कर दिये जाते हैं जिन से पाठक महानुभाव यह निश्चय कर सकेंगे कि वास्तव में नियोग निन्दा परक वेन सम्बन्धि मनुस्मृति के श्लोक पीछे की मिलावट हैं:—

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजा क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरी घोषेण सर्वशः ॥ भागवत् ४—१४—६

(अर्थ, राजा वेन ने अपने राज्य में ढंडोरा पिटवा दिया कि कोई पुरुष कहीं यज्ञ न करे। दान न दे, हवन न करे। जब इस प्रकार लोगों को धर्म कर्म से निवारण किया गया तब ऋषि मुनि वेन के पास गये, और इस आज्ञा को वापिस लेने के लिये कहा। बहुत कुछ समझाया परन्तु उसने नहीं माना। प्रत्युत अपने आपको सत्य पक्ष पर समझते हुए इस प्रकार उत्तर दिया:—

बालिशा वत यूयं वो अधर्मे धर्म मानिनः।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥ २३ ॥
को यज्ञ पुरुषो नाम यत्र वो भक्ति रीदृशी।
भर्तृ स्नेह विदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥ २५ ॥
विष्णुर्विरंची गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्नि रपांपति ॥ २६ ॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभाव वर शापयोः।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्व देवमयो नृपः ॥ २७ ॥
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गत मत्सराः।
बलिं च मह्यं हरतमत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान् ॥ २८ ॥

(अर्थ) हे ऋषि मुनियो! तुम बालक हो जो अधर्म में धर्म का मान करते हो और जैसे कोई स्त्री, अपने पालन करने वाले पति को छोड़ कर जार पति की उपासना करे ऐसी ही तुम्हारी अवस्था है। २३। वह यज्ञ पुरुष कौन है जिसमें तुम्हारी इस प्रकार की भक्ति है। और यह भक्ति तुम्हारी ऐसी है जैसी पति स्नेह से रहित दुराचारिणी स्त्रिया की जार से होती हैं २५। विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वायु, यम, रवि, पर्जन्य, कुवेर, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि, समुद्र, यह और

दूसरे देवताओं की उत्पत्ति वर अथवा शाप से हुई है। और यह सब देवता राजा के शरीर में भी विद्यमान हैं क्योंकि राजा सर्व देवमय है। २७। अतएव हे ब्राह्मणो! अभिमान का त्याग करके अपने कर्मों से मेरी पूजा करो। मुझे बलि दो। मेरे बिना और कौन अग्रभुक् हो सकता है। २८।

उपर्युक्त श्लोकों को पढ़ कर यह विचार सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेन ने केवल यज्ञ, हवन और दान से लोगों को हटाया। नियोग प्रथा के चलाने का कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत उस ने ब्राह्मणों को जो यह कहा है कि तुम्हारा कर्म ऐसा है जैसे एक स्त्री अपने पति का त्याग करके जार का सेवन करती है इस से राजा वेन की दुराचार से घृणा का ही प्रमाण मिलता है ऐसी अवस्था में उस को दुराचार के रूप में नियोग की प्रथा चलाने वाला प्रकट करना अन्याय है। इस के अतिरिक्त वेन ने लोगों को जो यज्ञ, दान और हवन से रोका है यद्यपि हम भी इस को अनुचित समझते हैं, परन्तु उस ने जो हेतु उपस्थित किया है, कि देवता वर शाप से उत्पन्न हुए हैं अतएव उपास्य नहीं, पौराणिक सिद्धान्तों को मानते हुए इस का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, और नहीं भागवत में ब्राह्मण लोग दे सके हैं। इस अवस्था में जब तक पौराणिक देवता वाद का त्याग करके वैदिक सिद्धान्त का आश्रय न लिया जावे, वेन के कथन को अधर्म भी कैसे कहा जा सकता है? इन सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है, कि प्रथम तो यह कथा ही बनावटी है। यदि इस में कुछ सत्यता है भी तो नियोग के साथ इस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। और यह भी ज्ञात होता है कि मनुस्मृति में यह श्लोक बहुत निकट के समय में मिलाये गये। यदि भागवतादि पुराणों के बनने के समय यह श्लोक मनु में होते, तो वेन की कथा में इस का समावेश अवश्य कर लिया जाता। आश्चर्य तो यह है कि नियोग का वर्णन प्रायः सारे संस्कृत साहित्य में मिलता है, परन्तु राजा वेन के साथ सम्बन्ध रखने वाले नियोग के श्लोक मनुस्मृति के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखे गये। अतएव मनुस्मृति में इन श्लोकों के मिलावटी होने में कुछ भी सन्देह शेष नहीं रहता।

वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य (समालोचना)

(श्री० पं० चमूपति 'आर्य सेवक')

गतांक से आगे

जैसे 'शिपिविष्ट' शब्द के स्वकथित (प्रथम) अर्थ को औपमन्यव ने कुत्सित कहा है, "कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः...... शेप इव निर्वेष्टितः।" नि. ५. ८. ऐसे ही यास्क कृत 'जार आभगम्' का द्वितीय अर्थ भी कुत्सित और त्याज्य है। हां! यदि 'मनुष्य जारः' का अर्थ जरिता अर्थात् स्तोता हो तो और बात है। मंत्र में उपदेश है 'उदीरय पितरा भगम्' अर्थात् माता पिता को ऐश्वर्य दे, 'जार आ' जैसे सूर्य देता है। किस को? यहां भी 'पितरौ' कर्म है और उस का अर्थ है द्यावापृथिवी को। कैसी सुन्दर उपमा है? भग का अर्थ 'स्त्री-भग' केवल व्युत्पत्ति की समानता दर्शाने को किया गया है, अन्यथा वह इस मन्त्र में विवक्षित नहीं। स्त्री भगस्तथा स्याद् भजतेः। नि. ३. १६.। यहां तथा का प्रयोग यही समानता दर्शाने को है।

हम वेद में अश्लीलता स्वीकार नहीं करते - न उपमा रूप में न उपदेश-रूप में। निरुक्त ४. १ 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' का कैसा उत्तम व्याख्यान किया है कि पिता का अर्थ यहां पर्जन्य है और दुहिता का अर्थ पृथिवी। तद्यथाः—

"पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः। नि. ४. २१। इस स्थल पर दुर्गाचार्य की व्याख्या देखने योग्य है। कहता है: —"अत्र पृथिव्येव दुहितृ शब्दे-नोक्ता, सा हि द्युलोकात् 'दूरे निहिता'। अथवा सा हि द्युलोकं दोग्धीति दुहिता—सा हि द्युलोकात्पतित मुदकमुपजीवति (एवा?) दूरे निहिता दोग्धि वा।" अर्थात् यहां दुहिता का अर्थ पृथिवी ही है, क्योंकि वह द्युलोक से दूर है अथवा वह द्युलोक से पानी दोहती अर्थात् उस के आश्रय से जीती है। दूर पड़ी हुई दोहती है। श्री परमानन्द जी ने इस भाव को विस्तार पूर्वक अपने लेख में प्रकाशित किया है।

वेद में ऐसे स्थलों पर दुहिता का अर्थ 'पृथिव्येव' है। पृथिवी के द्युलोक से पैदा होने की आलङ्कारिक कल्पना गौण है। इसी प्रकार 'स्वसुर्जारः'

(३.१६) में स्वसा का मुख्य अर्थ उषा है, बहिन नहीं। चाहे साहचर्य से और रसहरण से हो या सायणानुसार 'स्वयं सरण' से हो। 'भ्राता' का अर्थ भी 'भागहर्ता' वा 'भर्तव्य' अथवा 'भरणकर्ता' मुख्य है, भाई गौण। यही अभिप्राय यास्क का नि. ४. २६ में प्रतीत होता है। दुर्गाचार्य ने भी यहां भाई की कल्पना नहीं उठाई।

निरुक्त ४. २५ में श्री चन्द्रमणि जी ने 'स्वसारा' का अर्थ किया है 'स्वकीय परिधि में घूमते हुए।' यहां बन्धुत्व का गन्ध भी नहीं। यही वृत्ति ठीक है। यदि यमयमी सूक्त में 'स्वसा' का अर्थ 'स्वयं सरतीति' मान लेते तो ठीक था।

नि० ४. २१ में 'दुहिता' का नैरुक्त अर्थ पृथिवी दे कर पं० चन्द्रमणि जी ने पारिव्राजक अर्थ माता किया है। हमें यह संगत प्रतीत होता है। जब प्रसंग गर्भाधान का है तो पिता के साथ माता का साहचर्य युक्ति युक्त है। पृथिवी के सदृश वह दुहिता होगी। इसी प्रकार भ्राता और स्वसा नियोग तथा विवाह प्रकरण में पति पत्नी ही होंगे। भाष्य का अन्य मार्ग अनुसरण करने वाले वेद में अश्लीलता घुसेड़ते हैं जिस का वहां लेश भी नहीं।

वेदार्थ दीपक भाष्य के पृष्ठ २३५ पर 'शेप' की व्याख्या करते हुए लिखा है:—'उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श विशेष महत्व रखता है'। यास्क का भाव यह है कि गुप्त इन्द्रिय मृदु होने से उस की स्पर्श की वेदना अत्यन्त उग्र होती है। अतः शेपतेः स्पृशति कर्मण. 'शेप' को सिद्धि की है। पण्डित जी हमारा अभिप्राय समझ जायंगे। अधिक विशद करने का यह विषय नहीं।

लिखने को अभी कुछ और भी बातें हैं परन्तु लेख पहिले ही इतना लंबा हो गया है कि लेखनी साग्रह विराम चाहती है। इतनी लंबी समालोचना लिखने का हमने इसलिये कष्ट उठाया है कि हम निरुक्त को वेदार्थ की कुञ्जी मानते हैं और श्री चन्द्रमणि जी का भाष्य अपने ढंग का अपूर्व भाष्य है। आर्य विद्वान् वेदांगों पर स्वतंत्र विचार करने लगे हैं, उस का यह प्रथम प्रमाण है। शताब्दी महोत्सव पर प्रकाशित हुए ग्रन्थों में से यह ग्रन्थ विद्वदुपयोगी ग्रन्थ था। उस पर केवल रैतिक सम्मति दे देना हम उस का अपमान समझते थे। निरुक्त पर आर्ष भाष्य करने के लिये श्री चन्द्रमणि से अधिक योग्य कौन होता? हम उन के प्रयत्न का स्वागत करते हैं और आर्य विद्वानों को प्रेरणा

करते हैं कि इस का अध्ययन कर लेखक के प्रयत्न को सफल करें। सर्वांश में सहमति होनी असंभव है। जहां अध्येताओं की दृष्टि से सुधार अपेक्षित है, उस की ओर अङ्गुलिनिर्देश श्री चन्द्रमणि जी का अपमान नहीं, किन्तु उन के अपने मनोरथ की पूर्ति है। इसी भाव से प्रेरित हो कर हमने यह पृष्ठ लिखे हैं।

यास्क का निरुक्त अपूर्ण है। हमारा विचार है कि इसी ढंग का एक पूर्ण निरुक्त संपादन करने की अवश्यकता है। ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य को कोषरूप देने का यही प्रयोजन है। आ० प्र० नि० सभा इसे पूरा करा देगी तो विद्वानों का उपकार होगा। जो हो, पण्डित चन्द्रमणि जी ने ठीक दिशा में पग उठाया है और उन के प्रयत्न का हम हार्दिक स्वागत करते हैं।

———

टिप्पणि—इस भाग के साथ वेदार्थ-दीपक निरुक्त-भाष्य के पूर्वार्ध की समालोचना समाप्त होती है। दूसरा भाग ग्रन्थकर्ता ने इस लिये भेजने की कृपा नहीं की कि उनके विचार में 'आर्य' में संक्षिप्त समीक्षा निकलने के पीछे, जो पुस्तक के पक्ष में थी, नई विस्तृत समालोचना नहीं निकलनी चाहिये थी, या उस में यह न लिखना चाहिये था कि पुस्तक इस समालोचना के लिये हमें दी गई यदि पुस्तक-लेखक समालोचना का अभिप्राय विज्ञापन मात्र समझते हैं तो यह उन की भूल है। उत्तरार्ध की समालोचना समयाभाव के कारण न होसके तो और बात है वह इस लिये न रुकेगी कि पुस्तक बिना मूल्य प्राप्त नहीं हुआ। समालोचना साहित्य का अंग है और ग्रन्थ-लेखकों को उस का स्वागत करना चाहिये।

मुद्रित समालोचना में कुछ अशुद्धियां रही हैं, इनमें से जिन्हें हम अधिक हानि-कर समझते हैं, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है शेष विद्वान् स्वयं सुधार लें।

मास	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
कार्त्तिक	२२	३	यह.....की	—
	,,	२३-२४	यह...होता	—
	२५	१३	inspection	instruction
मार्गशीर्ष	२०	१२	पद्यं	—
	२४	७	उदाहरण	उपहरण
माघ	३०	८	गणितज्ञों	गणनाओं
	३१	२	श्रेष्ठतम कर्म	श्रेष्ठकर्मा
चैत्र	१८	३०	देर	वेद
	२१	९	मृयते	म्रियते
	२१	८	भग	'भग'
	,,	,,	पारजायिक	'जार' का 'पारजायिक'

महर्षि दयानन्द और शिक्षा

(श्री युधिष्ठिर विद्यालंकार, आचार्य, गुरुकुल हरियाना)

वे ही मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकते हैं, जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं। हमारे शास्त्रों में अधर्म को अनर्थ, कुकाम और बन्ध का हेतु तथा धर्म्म को अर्थ, काम और मोक्ष का साधन बताया गया है, और यह भी कहा है कि जो मनुष्य धर्म को जानना चाहते हैं उनके लिये मनु जी की आज्ञानुसार वेद से बढ़कर प्रामाणिक पुस्तक कोई नहीं है। अत एव मनुष्य के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह वेदों की शिक्षा से विभूषित हो। अब हमें यह जानना चाहिये कि "वेदों की शिक्षा ग्रहण करना" इसका अर्थ क्या है ? इसके लिये पहिले हमें यह समझ लेना चाहिये कि शिक्षा किसे कहते हैं ? महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में अपने मन्तव्यों को प्रकाशित करते हुए शिक्षा का लक्षण यह किया है कि 'जिससे विद्या, सभ्यता धर्म्मात्मता आदि की बढ़ती हो और अविद्या आदि दोष छूटें उस को शिक्षा कहते हैं।"

शिक्षा दो प्रकार की होती है (१) विद्याभ्यास की शिक्षा (२) व्रताभ्यास की शिक्षा। जिस से अविद्या सम्बधी दोष छूटें और विद्या सम्बधी गुणों की वृद्धि हो उसका नाम विद्याभ्यास की शिक्षा है। और जिससे असभ्यता अधर्मात्मता अजितेन्द्रियता आदि दोष छूटें और सभ्यता धर्मात्मता जितेन्द्रियता आदि गुणों की वृद्धि हो उसे व्रताभ्यास (सदाचार) की शिक्षा कहते हैं। वेदों के अर्थों को भली भांति समझने से ही अविद्या सम्बधी दोष छूट कर विद्या सम्बधी गुणों की वृद्धि हो सकती है। और वेदों को आज्ञा के अनुसार ठीक २ आचरण करने से ही असभ्यता आदि दोष नष्ट होकर सभ्यता आदि गुणों की वृद्धि हो सकती है। इसलिये विद्याभ्यास की शिक्षा को सम्पूर्ण करने का साधन वेदों के अर्थों को भलीभांति समझना है और व्रताभ्यास की शिक्षा को सम्पूर्ण करने का साधन यह है कि वेदों की आज्ञा के अनुसार ठीक २ आचरण किया जावे।

महर्षि जी ने वेदों की शिक्षा ग्रहण करने के विषय में उपदेश देते हुए सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक वेद मन्त्र का प्रमाण

देकर एक अत्यन्त कल्याणकारक और सर्वदा स्मरण रखने योग्य सचाई को प्रकाशित किया है। वह मन्त्र निम्नलिखित है—

ओ३म् ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋग्वेद मं० १। सू० १६४। मं० ३६॥

इसका भावार्थ समझाते हुए उन्होंने लिखा है कि जो मनुष्य पाठमात्र भी नहीं जानता उसकी अपेक्षा वह अधिक श्रेष्ठ है जो वेद पाठमात्र जानता है। वेद पाठमात्र जानने वाले की अपेक्षा वेदों के अर्थों का जानने वाला श्रेष्ठतर है और अर्थों को जानने वाले की अपेक्षा वेदों की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाला अधिक गुणवान् है। और आचरण करने वालों में भी सब से उत्तम वह है जिसने वेदों को शिक्षा के द्वारा पूर्ण रूप से सुशिक्षित होकर परमात्मा का ज्ञान वा दर्शन कर लिया है।

इस विषय में मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि महर्षि जी ने सत्यार्थप्रकाश संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में वेदों की शिक्षा पूर्णरूप से ग्रहण करने की जो रीति बतलाई है वही सब से उत्तम है। हमें अपने आर्य्य शिक्षणालयों तथा गुरुकुलों में उसी को प्रचलित करना चाहिये, क्यों कि महर्षि जी ही आर्य्य जाति के सब से बड़े उद्धारक हैं, वैदिक शिक्षा के तत्व वेत्ताओं में शिरोमणि हैं और वर्तमान युग में सांगोपांग वेद के अद्वितीय विद्वान् हैं। ऐसे सुयोग्य महापुरुष की निर्दिष्ट की हुई रीति ही सब से उत्तम हो सकती है।

उन्होंने शिक्षा की जो रीति बतलाई है उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) पाठ विधि (२) व्यवहार विधि। जिस रीति से ब्रह्मचारियों को वेदों के अर्थों का ज्ञान भली भान्ति हो सकता है उसे पाठ-विधि कहते हैं। और जिस रीति से उन्हें वेदों को आज्ञा के अनुसार आचरण करने का अभ्यास हो सकता है उसे व्यवहार-विधि कहते हैं। यदि हम संस्कार विधि के वेदारम्भ-संस्कार प्रकरण को और सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय, तृतीय समुल्लास को विचार-पूर्वक पढ़ेंगे तो पता लगेगा कि इन में शिक्षा का वर्णन करते हुए केवल पाठ विधि पर ही हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया किन्तु व्यवहार विधि पर भी बहुत अधिक बल दिया है। इसका कारण यह है कि शिक्षा की पूर्णता के लिये पाठविधि और व्यवहार विधि दोनों की आवश्यकता है।

ऐसी पूर्ण शिक्षा केवल गुरुकुलों में ही हो सकती है, स्कूलों और कलेजों में कदापि नहीं। अतएव सब आर्य भाइयों को चाहिये कि जब सन्तान ८ वर्ष की हो जावे तो उन्हें स्कूलों में न भेजा करें, किन्तु लड़कों को कुमार गुरुकुलों में भेज दिया करें। और गुरुकुल के संचालकों को चाहिये कि वे अपने २ गुरुकुल में विद्याभ्यास और व्रताभ्यास दोनों प्रकार की शिक्षा उसी रीति से प्रारम्भ कर देवें जिस रीति से महर्षि जी ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित की है। इस के लिये प्रत्येक गुरुकुल में यह अनिवार्य्य नियम होना चाहिये कि जो धार्मिक विद्वान् महानुभाव ब्रह्मचारियों को वेदों के अर्थों का ज्ञान कराने के लिये वेदांग उपांग आदि की शिक्षा दें वे उनका पूर्ण कल्याण करने के भाव से प्रेरित होकर उनको अपने न्याय-पूर्ण निरीक्षण में रख कर वेद प्रतिपादित आज्ञाओं के अनुसार नित्य कर्मानुष्ठान, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, वीर्य्य रक्षा, अहिंसा, ईश्वर भक्ति, देश सेवा आदि उत्तमोत्तम व्यवहारों की शिक्षा भी अवश्य देते रहें। और उत्तम व्यवहारों की शिक्षा देने के लिये ब्रह्मचारियों का निरीक्षण करें। ये पढ़ाने का कार्य्य भी अवश्य करें। इसी रीति से ब्रह्मचारी पूर्ण विद्वान् और पूर्ण धार्मिक होकर आदर्श विद्या व्रतस्नातक बन सकते हैं।

इसी लिये महर्षि जी ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में यह आज्ञा दी है कि "जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उन से शिक्षा न दिलायें किन्तु जो पूर्ण विद्या युक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं"।

महर्षि जी की यह प्रबल इच्छा थी कि आर्य्य शिक्षणालयों वा गुरुकुलों में उन्हीं की निर्दिष्ट की हुई पाठ विधि और व्यवहार विधि प्रचलित हो। क्योंकि उन्हों ने इस विषय का वर्णन अपने बनाये बहुत से ग्रन्थों में किया है और इसी रीति से शिक्षा देने के लिये बलपूर्वक अनुरोध भी किया है (देखो स. प्र. समु. ३, संस्कार विधि वेदारम्भ प्रकरण)

प्रत्येक गुरुकुल में पाठ विधि और व्यवहार विधि ऐसी होनी चाहिये जिस के द्वारा ब्रह्मचारी अपनी उन सब प्रतिज्ञाओं का पालन कर सकें जो उन्होंने गुरुकुल में प्रविष्ट होने से पूर्व वेदारम्भ संस्कार के समय की थीं और जिन की पूर्त्ति के लिये ही वे गुरुकुल में प्रविष्ट हुए थे और साथ ही शिक्षक महानुभावों ने जो प्रतिज्ञाएं की थीं उनका भी परिपालन हो सके। इस के लिए महर्षि निर्दिष्ट पाठ विधि और व्यवहार विधि ही ऐसी सर्वांग सम्पूर्ण है जिस के द्वारा उन सब प्रतिज्ञाओं का पालन हो सकता है जो उस समय ब्रह्मचारियों और शिक्षक महानुभावों ने की थीं।

उक्त पाठ विधि का संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है:—

पहले ब्रह्मचारी शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन पांच वेदांगों को क्रम से पढ़े। फिर पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग सांख्य, – इन पांच उपांगों को क्रमशः पढ़ कर ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेयय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक—इन दश उपनिषदों का अध्ययन करके वेदान्त दर्शन पढ़े (पूर्व मीमांसा आदि छः उपांग व छः दर्शन कल्प नामक वेदांग के अन्तर्गत हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम भी कल्प है) तदनन्तर ऐतरेय ब्राह्मण सहित ऋग्वेद का, शतपथ ब्राह्मण सहित यजुर्वेद का साम ब्राह्मण सहित साम वेद का और गोपथ ब्राह्मण सहित अथर्ववेद का क्रम पूर्वक अध्ययन करें। और तत् पश्चात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद (शिल्प शास्त्र) की शिक्षा को क्रमशः ग्रहण करें। साथ ही उन्हों ने यह भी बतलाया है कि इन सब ग्रन्थों को ऋषिकृत व्याख्याओं की सहायता से ही पढ़ना उचित है और अनार्ष ग्रंथों को सर्वथा परित्याज्य वा जाल ग्रन्थ समझ कर उनका अध्ययन वा अध्यापन कदापि न करना चाहिये, क्योंकि ऋषि बड़े विद्वान् सब शास्त्रों को जानने वाले और धर्म्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिन का आत्मा पक्षपात सहित है उन के बनाये ग्रन्थ भी वैसे ही हैं। इस प्रकार से महर्षि निर्दिष्ट पाठ विधि पढ़ कर ब्रह्मचारी वेदों के अर्थों को भली भान्ति समझ सकते हैं और आदर्श विद्या स्नातक बन सकते हैं।

वेदारम्भ संस्कार के समय ब्रह्मचारी पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि विषयक उपदेश सुन कर हाथ जोड़ प्रतिज्ञा करता है कि "जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूंगा"। संस्कार विधि के वेदारम्भ प्रकरण और सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में आचार्य्य महोदय उन सब उत्तम व्यवहारों की नियम पूर्वक शिक्षा देते हैं जिन के द्वारा ब्रह्मचारी अपनी वह प्रतिज्ञा पालन कर सकता है। इस प्रकार से महर्षि प्रतिपादित व्यवहार विधि के द्वारा सुशिक्षित हो कर ब्रह्मचारी वेदों की आज्ञा के अनुसार ठीक २ आचरण कर सकते हैं और आदर्श व्रत स्नातक बन सकते हैं।

अत एव सब आर्य भाईयों को यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि हम महर्षि दयानन्द जी की बतलाई हुई पाठ विधि और व्यवहार विधि के द्वारा ही अपनी सन्तान को वेदों की सर्वांग-सम्पूर्ण शिक्षा से विभूषित कर सकते हैं और ऐसा निश्चय करके हमें अपने आर्य शिक्षणालयों और गुरुकुलों में यही आदर्श पाठ विधि और आदर्श व्यवहार विधि प्रचलित करनी चाहिये।

बुद्धि की छुरी।
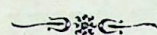
(श्री दर्शक)

(१)

महाशय अमीरचन्द एकौंटेंट जेनरल के हेडक्लर्क हैं। पुराने कर्मचारी हैं। आफ़्रिका में उस समय आए जब अभी यह काला महादेश dark continent बसना आरम्भ हुआ था। इन का मान है, आदर है। यूरोपियन अफ़सर इन्हें विश्वास की दृष्टि से देखते हैं। एकौंटेंट जेनरल का नाम ही नाम है। हस्ताक्षर वह करता है, और इसी कष्ट के मूल्य रूप में वेतन भी उसे मिलता है। परन्तु एकौंट विभाग का भला बुरा, काला चिट्टा सब अमीरचन्द के हाथ में है। जनता भी इन की आयु, अनुभव, शील, दान इत्यादि गुणों पर मोहित है।

इण्डिया से एक नवयुवक आया। नाम था राम। उस ने मैट्रिक्यूलेशन पास किया है। कालेज में भर्ती हुआ परन्तु रुग्ण होकर लौट आया। अब दफ़्तर में लेखक होना चाहता है। लड़का होनहार है। अमीरचन्द की दृष्टि में जच चुका है। वह उसे पहिले ही वह वेतन और पदवी देना चाहते हैं जो साधारणतया वर्ष दो वर्ष के सेवक को मिलती है।

अमीरचन्द—बेटा! तुम्हारा प्रार्थना-पत्र ठीक है। इस में एक पंक्ति और बढ़ा दो। लिख दो एंट्रेंस करने के पीछे मैं इण्डिया में वर्ष भर अस्थायी लेखक रहा हूं और गणक-परीक्षा भी पास की है।

राम—श्रीमन्! इस के लिये तो प्रमाणपत्र चाहिये।

अमीर—प्रमाणित मैं कर दूंगा। (कुछ सोच कर) अच्छा! 'परीक्षा पास की है' न लिखो, 'कार्य जानता हूं' लिख दो।

राम—है तो यह भी असत्य।

अमीर - तुम्हें संसार का अनुभव नहीं। यह दो चार शब्द लिख देने से दुगना वेतन मिल जायगा। आरम्भ उत्कृष्ट हो तो आगे सारा जीवन उत्कृष्ट रहता है।

इतने में इसी प्रयोजन का प्रार्थना-पत्र टाइप कराया जा चुका था। राम को

हस्ताक्षर के लिये कहा गया परन्तु उस ने थोड़ी देर सोच कर इनकार ही कर दिया। म. अमीरचन्द मुस्कराए और चुप रहे।

(२)

राम को एकौंट आफ़िस में स्थान मिल गया परन्तु उस का हृदय एक ही दो वर्ष में वहां के कार्य से ऊब गया। म. अमीरचन्द ने उसे समझाने का यत्न किया परन्तु वह सीधे (असत्य के) रास्ते पर न आया। उस के नियम-प्रेम के लिये म. अमीरचन्द के हृदय में आदर था परन्तु कार्यालय के व्यापार में उस पर विश्वास न किया जा सकता था। वह किसी से कहता कुछ न था तो भी एक कुढ़ने वाला साथी रोज़ की आफ़त है। पैंतालीस वर्ष के बूढ़े को पचीस वर्ष का युवक धर्म का उपदेश सुनाया करे— यह प्रथा कहां तक चल सकती थी। राम ने अन्त को मौन साध लिया। दोनों एक दूसरे को नमस्ते २ कहते और प्रतीत यह होता कि अब दोनों के बीच में मर्यादा की दीवार है। एक दिन राम ने त्याग-पत्र दे दिया। अमीरचन्द की आंखों में आंसू आगए। हृदय राम से प्रेम करता था परन्तु मस्तिष्क त्यागपत्र की प्रतीक्षा में था कुछ दिन ननुनच हुआ पर जीत मस्तिष्क की हुई।

अमीरचन्द—अपने निर्वाह का कुछ प्रबन्ध भी किया है ? त्याग-पत्र तो आज कल स्वीकार हुआ समझो। आगे क्या करने की ठानी है ?

राम—परमात्मा पालक हैं। दांत दिये हैं तो अन्न भी देंगे।

अमीरचन्द—यह उपदेशकों की बातें हैं। वेदि पर से शोभा देती हैं। संसार में रत्ती भर भी लागू नहीं।

राम—कल तो यह भजन गाते २ आप ने मेज़ तोड़ दिया था।

अमीर—तोड़ा था, बनाया तो नहीं। अनुभव की कमी है।

राम अब तक मुस्करा रहा था, झट गम्भीर होगया। चुपके से उठा और अपने घर एकान्त में जा बैठा।

(३)

दो महीने के पीछे पता लगा कि राम युगांडे जाता है। वहां जनवरी से मार्च तक कपास का मौसम होता है। शासक वर्ग की ओर से तिथि नियत कर दी जाती है फिर कृषकों का तांता बँध जाता है जंगल के बीचों बीच स्टोर बने रहते हैं। वहां नीग्रो आते हैं और अपने कपास के गट्ठे तोल २ कर देते जाते हैं।

मूल्य नक़द मिलता है। दिन रात यह कार्य चलता है।

राम ने सुना था, व्यापार नौकरी से उत्कृष्ट है। इस में किसी की अधीनता नहीं। सन्तोष से कार्य किया जाए तो सदाचार-पूर्वक निर्वाह भी किया जा सकता है। यही लक्ष्य रख कर वह नवम्बर मास में युगांडा पहुंच गया था। धनेश्वर शर्मा गुजरात के एक बड़े सेठ थे। धर्मात्मा प्रसिद्ध थे। स्थानीय हिन्दू सभा के प्रमुख थे। राम ने सीधा उन के घर का रास्ता लिया। महा० अमीरचन्द के पत्र ने अपरिचय में परिचय का रास्ता पैदा कर दिया था। उस रास्ते पर सफलता-पूर्वक चल खड़ा होना राम के अपने आचरण पर निर्भर था। थोड़े दिनों में यह सेठ जी का भी प्रेम—पात्र बन गया। उन्हों ने ऋतु आरंभ होते ही एक स्टोर का आधिपत्य इसे दे दिया। ऋतु अनुकूल थी। उपज अधिक हुई थी। राम का स्टोर ऐसे स्थान पर था जहां से चारों ओर मीलों तक और स्टोर न था। महीना भर में इन के पास इतनी कपास हो गई कि तीन महीने में भी और किसी स्टोर में न हो सकती थी।

एक दिन सेठ जी स्टोरों का दौरा करते राम के स्टोर पर जा निकले। राम को कार्य से अवकाश न था। सेवकों द्वारा सेठ जी की शुश्रूषा कराई गई। सेठ जी ने राम को कार्य करता देखने की इच्छा प्रकट की। कोई आधा घण्टा उस के पास बैठे रहे।

रात के बारह बजे राम कपास के क्रय-कार्य से निवृत्त हुआ और सोने के लिये आया तो सेठ जी को जागता पाया। राम ने उन्हें प्रणाम किया और विश्राम लेने को कहा। सेठ जी चिन्तित प्रतीत होते थे।

सेठ जी—राम! इस तरह कार्य न चलेगा।

राम विस्मित रह गया। उसे अभिमान था कि उस ने दिन रात एक करके इतनी कपास इकट्ठी की है जो सेठ जी के सारे जीवन में एक बार कभी न हुई होगी। समझा स्यात् कार्य की अति से रोकना चाहते हैं।

राम—महाराज! यही तो काम के दिन हैं। फिर आराम ही आराम है।

सेठ—इसी प्रकार मैं भी लहू पसीना एक किया करता था तब जाके इतना धन संचित हुआ है। परन्तु परिश्रम के साथ गुर भी तो चाहिये।

राम—वह क्या? महाराज!

सेठ—नीग्रोओं को पूरा मूल्य नहीं दिया करते। सौ शिलिंग देते हुए दस अपनी मुट्ठी में रख लिया करते हैं। इन्हें गिनना थोड़ा आता है? और आप भी तो इस रेलपेल में यह गिन सकते भी कहां हैं? जितनी कपास तुम ने ख़रीदी है, यदि समझदार होते तो दो और मास में एक लाख शिलिंग का लाभ भला कोई बड़ी बात थी? पचास हज़ार हमें मिल जाता, पचास हज़ार के तुम मालिक होते। अगले वर्ष तुम छोटे सेठ होते, हम बड़े।

राम—(मुख नीचा किये हुए) यह न्याय तो नहीं। गरीब का गला काटना क्रूर हिंसा है।

सेठ—आज राज्य ही हिंसा का है। क्या यह गोरे न्याय कर रहे हैं जो इस सारे देश को ही दबोचे बैठे हैं? किन की भूमि है, कौन मालिक है। ढकोसला यह है कि हम इन के रक्षक हैं।

राम—हिन्दी इस नीति का विरोध करते हैं।

सेठ—इस लिये कि यह नीति गोरों की हैं। हमने कभी अपने आप को काले लोगों का रक्षक नहीं कहा। हम तो केवल इन का पक्ष लेते हैं। संरक्षक होने की मज़दूरी है देश का राज्य। पक्ष लेने की मज़दूरी सौ शिलिंग की जगह नव्वे शिलिंग देना मात्र। यह राजनीति के सूत्र हैं जो तुम्हारी समझ में नहीं आ सकते। अभी दो मास और शेष हैं, इनमें घाटा पूरा कर सकते हो। इन दो मासों के लिये कृपया यह न्याय-वृत्ति छोड़ देना। न्याय की दुहाई के लिये नौ मास कुछ कम समय नहीं। हमारा व्यापार का अनुभव है, मुफ्त में सेठ नहीं हुए।

दूसरे दिन राम ने परीक्षार्थ सेठजी के गुर बर्त देखना चाहा। एक नीग्रो से पूरी कपास लेकर १०० की जगह ९० शिलिंग उस की हथेली पर धरे। नीग्रो दो ही चार पग आगे गया था कि राम की दृष्टि उस के नंगे काले भोले अपढ़ शरीर के साथ २ गई। उसे दया आई कि इस पशु सदृश सरल भिखारी का माल रख लेना कौन मनुष्यता है? आंखें आंसुओं से डबडबा गईं। पूर्व इस के कि नए विक्रेता के माल को हाथ लगाता उस ने जाते हुए लंगूर को बुलाया। उसे १० शिलिंग और दिये। देखने वाले दंग रह गए। उन्हों ने यह सद्व्यवहार आज तक न देखा था। दांव पेच को न समझते थे। न उस का प्रतीकार ही उन के हाथ में था। इतना ज्ञान था कि ठगी होती है, हम ठगे जाने को और स्टोर वाले ठगने को बने हैं। आज सब के हृदय गद्गद हो कर नाच उठे।

राम सारे मौसम में ६००० शिलिंग से अधिक लाभ न दिखा सका। इस में से ३००० इसे मिला और शेष सेठ जी के घर गया। यह कमाई तीन मास की नहीं, वर्ष भर की समझनी चाहिये क्योंकि युगांडा में ३ मास कमाने के और ९ खाने के होते हैं।

राम इतने में सन्तुष्ट था परन्तु सेठ के कलेजे पर सांप लोट गया। सेठ जी का हृदय इस से प्यार करता था परन्तु मस्तिष्क नौकरी से जवाब दे रहा था। राम ने तेवर ताड़ लिये और चल खड़ा हुआ।

(४)

राम अब देश-सुधारकों में भर्ती हुआ। इंडियन एसोसियेशन शिथिल अवस्था में थी। उस का मन्त्री हो गया। गांव २ में यात्रा आरम्भ की और काली और भूरी जातियों के दुखड़ों पर वक्तृताएं देने लगा। राम बहुत विद्वान् न था। उस की वक्तृता उस के दिमाग से नहीं, दिल से निकलती थी। एक दिन कंपाले में लेक्चर किया जिस का विषय था 'काली चमड़ी'। जब टांगानीका के कोड़ों, केनिया के कपांडे, युगांडा के सिफ़िलिस का वर्णन किया, श्रोताओं को आठ २ आंसू रुलाया। नीग्रोओं की पुरानी सभ्यता का, उन के नष्ट हुए विज्ञान का, उन की पुरातन शासन-प्रणाली का स्वयं पाश्चात्यों के प्रमाण से वर्णन किया। वर्तमान गिरावट का उत्तरदाता वर्तमान राज्य की लोलुपता को निश्चित किया। शोर उठा 'काली चमड़ी की जय'। राम को सुहैली भाषा आती थी। बीच २ में उस का प्रयोग भी किया था। श्याम वर्ण लोग फड़क उठे। उन्हों ने टोपियां उछालीं, उछले, कूदे।

इधर व्याख्यान समाप्त हुआ, उधर राम को हथकड़ी लग गई। ६ मास का कारावास हुआ।

यही दिन भारत में असहयोग-आन्दोलन के थे। उसकी छाया आफ्रिका में भी पड़ी थी। कितने खादी-भाण्डार खुल चुके थे। नेटिवों को कातना सिखाया गया था। कपास की भूमि में इस आन्दोलन की सफलता में सन्देह ही क्या था? गवर्नमेंट ने आज्ञा दे दी कि कपास का रोकने वाला अपराधी होगा। मेडिकल विभाग की ओर से घोषणा हुई कि कपास के इकट्ठे पड़े रहने से महामारी आती है। स्वास्थ्य रक्षा के लिये आवश्यक होगा कि कपास का निर्यात चालू रहे। वह बात न हो सकी जो नेता लोग चाहते थे। तोभी कई स्टोर एसोसियेशन की

ओर से स्थापित हुए। उनसे खादी बुनी गई। धन आया और आन्दोलन तीव्र हुआ। कितने गएय मान्य लोग जेलों में ठोंसे गये।

अब राम अकेला न था। पकड़े हुए नेताओं ने जेल में ही एक संघ बना लिया था। मौज से रहते थे। कारावास क्या था, तीर्थयात्रा ही तो थी।

राम कलेजा थाम कर रह गया, जब उसे पता लगा कि एसोसियेशन के स्टोरों में भी वही शिलिंगों की काट रहा करती थी जो दूसरे व्यापारियों में। खादी भाण्डारों की आर्थिक समृद्धि का कारण नीग्रोओं का परिश्रम ही नहीं, अपितु उनका अज्ञात त्याग—धन से उपराम—भीथा। उन्हें पूरी कमाई न देकर कुछ हिस्सा भण्डार के लिये रख लिया जाता था। प्रबन्धक लोगों का निर्वाह न हो सकता यदि नीग्रोओं की जेबें काट कर उनका घर पूरा न किया जाता।

राम कांप गया जब उसके एक राजनैतिक सहकारी ने उसे उत्तर देते हुए कहा कि आफ्रिकनों का जीवन का ढंग सस्ता है, इस से थोड़ा सा रुपया कम पाने से उनकी कुछ हानि नहीं होती। क्या यह वही युक्ति नहीं कि भारतीयों का स्टैंडर्ड ओफ लिविंग Standard of Living (जीवन-निर्वाह का आदर्श) छोटा है, इसलिये इन्हें कम वेतन मिलना चाहिये। सहसा उसके मुख से निकला:- हम कहां गोरों से अधिक दयालु हैं। दोष रंग का नहीं, मनुष्यता का है। बड़ा पशु छोटे पशु को मारता है तो अधिक बुद्धिशाली कम बुद्धिशाली का चुपके से ख़ून चूसता है। इसकी छुरी लोहे को नहीं, इसके नख हड्डी के नहीं, बुद्धि के हैं, अनुभव के हैं। स्वराज्य ढोंग है, न्याय छल है, समानता स्वांग मात्र है।

राम को कई रातें उनींदा रहा। जब अपने राजनैतिक कैदी भाइयों को देखता, उसकी आंखों में खून आता। उसे देख सब सहम जाते और बात करने का साहस न कर सकते।

(५)

राम जेल से निकलते ही नीग्रोओं में चला गया। उन्हीं का खाना खाता, उन्हीं का पहरावा पहिनता। कपास का मौसम आया और इसने भी कृषि की। उन्हीं के साथ पंक्ति बांध स्टोर के द्वार पर खड़ा होता। अपना गट्ठा उतारता, सौ के नौवे शिलिंग लेता और पीठ पीछे से धकेला जाकर आगे जा खड़ा होता।

इस जीवन में राम को पहिले तो कष्ट अनुभव होता रहा। नंगा रहने से लजाता। क्षितिज उपज खाकर रोगी हो जाता। पांव में छाले पड़े रहते। सिर में पीड़ा उठती। परन्तु ज्यों २ समय बीतता गया, राम को इस बनेले जीवन का अभ्यास होता गया। उसे गोरों और भूरों द्वारा नित्यं प्रति प्राप्त होने वाला अपमान अत्यन्त असह्य था। किसी २ समय हृदय से कठोर वेदना उठती कि मैं मनुष्य होकर पशुओं की भान्ति लताड़ा जा रहा हूँ। यदि यह विचार शान्त न करता कि मैं लीला ही तो कर रहा हूं, नीग्रो नहीं, परन्तु नीग्रोओं का नाटक करता हूं, तो कभी का यह जीवन त्याग देता। वास्तव में भारतीय रहना उसे पसन्द न था। वह या तो गोरा होकर मनुष्य के पूर्ण अधिकार मांगना चाहता था या काला होकर पशु सदृश पूर्ण अत्याचार उठाने का इच्छुक था। पूर्वोक्त स्थिति अप्राप्य थी, शेषोक्त में प्रयास था परन्तु असंभावना न थी। त्रिशंकु की तरह बीच में लटकना अपनी ही दृष्टि में उपहास का पात्र रहना था।

कपास का मौसम समाप्त हुआ और राम नीग्रोओं में मिला हुआ उन्हें शिक्षित करने का यत्न करने लगा। उनके साथ खेलता, नाचता, गाता, कूदता, बातों २ में एक दो गिनना सिखलाता। उन्हीं की भाषा में उन्हें रोचक साहित्य का रसिक बनाने लगा।

इस समय राम ने एक पाठशाला खोल रखी है जो वर्ष में तीन मास बन्द रहती है और शेष नौ महीने किसी दिन किसी समय और किसी दिन किसी समय लग जाती है। उसके कार्य-क्रम में खेल कूद, गाना बजाना, पढ़ना लिखना इत्यादि विषय हैं। छात्रों का न पहरावा बदला न भोजन। राम जङ्गलियों में जङ्गली हो गया है। उसने संसार का रहा सहा अनुभव खो दिया है। पूछो, तेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? कभी कहता है, 'अनुभव का नाश करता हूं' और कभी 'बुद्धि की छुरी को कुण्ठित'।

परलोक क्या है ?

(श्री० केशव देव 'ज्ञानी' सिद्धान्तालङ्कार, मद्रास)

संस्कृत के "मृत्यु" और "मर्त्य" शब्द एक ही धातु से बने हैं। हमारे पूर्वजों को मौत से शायद इतना भय न होता था, जितना कि आज कल हमें। मौत का नाम लिया नहीं कि घर की बूढ़ी स्त्रियें आंखें फाड़ कर हमारी तरफ़ देखने लगती हैं, मानो उन्होंने न मरने का ठेका ही ले लिया है। परन्तु हमारे पूर्व पुरुषों को "मरण शरीर धारियों का सहज स्वभाव प्रतीत होता था, और जीवन एक विकृति या अस्वाभाविक-कार्य"

शायद इसी लिये हमारे इस 'भू-लोक' को मर्त्य लोक के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि यहां पर मर्त्यों या मनुष्यों का निवास है। वेद में आत्मा को 'अमृत' शब्द से कहा है। तब प्रश्न होता है कि 'अमृत' का 'मृत्यु' से क्या सम्बन्ध ?

*　　*　　*　　*　　*

साधारणतया यह समझा जाता है कि पश्चिमीय विद्वान् (विशेषतया वैज्ञानिक) सब नास्तिक हैं। न तो वे किसी परमात्मा की हस्ती में विश्वास करते हैं और न जीवात्मा की! उनके लिये यह शरीर भौतिक-तत्त्व—जिसे वे Matter या Energy कहते हैं—का बना है। और इसी के स्थूल भाग को 'देह' और सूक्ष्म को क्रमशः मन, बुद्धि और चैतन्य कहते हैं। परन्तु अभी उस दिन हम एक प्रसिद्ध पश्चिमीय वैज्ञानिक की लिखी पुस्तक पढ़ रहे थे, जिसका शीर्षक है "What do we know about the Beyond"। उसमें एक स्थान पर लेखक लिखता है कि

Long observation has shown clearly that there exists in us something unknown, which has been systematically denied up to the present in all scientific theories, and that this something survives the disintegration of our earthly bodies and the transformation of our material molecules, which, by the way, from a purely scientific view, are also indestructible. Wheather we call it a principle, element, pychic-atom, action or spirit, there is no denying that, this unknown something really exists."

अर्थात्, चिरकाल के निरीक्षण से पता चलता है कि हमारे अन्दर कोई ऐसी चीज़ मौजूद है, जिस का अब तक वैज्ञानिक लोग निषेध करते आए हैं, परन्तु जो इस शारीरिक परमाणुओं के जुदा हो जाने पर भी वर्त्तमान रहती है, और जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से 'अमर' है। चाहे हम इसे 'नियम,' 'तत्त्व' या 'जीवात्मा' कहें परन्तु इस बात से निषेध नहीं हो सकता कि कोई ऐसी चीज़ है अवश्य"।

* * * * *

बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा जनक के ऋषि याज्ञवल्क्य से यह पूछने पर कि "किं ज्योतिरयं पुरुष इति ?" ऋषि क्रमशः उत्तर देता है" आदित्यः चन्द्रमा—अग्निः - वाक्—आत्मा एव अस्य ज्योतिः सम्राट्! आत्मा एव अयं आस्ते, पल्पयते, कर्म कुरुते, विपल्येति इति "

फिर आगे चल कर उसी आत्म-स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यही विज्ञानमय आत्मा प्राणों में, हृदय में और अन्तरिन्द्रियों में विद्यमान है। और यह आत्मा ही समान रूप से दोनों लोकों में संचरण करता है। वह जिस समय स्वप्नावस्था में क्रीड़ा करता हुआ मनुष्य-देह को प्राप्त करता है सब विषयों से सम्बद्ध हो जाता है। और फिर जब शरीर छोड़ने पर मृत्यु के बाद विषय-पाप से मुक्त होता है, तब फिर अपने वास्तविक 'अमृत' स्वरूप का भान करने लगता है।"

इस प्रकार "तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोक स्थानं च"। उस पुरुष के दो ही रहने के स्थान हैं; एक यह 'मर्त्यलोक' और दूसरा 'परलोक' या 'देव-लोक'।

इसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थान पर कहा है कि "अथ त्रयो वाव लोका मनुष्य लोकः, पितृलोको, देवलोक इति" अर्थात् यहां तीन लोक हैं। १म मनुष्य लोक, २य पितृलोक और ३य देवलोक। इसी के १म अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में ४ लोक कहे हैं; मनुष्यलोक, पितृलोक, ऋषिलोक और देवलोक।

एक और स्थान पर अर्थात् बृ० उ० के ४र्थ अध्याय के ३य ब्राह्मण में ७ लोक गिनाए हैंः—मनुष्य-पितृ-गन्धर्व-कर्मदेव-आजानदेव-प्रजापति और ब्रह्मलोक।

* * * * *

अब प्रश्न यह होता है कि ये 'पितर,' 'गन्धर्व' 'प्रजापति' आदि कौन हैं ? इन शब्दों के अनेक धात्वर्थ किये जा सकते हैं। आर्य समाज का भी इनके

विषय में अपना एक मत है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हम स्वयं कोई अर्थ न घड़ कर शास्त्र के प्रमाणों से देखेंगे कि वहां ये शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। सबसे पहिले मनुस्मृति के सृष्ट्युत्पत्ति विषयक १म अध्याय में आता है:—

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देव निकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥
यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतो दतः ॥ ३९ ॥

अर्थात् ब्रह्मा से विराट्, विराट् से मनु, मनु से दश प्रजापति, और उनसे सात और मनु, और फिर देव, देवनिकाय, महर्षि, यक्ष रक्ष, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, पितर, किन्नर, और मनुष्य आदि उत्पन्न हुए यहां 'मनुष्यों' की उत्पत्ति देव, पितर आदियों से स्पष्टतया भिन्न है।

इसी प्रकार गीता के विश्व रूप दर्शन योग नामक अध्याय में अर्जुन 'अद्भुत रूप' का वर्णन नीचे के श्लोकों में करता है—

अमी हि त्वा सुरसङ्घा विशन्ति, केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्धसंघाः, स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभि ॥ २१
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः, विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्व यक्षासुर सिद्धसङ्घाः वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥ इत्यादि

इस प्रकार यहां पर भी सुर, महर्षि, सिद्ध, साध्य, उष्मपा, गन्धर्व, यक्ष, और असुर आदि कोई मनुष्य से पृथक् जीवित प्राणी प्रतीत होते हैं।

फिर मुण्डकोपनिषद् के २य मुण्डक में 'अक्षर' स्वरूप परमात्मा से सृष्ट्युत्पत्ति का प्रकार बतलाते हुए ऋषि लिखता है:—

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः, साध्या मनुष्या पशवो वयांसि। इत्यादि

यहां भी 'देव' और 'साध्य' मनुष्य और पशुओं की तरह भिन्न २ योनियां प्रतीत होती हैं।

* * * * *

अभी उस दिन हम प्रसिद्ध अंग्रेज़ वैज्ञानिक सर आलिवर लाज का

एक लेख पढ़ रहे थे जिस में से नीचे लिखे वाक्य पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिये यहां उद्धृत करते हैं:—

'संसार में सर्वव्यापी विकास हो रहा है, यह वैज्ञानिकों का अटूट सिद्धान्त है। जिस प्रकार मूल तत्त्वों से खनिज पदार्थ, खनिजों से वनस्पति आदि, और उस से पक्षी, पशु और मनुष्य हुए हैं, उसी प्रकार मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य से ऊपर भी कई योनियां हैं, जिन में चेतनता, इच्छा और गति अधिक सूक्ष्म और उन्नत स्वरूप में पाई जाती हैं।"

इस प्रकार साधारणतया यह कल्पना की जा सकती है कि मनुस्मृति इत्यादि में वर्णित 'देव' पितर' और 'साध्य' आदि मनुष्यातिरिक्त कोई सूक्ष्म—सशरीर या अशरीर योनियां हैं जिन के रहने के स्थान 'देवलोक' 'पितृलोक' इत्यादि कहे गये हैं।

* * * * *

जिस समय हम ऊपर के वाक्य लिख रहे हैं हमें भय हो रहा है कि कई हमारे आर्य समाजी भाई दिल ही दिल में कहेंगे कि यह लो फिर वही सनातनी विचार 'प्रेतों और पितरों' के। परन्तु हमें इसमें कोई सनातनीपना या अन्ध विश्वास नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह कोई असम्भव नहीं कि जिस समय मनुष्य यह स्थूल शरीर या अन्नमय--कोष छोड़ता है, और जिसे हम बोल चाल में 'मृत्यु' कहते हैं, उसके बाद उसका सूक्ष्म--शरीर या शेष के चार प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष उसके साथ रहते हैं, और ज्यों २ वह इन्हें भी छोड़ता जाता है उसे क्रमशः 'पितर' 'गन्धर्व' 'देव' और 'ब्रह्म' योनियां प्राप्त होती हों।

यहां हम स्पष्ट कह दें कि आख़िरकार यह सब विचार, परलोक सम्बन्धी हमारी और अन्यों की कल्पना मात्र है, क्योंकि निश्चय से तो वह कहे जिसने स्वयं वहां जाकर देखा हो। और विचित्रता यह है कि जब हम वहां जाते हैं तो हमारी ज़बान नहीं होती, और जब तक यहां रहते हैं तो वहां का अनुभव नहीं।

* * * * *

अन्त में "मृत्यु" पर लिखते हुए हम बाबू पीयूश कान्ति घोष के 'आल-इण्डिया-स्पिरिच्युलिस्टिक-कान्फ्रैन्स' में पढ़े हुए सभापति के भाषण से निम्न के २ वाक्य उद्धृत करते हैं:—

"Death, so-called, is just as natural as birth and is simply a transition to another plane and somewhat changed mode of existence. That plane is as really a tangible place with as real and tangible mode and means of living, as in this earth."

मृत्यु उतनी ही स्वाभाविक है जितना जन्म। और इसमें केवल एक क्षेत्र (सतह) से दूसरे क्षेत्र या लोक में परिवर्त्तन हो जाता है। और वह "परलोक" भी उतना ही वास्तविक और स्थायी है जितना कि यह "भू लोक"

इस लिये हमें चाहिये कि हम मृत्यु की चिन्ता और भय छोड़ कर 'आत्म सुधार' और 'आत्म-उन्नति' के मार्ग पर लगातार क़दम बढ़ाते चलें, ताकि अन्त समय में जब हमें 'क्रतो स्मर, कृतं स्मर' का पाठ सुनाया जाय, हमें दुःख न हो कि "ओह! हमने सारी आयु व्यर्थ में गंवा दी"। मृत्यु एक दिन आएगी और अवश्य आएगी। और उससे बचने (मुक्त होने) का उपाय यही है कि हम उसके लिये पहिले से तैयार रहें।

ऋषि के प्रति

(ले०—'दयामय' शास्त्री, विद्यालङ्कार)

ऋषि दयानन्द १९ वीं सदी के महा पुरुषों में अद्वितीय है। वह विभिन्न गुणों का पुतला है। यदि धर्म के प्रेमी उसे वैदिक धर्म की साक्षात् मूर्ति समझते हैं, यदि आर्य संस्कृति के पक्षपाती उसे आर्य संस्कृति की चरम सीमा पर पाते हैं तो राष्ट्रीयता के पुजारी उसे राष्ट्रीय दृष्टि से देख सकते हैं। वह एक का नहीं, सब का है। जिस कसौटी से भी परखिये सोने के समान वह सच्चा साबित होगा।

* * * * * *

ऋषि अद्वितीय तपस्वी थे किसी सुधारक के लिये ज्ञानी के साथ तपस्वी होना ज़रूरी है। बिना तप के ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान रहित तपस्वी तप रहित ज्ञानी से अच्छा है। लेकिन जहां ज्ञान और तप का मेल हो वहां सोने में सुगन्ध है।

ऋषि इस सत्य को पहिचानते थे। भीष्म के समान वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। भगवान् बुद्ध के समान कार्य क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व उन्होंने कठिन तप किया। तपस्वी का तप व्यर्थ नहीं जाता। ऋषि का प्रयत्न सफल हुआ। उनकी सफलता का श्रेय उनकी तपस्या में है।

* * * * * *

सम्पन्नता नम्रता का कारण है। फल फूल वाला पेड़ झुक जाता है, आधा भरा घड़ा शब्द करता है, पूर्ण घट नहीं। इसी तरह ज्ञानी लोग स्वभावतः नम्र होते हैं। वे अपनी भूल को मानते और अल्पज्ञता को स्वीकार करते हैं। ऋषि का यही हाल था। वह अपने समय का अद्वितीय विद्वान् और वेद वेत्ता था। काशी में एक भाषण में उनसे अशुद्ध प्रयोग हो गया जिसे एक बालक के सुझाने पर स्वामी ने उसे स्वीकार कर लिया। उपनिषद् ने ऐसे ही लोगों के लिये "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" का प्रयोग किया है। ऋषि के विषय में यह श्रुति पूर्णतया चरितार्थ है।

* * * * * *

यथा नाम तथा गुण की कहावत को चरितार्थ देखना हो तो ऋषि के नाम में देखिये। ऋषि को पान में विष दिया जाता है। स्वयं इलाके का शासक अपराधी को लाता है और उत्सुकता से दण्ड की आज्ञा चाहता है। ऋषि कहते हैं "मैं संसार को कैद कराने नहीं, कैद से छुड़ाने आया हूं।" अपराधी, शासक तथा दर्शक ऋषि की उदारता पर चकित हो जाते हैं, उन्हें ऋषि की महत्ता का बोध होता है। ऋषि को द्वेष छू न गया था। वे दया में भी आनन्द मानते थे अतः दयानन्द कहलाये। दयानन्द ! तुम धन्य थे; धन्य था तुम्हारा नाम और धन्य हुआ तुम्हारा काम।

* * * * * *

ऋषि का सत्य-प्रेम आदर्श था। वे वैदिक धर्म को सत्य मानते थे, अतः उन्होंने कुरानी, किरानी, जैन आदि का खण्डन किया। इस खण्डन में किसी के प्रति द्वेष उनका कारण न था अपितु सत्य ग्रहण के लिये निष्ठा ही इसका कारण थी। ऋषि की सत्यनिष्ठा को सर्वोपरि सबने माना। यही कारण है कि सारी जनता ऋषि को प्रेम करती थी, अपना मानती थी। लाहौर जोधपुर आदि में मुसलमानों के यहां निवास ऋषि की सर्व प्रियता का द्योतक है। ऋषि की मृत्यु

के समय मुसलमानों के सर्वमान्य नेता सर सैयद अहमद के शब्द ऋषि की विश्व--प्रियता प्रगट करते हैं।

*　　*　　*　　*　　*　　*

ऋषि राष्ट्रीयता का सच्चा उपासक था, वह अपने घर को, स्वदेश को परतंत्र और हीन देख कर दिल में दुःख मानता था। ऋषि की धर्म-भक्ति भीरुओं की धर्म भक्ति न थी उसमें देश भक्ति की पुट दी गई थी। सत्यार्थ प्रकाशादि रचनायें उसके देश के प्रति प्रेम के उज्ज्वल उदाहरण हैं। वह वहां स्वराज्य के लिये व्याकुल और उतावला दिखाई देता है। स्वराज्यान्दोलन से इतने वर्ष पहिले स्वराज्य के प्रति ऋषि का प्रेम उसके ऋषित्व का द्योतक है।

*　　*　　*　　*　　*　　*

भारत प्राचीन काल से ऋषि--भूमि रहा है। सब ऋषि महान् थे परन्तु १९ वीं सदी का ऋषि प्राचीन ऋषियों से अधिक महान् है। प्राचीन ऋषियों ने केवल परम्परागत परिपाटी की पुष्टि की थी। प्रचलित कर्म--काण्ड के लिये ही वे प्रवृत्त रहे थे परन्तु इस ऋषि के लिये समस्या कुछ कठिन थी उसे जङ्गल को काट कर नये सिरे से बसाना था जिसमें वह पूर्णतया सफल हुआ। यही ऋषि दयानन्द की महत्ता थी, यही उसके जीवन का तत्व था। इस युग में वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक भी वह इसीलिये कहाया। ऋषि अपने जीवन द्वारा इस तत्व को फैला कर सदा के लिये अमर हो गया है।

*　　*　　*　　*　　*　　*

जीवन में ऋषि ने जो कार्य किया उसका भार वह आर्य--समाज पर छोड़ गया है। देखना यह है कि आज आर्य-समाज में कितने हैं जिन्होंने ऋषि के जीवन को समझा है? ऋषि की शिक्षा के विपरीत आज आर्य-समाज खोखला हो गया है। आज आर्य समाज से राष्ट्रीयता, तपस्या, उदारता एक २ करके विदा ले रहे हैं। रह गया है तो केवल कोरा सिद्धान्तों के प्रति आग्रह। यदि आर्य समाज में आज भी कुछ अच्छाई है तो उसका कारण केवल ऋषि की तपस्या है, आर्य-समाजी नहीं। किसी दूसरी सोसायटी ने विरासत में मिली जायदाद का ऐसा अनुचित प्रयोग न किया था जैसा कि ऋषि के पीछे आर्य--समाज ने। यह एक कड़वा परन्तु सच्चा अनुभव था जोकि हर एक ने कानपुर कांग्रेस के समय आर्य-समाज से लिया था।

— —— —

मुक्ति से पुनरावृत्ति

(श्री० स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी)

मुक्तिप्राप्त जीव पुनः इस संस्कार चक्र को प्राप्त होता है या नहीं, इस विषय पर दार्शनिक सम्प्रदायों में घोर मत-भेद है। अपने अपने मत की पुष्टि में दोनों ओर के पण्डित प्रबल युक्ति प्रयुक्ति का प्रयोग करते हैं। वैदिक धर्म्मी वेद तथा प्रबल तर्क के आधार पर मुक्ति से पुनरावृत्ति (फिर लौटना) मानते हैं। दयानन्द जी ने अपने ग्रन्थों में इस विषय में दो वेद मन्त्र भी उपस्थित किए हैं। युक्ति तथा तर्क द्वारा इस विषय का प्रतिपादन दूसरे अवसर के लिए छोड़ आज विद्वद्वर्ग के समक्ष मुक्ति से पुनरावृत्ति के चार मन्त्र उपस्थित करता हूं। विचारक विद्वान् इन पर विचार करें—

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥
य उदाजन्पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम्।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ २ ॥
य ऋतेन सूर्य्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ३ ॥
अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्र ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ४ ॥

इन का संक्षिप्त सरल अर्थ इस भांति हैः —

(ये) जिन महात्माओं ने (यज्ञेन) यज्ञ, देवपूजा=परमेश्वर पूजा, संगतिकरण=विद्वत्संग, दान=प्रत्येक पदार्थ से स्व स्वत्व त्याग पूर्वक ब्रह्मसत्त्वापादान से (दक्षिणया) दक्षिणा=दानपुण्य से, कर्मों में कुशलता के द्वारा [कर्म के तीन प्रकार संभव हैं—कर्म, अकर्म, विकर्म-यजुः ४०। १-२ से विकर्मों-उलटे कर्मों, तथा अकर्मों=न करने का निषेध है, शेष रहे कर्म, वे निष्काम कर्म ही हो सकते हैं, अतः कर्मों में कुशलता का भाव है—निष्काम कर्मों में तत्परता] (इन्द्रस्य) शुभ्र अखण्डैश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा के (अमृतत्वं+सख्यम्) मोक्ष रूप समान गुण को (आनश) प्राप्त किया है। हे ऐसे (सुमेधसः) उत्तमधारणावती बुद्धियुक्त (अङ्गिरसः) ज्ञानियो ! (मानवम्) मनुष्य सम्बन्धी शरीर को (प्रति+गृभ्णीत) लौट कर पुनः

ग्रहण करो। (तेभ्यः) ऐसे (वः) तुम लोगों का (भद्रम्) कल्याण (अस्तु) हो ॥१॥

(ये) जिन्हों ने (पितरः) पदज्ञ=वेदवेत्ता विद्वानों ने (गोमयम्) वाणीमय (वसु) धन (उद्+आजन्) उत्तम रीति से प्राप्त किया, करते हैं तथा (गोमयम्) पार्थिव (वसु) धन (उद्+आजन्) फेंक दिया, त्याग दिया, देते हैं [अज गति क्षेपणयोः अज धातुका अर्थ गति=ज्ञान, गमन, प्राप्ति तथा क्षेपण=फेंकना हिलाना, हमला करना, हरकत देना, आक्षेप करना है] और (ऋतेन) ऋत=सृष्टिनियम ज्ञान के द्वारा (परिवत्सरे) सर्वथा निवास योग्य मानवदेह में (बलम्) आच्छादक अज्ञानान्धकार को (अभिन्दन्) तोड़ा=तोड़ते हैं-दूर करते हैं। हे (सुमेधसः) उत्तम संगति वाले (अङ्गिरसः) प्राणशक्तिसंपन्न महात्माओ! (मानवम्) मनुष्य देह को (प्रति+गृभ्णीत) पुनः ग्रहण करो। (वः) तुम्हारे (दीर्घायुत्वम्) दीर्घायु (अस्तु) हो ॥२॥

(ये) जिन्हों ने (ऋतेन) ज्ञान पूर्वक नियमाचरण से (सूर्यम्) चराचर के आत्मा प्रभु को (दिवि) दिव्यगुण युक्त मन में=हृदयाकाश में=ब्रह्मरन्ध्र में (आरोहयन्) प्राप्त किया=धारण किया और (मातरम्) मान प्राप्त कराने वाली (पृथिवीम्) वेद वाणी का (वि+अप्रथयन्) विशेष विस्तार किया।

हे (सुमेधसः) पापवृत्ति नाशक (अङ्गिरसः) ज्ञानानन्द युक्त महात्माओ! (मानवं+प्रति+गृभ्णीत) फिर से मनुष्य जन्म ग्रहण करो। (वः) तुम्हारी (सुप्रजास्त्वम्) उत्तम सन्तति, श्रेष्ठ शिष्य मण्डली (अस्तु) हो ॥ ३॥

(अयम्) ज्ञानवान् परमात्मा (नाभा) सब संसार का बन्धु (वः) तुम्हारे (गृहे) अन्तः-करण में (वल्गु) मनोहर,=मधुर (वदति) उपदेश करता है। हे (देवपुत्राः) परमात्मपुत्रो! (ऋषयः) ऋषियो! (तत्) परमात्मा के उस उपदेश को (शृणोतन) सुनो। हे (सुमेधसः) उत्तम मेधाशक्ति सम्पन्न (अङ्गिरसः) ब्रह्मानन्द प्राप्त महाशयो! (मानवं+प्रति+गृभ्णीत) पुन मनुष्यशरीर ग्रहण करो (सुब्रह्मण्यम्) उत्तम वेद ज्ञान (वः) तुम्हें (अस्तु) हो ॥ ४॥

इन मन्त्रों में कई बातें विचारणीय हैं। (१) चारों मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में "प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः" यह वाक्य आता है। 'प्रति' का अर्थ "लौट कर" या "पुनः" किया गया है। लोक में भी "प्रत्यागच्छ" लौट कर आ, या लौट आ, होता है। 'गृभ्णीत' लोट् लकार की क्रिया है, जो होता ही आशीर्वाद या विधि अर्थ में है। इस वास्ते 'प्रति गृभ्णीत मानवम्' का अर्थ बिना किसी हेर फेर के "लौट कर मनुष्य शरीर ग्रहण करो" है।

(२) प्रत्येक मन्त्र में "अंगिरसः" तथा "सुमेधसः" पद भी आते हैं। यह भी रहस्य पूर्ण शब्द हैं। मुक्ति-प्राप्ति से पूर्व तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति के पश्चात् की अवस्था इन दो शब्दों द्वारा व्यक्त की गई है। 'अङ्गिरसः' पद का अर्थ हमने (१) 'ज्ञानियो (२) प्राणशक्ति सम्पन्न (३) ज्ञानानन्द युक्त (४) ब्रह्मानन्द प्राप्त' किया है। इसमें प्रमाण 'तस्मादङ्गिरसोऽधीयानः—(गो० ब्रा०) अङ्गिरस:=अधीयान ज्ञानी। 'यो=अङ्गिरस: सः रसः' (गो० ब्रा०) अङ्गिरस=रस "प्राणो वा अङ्गिर" (शत०) अङ्गिरस=प्राण।

(३) सूर्य्य का अर्थ 'चराचर का आत्मा' किया गया है। इसके लिए सन्ध्या में आए उपस्थान मन्त्र में "सूर्य्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च" जगत्--जङ्गम--चर तस्थुषः—स्थावर-अचर का आत्मा सूर्य्य कहाता है।

(४) गृहे का अर्थ 'अन्तः करण में' किया है। गृह्णन्ति जानन्ति येन तत् गृहम्। अर्थात् जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए, जाना जाए।

(५) 'सुमेधसः' तथा 'अङ्गिरसः' शब्दों के भाव को जब हृदयङ्गम कर लिया जाय तो (१) भद्रम् (२) दीर्घायुत्वम् (३) सुप्रजास्त्वम् तथा (४) सुब्रह्मण्यम् काप्रयोजन समझने में कठिनता न होगी। मन्त्रों में इन शब्दों का यही क्रम है। और यह सार्थक है। पहले भद्रता-साधुता-कल्याणगुण सम्पत्ति प्राप्त की जाती है तब दीर्घ आयु तथा उत्तम प्रजा-पुत्र शिष्यादि प्राप्त हो सकते हैं। इन सब का लक्ष्य सुब्रह्मण्य=उत्तम वेद ज्ञान या मुक्ति होता है। यदि 'दीर्घायुत्वम्' का अर्थ विपुल आय कर लें (आय तथा आयु का मूल धातु एक ही है) तो उपर्युक्त चार शब्दों का क्रमशः अर्थ यह होता है भद्र=धर्म, दीर्घायुत्व=आय=अर्थ, सुप्रजास्त्व=काम, सुब्रह्मण्य=मोक्ष।

चौथे मन्त्र में मुक्ति से लौटों के लिये 'देव पुत्र' विशेषण आया है। देव-पुत्र का अर्थ परमात्मा के पुत्र किया गया है। इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। नाभा 'णह बन्धने' धातु से बनता है।

(७) तीसरे मन्त्र में आए पृथिवी शब्द का जो जो अर्थ हमने किया है, उन में "वागिति पृथिवी" (जैमिनि ब्राह्मण) प्रमाण है।

(८) द्वितीय मन्त्र में आए 'परिवत्सर' शब्द में एक गूढाशय है जिस का उद्घाटन हम फिर कभी करेंगे।

इन मन्त्रों से अगले दो मन्त्र भी इसी के साथ सम्बद्ध विषय का निरूपण करते हैं। उन पर फिर कभी विचार करेंगे। स्वाध्यायशील वैदिक विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इन पर विचार करें।

असहिष्णुता

(ले०—श्री वंशीधर विद्यालङ्कार आचार्य गुरुकुल-सूपा)

१

भारतवर्ष के राजनैतिक और धार्मिक वायुमण्डल में एक आवाज़ गूंज रही है और वह यह है कि आर्य समाज असहिष्णु है, आर्य समाज में सहन शीलता नहीं है। दूसरे धर्म्मों की बढ़ती हुई शक्ति को आर्य-समाज नहीं देख सकता। वह चाहता है कि संसार के अन्दर सब आर्य-समाजी ही हों। विचार विभिन्नता संसार के अन्दर हर समय मौजूद रहेगी। यदि कोई चाहे कि वह नष्ट हो जाय तो यह असम्भव है। इस लिये सब से उत्तम सिद्धान्त यह है कि अपने आप जियो और दूसरों को भी जीने दो (Live and let live)। और वह इसी प्रकार हो सकता है कि विचार-भेद होने पर भी हम दूसरों की अच्छाइयों को देखते हुए उन की बुरी बातों को सहन करें।

यह असहन शीलता आर्य समाज में आई कहां से ? इस विषय पर विचार करते हुए बहुत से विचारकों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि आर्य-समाज में जो यह असहिष्णुता दिखाई देती है वह पाश्चात्य सभ्यता और यूरोप की कृपा का फल है। यूरोपियन मिशनरियों से ही आर्य-समाज ने इस का दीक्षा ली है।

अक्टूबर के Moden Review (१६२३) मद्रास में स्वराज्य पत्र के सम्पादक K. M Pannikar M. A. (Oxen) अपने "यूरोप एण्ड एशिया" नामक लेख में इस प्रकार लिखते हैं—:

"Closely associated with this idea is the feeling of religious intolerance. We noticed how religious toleration was the normality in pre-European times in Asia. But with the affressive propaganda of the missionaries and the utilisation of religion for the purpose of politics this feeling of intolerance has broken out in a very marked degree in Asiatic countries also. It is a significant fact that in ear-

lier times the hostility between Islam and Hinduism was sought to be bridged by synthesis like Sikhism and Kabir-Panth, while today it takes the form of aggressive organisations like Arya Samaj on the side of Hindoos and Ahmadies on the side of the Mussalmans".

इस समय में जो यह खण्डनात्मक चर्चा चली है वह मिशनरियों के कारण है पहले हिन्दु मुसल्मानों के वैमनस्य को दूर करने के उपाय ये थे कि दोनों मज़हबों की अच्छाई को देखना और उस अच्छाई के द्वारा दोनों में एकता स्थापित करना। इसी प्रकार सिक्खों और कबीर पन्थियों की उत्पत्ति हुई थी, किन्तु आज कल हिन्दुओं की ओर से आर्य-समाज और मुसल्मानों की ओर से अहमदिया आपस में एकता स्थापित करने की अपेक्षा खण्डनात्मक कार्य्य कर परस्पर वैमनस्य को बढ़ा रहे हैं।

यह है उपर्युक्त कथन का सारांश

क्या आर्य समाज सचमुच असहन शील है? क्या खण्डनात्मक कार्य्य की दीक्षा आर्यसमाज ने यूरोपियन मिशनरियों से ही ली है? क्या आर्यसमाजी धार्मिक एकता को नहीं चाहता और परस्पर वैमनस्य की ही वृद्धि करना चाहता है? इसी का हम इस लेख में विचार करेंगे।

२

सत्यार्थ प्रकाश के ११ वें समुल्लास के अन्तिम भाग में ऋषि दयानन्द लिखते हैं, कि धर्म दो नहीं हैं। उन्होंने एक इस प्रकार की सभा की कल्पना की है जिस में सब मत और मज़हब वाले बैठ कर विचार कर रहे हैं। उन सब की आन्तरिक बातों का निचोड़ एक ही निकलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भी वही एक धर्म था और आज भी वही एक धर्म है। जितनी ख़राब बातें उस में आ गई हैं वह एक व्यक्तिगत दोष है। स्वामी जी उसी एक धर्म को वैदिक-धर्म के नाम से कहते हैं। आधुनिक धार्मिक पुस्तकों की एक भी ऐसी अच्छाई नहीं है जो उस में न पाई जाय। इस लिये यदि उन्होंने उस 'धर्म-तत्व' को जो सब मज़हबों में एक जैसा पाया जाता है 'वैदिक-धर्म' के नाम से कहा तो इस में कोई हानि नहीं। सब ही धार्मिक एकता के प्रचारक यही तो कहते हैं कि सब धर्मों की अच्छाइयां एक हैं। स्वामी जी ने इस से एक क़दम और आगे रख कर कहा

कि अच्छाइयां ही तो धर्म हैं इस लिये धर्म एक है। यदि उन बुराइयों को जो आज कल के प्रचलित धर्मों में चल गई हैं, दूर कर दिया जाय तो वही शुद्ध स्वरूप एक धर्म का हम को दिखाई देगा। इसलिये स्वामी जी ने उस एक धर्म का प्रचार करने के लिये दो साधन किये --

(१) वैदिकधर्म (सब धर्मों के एकतत्त्व) का प्रचार

(२) बुराइयों का खण्डन

यहां हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि जो लोग यह समझते हैं कि ऋषि दयानन्द या आर्य समाज अन्य धर्मों का खण्डन करते हैं वे भारी भूल में हैं। आर्य समाज एक मात्र बुराइयों का खण्डन करता है और एक धर्म का प्रचार करता है। वह धर्म का खण्डन नहीं करता।

क्या बुराइयों का खण्डन करना असहनशीलता है ? यदि यह असहन-शीलता है तो ऐसे स्थानों पर सहन शीलता से असहन शीलता लाख दर्जे अच्छी है। इस असहन शीलता की आग की भट्टी आर्य-समाज में तब तक जलेगी जब तक इस में पड़ कर सब धर्मों की बुराइयां जल नहीं जातीं। ध्यान से देखने वाले विचारक देख रहे हैं कि इस असहन शीलता ने मतों में कितने परिवर्तन कर दिये हैं। अब सब धर्मों की व्याख्या (प्रायः) शुद्ध उसी प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार होने लग गई है। वह दिन, वह घड़ी शुभ होगी जब कि पूर्ण रूप से सब मज़हबों की व्याख्याएं एक हो जांयगी। व्याख्या एक होने पर तो धर्म एक हो-ही जायगा। महात्मा गांधी ने अपने यंग इण्डिया में एक लेख लिखा था जिस में उन्हों ने यह बताया था कि 'धर्म एक नहीं हो सकते' किन्तु आर्य सामज का तो विचार यह है कि सर्वत्र धर्म एक ही है। रीति रिवाजों को धर्म नहीं कहते। उसी एक धर्म का प्रचार आर्य--समाज करता है।

हम समझते हैं कि आर्य समाज को जो धर्मिक एकता का विद्वेषी कहा जाता है और संकीर्ण हृदय का समझा जाता है वह समझने वालों का भ्रम मूलक विश्वास है। वह उन की आर्य समाज से अपरिचिति है। आर्य समाज बुराइयों का खण्डन शास्त्रार्थों द्वारा करता है। ये शास्त्रार्थ भारत वर्ष में आज से नहीं चले हैं, किन्तु बहुत पुराने हैं। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी तो सब बौद्धों, कर्म-काण्डी मीमांसकों और जैनियों का खण्डन किया था। क्या उन पर भी पाश्चात्य सभ्यता की मुहर लगी हुई थी ? हम पूछते हैं कि बुराइयों का खण्डन कौन नहीं करता ?

महात्मा गन्धी स्वयं बुराइयों का खण्डन करते हैं। नान-कोआपरेशन का उपदेश देते हैं, क्यों ? क्या हम पूछ सकते हैं कि क्या यह असहन शीलता नहीं है ?

हम इस प्रकार के विचारकों से एक प्रश्न पूछते हैं और वह यह है कि वे एक भी ऐसी धार्मिक अच्छाई को बताएं जिस का आर्य-समाज ने खण्डन किया हो ? आर्य समाज ने आज तक एक मात्र बुराइयों का ही खण्डन किया है और बुराइयों को सहन करना स्वयं एक अधर्म है।

३

एक बात रह गई, और वह है Revelation की, ईश्वरीय ज्ञान की। अन्य मज़हबों की तरह आर्य समाज इस बात को एक मात्र कहता ही नहीं किन्तु सिद्ध भी करता है। हम स्वयं सिद्ध स्वतंत्र विचारकों (Free thinkers) की यहां चर्चा नहीं करते जो एक दम एक Statement कर देते हैं, और उसे सिद्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान कैसे हुआ ? वेद को छोड़ कर अन्य किसी मज़हब की पुस्तक उतनी पुरानी नहीं है यह सत्य है। जब तक इस युक्ति का उत्तर नहीं दिया जायगा कि ज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ, यह उलझन नहीं सुलझेगी।

आर्य-समाज ने इस प्रश्न पर विचार करके यही परिणाम निकाला है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इस का प्रचार आर्य समाजी इस लिये नहीं कर रहे हैं कि उन्हें किसी धर्म से प्रेम है किन्तु इस लिये कि यह एक सत्य है। युक्ति, और प्रमाणों का उत्तर एक मात्र एक स्टेटमैण्ट से नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक विचारक इस प्रश्न पर शान्त हो कर विचार करेगा तो उसे भी इस सचाई का अनुभव होगा. निष्पक्षपात और विचार की आवश्यकता है। वह दिन आयगा, (आज नहीं तो १००साल बाद) जब कि संसार अनुभव करेगा कि स्वामीदयानन्द ने किस गहरी सचाई का पता लगाया था। जबतक वह इसे अनुभव नहीं करता तब तक आर्य समाज को अपना कड़वा कर्तव्य पालन करना ही होगा। धर्म के नाम पर जो ढोंग रचे जा रहे हैं उन की पोल खोलनी ही पड़ेगी। धर्म के आगे जो अस्वाभाविक पर्दे लगाए जा रहे हैं उन्हें हटाना ही पड़ेगा। इस के लिये यदि आर्य समाज को असहनशीलता की उपाधि से विभूषित किया जाता है तो उस का सहर्ष स्वगात किया जायगा किन्तु इसी असहन शीलता के द्वारा जिस सत्य

का मार्ग खुल रहा है यदि उस सत्य की एक झांकी भी हमारे समालोचकों को दृष्टिगत होगी तो हमें यह पूरा विश्वास है कि वे धर्म के नाम पर जो बुराइयां की जा रही हैं उन का वे भी असहन शील हो कर समूलोन्मूलन करके ही छोड़ेंगे। 'खण्डन करना' मिशनरियों की कोई ख़ास सम्पति नहीं है।

डी० ए० वी० कालेज लाहौर के

अनुसन्धान विभाग की

रिपोर्ट।

जब तक भारत के गौरवस्वरूप साहित्य का परिचय पाश्चात्यों को न हुआ था, तब तक भारतवासी उन की दृष्टि में असभ्य, वर्बर थे, किन्तु भारतीय साहित्य सूर्य्य के आलोक की साधारण छटा के दृग्गोचर होते ही उन के दृष्टिकोण में भारी अन्तर होगया। अब वे भारतीयों को संसार के सब से पुरातन सभ्यता-प्रचारक तो नहीं, किन्तु पुरातन काल के प्रधान सभ्यया-प्रसारकों में से मानते हैं। योरूपियों ने इस सभ्यता का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए नाना सभा समितिएं बनाईं। कई महाशयों ने भारतीय सभ्यता भारतीय साहित्य के अनुशीलन ही को अपने जीवन का ध्येय बनाया। हमारा चाहे उन से कितना ही मतभेद क्यों न हो, किन्तु उन के पुरुषार्थ, अध्यवसाय की सराहना अवश्य करनी पड़ती है।

उन्हीं योरूपियों की देखा देखी उन्हीं की रीति नीति में दीक्षित कुछ भारतीयों ने भी उसी ढंग की सभाएं बनाईं, परन्तु वे भी उसी मार्ग का अनुसरण करती रहीं। पश्चिमी गुरु जी के वचन में पूर्वी चेला ननुनच का कोई हेतु नहीं देखता। इधर कुछ काल से कई विद्वानों ने अपने पश्चिमीय गुरुओं से मतभेद दिखाने का साहस भी किया है, परन्तु उस से कोई विशेष महत्त्व का परिणाम नहीं निकला।

आर्य्यसमाज अपने आप को आर्य्यसंस्कृति का रक्षक मानता है। उस ने एक विशेष रीति (मौखिक प्रचार से व्याख्यान आदि) के द्वारा इस संस्कृति की

रक्षा करने का प्रयत्न भी किया है। पुरातन आर्य्य साहित्य के प्राण स्वरूप मूल चारों वेदों के प्रकाशित करने का गौरव भी आर्य्यसमाज को प्राप्त है। समय समय पर भिन्न भिन्न विद्वान् अपनी अपनी परिमित शक्तियों के अनुसार इस दिशा में प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हीं प्रयत्नों में एक प्रयत्न डी० ए० वी० कालिज का अनुसन्धान विभाग है। इस के द्वारा ८ या ९ ग्रन्थ आज तक प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रन्थों के गुण दोषों का विवेचन तो फिर किसी अवसर पर करेंगे। यहां हमें एक विशेष बात बतानी है, जो हमें इस विभाग की १९१७ से १९२५ तक की रिपोर्ट से ज्ञात हुई है। पल्लवग्राही योरुपीय पण्डित भारतीय संस्कृत विद्या के अगाधमेध विद्वद्वर्ग की अवहेलना करते रहे हैं। मेक्समूलर संपादित "पूर्वीय पवित्र पुस्तकमाला" (S. B. E.) इसका ज्वलन्त प्रमाण है। उसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों, धर्मसूत्रों, मनुस्मृति, गृह्यसूत्र, वेदान्तदर्शन प्रभृति, वैदिक, तथा अनेक जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित हुए, किन्तु सब योरुपीयों के किए हुए। केवल गीता तथा सनत्सुजातीय ऐसे साधारण ग्रन्थों का अनुवाद एक भारतीय का किया प्रकाशित किया गया।

हमारे उपरिकथित अनुसन्धान विभाग के अधिकारी भी उसी प्रकार के अपराध के अपराधी हैं। यह विभाग अपने ग्रन्थों को किसी भी भारतीय विद्वान् के पास समालोचनार्थ नहीं भेजता। इन की दृष्टि में भारतवर्ष भर में एक भी विद्वान् ऐसा नहीं, जिस के पास इन को पुस्तकें समालोचना के लिये भेजी जा सकें। जितनी समालोचनाएं इन्हों ने छापी हैं, प्रायः सारी गौराङ्ग विज्ञों की। क्या इस का यह तो अभिप्राय नहीं, कि इन के सम्पादकों के विचार भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में वैसे ही है, जैसे कि पश्चिमी विद्वानों के। अथवा इन ग्रन्थों के अनुवाद, तथा टिप्पणियां इतनी अशुद्ध तथा असम्बद्ध होती हैं कि इन्हें भारतीय विद्वानों के पास भेजने में संकोच होता है। अथवा क्या यह तो नहीं, कि भारतीय विद्वानों ने सच्ची सच्ची समालोचना की, और उसे आप ने अपने विरुद्ध जान कर प्रकाशित नहीं किया? प्रतीत ऐसा होता है, कि अपने स्वामियों को, जो यूरोपीय शिक्षा से दीक्षित हैं, प्रसन्न रखने के लिए यूरोपीय संस्कृतज्ञों (?) की सम्मतियां उन के आगे रखते हैं। अस्तु। जो भी हो, भारतभक्तों को, आर्य संस्कृति के प्रेमियों को, संस्कृत साहित्य के भक्तों को इन के द्वारा की गई अवहेलना की उपेक्षा न करनी चाहिये। 'नारद'

परलोक पर ज्ञानी जी

'आर्य' के इस अंक में अन्यत्र श्री 'ज्ञानी जी' का परलोक-विषयक लेख छपा है। परलोक में 'ज्ञानी जी' की गति काल्पनिक हो, इस का मुझे आश्चर्य है। आप लिखते हैं:—'यह विचार परलोक संबन्धी हमारी और अन्यों की कल्पना मात्र हैं'। फिर कहा है:—विचित्रता यह है कि जब हम (कौन? ज्ञानी जी?) वहां जाते हैं तो हमारी जवान नहीं होती और जब तक यहां रहते हैं, तो वहां का अनुभव नहीं।' पृ० २४. । दयनीय अवस्था है।

आपने प्रथम जीव की स्वतन्त्र अमर सत्ता पर किसी 'प्रसिद्ध.....वैज्ञानिक' का प्रमाण दिया है। सो ठीक। फिर बृहदारण्यक के सहारे पहिले दो लोकों की कल्पना की, एक मर्त्य लोक, दूसरा परलोक। परलोक का अर्थ बताया 'देव लोक' फिर इन में एक तीसरा पितृलोक बढ़ाया। वह परलोक के अन्तर्गत है या भिन्न है? यदि अन्तर्गत है तो देवलोक अकेला परलोक का पर्याय क्योंकर हुआ? इस के पश्चात् एक चौथा लोक बढ़ा, ऋषिलोक। अन्त में लोक सात हो गए। पृ० २२.। यह सब परलोक हुए। और इन में भिन्न २ योनियों का निवास है! (पृ० २३)

यह अच्छा किया कि लोक शब्द का 'अर्थ घड़ा' नहीं किन्तु इस पर मनु का प्रमाण दिया है। इस प्रमाण में 'लोक' शब्द आया ही नहीं। देव, देवनिकाय, महर्षि, यक्ष, रक्ष, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण, पितर, किन्नर, वानर, मत्स्य, विहंगम, पशु, मृग, मनुष्य, व्याल, उभयतोदत्, शब्द आए हैं। आप ने अर्थ करते हुए, सब शब्द नहीं लिये, स्यात् इष्ट न हों! आपने लिखा है:—'मनु से १० प्रजापति और उन से ७ और मनु......उत्पन्न हुए।' इस उत्पत्ति का क्या अर्थ? मनु के पुत्र १० प्रजापति थे या कुछ और? पुत्र थे तो योनि एक हुई? और फिर नागों और व्यालों का क्या बना? ऐसा नहीं तो यह सब सृष्टिकर्त्ता हुए। मनु भी मनुष्य न रहा। सिद्धान्त स्थिर कीजिये। यह तो आप के अनुवाद से स्पष्ट है कि प्रथम मनु शेषोक्त ७ मनुओं से भिन्न प्राणी है। परन्तु इसी मनु १. ६३ में आता है:—

स्वायंभवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।

अर्थात् स्वायंमव आदि सात मनु.............।

शास्त्रों में और स्वयं मनु के कथनानुसार पहिले ही मनु का नाम जो विराट् से उत्पन्न होता है, स्वायंभव है। अब स्वायंभव प्रजापतियों का उत्पादक है और प्रजापति स्वायंभव के! इस परस्पर विरोध युक्त प्रसंग को यदि कोई आर्य समाजी प्रक्षिप्त कह दे तो ज्ञानी जी रुष्ट तो न होंगे।

आखिर लाज की अलौकिक योनियों की कल्पना उन की 'संसार में सर्व व्यापी विकास' की धारणा पर निर्भर है। यह धारणा थ्योसाफिकल सोसाइटी की है। ज्ञानी जी इस से सहमत हों तो इस पर भी विचार हो सकता है।

भिन्न कोषों के उत्तरोत्तर त्याग पूर्वक भिन्न २ योनियों में जाना प्रमाण चाहता है।

'आर्यसमाजी'

सम्पादकीय

सभा का अधिवेशन

सभा का अधिवेशन अब होने ही वाला है । मई मास का अन्तिम से पूर्व का सनीचर और इतवार इस के लिये निश्चित है । अधिवेशन का साधारण कार्य अधिकारियों का चुनाव तथा वेद प्रचार और गुरुकुल के बजट पास करना होता है । इसी में ही सारा समय निकल जाया करता है । और कार्य चाहे अन्तरङ्ग सभा ने प्रस्तुत होने की स्वीकृति दे भी दी हो, समयाभाव से सदा स्थगित होते हैं । मेरे विचार में अब सभासदों ने इन तीनों कार्यों अर्थात् चुनाव, गुरुकुल के बजट पर विवाद, तथा वेद प्रचार के बजट पर विवाद करने में पूरा अभ्यास प्राप्त कर लिया है। अब इन में समय कम लगे तो हानि नहीं । गुरुकुल के बजट के लिये दूसरा दिन विशिष्ट रहता है । गत वर्ष किसी २ राशि में एक रुपये की कमी का प्रस्ताव पेश करने की नई रीति का अवलंबन भी कतिपय सभासदों ने किया था। इस वार भी आशा नहीं, यह एक बार सीख लिया पाठ भुला दिया जाए। पहिले एक गुरुकुल था, अब कन्या गुरुकुल का बजट भी स्वीकृति के लिये आने लगा है। गतवर्ष इसे बीच में छोड़ना पड़ा था। इस प्रकार एक ओर कार्य में वृद्धि हो रही है, दूसरी ओर सभासदों के विवाद-कौशल में भी उन्नति है। हमारा बजट का विवाद देखकर कौन कह सकता है कि हमारी सभा राज्य की व्यवस्थापक सभाओं से किसी अंश में न्यून है । यदि सभा की कार्यवाही ऐसे ही चलानी हो तो एक नियम कौंसिलों से और भी ले लेना चाहिये । वह यह कि बजट के विवाद के लिये समय नियत कर दिया जाए। उस समय के अन्दर २ जो विवाद हो जाय उसके पश्चात् सारा बजट स्वतः स्वीकृत समझा जाय इस प्रकार सभासद मुफ़्त का विवाद बढ़ाने से सावधान रहेंगे। यदि अन्तरङ्ग सभा गुरुकुल के बजट को एक विशेष समिति (S lect committee) के अर्पण करदे और वह उस पर विचार करके सभा के साधारणाधिवेशन में पेश करे तो समय बचाना सहज होगा। शिक्षा के विषय पर विचार करने की योग्यता प्रत्येक सभासद में नहीं हो सकती। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य को

एक शिक्षा से प्रायः अनभिज्ञ समुदाय के सामने विवाद के लिये ला खड़ा करना शिक्षा का उपहास है और कार्य कर्ताओं पर बलात्कार। मेरा विचार साधारण सभा से उसका अधिकार छीन लेने का नहीं, किन्तु उस के अमूल्य समय का उपयोग मितव्ययिता से करने का है।

साधारण सभा की अधिक रुचि प्रचार के कार्य में होनी चाहिये। इस पर विचार करने की योग्यता अधिक सभासदों में हो सकती है। सभा का प्रधान कार्य भी मैं यही समझता हूँ। अधिकारियों की ओर से इस कार्य की रिपोर्ट आवें और भविष्य में इस कार्य की उन्नति के साधन प्रस्तुत किये जायें। स्थानीय अनुभव प्रत्येक सभासद को होगा। इस कार्य में उपदेशकों का उपदेशकरूप में भाग हो। सन्यासिवर्ग को भी आमंत्रित किया जाय। जो कार्य-प्रणाली वहां निश्चित हो, उसके अनुसार बजट बनाया जाय।

प्रचार की आवश्यकता बढ़ रही है और इस क्षेत्र के सभी कार्यकर्ता अनुभव करते हैं कि वर्तमान प्रचार--प्रणाली संकुचित प्रणाली ही है। उत्सवों के अतिरिक्त प्रचार के अन्य साधनों पर ध्यान ही बहुत कम जाता है। एक लकीर है, उसे हम पीटे चले जाते हैं। लेखद्वारा प्रचार होता ही नहीं दलितोद्धार का काम रुक सा गया है। विधर्मी स्थान २ पर नई बस्तियां बसा रहे हैं। उन्हें हम हृदय में ही नहीं लाते। पुरोहित-प्रणाली पूरे उत्साह से चलाई ही नहीं गई। परिस्थिति राज्य तथा प्रजा दोनों की ओर से भयङ्कर हो रही है। उस पर विचार करने का समय ही किसे है? वर्ष भर में एक ही बार इकट्ठा होना और उसमें भी वर्षों के चले आते बजट पर दो चार चुभतियां कह कर चले जाना कुछ गम्भीर कार्य-निष्ठा नहीं। हम सभासदों को अपना महान् उत्तरदातृत्व समझना चाहिये। केवल पञ्जाब ही नहीं, किन्तु विदेशों तक में वेद का सन्देश पहुंचाना हमारी सभा का पवित्र उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन करने के समय अन्यमनस्क रहकर या पोलिटिकल सभाओं का सा केवल अभिनय करके चले जाना हम सभासदों की धर्म--परायणता का द्योतक नहीं।

मेरे विचार में प्रचार का कार्य एक सारा समय दे सकने वाले किसी अनुभवी सज्जन के हाथ में होना चाहिये। गत वर्ष सवेतन मंत्री की नियुक्ति का प्रस्ताव हुआ था। इसके रास्ते में नियम सम्बन्धी रुकावटें उपस्थित हुईं मंत्री के लिये उपयुक्त पुरुष की प्राप्ति एक समस्या है जो वर्षों से चली आती है। अ-वैतनिक मंत्री अप्राप्य हो, सवैतनिक की नियुक्ति नियम तथा नीति के विरुद्ध हो।

आख़िर काम कैसे चलेगा ? महा० कृष्ण का गिरता पड़ता स्वास्थ्य कब तक सभा का एक मात्र सहारा रहेगा ?

इस स्थिति का एक उपाय मेरी समझ में आता है। वह यह कि गुरुकुल की तरह से प्रचार विभाग भी मंत्री के कार्य--विभाग से अलग कर दिया जाय। इस के लिये एक अधिष्ठाता हो जैसे गुरुकुल के लिये मुख्याधिष्ठाता है। जो सम्बन्ध गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता का मंत्री से है, वही प्रचार विभाग के अधिष्ठाता का हो। कोई संन्यासी, दयानन्द सेवा सदन का सदस्य, कोई अवैतनिक पूर्ण समय कार्य करने वाला आर्य, यह न होने पर कोई सवेतन कार्यकर्ता ही, इस विभाग को संभाल ले। इसमें नियम की कोई बाधा नहीं हो सकती।

मंत्री का कार्य हलका हो जाने से इस पद के लिये उपयुक्त पुरुष मिलना फिर कठिन न रहेगा। इस सारे लेख का तात्पर्य यह है कि वेद प्रचार के कार्य को एक दृढ़ नींव पर लाया जाय। उस का महत्व अनुभव किया जाय और उस महत्व के अनुकूल उस पर शक्ति और धन का व्यय हो।

१. संक्षेप से मेरा विचार यह है कि गुरुकुलों की रिपोर्ट और बजट के लिये दो या तीन घण्टे नियत कर दिये जाएं।

२. वेद-प्रचार का कार्य किसी सारा समय दे सकने वाले अवैतनिक अथवा सवैतनिक अधिष्ठाता के अधीन किया जाय और उसका संबन्ध मंत्री से उसी प्रकार का हो जैसा गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता का है।

सार यह कि सभा का अधिक समय प्रचार-विभाग के अर्पण हो।

उत्सवों का कार्यक्रम

आर्य समाज ने आरम्भ दिवस से अब तक अपना सारा निर्भर वार्षिक उत्सवों पर ही रखा है। प्रारंभिक अवस्था में प्रचार का इस से अधिक उपयोगी साधन ध्यान में लाना ही कठिन था। उत्सवों ने आर्य समाजों को बनाया है। इस समय किसी समाज के जीवित होने का प्रमाण उसका उत्सव मात्र ही है। समाजों को उत्सव करते रहने चाहियें, यह हमारी दृढ़ धारणा है। परन्तु उत्सव ही करते रहने चाहियें, इसे हम प्रचार--प्रणाली का घातक सङ्कोच समझते हैं। आर्य समाज ने जनता में प्रवेश किया है परन्तु लोगों के जीवन में पैठा नहीं। पचास वर्ष के लगातार कार्य के पीछे भी अभी यह धर्म हुल्लड़-धर्म है। उत्सव की आंधी वर्ष के वर्ष आती है और समाज रूपी वाटिका को दो दिन के लिये

हिला सा जाती है। दो दिन के पीछे समाज-मन्दिर में फिर वही गर्द, वही कूड़ा कर्कट, जमा हो जाता है।

समाज के प्रचार से आर्य समाजियों से भिन्न लोग लाभ उठाते हों तो उठाते हों, आर्य समाजियों के जीवन में इस आंधी का कुछ प्रभाव नहीं। वह सदा एक रस रहते हैं। 'संसार का उपकार' करते २ इन्होंने अपना उपकार बिलकुल भुला दिया है। आदर्श आत्म-त्याग है। लोग आर्य-समाजी बनते हैं, न जन्मते हैं न रहते हैं।

उत्सव की शोभा बढ़ाने को कहीं दस, कहीं पन्द्रह उपदेशक पहुंच जाते हैं। फिर भी प्रबन्धकों की प्रबन्ध-पिपासा शान्त नहीं होती। इन्हें और उपदेशक चाहियें। किसी महान् व्यक्ति का व्याख्यान उद्घोषित करना भी तो कुछ थोड़ा पुण्य--संचय नहीं। इतने महान् व्यक्ति कहां से आयें? आर्यसमाजी इन्हें बटने देंगे नहीं। कहीं छावनी जम जायगी, कहीं उल्लू बोलेगा। शिकायत दोनों को है। और उपदेशकों की शक्ति का व्यय होता है दर्शनों में।

फिर उत्सवों के अतिरिक्त भी तो कोई काम है जिसे प्रचार कह सकते हैं। समाज का साहित्य कहां है? कौन बनायेगा? दलितोद्धार की महारली तो उत्सवों में घोषी जा सकती है। उद्धार का क्षेत्र गांवों में है जो उत्सव का भाग नहीं बन सकते। फिर कोई नई जगह, नया क्षेत्र कूप मण्डूक रह कर क्या देश देशान्तरों और द्वीप द्वीपान्तरों में प्रचार हो जायगा?

इस व्यवहार-बुद्धि के क्या कहने कि इधर शक्ति कम, उधर उत्सव मात्र में उसका अपव्यय! समय बदल रहा है। तुम भी अपनी करवट बदल लो। नहीं तो पछड़ जाओगे और जी न सकोगे। वर्तमान प्रचार--प्रणाली का आज भी अन्त हुआ और कल भी। आज सुधार सकते हो कल रो धो सकोगे।

हमारी सम्मति में उत्सवों का प्रोग्राम लम्बा भले हो जाय, इतना भरा हुआ न हो। प्रातःकाल यज्ञ करो और उसके पीछे उपदेश हो जिस का लक्ष्य आर्य सिद्धान्तों, आर्य मन्तव्यों, आर्य दिनचर्या, आर्य पर्वों, त्यौहारों तथा यज्ञों की व्याख्या हो। इस सारी कार्यवाही में आर्य लोग परिवारों सहित सम्मिलित हों। प्रेरणामात्र से नहीं, अनिवार्य नियम कर दिया जाय।

दोपहर को उपदेशकों के आवास पर धर्म--चर्चा तथा एकान्त में शंका समाधान हो। उत्सव की कार्यवाही साधारणतया फिर रात ही को हो। उस में

साधारण जनता के लिये लेक्चर कराया जाए। जिन समाजों को प्रचार की भूख बहुत हो, हुल्लड़ की प्यास बुझाये न बुझे, वह एक लेक्चर, अथवा खुला शंका समाधान, आवश्यकता हो तो शास्त्रार्थ सायंकाल को भी रख सकते हैं।

इस प्रकार से उत्सव बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के प्रचार का काम देगा। उपदेशक केवल प्रदर्शिनी का ही काम न करेंगे किन्तु ठोस प्रचार का कार्य करेंगे। दो उपदेशक एक उत्सव के लिये पर्याप्त हैं, बहुत अधिक हुए तो तीन। पौराणिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि, उत्पत्ति, तथा प्रलय त्रिमूर्ति से हो जाता है तो आर्य समाज का उत्सव इस संख्या से क्यों न हो सकेगा? सप्ताह भर भी यह प्रोग्राम रहे तो नवीनता के लिये नए उपदेशक की आवश्यकता न रहेगी।

जहां उत्सव बहुत से सुप्रबद्ध होंगे, वहां दूसरे कार्यों के लिये भी उपदेशक बचाये जा सकेंगे। कई ऐसे उपदेशक निकल आयेंगे जो उत्सवों में इतने उपयोगी नहीं जितने दलितोद्धार तथा ग्राम-प्रचार में।

लेक्चरों की संख्या कम होने से जनता को प्रतिदिन कोई नया विचार दिया जा सकेगा। एक की लिखी स्लेट पर दूसरा पोचा न फेरेगा।

सत्याग्रह का प्रस्ताव

'आर्य' के गतांक में आर्य समाजों के नगरकीर्तन बन्द होने का समाचार लिखते हुए हमने विचार प्रकट किया था कि इस समय सत्याग्रह ही का हथियार आर्य समाज को वर्तना होगा। सार्वदेशिक प्रतिनिधि-सभा ने अपनी बैठक २३, २४ मई को (जब पंजाब प्रान्तीय सभा की बैठक भी होनी है) लाहौर में रख इस विषय का निर्णय करने का निश्चय किया है कि क्या इस समय सत्याग्रह ही हमारी स्वत्वरक्षा का साधन है या इस से वरे कुछ और भी? जनता को अपने नेताओं के निर्णय की प्रतीक्षा करनी चाहिये। और जो वह कहेंगे, वह करने को अभी से उद्यत रहना चाहिये।

दयानन्दोपदेशक विद्यालय

दयानन्दोपदेशक विद्यालय का प्रवेश तथा उपाधिवितरण का उत्सव २४ एप्रिल को मनाया गया। विद्यालय के वृत्तान्त से जो श्री स्वा० वेदानन्द तीर्थ ने पढ़ा पता लगता है कि विद्यालय का आरंभ ९ विद्यार्थियों से हुआ और वर्ष के अन्त तक २४ नियमित और कुछ अनियमित विद्यार्थी हो गये। ५ परीक्षार्थियों ने सिद्धान्त-भूषण परीक्षा पास की। इन में से ३ को जो उपस्थित थे उपाधियां दी गईं।

विद्यालय की शिक्षा का प्रमाण एक विद्यार्थी की कुरान विषयक वक्तृता और दो के 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' विषय पर शास्त्रार्थ से मिलता है। वक्ता ने कुरान के उद्धरण पढ़े। वादियों ने प्रमाण और युक्ति से अपना पक्ष सिद्ध किया। एक प्रमाण अपूर्व था। वह वही है जो श्री स्वा० वेदानन्द जी ने अन्यत्र अपने लेख में व्याख्या सहित उपस्थित किया है। आचार्य श्री स्वतन्त्रतानन्द जी ने दीक्षा देते हुए उपदेश किया। उत्सव सफल रहा।

रेवाड़ी का अभियोग

आर्य-समाज के सम्मुख आज स्थिति कैसी है, यह स्थान २ के अनुभवी लोग अपने २ अनुभवों द्वारा जानते ही हैं। एक साथ मुसल्मानों का सामना, सरकार का सामना, और सनातनी भाइयों का भी सामना है। विरोधी किन हथियारों पर उतर रहे हैं, इस का पता रेवाड़ी में चलाए गए उस अभियोग से चलता है जिस की व्यवस्था म० एफ़. बी. पूल मैजिस्ट्रेट ने दी है। अभियोग ७ प्रतिष्ठित आर्यों के विरुद्ध था। स्थानीय मुसल्मान उस में वादी थे। दोष यह था कि उन्होंने दिन दिहाड़े में एक मुसल्मान की दुकान लूटी है। मैजिस्ट्रेट ने अपनी व्यवस्था में इसे 'wicked fabrication' अर्थात् धूर्तों की बनावट ठहराया है। घटना हुई ही नहीं और अभियोग चल गया है। क्यों? मैजिस्ट्रेट लिखता है:—'इस लिये कि यह (दोषारोपित) आर्य समाज के मान्य अधिकारी हैं'। पोलिस इस 'धूर्तों की बनावट' में आधे की हिस्सेदार है। है कुछ गवर्नमैंट का उत्तरदातृत्व?

अब चुपके बैठ कर काम न चलेगा। स्थिति भयंकर हो रही है।

मसजिदों के आगे बाजा

मसजिदों को बाजा हौवा हो रहा है। मुसल्मान इसका नाम सुनते ही लाल पीला हो जाता है। पिछले दिनों के कितने ख़ून ख़राबे इस बाजे की इस्लाम-ध्वंसिनी ध्वनि ने कर दिये। इसी संबन्ध का शीया सुन्नियों का अभियोग प्रिवी कौंसल में गया। उस के फैसले के निम्नलिखित वाक्य ध्यान में रखने योग्य है:—

"प्रत्येक संप्रदाय के अनुयायियों को अधिकार है कि उचित सजधज के साथ अपनी धार्मिक यात्राएं राजमार्गों पर ले जा सकते हैं। इस में सड़क के आव जाव संबन्धी स्थानीय शासकों की आज्ञा, मैजिस्ट्रेट के आदेश तथा जनता के अधिकारों ही का बन्धन होगा।

दूसरे संप्रदायों या धर्मों के अनुयायियों को यह अनुरोध करने का अधिकार नहीं कि उन के धर्म मन्दिरों के पास से गुज़रने के कारण यात्रा का कोई कार्य रुक जाना चाहिये । पर हां ! मैजिस्ट्रेट किसी विशेष स्थिति में आज्ञा दे सकता है कि अमुक स्थान से इतनी दूरी पर यात्रा संबन्धी काय रुक जाना चाहिये ।"

कलकत्ते और अन्य स्थानों के फसादी और उन के पृष्ठ पोषक मुसलमान नेता इस आज्ञा के दर्पण में अपना खूनी मुंह देखें ।

आर्य 'गज़ट' का मांस प्रचार

हमें आर्य समाज के वृद्ध बताते हैं कि किसी समय मांस विषय पर कालेजी भाइयों के साथ हमारे नेताओं का घोर संग्राम हो चुका है । कालेजी भाइयों ने उन दिनों पुस्तकायें छापी थीं और मांस भक्षण का खुला पक्ष लिया था ; परन्तु न जाने क्यों, हमारी स्मृति में मांसाशन का खुला विधान अपने आपको आर्य-समाजी कहने वालों ने प्रायः नहीं किया । किसी इक्के दुक्के ने साहस किया भी है तो उसे दबे शब्दों में रोका गया है । हम अफ़्रीका में थे जब हमने आर्य गज़ट में ला० हरदयाल एम.ए. का वह लेख उद्धृत हुआ देखा जिसमें मांसाशन को हिन्दुओं की जातीय आवश्यकता बताया गया है । यह लेख आर्य-गज़ट के लिये नहीं लिखा गया था किन्तु किसी और पत्र से केवल मांसाशन के विधान के हेतु ही उसे आर्य-गज़ट में स्थान दिया गया । और संपादक महाशय ने लिखा था कि हरदयाल कोई 'अलूल जलूल' मनुष्य नहीं कि उसकी सम्मति का आदर न हो । यही नहीं, ला० लाजपतराय और हसरत मोहानी को भी मांस-भक्षण विधायकों में रख कर मांस भक्षण को शिष्टानुमोदित विधि प्रकट किया गया था । यदि वेद के विषय में भी इन महानुभावों की सम्मति को आप्त प्रमाण मान लिया जाए तो 'आर्य-गज़ट' को वेद से भी छुट्टी मिले । और फिर कालेजों के विषय में ? उक्त टिप्पण के पश्चात् महाशय कृष्ण पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हुए जिन से 'गज़ट' की कोई संख्या खाली नहीं होती, उनके और किसी दूसरे के भी मांस निन्दक होने पर खिल्ली उड़ाई जाती रही है । इस पर दावा यह है कि प्रादेशिक सभा मांस भक्षण के विरुद्ध है । उक्त सभा के मुखपत्र को चसका लगा है तो इस बात के दोहराने तेहराने का कि सब सद्गुण मांसभक्षण के साथ निवास करते हैं, या कर सकते हैं । किसी डाक्टर ने किसी नए आविष्कार के लिये रोग के कृमि अपने शरीर में डाल लिये हैं तो अनुमान यह है कि वह माँसाहारी हैं ।

विचित्र तर्क है !

बालि महाराज का 'वीर-भोजन'

पराकाष्ठा को २४ वैशाख का गज़ट पहुंचा है जिस में मास्टर आत्माराम के लेख के उत्तर में प्रो० बाली जी का लेख छापा गया है। प्रो० महाशय के कुछ वाक्य पढ़ जाइये और देखिये, प्रादेशिक सभा के मांस-विरोधी होने की सत्ता कितनी प्रबल है: --

"(मा० आत्माराम के लेख का शेष भाग भी असबद्ध विचारों का संग्रह है। आप हिसार के जाटों मेवाड़ के सत्तू खाने वाले मारवाड़ियों और भारतीय सेनाओं की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि वह अन्नाशी होते हुए बड़े वीर हैं लेकिन वह भूल जाते हैं कि मांस खाने वाले अंग्रेज़ों ने सब को पराजित कर अपना दास बनाया हुआ है। .... दुनिया की सब से बलिष्ठ जातियां जो संसार पर राज्य कर रही हैं, वह सब मांसाहारी हैं। मास्टर जी के मुट्ठी भर जाट और वीर 'सत्तू खाने वाले भैय्या' उनके पासंग भी नहीं। यह 'भिंडी प्रचार' और अयथार्थ अहिंसा का सिद्धान्त ही हिन्दुस्तानी राज्य के नाश का कारण हुआ है।

यार लोगों ने अपने स्वार्थ के कारण मांस भक्षण के प्रश्न को असाधारण महत्व दे दिया है और चूंकि आर्य समाजी भी अभी तक जैनी और मारवाड़ी संस्कार रखते हैं, इस लिये वह भी इससे चौंक उठते हैं। .....

यदि ला० हरदयाल ने यह लिख दिया कि हिन्दुओं के 'बुज़ुर्ग' राम और कृष्ण भी 'वीर भोजन' खाते थे तो उन्होंने कोई अपराध नहीं किया ."

दयानन्द कालेज के एक लाइफ़ मेम्बर का यह लेख, और वह प्रादेशिक सभा के मुख पत्र में, किसी भ्रान्ति का स्थल नहीं हो सकता। यह सभा की ओर से मांस भक्षण का विरोध है तो 'प्रचार' शब्द के लिये नई डिक्शनरी घड़ना होगी।

ज़िम्मेदारी के काम

हम संपादक महाशय से अन्याय नहीं करना चाहते। उन्होंने साफ़ लिखा है कि 'बाली जी ने अपनी जिम्मादारी पर इस मज़मून को लिखा है। इसका कालेज पार्टी से कोई तअल्लुक़ नहीं।' उनकी लाइफ़ मेम्बरी से भी कालेज पार्टी का तअल्लुक़ है कि नहीं? यदि कोई लाइफ़ मेम्बर अपनी जिम्मेदारी की तरंग में कुछ और करले तो उसका पुण्य किसे होगा? मांस भक्षण का प्रचार डी. ए. वी. कालेज के लाइफ़ मेम्बरों की ओर से उन की अपनी जिम्मेदारी का काम है! फिर ग़ैर ज़िम्मेवारी से क्या करेंगे? मांस भक्षण का विरोध? ज़िम्मेदारी की एक कही।

सम्पादक महाराज के अकथनीय तर्क पर न्योछावर हो जाने को जी चाहता है। लिखते हैं:—

'हम धार्मिक संसार में स्वा. दयानन्द को स्वतंत्रता का देवता समझते हैं। इस लिये जब तक हमारे दम में दम है, हम विद्या और बुद्धि पर कभी ताला न लगने देंगे।'

तो यह जिम्मेदारी के सब काम ग़ैर जिम्मेदार (?) दयानन्द के नाम पर होंगे? आपका दम सलामत रहे, विद्या और बुद्धि सार्थ भ्रष्ट ऊंट की तरह मुंह उठाए स्वच्छन्द तथा निरकुंश फिरेंगे। तो क्या अगली संख्या में मद्यपान की जिम्मेदारी किसी के कन्धे पर पड़ेगी? और उसके पश्चात्? वेद-खण्डन की बारी कब आती है? विद्या और बुद्धिपर आपके मतानुसार सब से बड़ा ताला यही है। संपादक महाराज! वही ताला तुड़वाइये। आर्य समाज के विश्वासभवन के वीर भित्ति-भेदक! बलिहारी है!

दोहरा शोक—अभी थोड़े ही दिनों की बात है गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक देवदत्त, जो देहली के देहात महरोली के निकट रामताल में गुरुकुल सँभले बैठे थे, चेचक के रोगी हो कर परलोक सिधारे। हमें ब्रह्मचारी जी की पंजाबी गीतियां कभी न भूलेंगी जो वह गुरुकुलोत्सव के दिनों भोजन के समय सुनाते थे। इस के पश्चात् दयानन्द उपदेशक विद्यालय से भूषण परिक्षोत्तीर्ण पं० ऋषिदत्त के देहान्त का समाचार मिला है। यह गुरुकुल की अधिकारी परीक्षा पास थे और कुछ मास उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थी रहे थे। इन का देहान्त प्लेग से हुआ। यह दोनों देहान्त आर्य समाज के लिये असह्य हानियां हैं।

'आर्य' पत्र प्रति अंग्रेज़ी मास की १५ तारीख़ को प्रकाशित होता है चूंकि डाकखाने में अंग्रेज़ी का हिसाब रखना पड़ता है। यह अङ्क 'मई' मास का है। तदनुसार देसी मास 'ज्येष्ठ' होता है। इस लिये इस अङ्क पर वैशाख न लिख कर 'ज्येष्ठ' लिखा गया है। इस से वस्तुतः अङ्कों की संख्या में कोई भेद नहीं आता। ग्राहक निश्चिन्त रहें। प्रबन्धकर्ता

दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय (लाहौर) की पाठविधि

सिद्धान्त प्रवेशिका—व्याकरण—[क] अष्टाध्यायी १-५ अध्याय। [ख] वर्णोच्चारण शिक्षा तथा सन्धि विषय । [ग] शब्दरूपावली; धातुरूपावली । साहित्य—[क] संस्कृत प्रथमपाठः, संस्कृत द्वितीयपाठः । [ख] विदुर-नीति, नीतिशतक, वैराग्यशतक । सिद्धान्त—[क] सत्यार्थप्रकाश-२, १०, ११, १३, १४ समुल्लास । वेद—स्वस्तिवाचन, शान्ति प्रकरण, पञ्चमहायज्ञ-विधि (अर्थ सहित) विकल्प—[क] ऋषि दयानन्द कृत—१. आर्य्योद्देश्य रत्नमाला. २. व्यवहारभानु, ३. काशी शास्त्रार्थ, ४. सत्यधर्म्मविचार, ५. वेदविरुद्धमतखण्डन, ६ शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, ७. भ्रमोच्छेदन, ८. भ्रान्तिनिवारण, गोकरुणानिधि, १० वेदान्त ध्वान्त निवारण, अथवा इस्लाम वा ईसाईमत, वा सिखपन्थ।

सिद्धान्त भूषण (प्रथम खण्ड)

१. व्याकरण—(क) अष्टाध्यायी १—५ अध्याय (अर्थोदाहरणसिद्धि सहित) (ख) अष्टाध्यायी ६—८ मूल मात्र । २ साहित्य—मुद्राराक्षस, मुनिचरितामृत । ३. दर्शन—(क) वैशेषिक दर्शन (ख) न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य सहित) प्रथमाध्याय ४ सिद्धान्त—(क) सत्यार्थप्रकाश २, ३, ४—६, १२ समुल्लास (ख) संस्कार विधि (विधिमात्र) ५. वैदिक—(क) आर्य्याभिविनय (ख) निघण्टु । (ग) यजुर्वेद—४०वां अध्याय (ऋषि दयानन्दकृत भाष्यसहित) ६. उपनिषत्—केन, कठ, मुण्डक उपनिषत् ७. विकल्प—(क) भास्कर प्रकाश (प्रथम समुल्लास को छोड़ कर पूर्वार्द्ध) अथवा जैनमत—जैन तत्त्वादर्श पूर्वार्द्ध अथवा सिखपंथ—भाई गुरुदास दियां वारां, भक्त वाणी तथा रहित नामे अथवा ईसाईमत अथवा इस्लाम ८ (क) अनुवाद—(ख) प्रस्ताव (आर्य्य भाषा में) ९ (क) व्याख्यान—(आर्य्य भाषा में) (ख) शंकासमाधान (ग) संस्कृत संभाषण । (द्वितीयख[illegible]

१. व्याकरण—(क) अष्टाध्यायी ६—८ अध्याय (अर्थोदाहरणसि[illegible] (ख) धातु पाठ (प्रयोगसिद्धि सहित) २ साहित्य—(क) प्रब[illegible] राजविजय (ख) पिङ्गलछन्दः सूत्र, काव्यालंकारसूत्र । ३. दर्शन—[illegible] (वात्स्यायन भाष्य सहित) । ४. सिद्धान्त—(क) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (ख) मनुस्मृति ५. उपनिषत्—प्रश्न, माण्डूक्य एतेरय, तैत्तिरीय उपनिषत् । ६. निरुक्त १—३ अध्याय । ७. वेद—यजुर्वेद, ३१, ३२, ३५, ३६ अध्याय (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य सहित) अथवा अथर्ववेद—१६, १७, काण्ड ८. विकल्प—भास्कर प्रकाश (शेष), पुराणमतपर्य्यालोचन अथवा जैनतत्त्वादर्श (शेष) अथवा गुरु तेगबहादुर के शब्द, गुरु गोविन्दसिंह जी कृत विचित्तर नाटक, निहङ्ग संपूर्ण

रंगीन छपवाए गए हैं, व्यक्ति को दिय

आर्यसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों की पुस्तकें

सन्यासी महात्माओं की ओर से आत्मप्रसाद।

(१) **श्री स्वामी सत्यानन्द जी**—दयानन्द प्रकाश १॥) संध्यायोग ।-) सामाजिक धर्म ॥) दयानन्द वचनामृत ।=) ओंकार उपासना ≡) सत्योपदेश माला १)

(२) **श्री नारायण स्वामी जी**—आत्म दर्शन १॥) आर्य समाज क्या है -) प्राणायाम विधि =) वर्णव्यवस्था पर शंकासमाधान ≡)

(३) **श्री स्वामी अच्युतानन्द जी**—व्याख्यानमाला (संस्कृत में) संस्कृत में योग्यता प्राप्त करने के लिये ॥=) आर्याभिविनय द्वितीय भाग सजिल्द ।-)॥ एक ईश्वरवाद -) प्रार्थना पुस्तक

(४) **श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी**—आर्य पथिक लेखराम १।) मुक्ति सोपान ॥=)

(५) **श्री स्वामी सर्वदानन्द जी**—आनन्द संग्रह, परम आनन्द की प्राप्ति के सब साधन इस में दिये गये हैं १)

(६) **श्री स्वामी अनुभवानन्द जी**—भक्त की भावना, बहुत बढ़िया पुस्तक है मू० केवल॥)

भक्ति दर्पण अथवा आत्म प्रसाद।

इस में भक्ति मार्ग के सभी साधन दे दिये गये हैं। प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े को हर समय जेब में रखनी चाहिये। पाकिट साईज सुनहरी जिल्द मू० ॥)

स्कूलों तथा पाठशालाओं में बच्चों को उपहार में देने योग्य उत्तम पुस्तक है। आर्य समाज के बड़े २ विद्वानों ने इसे बहुत पसन्द किया है।

आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकृत।

—आर्य प्रतिनिधि सभा ने आर्य समाजों के लिये हिसाब किताब, मासिक चन्दा, संस्कार, पुस्तकालय, वस्तुभण्डार, साप्ताहिक सत्संग तथा वार्षिक वृत्तान्त के लिये १० प्रकार के रजिस्टर और फर्म स्वीकार किये हैं, जो प्रत्येक समाज को प्रयोग में लाने चाहियें। यह रजिस्टर सजिल्द तथा एक वर्ष से अधिक समय के लिये पर्याप्त हैं। मू० केवल ६)

—शुद्धि के प्रमाण पत्र—जो सभा द्वारा स्वीकृत हैं, अति सुन्दर रंगीन छपवाए गए हैं, प्रमाण पत्र का एक भाग समाज के पास रहेगा। और दूसरा भाग काट कर शुद्ध हुए व्यक्ति को दिया जाता है। १०० फार्मों की एक कापी का मू० १॥=), ५० फार्मों की कापी ।॥=)

—आर्यसमाज के प्रवेश पत्रों तथा नियमों की १०० फार्मों की सुन्दर कापी ।=), रसीद बुक ॥) हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू नियम ।=) सैंकड़ा ॥

साप्ताहिक सत्संग के लिये सत्संग गुटका ≡) भजन संकीर्तन -)

राजपाल—अध्यक्ष, आर्य पुस्तकालय तथा सरस्वती आश्रम, लाहौर।

सालभर का परीक्षित

भारत सरकार तथा जर्मन गवर्नमेंट से रजिस्टर्ड

८०००० एजेंटों द्वारा बिकना दवा की सफलता का सब से बड़ा प्रमाण है

(बिना अनुपान की दवा)

यह एक स्वादिष्ट और सुगंधित दवा है, जिस के सेवन करने से कफ़ खासी, हैज़ा, दमा, शूल, संग्रहणी, अतिसार, पेट का दर्द, बालकों के हरे पीले दस्त, इन्फ्लुएंजा इत्यादि रोगों को शर्तिया फायदा होता है। मूल्य ॥) डाक खर्च १ से २ तक ।=)

दाद की दवा

बिना जलन और तकलीफ़ के दाद को २४ घण्टे में आराम दिखाने वाली सिर्फ़ यही एक दवा है। मूल्य फ़ी शीशी ।) आ. डा. खर्च १ से २ तक ।=) १२ लेने से २।) में घर बैठे देंगे।

दुबले पतले और सदैव रोगी रहने वाले बच्चों को मोटा और तन्दुरुस्त बनाना हो तो इस मीठी दवा को मंगा पिलाइये बच्चे इसे खुशी से पीते हैं। दाम फ़ी शीशी ॥।) डाक खर्च ॥)

पूरा हाल जानने के लिये सूचीपत्र मंगा कर देखिये, मुफ्त मिलेगा यह दवाईयां सब दवा बेचने वालों के पास मिलती हैं।

सुख संचारक कंपनी, मथुरा